विश्व-इतिहास (प्राचीन काल)

हिन्दीसमिति-ग्रन्थमाला—५४

विश्व-इतिहास

(प्राचीन काल)

लेखक

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी

सागर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति

प्रकाशकीय

विविध संचार-साधनों के विस्तार और पारस्परिक विचार-विनिमय की सुविधाओं की अभिवृद्धि के कारण आज समस्त संसार के निवासी एक दूसरे के अधिक निकट होते चले जा रहे हैं। रसल, टैगोर तथा गांधीजी जैसे विश्वबन्धुत्व के प्रवर्तकों की विचारधारा मानव को विश्व-मानव बनाने में सहायक हुई है। ऐसी दशा में मानव-जाति की विभिन्न देशों में बसी हुई टुकड़ियों के अनुभवों और विश्वासों के तथा उनके विगत जीवन की घटनाओं के विवरण, उनके साहित्य, दर्शन और कला के परिपाक तथा उनके चारित्रिक गुण-दोषों के इतिवृत्त का अध्ययन वर्तमान और भविष्य की मानवता को अनेकों गड्ढों में गिरने से बचा सकेगा तथा उसकी जिज्ञासा शान्त कर उसका मार्ग-दर्शन भी कर सकेगा। इसी लिए इतिहास के अध्ययन का क्षेत्र देश-विशेष अथवा काल-विशेष के इतिहास तक ही सीमित न रहकर विश्व-इतिहास तक व्यापक हो गया है। हिन्दी में इसी आवश्यकता की पूर्ति की दृष्टि से यह पुस्तक लिखी गयी है।

हिन्दीसमिति ग्रन्थमाला का यह ५४वाँ पुष्प है। इसके लेखक समिति के भूतपूर्व तथा प्रथम अध्यक्ष डा० रामप्रसाद त्रिपाठी हैं। आप इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् और अपने विषय के मर्मज्ञ हैं। आपने प्राचीन जगत् की प्रतापी हिट्टी, मिट्टनी, असीरियाई, मिस्री, यहूदी, सुमेरियन, सिन्धुघाटीय, आर्य, ईरानी, रोमन, यूनानी तथा चीनी मानव-जातियों के क्रमविकास का थोड़े में वर्णन कर गागर में सागर भरने का सफल प्रयास किया है। आशा है, हिन्दी के पाठकों को यह ग्रन्थ रुचिकर प्रतीत होगा और यह उनके ज्ञान-वर्धन में विशेष सहायक होगा।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

चित्रावली

प्राक्कथन

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि घटनाओं तथा प्रवृत्तियों के समन्वय से इतिहास की रूपरेखा बनती है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक अंग का भी अभाव होने से इतिहास विकृत-सा हो जाता है। उपर्युक्त मानवीय व्यापारों की उत्पत्ति और उनका विकास प्रत्येक देश, प्रदेश, भूमि-भाग आदि की भौगोलिक स्थिति के अनुसार होता है। प्रकृति और मानव की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से इतिहास का विकास होता है। साधारण पाठकों के लिए संक्षिप्त, सुलभ और छोटे आकार में छः सहस्र वर्षों के इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना एक प्रकार का दुःसाहस है। इसी कठिनाई से बचने के लिए लेखक इतिहास के एक अंग का ही वर्णन करना संतोषजनक समझते हैं। किन्तु अंग-विशेष के सूक्ष्मतम वर्णन से भी व्यक्ति का स्वरूप मूर्तिमान् नहीं होता, उसी प्रकार मानव-व्यापार के किसी विशेष अंग के वर्णन से इतिहास का स्वरूप प्रकट नहीं होता। लाचार, छोटे चित्र के भी निर्माण करने के लिए इतिहास के मुख्य अंगों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्थान तथा समय के अभाव में यह अनिवार्य हो गया कि ऐतिहासिक प्रवाह की मोटी तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं और विषयों पर ही ध्यान रखा जाय। और जहाँ कहीं उचित हो ऐसे संकेत कर दिये जायें जिनसे पाठकों की कल्पना एवं उत्सुकता को कुछ उत्तेजना प्राप्त हो और उन्हें अधिक जानने की प्रेरणा हो।

पुरातन इतिहास से सम्बन्धित नवीन सामग्री कभी कभी निकलती रहती है, जिससे प्रचलित विचारों में काट-छाँट होती जाती है। कभी कभी नये दृष्टिकोण भी उपस्थित हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि यदि हो सके तो प्रति पाँच या दस वर्ष के बाद पुरातन इतिहास की पुस्तक का संस्कार होता रहे। फिर भी मोटी तथा मुख्य घटनाओं की रूपरेखा में आमूल परिवर्तन बहुत कम पाया जाता है।

विभिन्न भाषाओं और देशों के शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण तथा लेखन यों भी बड़ा कठिन है। पुरातन और प्राचीन देशों तथा भाषाओं का तो दुस्तर-सा है। इस समस्या के हल करने का कोई रास्ता न पाने के कारण उन संज्ञाओं और

शब्दों के लिए अँगरेज़ी भाषा के ही उच्चारण का प्रायः अनुकरण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में अनेक लेखों तथा ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है। सामग्री के चुनने और उसका मूल्यांकन करने में लेखक ने यथासंभव अपनी समझ-बूझ से काम लिया है। सब स्रोतों का वर्णन छोटे-से ग्रन्थ में असंभव है। अतः जिन लेखकों तथा ग्रन्थों का अवलम्ब लिया गया है उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करके सन्तोष करना ही व्यावहारिक उपाय जान पड़ता है।

हिन्दी समिति की पूर्व योजना के अनुसार संसार के मध्य तथा आधुनिक युगों के इतिहास को दो भागों में प्रकाशित होना चाहिए। यदि आयु तथा स्वास्थ्य ने साथ दिया तो मध्ययुग (ईसा की ४०० से १६०० शती) का इतिहास लिखने का प्रयत्न हो सकेगा, अन्यथा प्रस्तुत ग्रन्थ से ही संतोष प्राप्त करना पड़ेगा।

—रामप्रसाद त्रिपाठी

भूमिका

सृष्टि का आरम्भ

सृष्टि का आरम्भ कब हुआ ?

सृष्टि का आरम्भ कब और कैसे हुआ, इतिहास नहीं जानता। यह विषय उसके क्षेत्र का नहीं। विज्ञान के अन्य शास्त्र इस पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते है। इतिहास यह भी नहीं जानता कि आदिम मनुष्य पृथ्वी पर कब और कैसे उत्पन्न हुआ। जन्तु-विज्ञान एवं मानव-विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि विकास-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का आविर्भाव ऊँची नस्ल के वानरों से हुआ। मनुष्य वस्तुतः वानर का सर्वोत्तम विकसित रूप है। वानर का इतना परिष्कार हुआ कि वह अपनी कोटि से एक प्रकार से बाहर निकलकर दूसरी कोटि में चला गया। यद्यपि मूलतः ढाँचा वही है तथापि शरीर की बाहरी रूपरेखा तथा मस्तिष्क की रचना में क्रान्तिकारी विभिन्नता है। मनुष्य की विशेषताएँ इतनी अधिक और महत्त्व-पूर्ण हैं कि उसकी किसी समय अक्षरशः मनुष्य होने की कल्पना दुष्कर ही नहीं, वरन् उपहासजनक प्रतीत होती है। उक्त सिद्धान्त पर विज्ञानवादी जितना जोर डालते हैं उतना ही उसका विरोध विभिन्न धर्मावलम्बी करते हैं। इस शती के लगभग पचास वर्ष से दोनों दलों में बहस होती रही है। धर्मावलम्बी प्रायः यही विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने मनुष्य की वैसी ही स्वतंत्र कोटि बनायी है जैसी विभिन्न पशु-पक्षियों की, अस्तु।

मानव की उत्पत्ति

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आदिम मनुष्य का आविर्भाव कहाँ और कब हुआ। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि मनुष्यरूप में उसकी उत्पत्ति अफ्रीका में हुई। मेकइन्स ने उस क्रान्तिकारी घटना का रंगमंच यूगान्डा और केनिआ को निर्धारित किया, क्योंकि आज भी वहाँ पुच्छहीन नराकार वानर मिलते हैं। सवा करोड़ वर्ष पूर्व अफ्रीका, अरब तथा भारत परस्पर मिले हुए थे, क्योंकि उस समय लाल

सागर का अस्तित्व ही न था। अतः अफ्रीका से एशिया और वहाँ से यूरोप जाना सम्भव था। इसी मत का पोषण करते हुए सर आर्थर कीथ ने एक नया सुझाव दिया है। उन्होंने जलवायु, ऋतु आदि का विचार कर, एक काल्पनिक रेखा खींची है जिसका एक छोर अफ्रीका का पश्चिमी तट है। सहारा रेगिस्तान की उत्तरी सीमा छूती हुई वह पूर्व की ओर अरब होकर हिमालय के पश्चिमी भाग से मिल जाती है और उसके सहारे-सहारे बर्मा और चीन होकर फिलीपाइन द्वीपसमूह के पास रुक जाती है। (कीथ की धारणा, कवि कालिदास की उक्ति "....हिमालयो नाम नगाधिराजः। पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः" से मेल खाती है।) उपर्युक्त रेखा से उत्तर के लोगों की खाल का रंग निखरता हुआ धीरे-धीरे पीत अथवा श्वेत हो गया। किन्तु रेखा के दक्षिणी भू-भाग के निवासियों का रंग हलके साँवले से नितान्त कृष्णवर्ण हो गया।

उपर्युक्त रेखा के उत्तरी भाग को कीथ ने फिर दो हिस्सों में विभक्त किया। इस विभाजन की रेखा हिमालय के पश्चिमी कोने से लेपलैंड तक जाती है। वह हिमालय के उत्तरी और पूर्वी भूभाग को, जिसे सिन (चीन) कहते हैं, पृथक् करती है। उसके पश्चिमी भाग में जिनका जन्म और संवर्धन हुआ उन लोगों को काकेशियन और जिनका उत्तरी और पूर्वी भाग में हुआ उनको मंगोलियन अथवा चीनी नाम से सम्बोधित किया गया। हिमालय से पश्चिमोत्तर की ओर जानेवाली उपर्युक्त रेखा से निकलकर कुछ समूह फारस, भारत, पश्चिमी एशिया तथा अरब तक जा बसे। उसी प्रकार पूर्वी दक्षिणी भाग के लोग मलय द्वीपसमूह तक फैल गये। अरब और फारस में उत्तरी और दक्षिणियों के संमिश्रण से उत्पन्न साँवले और काले रंग के लोग अरब, फारस में भी पाये जाते हैं। काकेशियनों के आने के पूर्व श्याम वर्ण के ही लोग दक्षिणी अरब (फारस के अरबिस्तान), बलूचिस्तान (ब्रहुई लोग) तथा भारत में (द्रविड़ लोग) फैले हुए थे। दक्षिणी भारत के द्रविड़ों की रूपरेखा अफ्रीका के हेमेटिक लोगों से मिलती-जुलती है।

सारांश यह है कि कीथ साहब के मतानुसार मनुष्यों की उत्पत्ति अफ्रीका में हुई और वहीं से निकलकर वे भू-मण्डल में छा गये। इस घटना में हजारों वर्ष लग गये होंगे। इतस्ततः बसे हुए समुदायों के रूप-रंग, व्यवहारों, वातावरणों, भोजन, रहन-सहन की व्यवस्था में बड़े हेर-फेर हुए होंगे। नयी-नयी नस्लें असीम संख्या में बनती-बिगड़ती चली गयीं। सबल बच गयीं, निर्बल नष्ट हो गयीं, हजारों, सम्भव है लाखों वर्षों से वर्ण-संकरता की यह लीला पृथ्वी-मंडल पर चल रही है।

दूसरा उल्लेखनीय मत डा० डेविडसन ब्लेक का है। आपकी राय में आदिम मानवसृष्टि पूर्व मायोसीन युग (सवा करोड़ वर्ष पूर्व) में वानरों की उस कोटि से उत्पन्न हुई थी जिससे बनमानुस और क्रमशः मनुष्य का विकास हुआ। उसका समूह उत्तरी भारत से ही अफ्रीका की ओर बढ़ता गया। यह मत मनुजी के कथन से मिलता जुलता है; "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः" श्लोक के शेषार्ध का अंश "पृथिव्यां सर्वमानवाः" उसकी पुष्टि करता है। "चरित्रम्" शब्द की व्याख्या व्यापक रूप से करने में आपत्ति की विशेष गुंजाइश न होनी चाहिए। मनु अथवा कालिदास के कथनों का स्रोत विज्ञानमूलक न होते हुए भी अनुश्रुति या विश्वास वस्तुस्थिति के अनुसार हो सकता है।

इस मत के मानने में कुछ शंकाओं को दूर करने के लिए एल्सवर्थ हन्टिंगटन ने यह निश्चित किया कि तिब्बत और उसके आस पास के भूभाग में आदिम मनुष्य का होना अधिक सम्भव है। यह क्रान्तिकारी घटना बीस या तीस लाख वर्ष पूर्व हुई, जब हिमालय समुद्र की सतह से कुछ ही ऊँचा रहा होगा। उस युग में तिब्बत और उसके आसपास के प्रदेश जल और वृक्षादि वनस्पतियों से भरे हुए थे। ज्यों-ज्यों हिमालय उठता गया और वातावरण शुष्क होता गया त्यों-त्यों वनों की सघनता कम होती गयी और घाटियाँ तथा मैदान निकलते गये, जो घास से हरे-भरे थे। उनसे आकर्षित होकर अनेक प्रकार के पशु, जिनमें हिंसक पशु भी रहे होंगे, इधर उधर घूमते-फिरते रहे। दलों के बढ़ने और भोजन की प्राप्ति के लिए बलिष्ठ और उत्साही वृन्द आगे बढ़ते, बिखरते और फैलते चले गये। मनुष्यों के कुछ वृन्द नष्ट हो गये, कुछ कम विकसित हुए और कुछ बनमानुस की अवस्था में पीछे रह गये। उपर्युक्त बलिष्ठ और उद्यमशील वृन्दों की वृद्धि और विकास अनुपाततः शीघ्रता से हुए, यहाँ तक कि वे बनमानुस से प्रगतिशील मनुष्य-वृन्द हो गये और चारों ओर फैल गये। तिब्बत में आदिम मनुष्य की सृष्टि का होना स्वामी दयानन्द भी मानते हैं, यद्यपि कालगणना में भेद है। महाभारत में एक अनु-श्रुति के अनुसार सप्तचर तीर्थ के पास वितस्ता की लोकविश्रुत देविका नदी के तट पर 'विप्रों' की सृष्टि का संकेत है। एक विद्वान् की राय में विप्र से आशय आर्य का है। नर-नारायण के बदरिकाश्रम में तप करने की पौराणिक कथा सम्भव है कि आदिम मनुष्य के बदरिकाश्रम के आस-पास होने का संकेत रखती हो। इसी प्रकार की अन्य कल्पनाएँ हो सकती हैं, किन्तु अभी तक कोई सन्देहरहित सिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। यह भी बहुत सम्भव है कि एशिया और अफ्रीका

के विभिन्न सानुकूल भौगोलिक वातावरणों में अनेक स्थानों पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई हो।

जातियों सम्बन्धी विवाद

मनुष्य की जातियों और उसके विभिन्न आकार-प्रकारों के सम्बन्ध में भी उन्नीसवीं शती से लेकर आज तक विवाद होता चला आ रहा है। विकासवादी वैज्ञानिकों, विशेषतः हक्सली के मतानुसार जिस प्रकार पशु-पक्षी आदि के आकार, रंग, कद, आकृति, लोमावली आदि से नस्लों का निर्णय किया जाता है, वैसे ही मनुष्य का भी निर्णय जन्तुशास्त्र के अनुकूल होना चाहिए। उस कसौटी से उन्होंने मनुष्य की जातियाँ खाल के रंगों, बालों के ढंग और रंग, चेहरे की विशेषता, नाक और आँख की बनावट के अनुसार पाँच श्रेणियों में—हेमेटिक, सेमेटिक, आर्यन, मंगोलियन तथा आस्ट्रेलियन में विभक्त कर दीं। इस विषय पर विवाद बढ़ता गया और उस विभाजन को अधिकांश विद्वानों ने इस कारण छोड़ दिया कि उपर्युक्त कसौटी खोटी और अपर्याप्त है। वैज्ञानिकों ने नये मान और प्रतिमानों की इसलिए आवश्यकता समझी कि केवल बाहरी रूप-रेखा से ही नहीं, वरन् शरीर के भीतरी यंत्रों की रचना और उनकी गतिविधि की जाँच के बाद जाति का निर्णय करना ही विज्ञानसम्मत माना जा सकेगा। हेडन (Haddon) ने खाल के रंग और उसकी बनावट, सिर के बालों के रंग, कद, सिर की शक्ल, मुख विशेषतः नाक, माथा, आँख आदि के अनुसार जाँच कर मनुष्य-जातियों की संख्या सत्रह निर्धारित की। क्लाइन्सवर्ग महोदय अधिक गहराई में उतरे। उपर्युक्त लक्षणों के सिवा उन्होंने रक्त की समानता, अन्तःस्रावी मांसग्रन्थियों की प्रक्रिया, रक्तचाप, श्वास-निश्वास के क्रम, मानसिक तथा शारीरिक विकास की प्रगति, नाड़ी की गति इत्यादि की जाँच-पड़ताल करके यह नतीजा निकाला कि रिप्ली (Ripley) की यह धारणा कि यूरोप में केवल तीन जातियाँ हैं, भ्रमात्मक है। डा० कून (Coon) ने उपर्युक्त मतों पर तर्क-वितर्क करके यह निर्णय किया कि यूरोप में कम से कम बारह मुख्य और नौ उपजातियाँ अर्थात् इक्कीस जातियाँ हैं। यह ऊहापोह अभी जारी है, किन्तु यह स्पष्ट हो गया कि संसार भर की जातियों की अगणित संख्या हो सकती है और पुरानी, यद्यपि साधारण लोगों में प्रचलित, रंग, बाल, नाक, आंख पर अवलम्बित गणना छिछली तथा अवैज्ञानिक होने के कारण मानी नहीं जा सकती। उनमें मूलगत तथा अनिवार्य विभिन्नताओं के संस्थापन अथवा निराकरण की

क्षमता नहीं पायी जाती। ऐतिहासिक युग में तो पुराना माप-दण्ड सर्वथा अनुपयोगी एवं भ्रममूलक है। जाति शब्द की वैज्ञानिक परिभाषा के अभाव में उसका साधारणतया सभी भाषाओं में अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। सभ्यता, संस्कृति अथवा अन्य भावनाओं या विचारों पर अवलम्बित एकता में विश्वास करनेवाले जनसमूह के लिए जाति शब्द का साधारणतः प्रयोग होता है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे समूह की इकाई छोटी हो अथवा बड़ी हो। प्रसूति, वंश, कुल, गोत्र, ट्यूटन, नारमन, रोमन, ग्रीक, पारसी, ब्रिटिश, मराठा, हिन्दू, मुसलिम इत्यादि के लिए बिना अधिक मीन-मेख निकाले जाति (Race) शब्द का प्रयोग चलता आ रहा है। उसका कोई सीमित क्षेत्र प्रयत्न करने पर भी अभी तक निश्चित नहीं हो सका। यदि हो सके तथा अन्य शब्द जैसे कि People, Nation, Community आदि की भी परिभाषा निश्चित हो जाय तो अच्छा होगा। उन पर विचार करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

प्रकृति के साथ संघर्ष

आदिम मनुष्य को प्रकृति के साथ असीम संघर्ष करना पड़ा होगा। हिंसक पशु, जहरीले जीव-जन्तु, दुर्गम जंगल, पहाड़, नद-नदी, गर्मी, वर्षा, जाड़ा, रोग, दोष आदि अनेक बाधाओं का सामना लाखों वर्ष तक करना पड़ा होगा। न तो व्याघ्र-सिंह आदि के समान उसके दाँत या नाखून दृढ़ थे, न हाथी, भैंसा, गैंडा आदि के समान डील-डौल और बल, न मगर, घड़ियाल के समान जल में छिपे रहने के साधन और न विकराल बाज या गृद्धादि के समान चोंच और उड़ने के पंख थे। किन्तु उसके हाथों में अनेकानेक उपयोगों की क्षमता और उसके मस्तिष्क में असीम शक्तियाँ, जैसे निरीक्षण, धारण, स्मृति, चिन्तन, मनन, आलोचन, कल्पना, अनुसंधान, तर्क-वितर्क, उद्योगशीलता, संसाधन एवं आविष्कारक शक्ति के सिवा बोलने के साधन भी थे। मस्तिष्क, हाथ और वाणी के बल उसने असीम कठिनाइयों और अगणित प्रतिद्वन्द्वियों का सफलतापूर्वक सामना किया। लाखों वर्षों तक उस पर क्या गुजरी और किस प्रकार से उसने विजय-मार्ग निकाले, उन सबकी कथा अत्यन्त मनोरंजक एवं लोमहर्षक होगी, किन्तु उसके जानने के लिए इस विज्ञान के युग में भी साधनों का अभाव चिन्त्य है। भूगर्भशास्त्री, जीव-विज्ञान एवं मानव-विज्ञान-वेत्ता तथा पुरातत्त्वान्वेषी कभी-कभी कुछ प्रकाश अवशेषों के सहारे डालते हैं, किन्तु वे भी बहुत कम और संदिग्ध हैं। सम्भव है

कि इस कठिनाई का आभास प्राचीन चीनिओं को हुआ हो, क्योंकि उन्होंने अपने प्राचीनतम काल के युगों की कल्पना मौलिक आविष्कारों के अनुसार की है।

लगभग पाँच लाख वर्ष हुए, जब एशिया एवं यूरोप में कड़ाके के शीत का साम्राज्य था। प्रकृति की निष्ठुर तथा असहनीय प्रगति के प्रतिकार के लिए मनुष्य ने अपनी रक्षा के हित में अग्नि का आश्रय ढूंढ़ निकाला। कुछ विशेष प्रकार की लकड़ियों की रगड़ और चकमक पत्थर की टक्कर से धुँआ और फिर आग निकलते देखकर उसको अग्नि आमंत्रण करने की प्रेरणा हुई होगी। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' उक्त आविष्कार के अपार महत्त्व की विशेष पुष्टि करता है। अग्नि के प्रकाश से उसे मार्ग ढूंढ़ने में जो सहायता मिली उसकी स्मृति 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' वेद के वाक्य में निहित-सी प्रतीत होती है। अग्नि की चमक और लपट तथा भस्म कर देने की शक्ति देखकर पशु भयभीत होते और भाग जाते हैं। 'प्राची दिगग्निरधिपतिः' प्राची दिशा से. . . .सूर्य तथा अग्नि के आने का सर्वत्र स्वागत हुआ जिसका संकेत 'तेभ्यो नमः रक्षितृभ्यो नमः' वाक्य से मिलता है। पुरातत्त्वज्ञों को अग्नि के प्रयोग का सम्भवतः सबसे पहला प्रमाण चीन के पेकिन नगर के समीप चाउ-काउ-तिएन (Chou Kau Tien) की गुफा में मिला है। अग्नि को इच्छा के अनुकूल लकड़ी अथवा पत्थर से उत्पन्न करना, उसको मन्द अथवा तीव्र करना, उससे भूनने, उबालने आदि की क्रियाओं का ज्ञान अनुमानतः थोड़े से व्यक्तियों को ही पहले प्राप्त हुआ होगा। सर्वसाधारण की नजरों में वे व्यक्ति गुप्त शक्ति-सम्पन्न माने गये होंगे। मानवशास्त्र वाले उन्हें (Magic man) और वैदिक लोग उन्हें शायद ब्राह्मण "ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनाः" कहते हैं। असभव नहीं है कि आहिताग्नि ऋत्विक् पुरोहित कहलाते हों; 'पुरोहिता अग्निसमानवर्चसः' (म० भा०) आदि शब्द सांकेतिक हों। मनुष्यों को प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की सबसे पहली एवं प्रबल शक्ति प्राप्त हुई जिसके अनेकानेक प्रयोगों और उपयोगों से मानव ससार उपकृत होता चला आ रहा है।

आच्छादन और भोजन की समस्या

आदिम मनुष्य का दूसरा आविष्कार पशुओं की खालों से अपने शरीर को ढँकने के लिए वस्त्र बनाना था। मृगचर्म का प्रयोग तो बर्बर और असभ्य ही नहीं, वरन् ऋषि भी करते थे। शरीर के ढँकने की क्रिया तथा उसके लाभ मानव-सभ्यता में अपना महत्त्व रखते हैं।

तीसरी समस्या भोजन की थी। वानरों में कुछ ही ऐसी नस्लें हैं जो मांस खाती हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह नस्ल वानर और मनुष्य के बीच की कड़ी है। बहुत सम्भव है कि पहले मनुष्य कन्द, मूल, फल के सिवा मांस भी खाते हों किन्तु अग्नि के आविष्कार के बाद भूनने की क्रिया का आरम्भ भोजन पकाने की पहली सीढ़ी रही हो। कच्चे मांस से भुना मांस अधिक स्वादिष्ट और सम्भवतः पचने योग्य पाकर विविध प्रकार के पशु-पक्षी और जल-जन्तुओं के खाने का सुभीता हो गया। भोजन की समस्या हल होने लगी।

सामूहिक शक्ति की वृद्धि

स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य की अन्य विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि उसकी कामवासना केवल ऋतुओं पर अवलम्बित नहीं है, जैसा कि पशु-जगत् में बहुधा देखा जाता है। हर मौसम और हर समय, चाहे दिन हो या रात और हर जगह उसमें कामेच्छा जाग्रत होती है और यदि कोई विशेष बाधा न हो तो वह उसकी तृप्ति में संकोच नहीं करता। मांसोदनादि पौष्टिक भोजन से उसका शरीर भी पुष्ट और अधिक संतति उत्पन्न करने योग्य हो गया। परिणाम यह हुआ कि मानवसृष्टि शीघ्रता से बढ़ने लगी जिससे उसकी सामूहिक शक्ति तथा क्षमता बढ़ती गयी।

कृषि का आरम्भ

यह न समझना चाहिए कि मनुष्य किसी एक देश के स्थानविशेष में ही बढ़-कर बहुसंख्यक हो गये। सम्भावना यही मानी जाती है कि उनकी छोटी या बड़ी टोलियाँ अनेक देशों और स्थानों पर पहुँचीं और बढ़ीं। भोजन की समस्या भी तदनुकूल बढ़ती चली। मनुष्य दो कोटियों में बँट गये, एक तो वे जो शिकार करके अपना जीवन-निर्वाह करते और दूसरे वे जो कन्द मूल, फल और खाने योग्य पत्तियों से काम चलाते थे। ये विभाग नितान्त पृथक् न थे, किन्तु मोटे तौर पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि भोजन प्राप्त करने के लिए जलवायु और पैदावार के अनुसार उपर्युक्त दो तरीके थे। घूमते-फिरते मनुष्यों की टोलियाँ दूर-दूर बढ़ती चली गयीं। यहाँ तक कि भूमण्डल के विभिन्न भागों में जा निकलीं। जो लोग खाने-पीने की चीज़ों को बटोरते थे वे उन स्थानों पर रुक गये जहाँ भूमि और जल की अनुकूलता से अन्न आप से आप उगता था। ऐसे

स्थान नदियों के किनारे, विशेष कर खाड़ियों के पास अथवा उपजाऊ मैदानों में थे। भूगोल तथा पुरातत्व के अनुसन्धान से पता चलता है कि एशियाई कोचक से पश्चिमी तथा उत्तरी ईरान होते हुए अफगानिस्तान का प्रदेश, नील नदी और सिन्धु नद के तट तथा पंजाब अन्न उपजाने के लिए अच्छे थे। सब स्थानों से अच्छा ईरान का पश्चिमी प्रदेश है जहाँ सब प्रकार का गेहूं और जौ आप से आप उगता था।

ऐसे प्रदेशों में अन्न, कन्दमूल, फल बटोरने वाले बसते गये। जब लोगों की संख्या वहाँ बढ़ी तब जंगली अन्न की उपज उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकी। उसका मुख्य कारण यह था कि अन्न निरन्तर नहीं, वरन् खास मौसम में ही उपजता था। मौसम की पैदावार चुकने पर लोगों को फिर कठिनाई उठानी पड़ती थी। अनाज को खत्तियों या बरतनों आदि में भरकर रखने का उनको न ज्ञान था और न उनके पास साधन थे। यही नहीं, धीरे-धीरे जमीन की उपज भी कम होती जाती थी, क्योंकि जमीन को खोदने या खाद देने का भी ज्ञान उन्हें न था।

धीरे-धीरे लोगों को पता चल गया कि गिरे हुए अन्न फिर उग आते हैं और यदि जमीन कुछ खोद दी जाय तो कुछ अधिक उपज होती है। उस ज्ञान से उनको अधिक लाभ न होने का कारण उनके लकड़ी और पत्थर के औजार थे जो गहरी खुदाई के लिए उपयुक्त न थे। सबसे अधिक लाभ नदियों के तट तथा मुहानों की धरती से हुआ क्योंकि वहाँ बाढ़ के कारण नयी मिट्टी की तहें लग जाती थीं। यद्यपि कृषि से यथेष्ट लाभ तो न होता, किन्तु काम चल जाता था। हर मनुष्य उतनी ही खेती कर सकता था जितनी कि उससे बन पड़ती थी। कृषि के आरम्भ ने मानव-इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण युग का भी बीज बो दिया। कृषि की उन्नति के साथ समाज, ग्राम, नगर, राज्य, विधान, वाणिज्य, लिपि, अंक आदि की उत्पत्ति एवं वृद्धि हुई। सारांश यह है कि सभ्यता तथा संस्कृति के दरवाजे खुलते चले गये।

सभ्यता और संस्कृति

सभ्यता और संस्कृति साधारणतः पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। फिर भी उन दोनों की व्यंजना एक ही सी नहीं है, उनमें कुछ भेद है। सभ्यता का सम्बन्ध बाहरी व्यवहारों, रहन-सहन, बोल-चाल, साज-सामान, उठने-बैठने तथा आने-जाने से है। उसके अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, व्यापारिक तथा नाग-

रिक जीवन के व्यवहार माने जा सकते हैं। मकानों, समान मार्गों, वाहनों की सजावट के लिए भी उसका प्रयोग हो सकता है। सारांश यह है कि सभ्यता बहिर्मुखी है। यद्यपि सभ्यता पर संस्कृति का और संस्कृति पर सभ्यता का प्रभाव न्यूनाधिक पाया जाता है तथापि संस्कृति शब्द की व्यंजना अन्तर्मुखी है। उसके अन्दर आचार-विचारों, भावों, कलाओं, मनोवृत्ति और धारणाओं तथा दृष्टि-कोण की विशिष्टता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि संस्कृति और सभ्यता के स्तर एक ही से हों। कहीं संस्कृति का स्तर ऊँचा और सभ्यता का निम्न और कहीं सभ्यता का स्तर ऊँचा और संस्कृति का नीचा होता है। इसके सिवा सभ्यता और संस्कृति के अपने-अपने क्षेत्रों में अनेक स्तर होते हैं। कहीं सभ्यता की तो कहीं संस्कृति की गति तीव्र अथवा मन्द पायी जाती है। दोनों के मुकाबले में सभ्यता की प्रगति प्रायः तीव्र पायी जाती है।

आर्थिक स्थिति

कृषि के ज्ञान के पूर्व मनुष्यों में ऊँच-नीच और अमीर-गरीब का प्रश्न न था। यह माना जा सकता है कि उस युग में भी प्राकृतिक और अगोचर शक्तियों को जानने और सानुकूल करने वाले मायावी अभिचारी लोगों की अन्य व्यक्तियों से अधिक प्रतिष्ठा रही हो, किन्तु वैसे व्यक्ति किसी समुदाय में गिने चुने ही होंगे, उनके संगठित वर्ग होने की संभावना नहीं हो सकती। अतः जनसमुदाय के व्यक्तियों को प्रायः अपनी आवश्यकताओं के सभी काम स्वयं करने पड़ते थे। प्रत्येक को अपना शरीर ढँकने का वस्त्र बुनना, रहने को झोंपड़े बनाना, खाने के लिए कन्द-मूल, फल ढूंढ़ना अथवा शिकार करना पड़ता होगा। जब पशुओं का पालन और कृषि करने का ज्ञान बढ़ा तब ऐसे सहायक की आवश्यकता हुई जो मनुष्य का कठिन कार्य करे और भाग-दौड़ करने के लिए अधिक समय दे सके, संचित खाने-पीने की चीजों तथा पशुओं की साधारण निगरानी कर सके, और जनसंख्या बढ़ाने में सहायक हो। जिस घर में जितने हाथ हों उसकी स्थिति उतनी ही अच्छी हो सकती थी।

गृहस्थ संस्था

इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री अत्यन्त उपयोगी हो सकती थी। कृषि की जितनी उन्नति होती गयी स्त्री तथा बच्चों की उतनी ही

आवश्यकता और उपयोगिता बढ़ती गयी। यद्यपि नर और मादा का नैसर्गिक आकर्षण और आत्मभाव पशु तथा पक्षियों में भी कमोबेश पाया जाता है तथापि स्थायी रूप में कामवासना की अधिकता, सामाजिक प्रवृत्ति और विशेष रूप से आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्त्री-पुरुष के संबंध को न्यूनाधिक स्थायी बनाने की आवश्यकता के कारण गृहस्थ-जीवन अनिवार्य ही नहीं वरन् श्रेयस्कर होने का अनुभव बढ़ता गया। इस प्रसंग में गृहस्थ-संस्था के आर्थिक आधार का संकेत विशेष रूप से विचारणीय है। उसके अन्य पहलुओं पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

कृषि तथा पशुपालन की उन्नति के साथ मनुष्य ऐसे स्थलों पर, जहाँ खेती का अधिक सुभीता, जैसे अधिक उपजाऊ जमीन, सिंचाई के लिए आवश्यक जल इत्यादि मिला, जमकर रहने लगे। कृषक-समाज की संचरणशील बनौकस लोगों से दिनों-दिन विभिन्नता बढ़ती गयी। यहाँ तक कि उनके दृष्टिकोण, संगठन, रहन-सहन में बहुत बड़ा फर्क पैदा हो गया। मोटे तौर पर मानवसंसार दो भागों में विभक्त-सा हो गया। यही नहीं, कृषक-समाज में भी असमता बढ़ने लगी। जिसको अधिक संतान हुई उसकी आर्थिक स्थिति में उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी, जिससे कुछ घरानों का सामाजिक और आर्थिक महत्त्व बढ़ गया, कुछ की स्थिति घट गयी। धन और जन-बल के कारण कुछ कुटुम्बों का दूसरों पर सहज आतंक जमने लगा और उपजाऊ धरती पर उनका कब्जा बढ़ने लगा।

ईसा से लगभग छः से तीन हजार वर्ष पूर्व का युग संस्कृति एवं सभ्यता के लिए बड़े महत्त्व का है। उस युग के आविष्कारों में एक तो पशुओं एवं हवा की शक्ति का कृषि तथा वाहन के लिए उपयोग, दूसरा ताँबे को गलाकर उससे अथवा उसमें अन्य धातु को मिलाकर कृषि के लिए हल आदि औजार, बरतन तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने का कौशल। ईसा के ढाई हजार वर्ष पूर्व सोने और चांदी का उपयोग मिस्र तथा मसोपोटामिआ और सम्भवतः अन्यत्र भी हो चला था। तीसरा आविष्कार चक्र (फिरकी या पहिया) का बरतन, खिलौने आदि बनाने, वाहन, जैसे रथ आदि चलाने, बोझ खींचने या ढकेलने के लिए उपयोग, और चौथा सूर्य की गति के अनु-सार काल-गणना (सोलर कैलेन्डर की रचना) सबसे महत्त्वपूर्ण गिने जाते हैं। उन्हीं की सहायता से कृषि तथा व्यापार, धन-धान्य, सभ्यता और संस्कृति, कला-कौशल, उद्योग धन्धों आदि अनेक क्षेत्रों में शीघ्रता से उन्नति होने लगी जिससे मानव-जगत् की रूप रेखा में तेजी से परिवर्तन होने लगा। उतने महत्त्वपूर्ण और

क्रान्तिकारी आविष्कार फिर हजारों वर्ष तक न हो सके। उस क्रान्ति का आरम्भिक केन्द्र सम्भवतः पश्चिमोत्तर फारस और इराक का प्रदेश कहा जाता है। इतना तो निश्चित-सा है कि उसका क्षेत्र था नील नदी से सिन्धु और सम्भवतः गंगा तक विस्तृत विशाल भूभाग। चीन के उतने पुराने समय के इतिहास पर अभी यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ा है। सम्भव है कि वहाँ भी कुछ चमत्कारपूर्ण आविष्कार पूर्व युग में हुए हों, जैसे कि मध्य युग में हुए। चीनियों की अनुश्रुति के अनुसार तो बहुत कुछ हुआ, किन्तु पुरातत्त्व अनुसन्धान अभी तक उनके कथनों का असंदिग्ध समर्थन नहीं कर सका।

जनसंख्या में वृद्धि

जिन स्थानों पर कृषि से लाभ हुआ वहाँ जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, कारण उसका यह था कि जितनी जमीन पहले चार सौ मनुष्यों का पोषण करती थी, कृषि द्वारा वह एक लाख अठाईस हजार लोगों का पालन करने में समर्थ हो गयी। पशु चरानेवाले संचरणशील लोगों के निर्वाह के लिए बहुत ज्यादा क्षेत्र की आवश्यकता होती है। एक वर्गमील जमीन से तीन या अधिक से अधिक सात प्राणियों का पालन हो सकता था, किन्तु कृषि द्वारा उतनी जमीन से तीन सौ आदमी पलते थे।

वहाँ स्थिति और भी भीषण हो गयी जहाँ कृषि के लिए धातुओं का प्रयोग होने लगा। कृषि के औजार और लड़ने-भिड़ने के हथियारों के लिए पहले ताँबे का, फिर काँसे का प्रयोग हुआ। खेती से अधिक लाभ और अस्त्रों से अधिक बल उन्हीं लोगों का बढ़ा जिनके पास धातुओं को खरीदने के लिए काफी अनाज या जानवर थे। जिनके पास वे साधन न थे उनका महत्त्व दिनोंदिन कम होता गया। कृषि तथा धातुओं के उपयोग के कारण नये-नये पेशे बढ़ते गये। पहले कुम्हार, चर्मकार, चटाई आदि बनानेवालों से काम चल जाता था, किन्तु नयी स्थिति में नमक तथा धातु खोदने, ढोने, गलाने और उससे अनेक प्रकार की चीजें बनाने के लिए पेशे खुल गये। अन्नादि तथा धातुओं के व्यापार की वृद्धि के कारण कोष, हिसाब-किताब, नाप-जोख, दर निर्णय आदि के लिए अंकों तथा किसी न किसी प्रकार की लिपि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए नये-नये तरीके निकलने लगे। धन, धान्य लेन-देन, आयात-निर्यात की वृद्धि के साथ सम्पन्न लोगों की जिज्ञासा, कलाप्रियता, आमोद-प्रमोद के क्षेत्र बढ़ने लगे। ऐशोआराम के नये-नये ढंग निकले। साथ ही

साथ जमीन, जन और जर के झगड़े बढ़ चले, क्योंकि उनसे लाभ होता और अनेक इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति हो सकती थी। अतः उनके लिए मोह और लोभ की वृद्धि के साथ छल-छल का भी प्रयोग होने लगा। धन की इतनी महिमा बढ़ी कि उसकी प्राप्ति के लिए भीतरी और बाहरी संघर्ष गहरा होता गया। 'धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके', वाली उक्ति उसी मनोवृत्ति की स्मृति है। जमीन की नाप, खेतों की हदबन्दी, चरागाहों पर अधिकार, सिंचाई के लिए, पानी के लिए, लेन-देन के लिए ग्रामों तथा नगरों में झगड़े होते थे। सम्पन्न व्यक्ति खाने-पीने की चिन्ता से मुक्त होकर ऐश्वर्य बढ़ाने तथा प्रतिद्वन्द्वियों का दमन करने में लगे। ऐसी परिस्थिति में शान्ति रखने और न्याय करने के लिए कानूनों की अधिक आवश्यकता पड़ी। कानून बनाये जाने लगे। कहीं पुरोहितों, कहीं वयोवृद्धों, प्रभावशाली व्यक्तियों अथवा मुख्याधिष्ठाता ने कानून बनाये। कानूनों के जारी करने और उनके उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक हो गयी।

राजसत्ता की प्रतिष्ठा

आपसी झगड़ों और समस्याओं की वृद्धि के साथ ही नगरों में झगड़े शुरू हो गये। राज्य की सीमा, व्यापार, उसके मार्गों, नदियों, तथा खानों पर अधिकार, दूसरे नगरों की सम्पत्ति छीनने के लालच आदि के कारण थोड़े-बहुत ग्रामों में, विशेष रूप से नगरों में लाग-डाँट और युद्ध होने लगे। उनके सिवा नये-नये भ्रमणशील अथवा नये, किन्तु उदीयमान जन-समूहों ने भी समय-समय पर आक्रमण शुरू कर दिये। बाहरी शत्रुओं तथा भीतरी उपद्रवों के दमन के लिए सैनिकों की आवश्यकता उत्तरोत्तर बढ़ी। विधान तथा शान्ति स्थापन, भीतरी उपद्रवों और बाहरी आक्रमणों को रोकने तथा सेना का नियंत्रण करने के लिए राजसत्ता की प्रतिष्ठा हुई। उसी के हाथ में वैधानिक, शासनिक, सैनिक शक्तियाँ केन्द्रित हो गयीं। जहाँ स्वयं राजा ने धातुओं तथा अन्य लाभदायक शक्ति और सम्पत्ति-वर्धक पदार्थों का व्यापार अपने हाथ में रखा वहाँ तो उसकी शक्ति और महत्ता बहुत बढ़ गयी। मिस्र का इतिहास इस कथन की विशेषतः पुष्टि करता है।

कृषि की उन्नति के लिए पानी लाने, निकालने अथवा आवश्यक नियंत्रण के लिए नहरें, नालियाँ, पुलिन तथा पुलियों और पुलों के निर्माण के विविध विधान

विशेष कर मसोपोटेमिआ और मिस्र एवं इटली में निकले। चीन में भी जलप्लाव के कारण नहरों का निर्माण आवश्यक हुआ। उन सब प्रयत्नों का प्रभाव कृषि, सहयोग, स्वास्थ्य, नगर-निर्माण, बाग-बगीचों पर ही नहीं, वरन् स्थापत्यकला पर दूर तक पहुँचा। अन्न की खेती के सिवा फल और तेलहन उत्पन्न करने वाले वृक्षों का लगाना अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ। जैतून, खजूर, अंगूर आदि के पेड़ों के उगने और फलप्रद होने में कई वर्ष लगते हैं किन्तु जब वे फल देने लगते हैं तो बहुत वर्षों तक फलते हैं, जिससे अन्ततोगत्वा कृषि के मुकाबले में अधिक लाभ होता है। ग्रीस, दक्षिणी यूरोप तथा अफ्रीका में आर्थिक लाभ का विशेष आधार वही रहा।

कृषि और बाग-बगीचे लगानेवालों को एक स्थान पर स्थिर होकर रहना पड़ता है। इसलिए लोगों को रहने के लिए मजबूत मकानों और इमारतों की जरूरत पड़ती है। माल रखने के लिए गोदाम बनाने पड़ते हैं। आने जाने के सुभीते के लिए सड़कें और गलियाँ तथा पानी लाने और गंदा पानी निकालने के लिए नालियाँ बनानी पड़ती हैं। इसी ढंग से नगर बनते गये, फिर उनके प्रबन्ध और रक्षा के लिए शहरपनाह, सभाभवन और गढ़ बनाये जाने लगे। धार्मिक कार्य के लिए यज्ञशाला और देवालयों की स्थापना होती। नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दुकानें, बाजार और अनेक उद्योग-धंधे खुलने लगे। इस प्रकार नगर श्रीसम्पन्न तथा कलाकौशल, शिक्षालयों, कार्यालयों से विभूषित होकर सभ्यता एवं संस्कृति की उन्नति के प्रगतिशील साधन बनने लगे। ग्रामीण जीवन की सादगी के बदले नागरिक पेचीदगी और ऐश-आराम का मार्ग खुलने लगा।

नगरों के ऐश्वर्य, ऐश-आराम, रोजगार आदि से आकर्षित होकर भ्रमणशील जनसमूहों तथा गाँव के लोगों का आना शुरू हो जाता। यदि किसी युद्ध में नगर-वासियों की विजय हुई तो हारे हुए लोगों को गुलाम बनाकर उनसे जबरदस्ती मनमाना काम लिया जाता। गुलाम पुरुष और स्त्री मुफ्त अथवा कौड़ियों के मोल मिल जाते और उन पर खर्च बहुत कम होता, इसलिए वे मनमानी संख्या में रख लिये जाते। विजेता उनके ऊपर जहाँ तक हो सकता कामों का बोझ लादते और स्वयं किसी व्यसन अथवा विनोद में आराम से समय व्यतीत करते। गुलामों के कारण स्वतंत्र, किन्तु गरीब लोगों का भाव सस्ता होता जाता और बेकारी बढ़ती जाती। उसके दोषों का प्रदर्शन मसोपोटेमिआ और रोम तथा चीन के इति-हास में विशेष रूप से पाया जाता है।

जो नगर हार जाता उसकी बड़ी दुर्दशा होती। इज़्ज़त, हुरमत, धन-दौलत सभी चीजें प्राय: लूट ली जातीं और नगर विध्वस्त कर दिया जाता। बाग-बगीचे काट डाले जाते, खेती रौंद डाली जाती, भयंकर अग्निकांड, हत्याकांड और नृशंसता का प्रदर्शन होता। इस लीला के देदीप्यमान उदाहरण बेबीलान, पर्सेपोलिस, कारथेज आदि हैं। इतिहास-प्रतिष्ठित व्यक्ति जैसे अलेक्जेन्डर (सिकन्दर) तथा सीपिओ आदि के पश्चिम में और धर्मप्राण भारत में भी 'पुरीमवस्कन्द लुर्नीहि नन्दनम् मुषाण रत्नानि हरामरांगना:' के दृश्य असाधारण नहीं गिने जाते थे। सभी लोगों में चाहे वे पश्चिम, चाहे पूर्व के क्यों न हों, उस जघन्य प्रवृत्ति का प्रचलन था। कभी-कभी क्षमा और शान्ति की नीति का भी आश्रय लिया जाता था। किन्तु इसके उदाहरण अनुपातत: कम मिलते हैं।

उपर्युक्त दोनों स्थितियों में नागरिक जीवन आर्थिक, सामाजिक और नैतिक समस्याओं की उलझनों में फँसता चला जाता, जिससे विषमता बढ़ती जाती और नगर-राज्य की अवनति होती जाती। सैनिक एवं व्यापारिक श्रेणी के लोगों के लिए एक ही सीधा मार्ग दिखाई दिया, जो पहले उनको विस्तृत प्रादेशिक राज्य और फिर साम्राज्य की ओर ले गया। यद्यपि कुछ मनीषियों ने चीन से यूनान, तथा भारत से मिस्र तक सरल ग्रामीण ढंग के जीवन के अनुपात से सुख और शान्ति का चित्रण कर लोगों को लौटने का निमंत्रण दिया, किन्तु परिस्थितियों और प्रलोभनों के झकोरे से प्रताड़ित सुख तथा ऐश्वर्य की खोज में आधिपत्य और शासन सुदृढ़ और बहुत काल तक चला। जहाँ वैसी व्यवस्था न हो सकी वहाँ उसके प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति अथवा वर्ग उसको दवाने का प्रयत्न करते रहे।

आर्थिक पेचीदगी से राजनीतिक क्षेत्र नगर से बढ़कर राज्य, फिर साम्राज्य, तदनन्तर विश्वसाम्राज्य की ओर बढ़ता चला गया। जिनके पास ताँबा और काँसा तथा शीघ्रगामी वाहन, घोड़े-रथ आदि प्राप्त करने के साधन अधिक थे उनको दूसरों पर प्रभुत्व स्थापन करने में अधिक कठिनाई न होती। उत्थानशील समुदायों के दमन करने की नीति का कारण आर्थिक सम्पन्नता के क्षीण हो जाने का भय था। परोक्ष शक्तियों के सच्चे या झूठे ज्ञाताओं को छोड़कर प्रत्यक्ष शस्त्र-बलधारी गण अपने को शक्तिमान् और प्रभुत्व का अधिकारी मानते थे। जहाँ राजा धातुओं का संग्रह अथवा व्यापार करता वहाँ शस्त्रधारियों का बल अनुपातत: कम रहा।

लोहे का प्रयोग

ताम्र और काँसे का महत्त्व लोहे के प्रयोग से नष्ट-सा हो गया। यद्यपि आज से पाँच हजार वर्ष पहले लोहे का पता चल गया था, जैसे कि मिस्र तथा मसोपोटेमिया में प्राप्त कुछ अवशेषों से स्पष्ट है, किन्तु उसको कम व्यय से निकालने तथा गलाने की क्रिया का रहस्य जानने में अनुमानतः डेढ़ हजार वर्ष लगे। ताँबे और काँसे से वह सस्ता तथा अधिक मजबूत और उपयोगी सिद्ध हुआ। उसके बने औजार और हथियार सस्ते होने के कारण साधारण लोग खरीदने और उनका उपयोग करने लगे। उसके दो नतीजे बड़े महत्त्व के निकले। साधारण लोगों को औजारों और हथियारों के लिए धनिकों का आश्रय उतना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक न रहा जितना कि पहले था। वे अधिक उपयोगी औजारों और हथियारों को स्वयं खरीदने लगे जिससे उनकी उत्पादन तथा शस्त्र-शक्ति बढ़ी। फलतः साधारण जनता को अपनी शक्ति और बल का नया अनुभव और नया उत्साह प्राप्त होने लगा, जिससे भविष्य में जनसत्तात्मक संस्थाओं के संस्थापन की सम्भावना बढ़ती गयी।

पहले व्यापार विनिमय द्वारा होता था, जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, कुछ न कुछ काम करना आवश्यक था। स्त्रियाँ भी प्रायः चर्खा चलाती थीं। किन्तु जब से धातुओं का उपयोग बढ़ने लगा और चाँदी-सोने का भी व्यापार और सिक्कों का प्रयोग शुरू हुआ तब से आर्थिक स्थिति में विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। जिनके पास सोना-चाँदी था वे उसका उपयोग काश्तकारी या बागवानी कराने तथा अन्य वस्तुओं का कच्चा या बना हुआ माल खरीदने तथा बेचने में करने लगे। उन धनिकों का मुकाबला छोटे-मोटे कृषक न कर सके और अपनी खेती-बारी छोड़कर धनिकों की चाकरी सस्ती मजदूरी पर करने के लिए मजबूर हो गये। यदि वैसा न करते तो काम करने के लिए गुलामों की कमी न थी। धनिक दिनों-दिन सम्पत्तिशाली होते गये और धन के बल पर वे राजनीति तथा सामाजिक जीवन पर भी गहरा प्रभाव डालने लगे। उनका प्रभाव कुछ अंश में क्षम्य हो सकता है। किन्तु उसका दुष्परिणाम बहुत दूर तक पहुँचा। रोम साम्राज्य का इतिहास उसका प्रबल साक्षी है। व्यापक विकास का शायद वह भी एक अनिवार्य साधन था।

सामाजिक गतिविधि

यद्यपि मनुष्य अथवा उसके जत्थे कभी एक-से नहीं थे तथापि लाखों वर्ष

तक उनकी शारीरिक, मानसिक तथा सामूहिक शक्ति में उतनी विषमता न थी जैसी कि परिस्थितियों की विभिन्नता और उससे उत्तेजना प्राप्त करके विकास ने उत्पन्न कर दी। अत्यन्त पुराने युग के प्रतीक अब तक इतस्ततः किन्तु विशेषतः अफ्रीका एवं दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया में पाये जाते हैं। दुर्भाग्य अथवा संयोगवश जिनके दल दूर अकेले पड़ गये और अन्य दलों से सम्पर्क स्थापित न कर सके वे आज तक पुरानी स्थिति से बाहर न आ सके। सभ्यता के विकास के लिए विभिन्न जनसमुदायों का आपस में सम्मिश्रण और आदान-प्रदान आवश्यक है। अविकसित समूहों की चर्चा मानवशास्त्र का विषय होने के सिवा यहाँ अप्रासंगिक भी है। हम उस स्थिति का विचार कर रहे हैं जो कृषि कर्म से विकसित होती आ रही है।

ग्रामों और नगरों में कृषि, व्यवसाय, वाणिज्य आदि से अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। गृहस्थ-जीवन उस परिस्थिति के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। कुटुम्ब की वृद्धि, परिश्रम तथा क्षमता से कुछ लोग अधिक सम्पन्न हो गये, किन्तु अन्य कुटुम्बों को सफलता कम या बहुत कम मिली। उसी प्रकार पेशेवरों में अनेक श्रेणियाँ हो गयीं जिनमें कुछ अधिक, कुछ कम और कुछ बहुत कम सफल हो सके। ग्रामों तथा नगरों की समृद्धि से आकर्षित होकर रोजगार की आशा में लोग नगरों में आने लगे जिससे जनसंख्या तो बढ़ी, किन्तु उसी के साथ जमीन अथवा रोजगार की कमी या अभाव से समाज में विषमता, अमीर-गरीब का भेद बहुत बढ़ने लगा। आन्तरिक परिस्थिति के सिवा नगरों के आसपास खानाबदोशों के दल जानवर हाँक ले जाने अथवा लूट-खसोट करने की ताक में मँडराते फिरते थे। नागरिकों को अपने जान-माल की चिन्ता बढ़ी। उसको रोकने के लिए दो बातों की तुरन्त आवश्यकता पड़ी एक तो सैनिकों की, जो नगर में शान्ति रखने के सिवा बाहर के आक्रमणकारियों से उसकी रक्षा कर सकें। दूसरी आवश्यकता थी जोरूजाँता, मकान, जमीन, जायदाद की आपसी नोच-खसोट से रक्षा करने के लिए कानूनों की। व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि से लेन-देन को नियमित करना बहुत जरूरी था। सारांश यह कि सेना और कानून की व्यवस्था करना और उसके उल्लंघन करनेवालों के लिए दण्डविधान बनाना समाज के लिए अनिवार्य हो गया। शस्त्र परिचालन के लिए बलिष्ठ शरीर तथा साहस और कौशल प्राप्त करने के लिए परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता थी एवं कृषि करनेवालों के लिए दूसरे ढंग के अभ्यास और मनोवृत्ति की। जहाँ स्वतंत्र कृषक कृषि से हटकर युद्ध-कार्य में लगे वहाँ प्रायः वे कृषि करने योग्य ही नहीं रहे। कृषि गुलामों के

द्वारा करायी जाने लगी या चौपट हो गयी अथवा महाजनों के हाथ बिक गयी। उस अवांछनीय व्यवस्था का ग्रीस और उससे भी अधिक प्रदर्शन रोम के इतिहास में मिलता है। सिपहगरी के व्यवसाय में लगे हुए समुदाय की एक श्रेणी अथवा एक विशिष्ट वर्ग बन गया। इतिहास में प्रायः इस वर्ग की प्रवृत्ति राज्याधिकार प्राप्त करने अथवा स्वयं किसी सफल सेनापति के नेतृत्व में स्वतंत्र राज्य स्थापित करने की ओर दिखाई देती है। सैनिक शासन साधारणतः बुरा है क्योंकि वह कठोर और अनुदार ही प्रायः रहता है। शायद ही कभी उससे लाभ होने की सम्भावना दिखाई पड़ती है। सैनिक बल के नियंत्रण के लिए प्रजा राजा की या अन्य शासन-विधाता की शरण मांगती है, किन्तु वे दोनों प्रबल और अदम्य सेनापति के विरोध से सशंकित रहने के कारण किसी दूसरे सेनापति की सहायता चाहते हैं। सारांश यह कि राष्ट्र और प्रजा के रक्षक स्वयं विपत्ति का कारण उसी प्रकार हो जाते हैं जैसे कि सफल व्यापारी या महाजन अर्थलोलुपता के कारण निष्ठुर और स्वार्थान्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रबल वर्गों को नियंत्रण में रखने के लिए प्राचीन समाज में क्या प्रयत्न हुए और उन्हें कहाँ तक सफलता मिल सकी, इसके दो विधान उस युग के इतिहास में मिलते हैं। पहला यह कि राजा का महत्त्व और उसका आतंक लोगों के हृदय में जमा दिया जाय। दूसरा यह कि शासन के लिए जनता स्वयं अपने प्रतिनिधियों को चुने और उनको निश्चित अधिकार प्रदान करे। जनसत्तात्मक विधानों का ग्रीस में प्रयोग हुआ, किन्तु उनको उतनी सफलता प्राप्त न हुई जितनी कि ईरान और मिस्र के सम्राटों को या सिकन्दर अथवा आगस्टस सीजर आदि रोमराज्य के सेनापतियों को मिली। यह स्मरण रखना चाहिए कि सफल सेनापति अनेक बार सम्राट् बने। ग्रीस के जनसत्तात्मक राज्य को थोड़े ही समय तक सफलता प्राप्त हो सकी। इसके सिवा उस जनसत्तात्मक समाज की जड़ में भी गुलामी लगी हुई थी और उसमें ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी आदि दोषों की भी कमी न थी। ग्रीस में स्पार्टा नामक राज्य जनसत्तात्मक न होने पर भी सबसे ज्यादा दीर्घजीवी हुआ।

मिस्र, मसोपोटेमिया, ईरान और चीन में कुछ छोटे-मोटे कबीलों को छोड़ राजा अथवा सम्राट् का शासन रहा। प्रबल सेनानायकों और लड़ाकू सैनिकदलों का नियंत्रण करने के लिए राजा और धार्मिक नेताओं के वर्ग में घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ। धार्मिक नेताओं के वर्ग ने राजा के दैविक गुणों और परोक्ष शक्तियों

के विशिष्ट कृपापात्र होने की घोषणा की। राजा ने समाज में उनका प्रमुख स्थान निर्धारित किया और विधान तथा कानून-रचना में उनको अपना घनिष्ठ सहयोगी बनाया। पुरोहितों और धर्माध्यक्षों का वर्ग परोक्ष शक्तियों से सम्बन्धित और राजा से प्रतिष्ठित होने के कारण अन्यवर्गों से अधिक महत्त्व और सम्मान प्राप्त कर सका। कभी-कभी सैनिक वर्ग और धार्मिक वर्ग में संघर्ष हो जाता था, किन्तु उससे सामाजिक परिस्थिति में विशेष उलट-पलट न हो सका। चीन में भी राजा विधान सम्बन्धी कार्य विद्वानों की सहायता से करता था। वहाँ भी राजा को देवपुत्र समझा जाता था, यद्यपि वहाँ ईरान, भारत आदि के समान कोई संगठित वर्ग सिवा शिष्ट नौकरशाही के न था। रोम में भी पहले कुलीन वर्ग की राजसत्ता थी, किन्तु उसको हटाकर प्रबल सेनापति सम्राट् बन गये और देवत्व का दावा करने लगे।

समाजशास्त्र तथा इतिहास से यह जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग से ही सर्वत्र एक वर्ग चला आ रहा है जिसका संबंध परोक्षशक्तियों से माना जाता था। उससे अन्य लोग डरते और उसका सम्मान करते थे। जब ग्रामों का आरम्भ हुआ तब उन्होंने देवी-देवताओं के आलय बनाकर अपना संगठन किया। लोग उनका विश्वास करते थे और राजा आदि उनसे सहायता माँगते थे। नगर की वृद्धि के साथ उन लोगों की भी वृद्धि हुई। मेसोपोटेमिया और मिस्र में जनता अपना अनाज उनके देवालयों में जमा करती और आवश्यकतानुसार लोग उनसे लेन-देन करते थे। जहाँ देवालय नहीं थे वहाँ भण्डार तो न बने, किन्तु उनका संगठन जारी रहा। वे लोग अन्य वर्गों की तरह अपने वंशजों को ही अपने परम्परागत अथवा आविष्कृत मंत्र-तंत्र और अन्य विद्याएं सिखाते थे। उन्हीं लोगों में पढ़ना-लिखना, शिक्षा देना, हिसाब-किताब रखना प्रायः सीमित था। बौद्धिक और धार्मिक क्षेत्रों पर अधिकार रखने के कारण बिना सैनिक शक्ति के उनका समाज के सभी वर्गों पर गहरा प्रभाव हुआ। वे ही राजा अथवा समाजशक्ति के समर्थक थे। सैनिक वर्ग से कभी-कभी उनका संघर्ष हो जाता था, किन्तु उनके सामाजिक महत्त्व की व्यावहारिक क्षति न हुई। वे लोग युद्ध तथा व्यापार में देवों से प्रार्थना करने के सिवा बहुत कम भाग लेते थे। उनकी जीविका का मुख्य स्रोत श्रद्धालु लोगों का आतिथ्य और भेंट-पूजा थी। सामाजिक, व्यापारिक तथा औद्योगिक विशिष्टीकरण के साथ उनके संगठन, कर्तव्य तथा संस्कार आदि भी अधिक सीमित और प्रतिष्ठित हो गये। सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधि के संरक्षण

में उनका विशेष भाग रहता था। परम्परागत नीतिव्यवहार को ध्यान में रखकर उन्हीं लोगों के निर्देश अथवा सम्मति से एशिया और मिस्र में सर्वत्र न्याय की सीमाएँ, सामाजिक, व्यापारिक कर्त्तव्याकर्त्तव्य के नियम बनाये गये। वे कानून के संग्रह विभिन्न नामों से अन्य देशों में प्रसिद्ध हुए। भारत में वे ही संग्रह धर्मशास्त्र कहलाये। उनको प्रचलित करना राजा का कर्तव्य कमोबेश सभी एशियाई और मिस्री राज्यों में समझा जाता था। भारत में तो यह बहुत स्पष्ट था कि "राजा प्रशास्तिधर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः।"

सभ्यता के विकास तथा संस्कृति के निर्माण में सर्वत्र विभिन्न वर्गों की गति एक-सी नहीं रही। कहीं और किसी समय एक वर्ग का, कहीं दूसरे का प्रभाव परिस्थितियों के अनुसार घटता-बढ़ता रहा। कार्थेज, ग्रीस और रोम में व्यापारियों और सैनिकों का, प्राचीन युग के एशियाई प्रदेशों में पुरोहितों और सैनिकों का तथा चीन में सैनिकों और परम्परावादियों एवं विचारकों का अधिक महत्त्व रहा है।

उपर्युक्त परिस्थिति मनुष्य ने जान-बूझकर नहीं गढ़ी। जीवनरक्षा के लिए वह उसी प्रकार से स्वाभाविक थी जिस प्रकार पार्थिव सृष्टि में पहाड़, नदी, वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि का आविर्भाव हुआ। मनुष्य के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती गयीं जिनसे विवश होकर वह उस प्रवाह में बहने लगा जिसके ओर-छोर का पता उसे न मिला। परिस्थितियों का पूरा ज्ञान प्राप्त करना दुःसाध्य ही नहीं शायद असम्भव भी है। तथापि इतना प्रकाश अवश्य पड़ा है कि उसकी मोटी-मोटी बातों और उसके महत्त्व की रूप-रेखा का आभास होने लगा है। उन सबका वर्णन किसी शास्त्रविशेष का विषय यदि कुछ हो सकता है तो सम्भवतः वह इतिहास है। अंग प्रत्यंग में कुछ गहराई से घुसने के लिए अनेक शास्त्रों की रचनाएँ होती चली जा रही हैं। भूमिका में केवल मोटी बातों की ओर कुछ इशारा करना आवश्यक है, इसलिए प्रतीत होता है कि इस पुस्तक के पाठकों को कुछ ऐसे सूत्र मिल जायँ जिनसे वे देश विदेश के इतिहास को कुछ समझ-बूझकर पढ़ सकें। इस उद्देश्य से विषय का कुछ मुख्य, किन्तु साधारण श्रेणियों में संक्षिप्त दिग्दर्शन देने का प्रयत्न किया गया है।

मनोवृत्ति

प्रकृति के जटिल बन्धन से कुछ छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को लाखों वर्ष तक भटकना और महान् कष्ट झेलना पड़ा है। प्राण-रक्षा उसका स्वभावजनित

उद्देश्य रहा। अतः प्राण उसके लिए केवल स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि सबसे महत्त्वपूर्ण विषय हो गया।

जब किसी समुदाय को कृषि, गोरक्षा के लिए सुन्दर और उपयोगी भूमिभाग मिल जाता है और उसके लाभ से वह परिचित हो जाता है तो उसको अपने अधि कार में रखने के लिए जी तोड़कर प्रयत्न करता है। उसी मनोवृत्ति का छोटा स्वरूप व्यक्ति अथवा कुटुम्ब के अपने हिस्से की रक्षा करने में दिखाई देता है। वह मनोवृत्ति पीढ़ी दर पीढ़ी मजबूत होती जाती है और देश-भक्ति का रंग पकड़ लेती है। यद्यपि उसकी जड़ में अनिवार्य स्वार्थ है, फिर भी उस भावना को भावुकता और आत्मत्यागादि का रूप प्राप्त हो जाता है, 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', 'हुब्बुल्वतन अज़मुल्के सुलैमां खुश्तर, खारेवतन अज सम्बुले रैहा खुश्तर' आदि काव्योक्तियों से वह सुसज्जित एवं सुवासित हो जाती है। अन्य भावों की तरह आरम्भ में उसका स्वरूप छोटा किन्तु स्थायी दिखाई पड़ता है, किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में धीरे-धीरे वह देश, राज्य एवं साम्राज्य के आकार का एवं विशाल होता चलता है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती गयीं तो प्रायः संकुचित होते-होते वह अपने प्रारम्भिक स्वरूप में चला आता है अथवा कभी-कभी देश-काल को उल्लंघित करके किसी अनिश्चित काल्पनिक मार्ग की ओर संकेत एवं आमंत्रण करता है; 'उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्।'

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह अनुमान करने में कोई विशेष आपत्ति न होगी कि व्यक्ति और विशेषतः कुटुम्ब, समाज आदि में सभ्यता के आरम्भ में जमीन और जन की किन्तु आगे चलकर जर की प्राप्ति तथा उसकी रक्षा करने की लालसा, परिस्थितिजन्य से स्वभावजन्य हो जाती है। अकेले अथवा छोटे कुटुम्ब, कुल अथवा वंश को कुछ समय में यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मरक्षा के लिए विधान, संगठन और शक्तिसंचय की अनिवार्य आवश्यकता है। तदनुसार वह सामाजिक, व्यावहारिक एवं आर्थिक नीति का चिन्तन और उनकी रचना का प्रयत्न करता है और उसके संरक्षण और प्रचलन के लिए राजनीतिक, सामाजिक आदि संस्थाएं बनाता जाता है। ये सब क्रियाएँ देश, काल, पात्र, तथा साधन आदि के अनुकूल बनती, बढ़ती या घटती रहती हैं। पत्नीव्रत, पतिव्रत, स्वामिभक्ति, राजभक्ति, परिवार-कर्तव्य, जातिसेवा, देश-सेवा आदि उपर्युक्त मनोवृत्ति के रूप-रूपान्तर अथवा भेद-प्रभेद हैं। मर्यादापालन, जातिधर्म, कुलधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, विधि-निषेध आदि की भावनाएँ उसी एक स्रोत से निकली हैं।

मानवशास्त्र तथा इतिहास उपर्युक्त मनोवृत्ति के अन्य कुछ प्रतिफलों को प्रदर्शित करते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य, कुटुम्ब, वर्ग, समाज, जाति अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझते हैं। मिस्री, अरब, ग्रीक, ईरानी, चीनी, जापानी, भारतीय आदि सब देशिकों और जातियों में यह भाव मिलता है। उसके लिए आत्माभिमान, आत्मसम्मान, जात्यभिमान, देशाभिमान आदि शब्दों का प्रयोग होता है। उसकी हानि दुःखद और निन्दनीय मानी जाती है। मनुष्य अपना उत्कर्ष, सम्मान तथा लाभ प्राप्त करने के लिए दूसरे से स्पर्धा करता, संघर्ष करता और कभी-कभी दूसरे का अपकर्ष ही नहीं, विनाश करने से भी नहीं हिचकिचाता। यदि उससे कुल, जाति, देश, राज्य को लाभ हो तो यह अवगुण न समझा जाकर गुण समझा जाता है। षड्यन्त्र, कूटनीति, संघर्ष, युद्ध आदि की जड़ में ईर्ष्या, लोभ, मत्सर, द्रोह आदि गुप्त अथवा प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित रहते हैं। पार्थिव कारणों से जो मनोवृत्तियाँ उत्पन्न होती गयीं उनका घात-प्रतिघात-युक्त प्रवाह प्रारम्भ से आज तक चल रहा है। संसार के रंगमंच पर उसके प्रदर्शन की झलक इतिहास शास्त्र में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा कुछ अधिक दिखाई पड़ती है। समय-समय पर उसकी प्रतिक्रिया होती रहती है जिसका संकेत उचित प्रतीत होता है।

धार्मिक स्थिति

मनुष्य को लाखों वर्षों तक प्राकृतिक कठिनाइयों और आपत्तियों के निवारण के लिए लड़ना-भिड़ना पड़ा। यहाँ तक कि युद्ध और संघर्ष करना उसके जीवन का व्यवसाय हो गया। भोजन, वसन एवं छाजन के सिवा उसको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष शत्रुओं से बचने और युग-युगान्तर की निरन्तर विषमताओं और आघात प्रत्याघात की थकान से विश्राम पाने की इच्छा स्वाभाविक हो गयी। उसके लिए अनेक प्रयत्न होते आ रहे हैं जिनकी परिभाषाएँ घटती-बढ़ती चली जा रही हैं। रत्नाकरजी की उक्ति संक्षेप में इसी स्थिति की ओर संकेत करती है—"केते मन्वन्तर निरन्तर व्यतीत ह्वै हैं केती पाप पुण्य परिभाषा जुटि जायगी।" जहाँ या जब जिनकी जीवन की आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो जाती है वहाँ आरामतलबी बढ़ती है और जहाँ कठिनता प्राप्त होती है वहाँ परिश्रम की प्रशंसा होती है। सांसारिक जीवन की विभीषिका से व्यथित होकर अथवा आरामतलबी की ससीमता और भोगशक्ति की क्षीणता से चिन्तित होकर मनुष्य अक्षय सुख-शान्ति की कल्पना करता हुआ निर्द्वन्द्व मुक्त होने के विधि-विधान के दर्शन, योग-प्रयोग, विप्रयोग

के मार्ग खोजता है और अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और कुतर्क करता चलता है। उसी प्रयत्न के फलस्वरूप नाना प्रकार के दर्शनशास्त्र उसकी सफलता अथवा विफलता के द्योतक हो रहे हैं। यद्यपि गीता के अनुसार 'किं कर्म किमकर्मति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' तथापि कार्याकार्यविनिश्चय पर विचार चलता जा रहा है। प्रत्येक देश की परिस्थिति देश, काल, पात्र की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इसी दृष्टिकोण से देखने पर उसका समझना आसान हो जाता है। शाश्वत की कल्पना में लौकिक और स्वल्पकालिक स्थितियों का प्रभाव शशी के गर्भ में शशांक के समान प्रतिबिम्बित होने लगता है।

धर्म का विकास

धर्म के आरम्भ और विकास के विषय में भी वही कठिनाई है जो पुरातन संसार के अन्य क्षेत्रों में मिलती है। सभ्यता की निम्नतर दशाओं में फँसे हुए मनुष्यों के व्यवहारों और विश्वासों, मनोविज्ञान तथा ज्ञात धर्मों के लिखित अथवा अन्य प्रकार के अवशेषों के सहारे धार्मिक विकास का अनुमान किया जाता है। विज्ञानवादी किसी मनुष्य अथवा समूहविशेष को ईश्वर द्वारा धर्मग्रन्थ का प्रदान या उद्घाटन नहीं मानते। उनके विचार से अन्य संस्थाओं के समान धर्म का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है। उसकी जड़ भी मनुष्य की अनुभूति, अनुमान, ज्ञान आदि में ही ढूँढ़ना उचित है। उनके मत से मनुष्य को नैसर्गिक घटनाओं को देखकर आश्चर्य, भय और मन्दजिज्ञासा के साथ ही साथ अपनी दुर्बलता और बेबसी का अनुभव हुआ होगा। जलप्लाव, दवाग्नि, बिजली, तूफानी वायु, आकाश तथा धरती के ओर-छोर की असीमता, सघन वनों की विभीषिका, हिंसक एवं प्राणघातक जीव-जन्तुओं के उपद्रवों और जीवन की अस्थिरता आदि का प्रभाव सामूहिक रूप से उसको बहुत भयंकर प्रतीत हुआ होगा। साथ ही साथ उसे जल, अग्नि, वायु, कन्द-मूल, फल, सूर्य, चन्द्र आदि से प्राप्त लाभों अथवा सुख का भी अनुभव हुआ होगा। जीवन के नाशक तथा रक्षक दोनों पक्षों के बीच में मानव की मन्द बुद्धि बहुत समय तक झूलती रही होगी। कालान्तर में परोक्ष शक्तियों की सत्ता में उसका विश्वास जम गया होगा।

दूसरी समस्या परोक्ष शक्तियों को सानुकूल करने की रही होगी। अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल उनको उन्हीं विधियों से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया जिनसे मनुष्यों का तोष होता था। उन्हें रिझाने-बुझाने के लिए कोलाहल,

नाच, गाना, स्वाँग, फल, फूल, अन्न, मद्य, भस्म, मछली, मैथुन, अभ्यर्थना, प्रार्थना, भूख, प्यास, उपवास, भयंकर शीत तथा गरमी का सहना, नरबलि, यहाँ तक कि अपने रक्त, अंग तथा प्राण की भेंट चढ़ाने के विधान कमोबेश सर्वत्र बन गये। उन सब कार्यों का विधिपूर्वक सम्पादन करने के लिए ऐसे लोगों का, जिनका अदृश्य रूप से विभिन्न शक्तियों से सम्बन्ध माना जाता था, समाज में विशेष मान होने लगा।

भौतिक सत्ताओं में सूर्य, चन्द्र, आकाश, अग्नि, जलद, नद, धरती, वायु, वन, पर्वत आदि को विशेष महत्त्व मिलना स्वाभाविक था। उनमें से कृषिप्रधान देशों में सूर्य का और मरुभूमि तथा वनस्पति-प्रधान क्षेत्रों में प्रायः चन्द्रमा का स्थान ऊँचा माना जाता था। चीन वाले आकाश (दैव) की अनन्तता के कारण उसको विशेष रूप से मानते थे। सूर्य की उपासना भारत, ईरान, मिस्र, रोम व यूरोप में प्रचलित हुई। अरब, यूनान, मेसोपटेमिया में चन्द्रमा का विशेष महत्त्व माना जाता था। कभी देवताओं में अपने-अपने भक्तों का पक्ष लेकर युद्ध छिड़ जाता था और भक्त अपने इष्ट की अभ्यर्थना और गुणगान तथा दूसरों के इष्ट देवता की निन्दा और निरादर करते थे। लोग अनेक देवताओं का सम्मान करते थे। यथा, "शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा। शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि"––इत्यादि। यूनान, रोम, मेसोपटेमिया और भारत में कुछ इस प्रकार की व्यवस्था थी।

प्राचीन युग के देवताओं की प्रायः मनुष्यों की सी प्रवृत्तियाँ जैसे काम, क्रोध, मोह आदि, होती थीं। पौराणिक ढंग की कथाएं मेसोपटेमिया, एशियाई कोचक, मिस्र, ग्रीस और रोम में प्रचलित थीं। देवताओं और मनुष्यों में फिर भी बड़ा भेद था। मनुष्य रोग, जरा और मृत्यु के शिकार होते, किन्तु देवता उनसे मुक्त होते थे। देवियों की भी कल्पना देवताओं की कल्पना से मिलती-जुलती थी। उनमें भी करीब-करीब वैसे ही गुण और दोष होते जो देवताओं में पाये जाते थे। सारांश यह कि मनुष्यों ने देवताओं और देवियों की कल्पना अपनी आकृति और प्रकृति के अनुसार कर ली।

ईश्वर की कल्पना

धार्मिक विचारों के प्रसंग में ईश्वर की कल्पना के स्रोतों और मानव जीवन में उसकी सत्ता के विषय में विचार करना उपयुक्त होगा। अन्यत्र यह बताया

गया है कि नैसर्गिक घटनाओं से उनके पीछे संचालक शक्तियों की सत्ता में मनुष्य के विश्वास का आरम्भ हुआ। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे शक्तियाँ मचल जाने अथवा अप्रसन्न होने पर हानि और प्रसन्न होने पर लाभ पहुँचा सकती हैं। कालान्तर में व्यक्त गुणों के पीछे भी देव या देवी की कल्पना बढ़ती गयी। उसके पश्चात् यह विचार उत्पन्न हुआ होगा कि शक्तियों के व्यक्त रूपों में विभिन्नता होते हुए भी वस्तुतः एक प्रधान सत्ता है, जो विविध देवी-देवताओं में व्याप्त है। इस धारणा का भी स्रोत बाह्य जगत् में पाया गया। जिस प्रकार वर्षा का जल, नदी का जल, जलाशयों या समुद्रों का जल वस्तुतः जल ही के विभिन्न प्रकार हैं। दवाग्नि, सूर्याग्नि, भोजन पकाने की अग्नि, मशाल की अग्नि आदि विभिन्न नामों में प्रयोग एक अग्नि नामक सत्ता का है।' जो कभी प्रकट और कभी अप्रकट रहती है—"अग्निर्यथै को भुवनं प्रविष्टः", "जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।"

दूसरी विचाराधारा प्रकृति तथा मनुष्य के व्यापारों में कारण और कार्य के संबंध पर विचार करने से निकली। बिना बीज के वृक्ष, बिना अग्नि के उष्णता अथवा प्रकाश, बिना जनक या जननी के सन्तति की संभावना नहीं, वैसे ही बिना कर्ता के सृष्टि का होना असम्भव है। इसलिए सृष्टि के साथ ही उसके विधाता की सत्ता मानना अनिवार्य है। जब मानव-समाज में नेतृत्व के विकास ने राजा तथा सम्राट् की स्थिति प्राप्त की, जिसके बिना शान्ति, न्याय अथवा सामाजिक जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। तब एक ऐसी सत्ता की कल्पना हुई जो प्राकृतिक नियमों के विधानों को रचती और उन्हें नियंत्रित करती है। उसके बिना न तो सृष्टि की रचना और न प्रकृति का नियमित व्यापार चल सकता है। जिस प्रकार दुष्टों और अत्याचारियों से राजा अथवा सम्राट रक्षा करता है, उसी प्रकार ईश्वर आधि-व्याधियों से रक्षा करता है। वह **साहूकार** है 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' अथवा 'त्वमेव शरणं मम' आदि उक्तियाँ उस विचार-धारा को प्रतिध्वनित करती हैं।

ईश्वर, देवी और देवताओं की कल्पना को दार्शनिक विचारकों ने तर्क से, प्रज्ञावादी योगियों ने प्रज्ञा और अनुभूति से और कवियों ने भावनाओं से परिष्कृत और सुसज्जित करके इतना सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक, सारगर्भित और पुष्ट कर दिया कि उनका भौतिक आधार लुप्त-सा हो गया और वे अलौकिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विचार श्रेणियों में प्रतिष्ठित हो गये। देवताओं और विशेष कर ईश्वर की सत्ता का ज्ञान मानव का महान् क्रान्तिकारी अन्वेषण एवं उपलब्धि सिद्ध हुआ। विज्ञान अपने ढंग से उसकी खोज करने में तत्पर है। साधा-

रण व्यक्तियों के लिए विश्वास, कीर्त्तन, पूजन के सिवा अन्य कोई उपाय न मिल सका।

प्राचीन मिस्र में वहाँ के सम्राट् एखनातोन ने ईसा से १३७७ वर्ष पूर्व एकेश्वरवाद का खुल्लमखुल्ला प्रतिपादन किया, जिसके कारण वहाँ के लोगों में असन्तोष फैल गया। उसकी मृत्यु के बाद उस सिद्धान्त का मिस्र के सम्राटों द्वारा प्रचार न हुआ। किन्तु ईसा के पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व तक एकेश्वरवाद का प्रचार भारत, ईरान, फिलिस्तीन में हो गया। 'एको देवो सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' नये एकेश्वरवाद की पूर्ण उपनिषदीय व्याख्या है। वस्तुतः वैदिक युग की संहिताओं में भी उसके इतस्ततः प्रमाण मिलते हैं। किन्तु उपनिषदों में उस पर विशेष जोर दिया गया है। एकेश्वरवाद के साथ ही साथ चीन को छोड़कर सर्वत्र सविता की उपासना पायी जाती है।

ईश्वर की अमूर्त कल्पना दुस्साध्य होने के कारण सम्भवतः सूक्ष्म त व दर्शियों तक सीमित रही होगी। सर्वसाधारण के लिए उसकी मूर्त कल्पना ही सम्भव थी। विभिन्न वातावरणों तथा रुचियों के कारण उसकी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गयीं, जो 'भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्" आदि वचनों से प्रकट होती हैं। कहीं उसके पुरुष रूप में, कहीं स्त्री रूप में, कहीं दोनों के संयुक्त और कहीं विकृत पशु पक्षी की मुखाकृति सहित, कहीं भयानक, कहीं वीभत्स और कहीं सौम्य रूप में कल्पना की गयी। परमेश्वर के सिवा अनेकानेक शक्तियों के अधिष्ठाता देवों और देवियों की मूर्तियाँ बना ली गयीं। (मूर्तिपूजा का प्रचार पश्चिमी एशिया, यूनान, मिस्र आदि देशों में विशेष रूप से हुआ। सिन्धु नद की संस्कृति अथवा सभ्यता संभवतः पश्चिम से भारत में आकर बौद्ध युग में अच्छी तरह प्रचलित हो गयी।)

धर्म सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठा कि क्या मनुष्य के शरीरान्त के साथ उसका नितान्त विनाश हो जाता है अथवा कुछ बच जाता है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति, सूर्यादि का अन्त होकर उदय होना, रात्रि के बाद दिन आदि दैनिक अनुभवों ने यह विचार पुष्ट किया कि शरीर के निधन के उपरान्त कहीं न कहीं व्यक्ति की सत्ता अवश्य रहती होगी। उस सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में विविध विचार फैले, किन्तु सत्ता में विश्वास चीन से यूरोप और मिस्र तक किसी न किसी रूप में जमा रहा। शवों की रक्षा और दिवंगत जीवों की पूजा-

भेट आदि का मूलाधार यही विश्वास है। भारत में तो जीव के विषय में बहुत विचार हुआ और उसको ब्रह्म का अंश कह दिया गया, यथा "न जायते म्रियते वा कदाचित्—अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"

जरा और मृत्यु की अवश्यम्भावी घटना ने मानव संसार और विशेष कर दार्शनिकों के लिए एक कठिन समस्या उपस्थित की। अधिकांश चिन्तकों ने सांसारिक जीवन की अन्ततोगत्वा विफलता देखकर मरणोपरान्त सुख प्राप्ति की वैसी ही कल्पना की, जैसी देवी-देवताओं के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी। कुछ को जीवनचक्र के अवसान में मुक्ति दिखाई पड़ी। किसी ने इसी जीवन में सांसारिक सुखों के उपभोग को नकद सत्य मानकर मरणोपरान्त स्थिति को कपोल कल्पित कह डाला। अबाध एवं अतिशय स्वार्थ, अनियमित शारीरिक तथा मानसिक वासनाओं को समाज के लिए ही नहीं, वरन् व्यक्ति के भी हित के विरुद्ध अनुभव कर उसको सीमित तथा नियंत्रित करने के यम और नियम बने। धार्मिक एवं नैतिक विचारों की जड़ उपर्युक्त स्थितियों और अनुभवों के आधार पर वैज्ञानिक इतिहासकार इसलिए मानते हैं कि वे स्वयंसिद्ध हैं और उन्हें किसी परोक्ष शक्ति द्वारा जगत्-संचालक के मानने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कर्तव्याकर्तव्य, पाप-पुण्य की परिभाषाएँ भी देश, काल, पात्र की स्थितियों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती हैं।

फिर भी इतिहासज्ञ दार्शनिकों, तत्त्वज्ञों, योगियों तथा धर्मप्रवर्तकों के क्षेत्र में हस्तक्षेप की अनधिकार चेष्टा नहीं करना चाहता, क्योंकि वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण के सिवा अन्य दृष्टिकोणों की संभावना को असंभव अथवा मिथ्या कहने का आग्रह करना अनुचित एवं अनावश्यक समझता है। उसका केवल यही कहना है कि मनुष्य की विचारधारा और धारणा उसके ऐहिक जीवन के अनुभवों, सफलताओं, विफलताओं, आशाओं और निराशाओं से उत्पन्न तथा विकसित पायी जाती है।

परिस्थितियों को जीतने का प्रयत्न

उपर्युक्त विवेचन द्वारा मानवसंसार की परिस्थितियों के महत्त्व पर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया। सम्भव है कि कुछ पाठकों को यह प्रतीत हो कि मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास है, वे जैसा उसे घुमाती हैं वैसा उसका व्यवहार होता जाता है; 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि,' इसलिए दासता से मनुष्य की मुक्ति नहीं हो सकती। आर्थिक, सामाजिक, राज-

नीतिक, नैतिक आदि समस्याएँ कुछ ऐसी उलझ गयी हैं कि उनसे निस्तार पाना असम्भव सा है, क्योंकि विश्व की प्रवृत्ति सरलता की ओर से जटिलता की ओर विकसित होती चली आ रही है। यदि प्रकृति की यही निश्चित गति है तो आँख मीच और कान दबाकर चलने के सिवा कोई अन्य उपाय नहीं दिखाई देता। इस प्रकार की धारणाएँ ऐतिहासिक युगों में भी बनती रही हैं जिनके फलस्वरूप अनेक मत-मतान्तरों का प्रचार हुआ। प्रत्येक धर्म का इतिहास उस विश्वव्यापी रोग की चिकित्सा निर्धारित करने का प्रयत्न-सा करता दिखाई पड़ता है। रोग के विविध निदान निर्धारित किये गये और उनकी शान्ति के उपाय सुझाये गये जिनका अनुमान प्रत्येक मुख्य धर्म और दर्शनों के संक्षिप्त वर्णन से किया जा सकता है। भव चक्र से निकलने के लिए किसी ने तृष्णा का नाश, किसी ने वैराग्य, किसी ने ईश्वर की शरण, किसी ने सृष्टि के नैतिक विधान का अनुसरण आदि उपाय बताये। उन सबों में प्रायः संसार को असार बनाने की धारणा प्रकट अथवा गुप्त रूप से छिपी है। संसार अथवा चित्त के रोग की सत्ता मानकर उसके निवारण के उपायों में विचारक लगे हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि सभ्यता अथवा संस्कृति की गतिविधि से असन्तोष बराबर जारी रहा।

विस्तार की प्रवृत्ति

इतिहास के अध्ययन से एक तो यह जान पड़ता है कि मनुष्य बर्बर अज्ञान की तथा प्रकृति की दासता से मुक्त होता और उस पर विजय पाता जाता है। प्रकृति के रहस्यों के पर्दे हटते चले जाते हैं जिससे विज्ञान, दर्शन आदि की उन्नति निरन्तर हो रही है। मनुष्य का सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध छोटे-छोटे क्षेत्रों में सीमित न रहकर उत्तरोत्तर बड़े क्षेत्रों की सीमाओं का उल्लंघन कर किसी बड़ी इकाई की ओर जान-बूझकर अथवा विवश होकर बढ़ रहा है। छोटे ग्राम बढ़कर नगर में, नगर राज्य में, राज्य साम्राज्य में, क्रमशः निमग्न होते चले गये। मिस्र तथा ईरान, अलेकजेन्डर के साम्राज्य के गर्भ में छिप गये। रोम नगर ने बढ़ते-बढ़ते स्काटलैण्ड से लेकर एशियाई कोचक और मेसोपटेमिया तथा मिस्र और उत्तरी अफ्रीका तक साम्राज्य फैला लिया। पाटलिपुत्र का राज्यविस्तार कश्मीर से मैसूर और बंग से सिन्धु नद के आगे तक बढ़ गया। भारत में चक्रवर्ती राज्यस्थापन करना राजा का मुख्य आदर्श और धार्मिक कर्त्तव्य-सा हो गया। चीन के राज्य की सीमाएँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती थीं।

ऐसी ही प्रवृत्ति आर्थिक क्षेत्रों में, विशेषतः व्यापार के क्षेत्र में, दिखाई पड़ती है। धार्मिक प्रचार तो हर प्रकार की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ता रहा है। यूनान में मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के, एवं रोम में ईरान, मिस्र, यूनान और फिलिस्तीन के मतों का प्रचार हो गया। बौद्ध धर्म भारत के बाहर फारस, मध्य एशिया और चीन में फैल गया। मनुष्य मात्र को मानवी एकता के सुनहरे तारों से बाँधने के लिए बुद्ध, जरथुष्ट्र, ईसा आदि प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। सारांश यह कि सभ्य संसार विश्वोन्मुख अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की ओर बढ़ता जाता था। रूप-रंग, गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता, को परिस्थितियों के दबाव और विचारों के परिष्कार से कम करने के आन्दोलन सारे सभ्य संसार में प्राचीन युग में ही चलने लगे थे।

जिस प्रकार मनुष्य अपने सामूहिक विराट रूप की रेखाएँ देखने लगा उसी प्रकार मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का सूक्ष्म दर्शन होने लगा। मनुष्य को स्वार्थ के अलावा परमार्थ, शरीर में जीव और जीव में विलक्षण शक्तियों का ज्ञान होने लगा। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलगत संबंध, जीवन की महत्ता, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान पूर्व से पश्चिम तक प्राचीन युग में ही शीघ्रता के साथ फैल रहा था। उसे सामाजिक तथा मानसिक रोगों के निदान और उनको दमन-शमन करने के उपाय निकालने की क्षमता का अनुभव हो गया। ऐसी दशा में यह कहना कि मनुष्य में अपने तथा समाज के सुधार की शक्ति नहीं; विभ्रमात्मक है। मनुष्य अपना भविष्य स्वयं बना रहा है। परिस्थितियों को समझने और उनको स्वानुकूल बनाने की चेष्टा इतिहास में बराबर दिखाई देती है। यह बात और है कि कभी परिस्थितियां उसे दबा लेती हैं किन्तु अन्ततोगत्वा वह उनको बदलने में सफल हो जाता है।

प्राचीन संसार के पाँच सहस्र वर्षों में सभ्यता तथा संस्कृति का जैसा प्रचार हुआ वैसा पहले लाखों वर्ष में न हो सका था। शान्ति, करुणा, दया, परमार्थ, सदसत् के नारे चीन, भारत, ईरान, यूनान, रोम, यूरोप, मिस्र सभी देशों में लगने लगे थे। कल्पना और ज्ञान के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान उत्तरोत्तर खिंच रहा था। सम्राटों ने भी उसका सम्मान किया, किन्तु व्यावहारिक नैतिक जीवन में उसको प्रतिष्ठित करना प्राचीन युग में सम्भव न हो सका। साम्राज्यवाद की सीमा पर सभ्यता ठिठक-सी गयी। राजनीति और अर्थनीति का धर्मनीति से समन्वय न हो सका। उलटे धर्म और नीति पर भी उनका रंग चढ़ गया।

जिस प्रकार हजारों वर्ष के भयंकर संघर्ष के पश्चात् मनुष्य अपने संकुचित क्षेत्र को उपर्युक्त सीमाओं तक बढ़ा सका है, उसी प्रकार उन सीमाओं को जहाँ उसका विकास रुक गया है, संघर्ष द्वारा तोड़ने की क्षमता उसमें होना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य को बाहरी प्रकृति से उतनी आशंका न रही जितनी बाहरी परिस्थितियों के फलस्वरूप आन्तरिक मनोवृत्तियों से। यह कहना केवल अंशतः सही है कि मनुष्य पशु है और स्वार्थ-परायण है, किन्तु यह भी सत्य है कि उसके गुण, कर्म और स्वभाव में सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ऐसे परिवर्तन हुए और हो रहे हैं जो उसके जीवन के स्तर को बहुत ऊँचाई तक ले जाने की क्षमता रखते हैं। व्यक्तिगत जीवन तथा कौटुम्बिक अथवा छोटे पैमाने के सामाजिक जीवन में भी उसकी ऊर्जस्विता का प्रदर्शन समय-समय पर होता रहा है, किन्तु उसको सभ्यता और संस्कृति के रूप में संसार भर में फैलने में यदि हजारों नहीं तो सैकड़ों वर्ष लगने की अवश्य सम्भावना मानी जा सकती है।

विकास क्यों रुक गया ?

इस सन्दर्भ में यह विचार उठ सकता है कि साम्राज्य की सीमा पर विकास क्यों रुक गया। उसका सबसे बड़ा कारण यह हुआ कि तत्कालीन विधान के अन्तर्गत भ्रमणशील जनसमुदाय जो अर्ध-बर्बर दशा में इधर-उधर मारते-खाते फिरते थे, शामिल न किये गये। पश्चिमी यूरोप, पश्चिमी और दक्षिणी एशिया तथा चीन का तो संगठन हुआ, किन्तु उनके सीमा सम्बन्धी प्रश्न हल न हो सके। इसके सिवा उत्तरी और पूर्वी यूरोप, मध्य एशिया, उत्तरी चीन, अरब तथा अफ्रीका के बर्बर कबीले प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता से वंचित से रह गये। संसार के अन्य लोगों के विषय में तो उस समय सर्वथा अज्ञान था। ऐसी दशा में विश्वव्यापी विधान की सम्भावना स्वप्न मात्र-सी थी।

दूसरी कमी यह थी कि प्राचीन सभ्यता गुलामी और दासता को दूर न कर सकी। समाज का एक बड़ा अंग रोगग्रस्त रहा जिससे वह कमज़ोर रह गया। तीसरा दोष अमीर और गरीब तथा शिक्षित और अशिक्षित वर्गों के बीच में गहरी खाई थी। चौथी आपत्ति धार्मिक असहिष्णुता के कारण उत्पन्न हुई। ईरान और रोम में धार्मिक सहिष्णुता थी, किन्तु वहाँ के निवासियों में उस श्रद्धा और गंभीरता की कमी थी जो मनुष्य के जीवन को मधुर, परिष्कृत एवं उदार बना सकती है। ईसाई धर्म को शुरू में जो संघर्ष करना पड़ा उसका प्रभाव उनको

असहिष्णुता की ओर खींच ले गया। भारत, चीन तथा ईरान में कुछ सहिष्णुता थी, किन्तु कई कारणों से उनकी प्रगति भी रुक गयी। राजनीतिक स्तर को धर्म उतना न उठा सका जितना राजनीति उसे नीचे गिराने में समर्थ हुई। बौद्ध धर्म ने संसार को असार और दुःखमय कहकर मानवजीवन और सांसारिक संस्थाओं के प्रति उदासीनता पैदा कर दी। ईसाई धर्म की तरह उसका भी गठबन्धन राजनीति से हो गया, जिसका परिणाम अन्ततोगत्वा अच्छा न हुआ। अशोक की धर्मविजय की कल्पना और उसके द्वारा मनुष्य को सुधारने का प्रयत्न उसी के साथ समाप्त-सा हो गया। चीन में अवश्य सामाजिक जीवन और संस्था के सुधार के लिए कई प्रकार के सिद्धान्त निकले, किन्तु उनको कार्य रूप में लाने के प्रयत्न अनेक कारणों से सफल न हो सके। यूनान, रोम तथा बर्बरों के साथ संघर्ष होने के कारण ईरानी धार्मिक आन्दोलन के यथार्थ प्रचार में बाधा पड़ती ही रही। ईरानी समाज स्वयं उससे अधिक लाभ न उठा सका। सारांश यह कि आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं का यथेष्ट समन्वय न हो पाया जिससे मानवता का विकास तेजी न पकड़ सका। पाँचवीं बाधा आदान-प्रदान के शीघ्र वाहनरूप साधनों की कमी थी। घोड़ों और रथों ने वाहनों में तेजी पैदा कर दी जिनका उपयोग महत्त्वपूर्ण, किन्तु सीमित था। भाषा, लेखन-कला की विभिन्नता के सिवा कागज के अभाव से आदान-प्रदान में भारी रुकावटें थीं। मार्गों की असुविधाएँ तथा और खतरे बड़ी भारी रुकावटें पैदा करते थे। उनसे नगर तथा छोटे राज्य का तो काम चल जाता था, किन्तु बड़े साम्राज्य की आवश्यकताएँ पूरी न हो पाती थीं। प्रगतिशील संसार की जरूरत उनसे पूरी न हो सकती थी।

एक कारण यह भी बताया जाता है कि प्राचीन युग में स्त्रियों को अपने विकास का बहुत ही कम अवसर मिला। उनका मुख्य कर्तव्य जननी की हैसियत से वंश और कुल को शुद्ध रखना, गृहस्थी के साधारण काम करना और मनुष्यों के विनोद के हर प्रकार के साधन उपस्थित करना था। उन क्षेत्रों में उन्होंने अच्छा योग प्रदान किया, किन्तु पुरुषों से उनका स्थान निम्न रहने के कारण वे अन्य क्षेत्रों में भाग न ले सकीं। युद्ध के सिवा अन्य सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कार्यों में वे सम्भवतः अच्छा प्रभाव डाल सकती थीं। जो हो, उपर्युक्त कारणों के सिवा सम्भव है और भी कारण हों, किन्तु इतिहास में वे उतने स्पष्ट नहीं मिलते।

कुछ विचारकों का कहना है कि चतुर, स्वार्थी और कुटिल लोगों अथवा वर्गों ने अपने लाभ के लिए समाज की रचना जान-बूझकर की। उस दृष्टि से उन्होंने इतिहास की व्याख्या भी कर डाली। वह व्याख्या इसलिए सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती कि सभ्यता और संस्कृति का प्रत्येक स्तर पिछले स्तर की कमियों को दूर कर नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनता चला आता है। जब नये स्तर की अपूर्णता का तीव्रतर अनुभव होने लगता है तब उसे बदलने की प्रेरणाएँ और प्रयत्न होते हैं, यहाँ तक कि नवीन विधान परिस्फुटित हो जाता है।

इतिहास का प्रवाह अखण्ड है

इसी विधि से मानव-इतिहास की शृंखला क्रमबद्ध है। समाज के स्तर के बदलने में कभी कम और कभी अधिक समय इसलिए लगता है कि व्यक्ति की तरह समाज भी परिवर्तन से झिझकता है। अतः जब तक एक स्तर के दोषों का पूर्ण परिपाक नहीं होता और उसकी अनुपयोगिता का तीव्र अनुभव नहीं हो जाता तब तक पूर्णतया काया-पलट नहीं होता। प्रत्येक नवीन विधान पिछले स्तरों से ही विकसित होता चलता है। इसीलिए इतिहास और समाजशास्त्र के अधिकांश विद्वान् केवल इतिहास के अखण्ड प्रवाह के सिद्धान्त को मानते हैं। इतिहास के निरूपण के सुभीते के लिए ही युगों में विभक्त करने का ढंग अवैज्ञानिक होने पर भी चलता रहा है। जब गहरा और भारी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है तब उसके लिए युग शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। अभी तक सभ्यता और संस्कृति का कोई ऐसा स्तर नहीं हुआ जो कमियों और दोषों से नितान्त मुक्त हो। क्योंकि तब तक मानवसमाज का विकास होता रहेगा जब तक वह अपनी पराकाष्ठा पर नहीं पहुँचता। सभ्यता के किसी भी स्तर को गुणशून्य अथवा गुणपूर्ण कहना भ्रमपूर्ण होगा। प्रत्येक गुण दोषों की जाँच करना इतिहासप्रेमी का कर्तव्य है।

इतिहास की गतिविधि के अनुसार जब तक व्यक्ति तथा समष्टि का समन्वय न होगा तब तक संसार में अशान्ति और भयंकर टक्करें होते रहना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। प्राचीन इतिहास विश्व-इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अंश होने पर भी मनुष्य के विकास की लीला का एक खण्ड-काव्य ही है। उस युग के अनन्तर क्या हुआ और क्या हो रहा है, यह मध्य तथा आधुनिक युग के इतिहास से सम्बन्ध रखता है। इतिहासज्ञों की धारणा है कि इतिहास विगत युगों को समेटता हुआ अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रहा है, उसका दूसरा छोर कब और कहाँ है इस सम्बन्ध

में वे निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। केवल इतना अनुमान करते हैं कि उसका क्षेत्र संकीर्णता से उत्तरोत्तर व्यापकता की ओर बढ़ रहा है। उसकी गति "वक्र सरिता सरस की जिमि पतित, पावन पाथ की" सी है। मनुष्य समाज लड़ता-भिड़ता, गिरता-उठता उत्तरोत्तर ऊंचे स्तरों पर चढ़ता व्यापकता की ओर जा रहा है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

प्रथम खंड

अध्याय १

मेसोपटेमिया

यद्यपि विद्वानों में इस विषय पर कि सभ्यता का आदिम विकास कहाँ हुआ, बहुत मतभेद है, तथापि यह सभी मानते है कि संस्कृति और सभ्यता के लिए आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में कुछ स्थिरता की अनिवार्य आवश्यकता है। जब तक मनुष्य खानाबदोश है तब तक यह स्थिरता यथेष्ट रूप में नहीं आती, किन्तु जब कृषि का आरम्भ होता है तब लोगों को कही न कहीं स्थिर होकर रहना आवश्यक हो जाता है। कृषि के विकास के साथ ही सभ्यता के विकास का वातावरण विकसित होता है।

वैज्ञानिकों की धारणा है कि कृषि का विकास पहले वहाँ ही हुआ होगा जहाँ उसके लिए प्रकृति ने काफी साधन एकत्रित कर दिये होंगे। सम्भवतः ऐसे स्थान बड़ी नदियों की तलहटियों या कछारों में, जहाँ की भूमि उपजाऊ और जहाँ सिंचाई की सुविधा हो, रहे होंगे। इसके सिवा मनुष्यों के जमकर रहने के लिए उन स्थानों के जलवायु को आकर्षक होना चाहिए। अन्वेषकों को उपर्युक्त धारणा के काफी प्रमाण मिले हैं। ऐसी तलहटियाँ अधिक शीत होने के कारण पृथ्वी के उत्तरी भाग में नहीं हो सकती। किन्तु मध्य तथा दक्षिणी एशिया और अमेरिका तथा उत्तरी पूर्व अफ्रीका में वे मौजूद है। अब तक के पुरातत्व विज्ञान और अन्वेषणों से नील नदी, दजला-फरात, सिन्धु नदी की तलहटियों में आदिम सभ्यता का होना सम्भव प्रतीत होता है। इन तीनों में सबसे पहले कहाँ सभ्यता का आरम्भ हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। वुली, हाल, चाइल्ड आदि विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु नदी की घाटी में ही आदिम सभ्यता के होने की अधिक सम्भावना है। मार्शल का भी मत है कि मिस्र तथा बेबीलोनिया और सुमेरिया की सभ्यता से सिन्धु घाटी की सभ्यता पुरानी तथा श्रेष्ठतर थी।

सिन्धु नदी की सभ्यता का वर्णन भारतवर्ष के प्रसंग के साथ आगे चलकर किया जायगा। पश्चिमी इतिहासकार प्रायः नील (मिस्र) या दजला-फरात

(मेसोपटेमिया) की सभ्यताओं से प्राचीन इतिहास को आरम्भ करते हैं। उसी परिपाटी के अनुकूल मेसोपटेमिया का वर्णन यहाँ रख दिया गया है।

दजला-फरात की घाटी में वैसी सभ्यता विकसित नहीं हुई जैसी कि नील की घाटी की थी। इन नदियों के उत्तरी भाग का जलवायु और वनस्पतियाँ तथा पैदावार दक्षिणी भाग से भिन्न हैं। दक्षिणी भाग में भी एक-सी स्थिति नहीं। उदाहरण के लिए अक्कद शीतप्रधान है किन्तु सुमेर में कम सर्दी होती है। अतः दोनों प्रदेशों में प्रकृति की व्यवस्था एक-सी नहीं पायी जाती। इसके सिवा मिस्र की तरह मेसोपटेमिया (आधुनिक इराक) सुरक्षित भी नहीं। मिस्र की रक्षा उसके समीप के विशाल रेगिस्तान करते हैं, किन्तु मेसोपटेमिया का उत्तरी एवं पूर्वी भाग विभिन्न जातियों से घिरा था जो प्राकृतिक साधनों से काफी सम्पन्न थीं। उनकी ओर से मेसोपटेमिया को सदा आशंका रहती थी। मिस्र के स्वावलम्बन के लिए गृह और अस्त्र-निर्माण के साधन प्रायः पर्याप्त थे, किन्तु मेसोपटेमिया को वे बाहर से मँगवाने पड़ते थे। पत्थर के अभाव के कारण सुमेरिया में नवप्रस्तर युग का होना सम्भव न था। किन्तु कृषि के लिए आवश्यक साधन वहाँ प्राप्त थे।

दजला और फरात दोनों नदियाँ निफतस नामक पहाड़ों से निकली हैं। फरात पश्चिम की ओर मुड़कर सीरिया और अरब के उत्तरी तथा पूर्वी रेगिस्तानों को बचाती मेसोपटेमिया को सींचती हुई फारस की खाड़ी में मिल जाती है। किन्तु दजला पूर्व की ओर थोड़ा-सा झुककर सीधे नीचे की ओर बहती है। आधुनिक बगदाद के पास दोनों नदियों के बीच में केवल बीस मील का फासला रह जाता है। प्राचीन समय में दोनों नदियाँ फारस की खाड़ी में अलग-अलग गिरती थीं, किन्तु आजकल दोनों मिलकर खाड़ी में गिरती है। बगदाद और फारस की खाड़ी के बीच में दोनों नदियों ने जो मैदान घेरा है वह तूँबी जैसे आकार का है। उस मैदान के दाहिनी ओर सुमेरिया और बाईं ओर बेबीलोनिया के राज्य स्थापित हुए। उसी तुंबिकाकार भूमि की नदियों के तट पर अनेक प्राचीन नगरों की स्थापना हुई, जिनका नाम उस युग के इतिहास और सभ्यता में प्रतिष्ठित है। नगर राज्य कालान्तर में विस्तार पाने लगे। उनमें से कई साम्राज्य के रूप में विकसित हुए, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त वर्णन इसी अध्याय में मिलेगा।

इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अरब के रेगिस्तान के उत्तर, उत्तर-पूर्व एवं उत्तर-पश्चिम की ओर जो वर्तुलाकार भूमि-भाग है वह हरा-भरा और उपजाऊ है। पश्चिमी भाग में सीरिया, फिलस्तीन और भूमध्य सागर का

तट है। उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी भाग में मेसोपटेमिया है। उस भूमि-भाग पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए अनेक राज्यों ने समय-समय पर घोर प्रयत्न किये और भयंकर युद्ध होते रहे। उस भू-भाग पर एशिया के लोगों की ही नहीं वरन् मिस्र, ग्रीस, रोम वालों की भी नज़र जमी रही और जहाँ तक बन पड़ा उसे लेने का उन्होंने प्रयत्न किया। उर्वरा भूमि होने के सिवा एशिया, यूरोप तथा मिस्र के व्यापार के लिए कुछ महत्वपूर्ण यातायात के राजमार्ग भी उस क्षेत्र में होकर जाते थे, जिन पर अधिकार प्राप्त करने की अभिलाषा सबल राज्यों के लिए स्वाभाविक थी।

सुमेरिया

दजला-फरात की तलहटी को यदि दो भागों में विभक्त किया जाय तो नीचे का भाग, जो फारस की खाड़ी के ऊपर है, पूर्व काल में सुमेरिया के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रदेश के मुख्य नगर लगश, इरिच, एरिद्, उरनिप्पर आदि थे। इसी प्रकार ऊपरी तलहटी में भी अश्शुर, सिप्पर, किश, बेबीलोन आदि नगर थे। इन नगरों ने प्राचीन इतिहास के निर्माण में न्यूनाधिक भाग लिया था।

सुमेरियनों की कोई विशेष जाति न थी। जिस प्रदेश में वे लोग आकर बस गये थे, उसका सुमेर नाम था। उस प्रदेश के निवासी सुमेरियन कहलाये। सुमेर या सुमेरिया के निवासी कौन थे और वे कहाँ से कब आये निश्चित रूप से अभी नहीं कहा जा सकता। वे तो अपने को फारस की खाड़ी से आया हुआ मानते थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सम्भव है वे मोहनजोदड़ो के निवासियों की ही कोई शाखा हों। पुरातत्वज्ञों में इस विषय पर मतभेद है। कोई काकेशिया से, कोई मध्य एशिया से तो कोई मध्य सागर की ओर से उनका आना मानते हैं। यह तो प्रायः सभी मानते हैं कि वे लोग शुद्ध सेमेटिक मानव शाखा के न थे। संभवतः वे मिश्रित जाति के थे। क्योंकि सुमेरियन भाषा सेमेटिक भाषा से भिन्न थी और अपनी भाषा ही के कारण वे सुमेरियन नाम से प्रख्यात हुए फिर भी सम्भव है कि उनमें कुछ सेमेटिक भी मिल गये हों।

ढाई-तीन हजार वर्ष ईसा के पूर्व लगश राज्य का अपने पड़ोसी उम्म राज्य से संघर्ष हुआ। उसमें लगश के तत्कालीन राजा 'ईन्नताम' को विजय प्राप्त हुई। उत्साहित होकर उसने 'इरिच', उर, किश नाम के नगरों को भी जीत लिया और 'किशराज' की उपाधि धारण कर ली। अपनी विजय को एक प्रस्तर की शिला पर उसने उत्कीर्ण करा दिया। उसके उत्तराधिकारी ने मदोन्मत्त होकर मन्दिरों

की सम्पत्ति तक हड़पना शुरू की जिसका परिणाम यह हुआ कि 'ऊरुकगिन' नामक एक सुधारक ने प्रजा का नेतृत्व लेकर राजा तथा धर्माधिकारियों के अत्याचारों का सफल विरोध किया। विजयी होकर उसने लगश तथा सुमेर के राजा की उपाधि धारण कर ली। उसने मन्दिरों, नहरों और जलाशयों का ही निर्माण नहीं कराया बल्कि कानूनों में भी सुधार किये जिससे गरीबों और विधवाओं की अत्याचारियों से रक्षा की जा सके। महन्तों को उसने गरीब प्रजा से ईंधन और फलों पर कर लेने तथा देवताओं पर चढ़ाई गयी पूजा को आपस में बाँट लेने की मनाही कर दी। मृतकों के दफनाने की फीस बहुत घटा दी। सुधारों के कारण स्वार्थी दलों में विद्वेष बढ़ा जिससे लाभ उठाकर उम्म वालों के नेता ज़ग्गिसी ने लगश को ही नहीं, वरन् उर और एरिच को भी जीत लिया। इस पराजय से लगश की संस्कृति और शासन का क्षय और सेमेटिक लोगों का, जो अरब से आए थे, प्रभुत्व बढ़ गया। दक्षिणी इराक (सुमेरिया) से निकलकर शक्ति का केन्द्र उत्तर की ओर बढ़ा। उत्तर के अक्कद प्रदेश को जिसके मुख्य नगर किश, वेबीलॉन आदि थे, सुमेरिया का स्थान प्राप्त हुआ। 'ज़ग्गिसी' ने एरिच में राजधानी स्थापित की और प्रेम की देवी इएन्ना (इनन्ना) के मन्दिर का निर्माण कराया।

ज़ग्गिसी के राज्य का थोड़े ही वर्षों में अंत हो गया। शर्रुकिन (सरगान) नामक एक अज्ञातकुलशील किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति ने उसको परास्त कर सारे इराक और उसके आसपास के क्षेत्रों पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया (२३५० ई० पू०)। सिप्पर के पास अगेंद नगर को उसने अपनी राजधानी बनाया। सीरिया में उसके साम्राज्य के विकास का दूसरा अध्याय तब आरम्भ हुआ जब शर्रुकिन ने समुद्र तट तक अधिपति होने की घोषणा कर दी। उसके एक लेख से यह प्रतीत होता है कि उसका साम्राज्य सीरिया और साइप्रस द्वीप के समीप तक फैल गया था। सम्भव है कि इसमें अत्युक्ति हो। मृत्यु के उपरान्त लोगों ने अपने हृदय में उसे देवता का स्थान दिया।

अक्कद का दूसरा उल्लेखनीय सम्राट् 'नरम् सिन' हुआ। उसने साम्राज्य की उत्तरी और पूर्वी सीमाओं को आगे बढ़ाया। पश्चिम में लाल सागर से भूमध्य सागर के तट तक उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। अपनी विजयों का सजीव वर्णन भी सूसा की शिला पर उसने उत्कीर्ण कराया और अपने पितामह की तरह ही मन्दिरों का निर्माण कराने में उत्साह दिखाया।

लगभग २३००—२१५० ई० पू० में अक्कद पर जगरोस पहाड़ियों की गुत्ति नामक एक भ्रमणशील जाति का भयंकर आक्रमण हुआ। गुत्तिओं का ध्येय राज्य स्थापित करना न था। वे केवल लूटमार से ही सन्तुष्ट रहते थे। उससे एक यह लाभ तो अवश्य हुआ कि प्रत्येक नगर अपनी रक्षा के लिए बल बढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। फिर भी इसका परिणाम यह हुआ कि एक शताब्दी तक सुमेरिया में अत्याचार और अव्यवस्था का बोलबाला रहा। आखिरकार लगश नगर ने गुडिया नामक एक वीर योद्धा के नेतृत्व में अपनी मान-मर्यादा की बहुत कुछ रक्षा कर ली। गुडिया की प्रेरणा से उस नगर ने कला, धर्म तथा साहित्य में कुछ उन्नति कर ली। अपनी सेवाओं के कारण उसको भी देवत्व की उपाधि प्राप्त हुई। उसके सिवा एरिच वालों ने भी गुत्तिओं से देश को मुक्त कराने में उल्लेखनीय उत्साह दिखाया। किन्तु नम्मू नाम के एक व्यक्ति की (२१२५ ई० पू०) योग्यता और परिश्रम से उर नगर ने सबसे अधिक ख्याति प्राप्त की और सुमेर तथा अक्कद प्रान्तों को भी उसने अपने अधीन कर लिया। लगभग सौ वर्ष तक उर नगर के नेतृत्व में सुमेरिया शान्ति और सौख्य के साथ सास्कृतिक उन्नति करता रहा। उस युग के धार्मिक साहित्य, मन्दिर, तक्षण कला, राजभवन, पुस्तकालय आदि के अवशेष उसकी कलाप्रियता की आश्चर्यजनक साक्षी देते है। ऊरुनम्मू ने कानून रचना का जो आरम्भ किया उसे उसके वंशज शुल्गी ने इतना उदार तथा व्यवस्थित कर दिया कि आने वाले राजाओं के लिए वह आईन का आधार बन गया।

ईसा से करीब दो हजार वर्ष पहले सेमेटिक जाति की मरतू (एमोराइट) नामक शाखा ने पश्चिम की ओर से तथा एलाम (पारस) वालों ने पूर्व की ओर से आक्रमण किये। मरतू लोगों ने उत्तरी भाग (अक्कद प्रदेश) और एलाम वालों ने उर नगर पर अधिकार जमा लिया। उन आक्रमणों ने सुमेरिया के साम्राज्य को सदा के लिए नष्ट कर दिया। एक सहस्त्र वर्ष से अधिक तक सुमेरिया का दौर-दौरा रहा। उसका प्रभाव बेबीलॉन, फारस पर ही नहीं अपितु सिन्ध और मिस्त्र तक भी जा पहुँचा था। अनुमान किया जाता है कि सबसे पहले सम्भवतः वहीं से नगर राज्यों, साम्राज्यों, कृत्रिम सिंचाई, सोने-चाँदी की दरों, व्याज, तथा कानूनी लिखा-पढ़ी, लिपि शैली, पाठशालाओं, साहित्य, आभूषण के साधनों, मन्दिरों और महलों, शिल्प, मेहराबों, गुम्बदों आदि का सूत्रपात हुआ था। उसका दूसरा पहलू चिन्ताजनक था क्योंकि बड़े पैमाने की गुलामी, निरंकुश सत्ता, धर्मा-

धिकारियों की सत्ता और साम्राज्यवाद का प्रचलन भी वहीं से हुआ। सभ्यता के विकास में उसकी देन बड़े महत्व की मानी जाती है। उसके प्रदर्शित मार्ग का कुछ न कुछ अनुसरण ग्रीस, रोम, ईरान और सम्भवतः भारतवर्ष ने भी किया। कुछ लोगों की तो यहाँ तक धारणा है कि चीन तक उसका प्रभाव जा पहुँचा।

सामाजिक जीवन और रहन-सहन

सुमेरिया के लोग जैसा ऊपर लिखा गया है, सेमेटिक जाति के न थे, यद्यपि आगे चलकर दोनों का सम्मिश्रण हो गया। उनका रंग गेहुँआ, नाक ऊँची, माथा ढालू, कद छोटा और नेत्र नीचे की ओर झुके हुए होते थे। कुछ लोग सिर पर बाल रखते और कुछ मुँड़वा डालते थे। साधारण लोग कमर से ऊपर का हिस्सा खुला और नीचे का भाग घुटने तक ऊनी तहमत से ढका रखते थे। धनी लोगों की पोशाक गले तक होती थी। आरम्भ में रहने के लिए सरकण्डे की झोपड़ियाँ उन्हें काफी थीं किन्तु धीरे-धीरे मिट्टी के और फिर पक्की ईटों के मकान बनने लगे। बीस इंच लम्बी, उतनी ही चौड़ी और साढ़े तीन इंच मोटी ईटें काम में लायी जाती थीं। लकड़ी या पत्थर के मकान उन साधनों के अभाव के कारण वहाँ न बनाये जा सके। सुमेर और अक्कद की सयुक्त जनसंख्या शायद दस लाख रही होगी। लगश नगर की जनसंख्या साठ हजार थी। नगरों में अमीर, मध्य श्रेणी के तथा गरीब और गुलाम रहते थे। गुलामों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। राज्य में केवल दो श्रेणियाँ मानी जाती थीं---एक तो स्वतन्त्र लोगों की और दूसरी गुलामों की। यों तो अन्तिम निर्णय पुरुष का ही होता और किसी-किसी दशा में वह स्त्रियों को बेच सकता अथवा उनके द्वारा कर्ज चुका सकता था, तथापि साधारणतया स्त्रियों के भी कुछ अधिकार होते थे। अपने पिता के घर से प्राप्त दहेज पर उनका पूरा अधिकार होता था और उसे वे जिसे चाहतीं दे सकती थी। वे स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सकतीं और निजी दास भी रख सकती थी। यदि स्त्री वन्ध्या होती तो उसे तलाक दिया जा सकता था और यदि वह सन्तान उत्पत्ति से इनकार करती तो डुबो दी जाती थी। व्यभिचारी पुरुष को क्षमा किन्तु व्यभिचारिणी को प्राण दण्ड दिया जाता था। माता-पिता का सन्तान पर पूरा अधिकार था। वे उन्हें घर से ही नहीं वरन् नगर से भी निकाल सकते थे। पिता के न रहने पर माता का ही अनुशासन चलता था। स्त्रियों को जीवन में ही नहीं वरन् मृत्यु के बाद भी

आभूषण पहनाये जाते थे। रानी सिंहासन पर बैठने की अधिकारिणी मानी जाती थी।

सुमेरिया की शासन-व्यवस्था

कुछ विद्वानों की राय में ऐतिहासिक युग के पहले सुमेरिया में बड़े-बूढ़ों की सभा शासन करती थी किन्तु ऐतिहासिक युग के आरम्भ से ही वहाँ राजसत्ता प्रचलित हो गयी। सुमेरिया के लोगों का विश्वास था कि संसार का शासन वस्तुतः देवताओं की सभा करती है। देवताओं की संख्या अगणित है किन्तु उनका मुख्य देवता है 'अनु' (आकाश का देवता), जो देवसभा का सभापतित्व करता है। उसी से अन्य सब देवता अधिकार प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार देवताओं को शक्ति और बल 'अनिल' देवता (गर्जन-तर्जन का प्रभंजन) प्रदान करता है। वही देवताओं की इच्छा को कार्यान्वित करता है। इनके उपरान्त देवी 'निनमह' (धरती माता) तथा 'एंकी' (जलदेवी) का स्थान है। देवता और देवियाँ ही संसार का संचालन करती हैं। मनुष्य को उनकी इच्छा के अनुकूल चलने के सिवा कोई चारा नहीं, क्योंकि वह निर्बल और नश्वर है। इसलिए मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह भी अपना विधान देवताओं के विधान के अनुसार बनाकर उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करे। उनको सेवा और आज्ञा का पालन करना ही मनुष्य का अधिकार एवं कर्तव्य है। उक्त सिद्धान्त के अनुसार नगर-राज्य का मुख्य शासन-कर्त्ता वहाँ का देवता था। उसकी सेवा का विशेष भार राजा तथा मुख्य पुजारी पर था। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिए नगर के वयस्क जनों की सभा आमन्त्रित कर ली जाती थी। दिन-प्रतिदिन के साधारण कार्य के लिए वयोवृद्धों की एक कार्यकारिणी सभा थी। विशेष कार्य के लिए सभा अपने लोगों में से एक को चुन लेती थी। राजकाज, शासन आदि में स्त्रियों, बालकों तथा गुलामों को भाग लेने का अधिकार न था।

नगर का मुख्याधिष्ठाता तथा देवता का प्रतिनिधि राजा होता था, यद्यपि देवालय के मुख्य धर्माधिकारी का कर्त्तव्य था कि वह धर्म और शान्ति की रक्षा करे। केवल दुष्टों और शत्रुओं का दमन करना ही नहीं वरन् एकच्छत्र राज्य स्थापन राजा का कर्त्तव्य था। यदि दैविक विधान का अक्षरशः पालन किया जाय तो पृथ्वी पर एक ही अधिराज (लुगल) महाराजा होना चाहिए जैसा कि विश्व में 'अनु' है। इस आदर्श तथा अन्य नीतिक, आर्थिक और शासनिक आवश्यकताओं

के कारण राजाओं में प्रमुख बनने की प्रेरणा अनिवार्य-सी हो गयी। जिस नगर का राजा विजय प्राप्त कर लेता वही का देवता राज्य का देवता माना जाता था। विजित नगर का देवता भी उस नगर के देवता के अधीन समझा जाता था। राजा को प्रजा से जिन्स के रूप में कर मिलता था।

राज्य-विस्तार के साथ शान्ति के स्थापन के लिए मन्त्री तथा सामन्तों की नियुक्ति की गयी। नगर का शासक 'एनसिस' कहा जाता था, जिसको नियुक्त करना या हटाना राजा का अधिकार था। सामन्त अपने क्षेत्र की आमदनी से एक सेना सज्जित करता और वहाँ का शासन करता था। आवश्यकता पड़ने पर सामन्त राजा को सैनिक सहायता देता था। उक्त सेवाओं के कारण उससे किसी प्रकार का कर नही लिया जाता था।

सुमेरिया के राज्यों का क्षेत्र लगभग सौ वर्ग मील था। कृषि, जल-वितरण, व्यापार तथा जनसंख्या बढ़ने के कारण राजाओं मे संघर्ष अनिवार्य सा हो गया था।

आर्थिक व्यवस्था

उर के तीसरे राजवंश के खपड़ों पर उत्कीर्ण लेख हजारों की सख्या में मिले हैं जिनसे तत्कालीन आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन के समझने में अभूतपूर्व सहायता मिलती है। पहले यह समझा जाता था कि सुमेरिया का आर्थिक जीवन देवालयों पर आश्रित था किन्तु वह धारणा अब ठीक नही मानी जाती। यद्यपि यह ठीक है कि खेती करने के लिए मन्दिरों के अधिकार में बहुत जमीन छोड़ दी गयी थी किन्तु उसका अनुपात कृषि-योग्य भूमि का केवल छठा अंश था। सुमेरिया का आर्थिक विधान मुख्यतः कृषि पर अवलम्बित था, यद्यपि वहां खासा व्यापार भी होता था। खेत बैलों से जोते जाते और नदी, नहरों तथा नालियों से उनकी सिचाई होती थी। गेहूं, जौ, तिल, मटर तथा अन्य बीजों की फलियां भी पैदा की जाती थीं किन्तु जौ की खेती अधिक होती थी। अनाजों के सिवा लोग खजूर तथा अनार के पेड़ लगाते थे। खेतों के पार चरागाह होते जिन पर भेड़े, बकरिया, गाये और सुअर चरते फिरते थे।

सरगन के समय की कृषि का कुछ पता चलता है। उदाहरण के लिए एक उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि लगश के एक देवालय के पास दस हजार एकड़ से भी अधिक कृषि-योग्य भूमि थी। मन्दिर तथा उससे सम्बद्ध सेवकों के लिए आवश्यकता के अनुसार खेत रक्षित करने के उपरांत बाकी सब जमीन लगान पर किसानों को

दे दी जाती थी। सबसे अधिक और प्रामाणिक सामग्री उर नगर के तृतीय राजवंश के युग की प्राप्त हुई है। मिट्टी के खपड़ों पर खचित हजारों लेख मिले हैं जिनसे तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था पर बहुत प्रकाश पड़ा है। यह निश्चित सा है कि कृषि के लिए भूमि नापी जाती थी और खेतो के बीजों के वजन और पैदावार का विस्तृत लेखा-जोखा रखा जाता था। मवेशियों, व्यापार, उद्योग, यातायात, मजदूर आदि सम्बन्धी कार्यो का व्योरा लिख लिया जाता था। जमा-खर्च का हिसाब रखने का ढंग, यूरोप वालों से पैंतीस सहस्र वर्ष पूर्व, मेसोपटेमिया वालों ने आविष्कृत किया था। आवश्यक लेखों पर मोहर बना दी जाती थी। यद्यपि अधिकांश लेख देवालय सम्बन्धी है तथापि उनसे साधारण सस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था की भी झलक दिखाई पड़ती है। अनुमान किया गया है कि लगश के एक दर्जन से कुछ अधिक देवालयों के अधिकार में लगभग सौ वर्ग मील कृषि-योग्य भूमि थी।

कृषि के सिवा मैसोपटेमिया में ऊन, ऊनी कपड़ों, चमड़े, सोना, चादी और कांसे की चीजों का काम होता था। मन्दिरों और राजभवनों में कारीगर नौकर रख लिये जाते थे जिनके काम, मजदूरी की दर आदि का हिसाब बाकायदा रखा जाता था। पिसाई का काम प्रायः स्त्रियां करती थी। सुमेरिया में कई तरह की जौ की शराब भी बनाई जाती थी।

नगरों का व्यापार जल तथा स्थल मार्गो से होता था। टीन, तावा, कांसा, सोना, चादी, हाथीदात और हड्डी से बरतन तथा जेवर बनायें जाते थे। ऊन से कपड़े बुने जाते थे। चमड़े का भी काम होता था। व्यापार या तो विनिमय द्वारा होता था अथवा निश्चित वजन के चांदी या सोने के टुकड़ों से। उधार अथवा कर्ज पर भी लेन-देन करते थे किन्तु सूद की दर पन्द्रह से तैंतीस प्रतिशत तक होती थी।

शिक्षा-दीक्षा

व्यापार, मन्दिरों के हिसाब-किताव एवं धर्माज्ञाओं के कारण सुमेरियनों को लिपि तथा गणित का आविष्कार करना पड़ा। उनको सच्चे अक्षरों का ज्ञान न था। उनकी लिपि को क्यूनीफार्म-चिह्नलिपि कहते हैं। ऊपर से नीचे लिखते थे किन्तु वह बायी से दाहिनी ओर पढ़ी जाती थी। प्रत्येक प्रतीक एक सिलेबिल (शब्दखंड) का द्योतक होता था। इनकी संख्या चार सौ से कम न थी। सुमेरियनों का सबसे पुराना लेख साढ़े पांच हजार वर्ष का मिला है। ईसा से २७०० वर्ष पहले उन्होंने लेख-भांडार अथवा पुस्तकालय बना लिये थे। ऐसे एक संग्रहालय में खपड़ों पर

खचित तीस हजार लेख तरतीब से रक्खे मिले हैं। उनमें कविताएँ, प्रार्थनाएँ और गाथाएँ मिलती हैं। इनके सिवा कानूनी लेन-देन या लिखा-पढ़ी वाले सबसे पुराने लेख संभवतः सुमेरिया में ही मिले हैं। अंक गणित, ज्योतिष, नाप-जोख का उनको कामचलाऊ ज्ञान हो गया था। उनका वर्ष बारह महीने का था किन्तु महीने का आरम्भ वे चन्द्रमा से गिनते थे। इसीलिए हर तीसरे वर्ष उनको एक महीना बढ़ाना पड़ता था। चन्द्रमा की पहली कला, अर्द्धचन्द्र तथा पूर्णचन्द्र का स्वागत वे बड़े उत्साह से करते थे।

कला-कौशल

सुमेरिया के कवियों की रचनाओं के कुछ अंश मिलते हैं जिनसे उनकी साहित्यिक रुचि का अनुमान किया जा सकता है। देवताओं की स्तुतियां और प्रार्थनाएँ महाबलवान गिलगमेश के अपूर्व बलप्रदर्शन की प्रशंसा, सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना, जलसे पिता आकाश और माता पृथ्वी की उत्पत्ति, तथा देवताओं की वंशावली उनमें दी गयी है। प्रलय की कथा, स्वर्ग का स्वरूप जिसमें जरा, मृत्यु, आदि का अभाव था उनके काव्य के विषय हैं।

वास्तु कला तथा तक्षण कला की भी वहाँ कुछ उन्नति हो चुकी थी। पत्थर के अभाव के कारण उनकी इमारतें ईंटों से बनायी जाती थी। जिससे कला की उतनी उन्नति न हो सकी जितनी कि अन्यत्र संभव हुई। उन्हें मेहराब बनाना आता था यद्यपि बड़े पैमाने पर उसका विकास वहां न हुआ। एक के ऊपर एक वेदिकाओं वाली कई मंजिलों की 'जिगुरत' नामक इमारत उनकी विशाल निर्माण क्षमता का अच्छा प्रमाण हैं। जिगुंरत को वे लोग स्वर्ग-यात्रा की सीढ़ी मानते थे।

सुमेरियनों की सख्त पत्थर की तक्षण कला अधिक उन्नत न हो सकी। उनकी गढ़ी मूर्तियां भोंडी सी, निर्जीव सी हैं किन्तु नरम पत्थर और धातुओं की मूर्तियां अच्छी खासी हैं। सीप से जड़ाऊ काम बनाने में उन्हें उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हो गयी थी।

धर्म

सुमेरिया के निवासियों की धर्म में बड़ी श्रद्धा थी और देवताओं में गहरा विश्वास। इसी श्रद्धा से उनका जीवन ओतप्रोत था। जैसा कि पहले संकेत किया

गया है, वे लोग सर्वत्र, तथा प्रत्येक प्राकृतिक चमत्कार में किसी न किसी दैविक शक्ति की सत्ता की कल्पना करते थे। वे व्यक्ति के, स्थान के, जाति के तथा विश्व के देवताओं का अस्तित्व मानते और उनका आदर-सम्मान करते थे। आकाश का देवता 'अन' उनमें सर्वश्रेष्ठ तथा जगत्पिता माना जाता था। साठ का अंक उसका प्रतीक समझा जाता था। साधारणतया वह देवताओं तथा मनुष्यों से पृथक् और तटस्थ रहता था। उससे नीचे 'एनलिल' देवता की, जिसका प्रतीकांक पचास था, गणना थी। वही संसार की व्यवस्था का स्थापक और अन्य सब देवताओं का अधिष्ठाता एवं शासक माना जाता था। उसके बाद चालीस अंक के प्रतीक वाले देवता (एनकी ?) का स्थान था। वह ज्ञान का स्रोत था जिससे आयुर्वेद, लेखन कला, संस्कृति आदि का प्रवाह चलता था। चौथा स्थान तीस अंक के प्रतीक वाले 'नवनर' नामक चन्द्रदेव का था जिससे गणित और फलित ज्योतिष का आविर्भाव हुआ माना जाता था। पाँचवां 'उतु' नामक सूर्य देवता था जिसका प्रतीक अंक बीस था। न्याय का कार्य उसका विशेष क्षेत्र था। उपर्युक्त देवताओं के पश्चात् 'इनन्ना' देवी का स्थान था जिसका प्रतीक अंक पन्द्रह था। वह प्रेम की प्रमुख अधिष्ठात्री होने के साथ ही साथ युद्ध की भी देवी थी। इन सबके सिवा बहुत से अन्य देवी-देवताओं में लोगों का विश्वास था। कुछ देवता हितचिन्तक एवं हितकारक और कुछ हानिकारक माने जाते थे। किसी स्थान पर एक देवता और कहीं दूसरे देवता का प्राधान्य था। उदाहरण के लिए एनलिल का निप्पर नगर में, एनकी का एरुद् में, नन्नर का उर में, इनन्ना का उरुक में मुख्य स्थान माना जाता था। भयंकर देवों में 'नरगल', जो पाताल लोक में निवास करता तथा कुछ नगरों का अधिष्ठाता था, प्रमुख माना जाता था। सुमेरियों के देवता कुमार न थे, वे दाम्पत्य जीवन से विमुख न थे, सभी की अर्द्धांगिनियाँ थीं।

सुमेरिया के निवासी मूर्तिपूजक थे। वे अपने देवताओं की मर्यादा के अनुकूल मन्दिर बनाकर वहाँ उन्हें प्रतिष्ठित करते, बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ उनकी स्तुति और प्रार्थना करते थे। फल, फूल, दूध, मक्खन से ही नहीं वरन् पशु-पक्षी के मांस तथा मछली से और कभी कभी नरबलि से भी देवताओं का पूजन किया जाता था। उनको प्रसन्न रखने तथा उनके मनोरंजन के लिए देवदासियां रखी जाती थीं जो उनकी ही नहीं वरन् उनके नर-तनुधारी प्रतिनिधियों की भी तन मन से सब प्रकार की सेवा करती थीं। बाद के युगों और संस्कृतियों की धारणा के अनुसार उपर्युक्त व्यवस्था व्यभिचार-पोषक मानी गई किन्तु तत्कालीन संस्कृति के अनुसार

वह व्यभिचार की सूचक न होकर निश्छल और अशेष आत्मसमर्पण की प्रमाण समझी जाती थी।

मंदिर की देख-रेख और विविध प्रकार के प्रबन्ध करने के लिए प्रतिवर्ष पुजारी नियुक्त कर दिये जाते थे जिनका प्रधान या तो स्वयं राजा अथवा उसका कोई राजकुमार होता था। मन्दिरों के खर्च के लिए सैकड़ो-हजारों एकड़ जमीन दान कर दी जाती थी। खुदकाश्त के लगान, और दूकानों के किराये से अच्छी आमदनी होती रहती थी।

सुमेरिया वालों का विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् प्रकाशमय परलोक मिलता है जहाँ भले-बुरे सभी को जाना अनिवार्य है। नरक का अंधकार-ग्रस्त लोक उनकी कल्पना में नहीं आया था। मृतकों को दफनाते समय उनके साथ भोज्य पदार्थ, अस्त्र-वस्त्रादि रख देते थे। सुमेरिया वालों ने मृत्यु के उपरान्त की स्थिति को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि मिस्र वालों ने दिया था।

बेबीलोनिया

उर नगर के पतन होने से मेसोपटेमिया के तीन टुकड़े हो गये। उत्तर में 'बेबीलॉन', मध्य में 'इसिन' और दक्षिण में 'लग्स'। इस दुर्घटना के प्रमुख कारण सुमेरिया पर हुए एलाम वालों के आक्रमण और अन्तिम सेमेटिक जाति के एमोरित वंश द्वारा किया गया भयंकर आक्रमण था। दो युद्धशील शत्रुओं के बीच मे पिसकर सुमेरिया के टुकड़े हो गये। लगभग दो सहस्र वर्ष ईसा से पूर्व एमोरित वंश ने बेबीलॉन में अपनी सत्ता का केन्द्र बनाकर धीरे धीरे उत्तरी प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। बेबीलॉन के आगे उत्तर में असीरिया था। यद्यपि एमोरित लोगों की भाषा दूसरी थी तथापि लिखने के लिए उन्होंने सुमेरिया की रेखा चिह्न लिपि का आश्रय लिया। तबुओं में रहना छोड़कर वे घरों में रहने और नागरिक जीवन के प्रवाह में बहने लगे। धीरे धीरे एमोरितों और सुमेरिया वालों का इतना सम्मिश्रण हुआ कि वे एकरस हो गये।

बेबीलॉन में दो राजवंशों का शासन रहा है। प्रथम, एमोरित वंश का छठा राजा हम्मूराबी (१४ शती ई० पू०) बड़ा यशस्वी और प्रतापी निकला। उसने एलाम के राजा रिमसिन को उरुक और इसिन से निकाल दिया। लसर को जीतने के उपरान्त उसने असीरिया पर आक्रमण कर अपने राज्य की सीमा उत्तरी सीरिया तक बढ़ा दी। उसका साम्राज्य उतना बड़ा हो गया जितना कि उर के तृतीय

राजवंश का था। उसके साम्राज्य के कारण सुमेर और अक्कद भी बेबीलोनिया कहे जाने लगे। सुमेरिया की संस्कृति का इस नये साम्राज्य में विशेष संवर्धन और उत्कर्ष हुआ। हम्मूराबी ने किशनगर से फारस की खाड़ी तक नहर बनवा कर बहुत सी भूमि को उपजाऊ कर दिया। अपने देवता भारद्दुक के लिए उसने बहुत बड़े देवालय का निर्माण कराया। अनेक महलों, मंदिरों के सिवा उसने फरात नदी पर एक पुल भी बनवाया। हम्मूरावी की ख्याति का विशेष कारण उसका न्याय-विधान या कानूनों का संग्रह है जो उसके लेखानुसार उसे सूर्यदेव (शम्स) से प्राप्त हुआ था। उसी के लेखानुसार उस कानून का ध्येय था प्रबलों के अत्याचार से निर्बलों की रक्षा करना तथा जनता की भलाई के लिए पृथ्वी पर आलोक फैलाना। उसका आदर्श था न्याय और सदाचार की स्थापना करना और पिता के तुल्य प्रजा का पोषण एवं उत्कर्ष बढ़ाना। कानूनों के उपर्युक्त संग्रह में २८५ नियम व्यवस्थित रूप से विभक्त है। निजी सम्पत्ति, जायदाद, व्यापार, व्यवहार, कुटुम्ब, फीस, मजदूर एवं मजदूरी आदि विभागों में कानून संगृहीत हैं। उन कानूनों का दंड-विधान कुछ कठोर है। उदाहरणार्थ उड़ाऊ स्त्री, मधुशाला में जाने वाली पुजारिन, व्यभिचारी, डाकू और चोर आदि के लिए प्राणदड देने की उसमें आज्ञा है। दंड विधान प्रतिशोध के सिद्धान्त पर अवलम्बित थे। पहले लोगों की धारणा थी कि हम्मूराबी के कानून ससार के सगृहीत कानूनों में सबसे प्रथम है किन्तु आधुनिक गवेषणा ने यह स्थापित कर दिया कि उस परिपाटी का सुमेरिया वालों ने बहुत पहले ही सूत्रपात कर दिया था यद्यपि उनका विधान उतना विस्तृत और व्यवस्थित न हो पाया था।

हम्मूराबी ने चालीस वर्ष तक राज्य किया (१८०० ई० पू०)। बेबीलोनिया का प्रथम राजवश लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक चला। तदनन्तर उस पर दक्षिण और उत्तर से आक्रमण होने लगे। एशियाई कोचक से हिट्टी लोग लूटमार करते रहे। परन्तु सबसे विनाशकारी आक्रमण जग्रोश पहाड़ों की ओर से कस्सी लोगों का सिद्ध हुआ। कस्सी हिट्टियो की तरह संभवतः इन्डो-आर्यभाषाभाषी थे। गण दश नामक उनका नेता दलबल सहित आकर दजला-फरात के पठार में बस गया। यद्यपि उसका राज्य छोटा था तथापि बेबीलोनिया की शक्ति उस राज्य का दमन करने में असमर्थ रही। बेबीलोनिया के पुराने राज्य का पतन ईसा से सोलह वर्ष पूर्व हुआ तथापि एमोरित लोगों की बची-खुची सत्ता का नाश संभवतः सोलहवी शती ई० पू० में हो चुका था। यह क्या कम है कि उनकी संस्कृति तथा भाषा का सम्मान सैकड़ों वर्ष

तक होता रहा। उसका प्रयोग हिट्टियों, सीरिया और मिस्र में भी होता रहा। उनकी संस्कृति का प्रभाव पश्चिमी एशिया पर ही नहीं वरन् ग्रीस की सभ्यता पर भी पाया जाता है।

समाज

सुमेरिया की तरह बेबीलान में भी समाज की तीन श्रेणियां थीं किन्तु उनके स्थान और अधिकार अधिक स्पष्ट तथा व्यवस्थित कर दिये गये थे। पहली श्रेणी में राजा, राज्य के पदाधिकारी, सेना के अफसर, धर्माधिकारी, जमींदार, धनी व्यापारी आदि थे। दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत मजदूर तथा साधारण किसान थे जो अपने खेत की उपज का तृतीयांश लगान के रूप में देते थे। तीसरी श्रेणी में थे युद्ध में पकड़े हुए लोग अथवा वे जो कर्ज अदा न करने के कारण गुलाम बना दिये गये थे। पहली श्रेणी के लोगों को बदला लेने का अधिकार था किन्तु उन्हें जुर्माना अधिक देना पड़ता था। दूसरी श्रेणी वालों को क्षति के लिए जुर्माना और हर्जाना स्वीकार करना पड़ता था। तीसरी श्रेणी के लोगों को गुलाम की हैसियत से अपने स्वामियों की दासता में रहना पड़ता था। फिर भी वे लोग अपना विवाह कर सकते, अपनी सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियों को दे सकते, और दासता से मुक्ति प्राप्त कर सकते थे। दास स्वतंत्र स्त्री से व्याह कर सकता था और उसकी सन्तान स्वतंत्र समझी जाती थी।

समाज की आधारशिला परिवार मानी जाती थी। स्त्रियों की भी स्थिति उस समाज में खराब न थी यद्यपि अच्छे घराने की स्त्रियां जनानखाने में रहती थीं। उनको अपनी खास सम्पत्ति रखने, अदालत में दावा करने, व्यापार करने, लेखिका बनने तथा तलाक देने के अधिकार पुरुषों के समान थे। विवाह के पूर्व स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता रहती थी। माता-पिता कुमारियों का ब्याह करा देते थे। प्रायः लोग एक ही स्त्री से ब्याह करते थे। साधारणतः दम्पत्ति के अच्छे आचरण होते थे क्योंकि व्यभिचारी को प्राणदंड तक देने का विधान था। अनाथों और विधवाओं के साथ विशेष रूप से न्याय किया जाता था। बेबीलोनिया के कानून में अवस्था का कोई विचार नहीं किया जाता था। अतः छोटे-बड़ों अथवा लड़कों और वयस्कों का समान रूप से न्याय किया जाता था।

आर्थिक व्यवस्था

बेबीलोनिया का आर्थिक जीवन अधिकतर कृषिमूलक था। वहां की भूमि का

बहुत बड़ा अंश राजा और पदाधिकारियों तथा धर्माधिकारियों के हाथ में था। फिर भी सेमेटिक विधान के अनुसार भूमि मन्दिरों तथा पदाधिकारियों के अधिकार से धीरे धीरे निकलने लगी और नियमानुसार मृत्यु के उपरान्त वह मृतक के उत्तराधिकारियों में बंट जाती थी। बँटवारा होते होते ऐसी नौबत आ जाती जिसमें वंशजों के हाथ में छोटे छोटे भूमि के टुकड़े ही रह जाते जिनसे अपना निर्वाह असंभव समझकर वे उन्हें बेच डालते थे। इस प्रकार बड़े-बड़े जमींदारों के अधिकार से निकल कर बहुत सी जमीन या तो व्यापारियों या ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चली जाती थी जो उसे लगान पर दूसरे व्यक्तियों को खेती करने के लिए दे देते थे। यह परिस्थिति देखकर हम्मूराबी ने जमीन बेचने का अधिकार बड़े जमींदारों के लिए सुरक्षित रखा किन्तु छोटे किसानों को न दिया। इसके सिवा उसने नयी जमीन पर खेती करने के लिए लोगों को उत्साहित किया। उधर जनसंख्या बढ़ने से भी नयी भूमि पर खेती करना अथवा कराना आवश्यक हो गया। राज्य ने अनेक नहरें और नालियां बनवा दीं जिनकी देखरेख और ठीक रखने का भार काश्तकारों को दिया गया। यदि कोई उनको बिगाड़े अथवा ठीक न रखे तो उसको जुर्माना देना पड़ता था। अनाज तथा तरकारी की खेती के अलावा लोग फलों का, विशेषकर खजूर का, बाग लगाते थे। यदि बाढ़ आदि दैवी दुर्घटना से कृषि का नाश हो जाय तो किसान का लगान माफ कर दिया जाता था। वहां के लोग ऊंट, घोड़े, बैल, भेंड़ और गधे तथा बकरे पालते थे जिनसे दूध और चमड़े के अतिरिक्त माल लादने तथा सवारी का काम निकलता था।

सुमेरिया के मुकाबले में बेबीलोनिया ने व्यापार में अधिक उन्नति की। उसका एक कारण तो कृषि-योग्य जमीन की कमी और दूसरा खरीद-फरोख्त के लिए धातुओं के टुकड़ों का अधिकाधिक उपयोग होना था। बेबीलोनियनों को सिक्कों का ज्ञान न था इसलिए वे धातुओं के टुकड़ों को वजन के अनुसार काम में लाते थे। बेबीलॉन ने अधिकाधिक मात्रा में तांबा, चांदी, सोना और राँगा मँगाना शुरू किया। आयात में हाथीदांत, जवाहरात, लकड़ी और इमारत बनाने के पत्थरों की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। व्यापार की वृद्धि के साथ व्यापारियों, दलालों और लेन-देन करने वाले महाजनों की संख्या बढ़ी जिससे संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। व्यापारियों के अलावा मन्दिर के अधिकारी भी लेन-देन करते थे। फलतः उनके संघ अथवा श्रेणियां बन गयीं। वे स्वयं अपने नियम बनाते थे। पहले तो राजाओं ने हस्तक्षेप न किया किन्तु आगे चल कर वे कमोबेश नियंत्रण करने लगे। कार्य का

व्यवस्थित संचालन करने के लिए लेन-देन, सूद, हुंडी, वसीयतनामा आदि की लिखा-पढ़ी, बांट, सांझा आदि के कानून बना दिये गये। कानून द्वारा मजदूरी की दर और वस्तु का मूल्य निश्चित किया गया। उपर्युक्त आयात के बदले बेबी-लोनिया से सिले और गैर सिले कपड़े, चांदी, तेल, शीशे और तांबे की बनी बढ़िया चीजें, लकड़ी का फर्नीचर, हाथीदांत की बनी कारीगरी की चीजें तथा अच्छी ईंटों का बहुत निर्यात होता था। सूद की दर पचीस प्रतिशत प्रतिमास थी।

शासन

एक सत्तात्मक राज्य बेबीलान में भी था। राजसत्ता के पोषक जमींदार एवं धनिक व्यापारी तथा धर्माधिकारी थे। स्थानिक शासन में जमींदार का प्रभुत्व रहता था क्योंकि अपने बल के सिवा राजा के भी बल का उसे भरोसा रहता था। फिर भी स्थानिक एवं नागरिक शासन में वयोवृद्ध तथा प्रभावशाली व्यक्तियों से परामर्श और सहायता ली जाती और उनका न्यूनाधिक दबाव भी रहता था। राजा से लेकर प्रजा तक सब लोग सूर्य-प्रदत्त हम्मूराबी कानून का सम्मान करते थे। न्यायालय प्रायः मन्दिरों में होते थे जिनमें पहले तो धर्माधिकारी ही परन्तु बाद को अन्य लोग भी न्यायाधीश नियुक्त किये जाते थे। राजा अपने किसी भी पुत्र को राज्याधिकारी बना सकता था। इसका परिणाम यह होता था कि प्रत्येक राजकुमार को आशा रहती कि शायद वही राजा हो जाय। फलतः राजकुमारों में दलबन्दियां और षड्यंत्र चलते रहते जो कभी-कभी भयंकर गृह युद्ध का रूप धारण कर लेते थे।

शिक्षा-दीक्षा

बेबीलॉन में शिक्षा-दीक्षा के केन्द्र वहां के देवालय थे। बेबीलोनिया वाले विद्या तथा लेखन कला के बड़े प्रेमी थे। उन्हें पौराणिक ढंग की कथाओं, गिलगमिश की वीरगाथाओं, उपदेशात्मक आख्यायिकाओं एवं कहानियों तथा कहावतों के लिखने का शौक था। गणित तथा ज्योतिष के क्षेत्रों में उन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। यूरोपीय विद्वान् भी मानते हैं कि ज्योतिष का ज्ञान उनको बेबिलान से मिला। उनका सबसे प्रख्यात ज्योतिषी नेब रम्मानौ बिन बलत ईसा से पूर्व पांचवीं शती में प्रसिद्ध हो चुका था। गणित के आधार पर उसने यह परिणाम निकाला था कि चन्द्र और सूर्य ग्रहण निश्चित प्राकृतिक नियम के अनुसार पड़ते रहते हैं। उनमें कोई अदृश्य रहस्य नहीं। उसने चन्द्रमा की गति के अनुसार एक जंत्री भी तैयार की जो

कई सौ वर्ष तक पश्चिमी एशिया और ईरान में चलती रही। उसकी गणना टोलेमी तथा कोपर्निकस की गणना से अधिक अच्छी मानी जाती है। फलित ज्योतिष पर भी बेबीलोनिया में काफी विचार और परिश्रम किया गया। गणित में वे सुमेरिया वालों के जोड़, बाकी, गुणा, अंश, सूक्ष्मांश चतुर्भुज, समकोण, घनाकार आदि के चिह्नों का प्रयोग करते थे। उन्होंने गुणा, वर्ग, परिमाण के पहाड़े तैयार किये, क्षेत्रफल, राशि घनत्व आदि जानने की युक्तियां निकालीं और बीजगणित में अनेक ढंग के सुधार किये। पाइथागोरस से बारह सौ वर्ष पहले बेबीलान वालों ने उसके नाम से प्रसिद्ध थ्योरियन का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनके गणित सम्बन्धी उल्लेखों का अभी अध्ययन हो रहा है जिससे इस विषय पर और अधिक प्रकाश पड़ने की संभावना है।

निर्माण-कला

बेबीलॉन समृद्धिशाली नगर था। यद्यपि वहाँ की सड़कें सँकरी थीं और मकानों के बाहर की दीवारों का पलस्तर भद्दा था तथापि रहने के लिए मकानों में अच्छा सुभीता था। बड़े हाते के चारों ओर लोग दोमंजिले मकान बनाते थे। ऊपरी मंजिल में सोने के और नीचे रहने तथा पूजा करने और मृतक दफनाने के कमरे थे। मकान ईंटों के बनाये जाते और छतें लकड़ी की धन्नियों पर पाटी जाती थीं। राजमहल तथा मन्दिर विशाल और भव्य बनाये जाते थे। वहां के कारीगरों को खंभों, सच्चे मेहराबों और वर्तुलाकार छतों के बनाने का अच्छा खासा ज्ञान था। मन्दिरों तथा अमीरों के घरों के बाहर भी रंगीन टाइल (फर्शी खपड़े) लगाए जाते थे जिनसे इमारतों की शोभा बहुत बढ़ जाती थी। उन लोगों ने ज़िगुरतोंके बनाने में सफलता का अच्छा प्रदर्शन किया। बड़ा ज़िगुरत संभवतः सत्तर फुट की ऊँचाई तक का था। सब से ऊंचा चबूतरा देवपीठ माना जाता था।

धर्म

बेबीलोनिया में देवी देवताओं की संख्या साठ हजार से अधिक थी। बेबिलोनियनों ने सुमेरिया के देवी-देवताओं के नाम अदल-बदल कर उन्हें भी अपना बना लिया था। उनके पुराने देवताओं में थे अनू (आकाश देव) अथवा खं (ब्रह्म) शम्स (सूर्य), नन्नर (चन्द्र) तथा बेल (धरती) आदि। प्रत्येक नगर, गाँव, कुटुम्ब और व्यक्ति का अपना विशेष देवता माना जाता था जिसकी पूजा सायं प्रातःकाल

अर्घ्य, तेल, अभ्यंग, धूप, दीप, नैवेद्य के साथ बड़ी आधीनतापूर्वक भजन और स्तुतियों के साथ की जाती थी। उनको पशु, खासकर छेरा, की बलि अर्पित करते थे। बेबीलोनिया का प्रमुख देव मरदक और प्रमुख देवी 'इष्टर' थी। इष्टर तम्मूज की पत्नी थी। इष्टर रति की और तम्मूज कामदेव का प्रतीक सा जान पड़ता है। तम्मूज के दहन की कथा भी वहां कही जाती थी। बेबीलॉन निवासी देवी देवताओं से ऐहिक सुख और समृद्धि की याचना करते थे। उनका विश्वास था कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य एक अंधेरी गुफा में दुखमय काल व्यतीत करता है। उसकी यातना ठीक ढंग की अन्त्येष्टि क्रिया एवं यज्ञ से अवश्य कुछ कम हो जाती है। संभवत: परलोक की उन्होंने भव्य कल्पना ही न की थी। भूत, प्रेत, पिशाच आदि में उन्हें बहुत विश्वास था। जादू-मन्तर (मंत्र) में उनका विश्वास था और अपनी मनो-कामना की पूर्ति के लिए उसका काफी प्रयोग भी वे करते थे। देवताओं के महत्व के अनुकूल मन्दिरनिर्माण करके उसमें वे उन्हें प्रतिष्ठित करते थे। राजधानी तथा राज्य का सब से बड़ा देवतो 'मरदक' माना जाता था जिसकी प्रतिष्ठा उन्होंने एक विशाल मन्दिर में की थी। मन्दिर धन-धान्यपूर्ण रहते और उनमें पुजारी, सेवक, देवदासियां आदि नियुक्त कर दिये जाते थे। सबसे विचित्र प्रथा वहां यह थी कि प्रत्येक कुमारी को विवाह के पहले मन्दिर में जाकर किसी अपरिचित व्यक्ति को अपना कौमार्य समर्पण करना पड़ता था। पश्चिमी एशिया में ऐसी प्रथा बहुत जगह प्रचलित थी। उसके प्रतिपालन बिना प्रेम एवं संजनन की देवी इष्टर का आशीर्वाद प्राप्त होना असम्भव सा था।

बेबीलोनिया में मृतक दफनाये जाते थे किन्तु कुछ लोगों में दाह-क्रिया का भी चलन था।

अध्याय २

मिस्र

(३०००—१६०० ई० पू०)

मिस्र देश की नील नदी वहाँ की विशेष विभूति है। वह पथरीली चट्टानों को जिनके पार्श्व में रेगिस्तान है, चीरती हुई समुद्र से जा मिली है। यद्यपि प्रतिवर्ष उसमें बाढ़ आती है तथापि हटने पर वह दोनों तटों पर मिट्टी की ऐसी तह लगा जाती है जिससे अनायास ही सर्वत्र हरियाली छा जाती और अन्नादि की बहुत अच्छी उपज होती है। उसी की महिमा से मिस्रवासी सहस्रों वर्ष से फलते-फूलते रहे हैं और उनकी सभ्यता उन्नत होती रही है। समुद्र के समीप से उस स्थान तक जहाँ से वह फूटकर बही है, निचला मिस्र और उसके पीछे प्रथम प्रपात तक के प्रान्त ऊपरी मिस्र कहे जाते हैं। नदी पर समुद्र तट से लगभग पांच सौ मील तक नावें आ-जा सकती हैं। मिस्र का जलवायु अच्छा है। वहाँ गेहूं, जौ, सन तथा कपास खूब उत्पन्न होते हैं। उसी की महिमा से वहां हिरन, जिराफ, भेड़, बकरी, शेर, तेदुएं, हाथी आदि भी अपना निर्वाह करते रहते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कृतज्ञता से प्रेरित होकर मिस्र वाले नील को देवता मानते और उसकी स्तुति करते थे।

मिस्र के प्रागैतिहासिक निवासी कहां से और कब आये, निश्चित रूप से कोई नहीं कह सकता। अनुमान किया जाता है कि लगभग सात हजार वर्ष पहले वे पूर्व देश से अदन होते हुए नील के तटों पर बस गये। यह भी कहा जाता है कि हब्श देश से सेमेटिक लोगों की एक शाखा के और पश्चिमी एशिया से दूसरी स्वतंत्र शाखा के लोग आकर मिल जुल गये। यही मिश्रित लोग वहां की सभ्यता के आदिम सूत्र-धार हुए।

लगभग साढ़े तीन हजार से ३३२ ई० पू० वर्ष तक मिस्र देश में ३१ वंशों ने राज्य किया। उनका क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं होता। उनके ऐतिहासिक युग तीन हैं। पुराना (२७०० से २२८० ई० पू०), मध्य (२००० से १७८५) ई०पू० और नया (१५८० से १०८५ ई० पू०) पुराना युग तीसरे राजवंश से छठे तक, मध्य नवें से

बारहवें राजवंश तक और नया अठारहवें से बीसवें राजवंश तक का माना जाता है। अनुमान है कि आरम्भ में मिस्र के नदी-तट पर यहां वहां भिन्न-भिन्न कुटुम्ब के लोग बस गये थे जिनके रहन-सहन, विचार, संगठन आदि में बहुत कुछ समानता रही होगी। इन कुटुम्बों को ग्रीस वाले (यूनानी) 'नोम' कहते थे। कुछ विद्वान 'नोम' को छोटे राज्य का बोधक मानते हैं। प्रत्येक नोम का एक नेता होता था जो उस पर शासन करता था। मिस्रिओं को तांबे, चांदी और सोने का ज्ञान था। उनसे वे कई चीजें बना लेते थे। वे कृषि करते और नदी के ऊंचे तट पर 'शदफ' (ढेंकी) द्वारा पानी उठाकर नहरें काटते और खेतों की सिंचाई करते थे। वे अनाज पीसते, नावें चलाते, सूती कपड़े और कालीन बुनते तथा आभूषण बनाते थे। वे जानवर पालते, मिट्टी के बरतन तैयार करते और उन पर चित्र बनाते थे। उनको तीस तीस दिन के बारह महीनों का भी ज्ञान था। मकर, शृगाल और बिड़ाल की आकृति के देवता भी थे। मिस्रवासियों का परलोक में गहरा विश्वास था। वे मृतक को दफनाते समय उसके साथ अन्न, वस्त्र आदि रख देते थे।

आपसी कलह और संघर्ष से व्यथित होकर 'नोमों' ने मिल कर दो बड़े राज्य बनाये। प्रथम और द्वितीय राजवंश ३२०० से २७८० ई० पू० तक मिस्रियों पर राज्य करते रहे। उन दोनों राज्यों को एक बनाने का श्रेय 'मोन' नामक व्यक्ति को दिया जाता है। उसी को कुछ विद्वान राजा नरमेर मानते हैं। वह दोनों राज्यों पर शासन करता था। इसीलिए उसके मुकुट भी दो रंग के, लाल और सफेद, रहते थे। 'थोथ' नाम के देवता से प्राप्त कानूनों को उसने प्रचलित किया। लोगों को कुरसी-मेज़, एवं वैभव और विलास का उसी ने मार्ग दिखाया। महाराज 'पेरा' 'फैरो' की उपाधि से प्रसिद्ध हुआ। 'फैरो' का अर्थ है महावंश। उसके समय में लोग छः श्रेणियों में विभक्त थे जिनमें राजघराना, रईस-सामन्त, देवल प्रथम तीन थीं। शेष तीन श्रेणियों में लेखक, कारीगर, और कृषक थे। राजा का तो कहना ही क्या, अमीर सामन्तों के भी बड़े ठाट-बाट थे। बागीचों में उनके भवन ईंटों के बनते थे, जिनकी लकड़ी में बढ़िया कारीगरी तथा भीतरी छतों पर कशीदे या फूलदार चांदनी, बनीं होती थीं और रंगीन दीवारों, तथा शिल्पित मूर्तियां आदि के सिवा सोनहली कारीगरी की भी अपूर्व शोभा दिखाई देती थी। उनके मनोविनोद के लिए नाचने और गाने वालों का मुजरा होता था। किन्तु गांवों के किसान तथा गरीब लोग झोपड़ियों में या कच्चे मकानों में रहते थे।

इतिहास का सबसे परिचित फेरो ज़ोसेर था। उसका मंत्री इमहोतेप उससे

भी अधिक प्रसिद्ध था। वह वैद्यक में, विज्ञान में, एवं कलाओं, विशेषकर वास्तुकला में विशारद था। मिस्र वाले उसे ज्ञान-विज्ञान का देवता मानते और उसकी पूजा करते थे। उसके युग में मिस्र के व्यापार ने अपूर्व उन्नति की। अनुश्रुति कहती है कि उसी ने सक्कर के सीढ़ीदार पिरामिडों की रचना करवायी और वहां के मन्दिर बनवाये जिनके खचित स्तम्भ और रंगीन मिट्टी की वस्तुएं बड़ी सुन्दर थीं।

मिस्र के चौथे फ़ेरो वंश ने (२६८० से २५६० ई० पू० तक) इतिहास में अपना स्थान अमर बना दिया। यह उस समय राज्य करता था जब सुमेरियों का राज्य फल-फूल रहा था। उसके समय में शायद व्यापार की उन्नति, खनिज पदार्थों की प्राप्ति और युद्ध-प्राप्त धन से इतने साधन एकत्रित हो गये थे जिनसे वे संसार को चकित करने वाले गीज़ें के पिरामिड बनवाये जा सके। पिरामिड एक प्रकार का रौज़ा है जिसमें वहां के राजाओं के शव रखे गये थे। वहाँ के मुख्य पिरामिड का बनवाने वाला उस वंश का फेरो कूफू नामक था। उसके उत्तराधिकारी काफ़े ने भी उसकी समता प्राप्त करने के लिए वहीं दूसरा पिरामिड बनवाया। काफ़े ने छप्पन वर्ष राज्य किया। मिस्रवासियों का विश्वास था कि मरने के बाद यदि स्थूल शरीर की रक्षा की जाय तो उसका सूक्ष्म शरीर, जिसे वे 'का' कहते थे, उसी के साथ रहता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। इसीलिए वे उसके शव-निवास में उसकी आवश्यकता की चीज़ें भी एकत्रित कर दिया करते थे। उस सामग्री ने पुराने मिस्र के इतिहास एवं सभ्यता पर अच्छा प्रकाश डाला है। कूफू के पिरामिड में पत्थरों की तेईस लाख सिलें लगी हैं जिनमें से डेढ़ सौ ढाई टन वजन की हैं। उसकी ऊंचाई चार सौ इक्यासी फुट है। गीजे के पिरामिड पर एक पत्थर की मूर्ति १६० फुट लम्बी है जिसका सिर तैंतीस फुट लम्बा और मुख की चौड़ाई तेरह फुट आठ इंच है। उस पिरामिड के निर्माण में एक लाख आदमी बीस वर्ष तक लगे रहे। पिरामिड संसार की महा आश्चर्यजनक कृतियों में माने जाते हैं। इसके मुख्य कारण हैं उनकी कल्पना और उतने भारी वजन के पत्थरों को सुदूर से लाकर उतनी ऊंचाई पर चढ़ा ले जाना। इनके सिवा शवों को सहस्रों वर्ष तक सुरक्षित रखने की युक्ति भी वे ही जानते थे। उनके पहले और पीछे अद्यावधि किसी को यह कला न आयी।

पुरातन शासकों में अन्तिम राजा पेपी ने ९४ वर्ष तक (२७३८ से २६४४ ई० पू० तक) राज्य किया। उसके बुढ़ापे से लाभ उठाकर बलशाली व्यक्ति

स्वतंत्र होने लगे। मरने पर तो उन्होंने मिस्र में सामन्तशाही अराजकता फैला दी जिसमें राजा की कोई न सुनता था। ऐसी परिस्थिति लगभग छः सौ वर्ष तक रही। अन्ततोगत्वा एक प्रतापी पुरुष ने बारहवें राजवंश की स्थापना करके नये युग का सूत्रपात किया।

पुरातन युग में मिस्र की सभ्यता में आत्मीयता, आत्मविश्वास और आत्मोत्कर्ष का विशिष्ट मात्रा में विकास हुआ। उसमें मिस्रवासियों का स्वजातीय परिश्रम और पुरुषार्थ विशेष रूप में परिलक्षित हुआ। उसका मुख्य कारण संभवतः यह था कि मिस्र पर विजातीय लोगों का प्रभाव कम था। किन्तु ज्यों-ज्यों विजातीयों का दबाव और प्रभाव बढ़ता गया त्यों-त्यों मिस्र की सभ्यता में परिवर्तन होता गया। बाहरी प्रभाव के साथ-साथ आन्तरिक स्थिति में भी ऐतिहासिक प्रवाह से परिवर्तन होता रहा। उदाहरण के लिए राजा की शक्ति जो पहले केन्द्रित और एक सत्तात्मक थी, विकेन्द्रित होती गयी और सम्पन्न तथा बलशाली व्यक्तियों की संख्या बढ़ती गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा के आर्थिक साधन उत्तरोत्तर संकुचित होते गये। इसके सिवा बड़े बड़े मकबरों तथा मन्दिरों के बनवाने तथा उनके प्रबन्ध और संरक्षण के लिए अनुदान निश्चित करने के कारण राजकोष तथा राजा की भूमि की कमी होती गयी। यह भी संभव है कि छठे वंश के फेरो का राज्यकाल बहुत लम्बा तथा कमजोर होने के कारण उत्साह संवर्धन एवं प्रगति पोषण में बाधक सिद्ध हुआ हो। उसकी मृत्यु के पश्चात् मिस्र का प्राचीन मानचित्र शीघ्रता से बदलने लगा और उसका संगठन टूटता चला गया। प्राचीन सभ्यता का दृष्टिकोण वस्तुतः ऐहिक और लौकिक था। उसको संरक्षित और सुदृढ़ बनाने के लिए धार्मिक और अलौकिक विश्वासों और सामन्तों का आश्रय आवश्यक समझा जाता था। उस युग का मुख्य ध्येय लौकिक सिद्धि थी जिसके साधनों में धर्म यद्यपि गौण तथापि अनिवार्य और आवश्यक साधन माना जाता था।

आर्थिक दशा

उच्च तथा मध्य श्रेणी की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। किन्तु किसान प्रायः गरीब थे। मिस्रियों का जीवन अधिकतर कृषिमूलक था। कृषि का क्षेत्र सीमित होने के कारण यह आवश्यक था कि उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। इसीलिए नील की तलहटी के उपजाऊ होने पर भी लोग उसे जोतते और खाद देते थे। गेहूं, जौ, अलसी, सन, फलियां, दाल, सब्जी की खेती होती थी। खजूर के पेड़ और

विविध प्रकार के फूलों के पेड़-पौधे लगाये जाते थे। खेती के अलावा पशुपालन भी आवश्यक था। पशुओं में गाय, बैल, भेड़, बकरे, सुअर, गधे और पक्षियों में बतखें पाली जाती थीं। उस युग में मिस्र में ऊंट और घोड़े न थे इसलिए यात्राएं प्रायः गधों पर होती थीं।

नगरों में मध्य श्रेणी के लोग, व्यापारी, कारीगर, उद्योग-धंधे वाले रहते थे। राजधानी तथा देवस्थानोंमें उनका विशेष जमघट होता था जो स्वाभाविक ही था। पत्थर, लकड़ी, तांबे, सोने और चांदी की सुन्दर चीजें तथा सूती परदे और कपड़े आदि बनाये जाते थे और बाहर भेजे जाते थे। उनके बदले मिस्र वाले मसाले, आबनूस लकड़ी, हाथीदांत, सोना और लकड़ी की धन्नियां तथा तख्ते मँगाते थे। साधारण-तया व्यापार विनिमय द्वारा होता था बड़े व्यापार में चांदी और सोने के टुकड़ों का प्रयोग किया जाता था। व्यापारी अरब सागर से एशियन सागर तक और न्यूबिया तथा एशियाई कोचक तक आते-जाते थे।

शासन

इस युग में राज्य की राजधानी थिनिस से हटाकर मेम्फिस में स्थापित की गयी क्योंकि शासन के लिए वह स्थान अधिक उपयोगी था। 'नोम' शब्द का प्रयोग प्रान्त के अर्थ में भी किया जाता था। प्रान्तीय शासकों की शक्ति पहले तो सीमित थी किन्तु धीरे-धीरे वे शक्तिशाली और स्वतंत्र से हो गये (२४२०-२२८० ई० पू०), यहाँ तक कि वे राजा की भी अवहेलना करने का साहस करने लगे। फिर भी राज-सत्ता का इतना आतंक था कि राज्य तथा शासन की स्थिरता को कोई भारी धक्का न पहुँच सका। राजा के आतंक का एक विशेष कारण तत्कालीन धार्मिक भावना थी। राजा का स्थान देवपुत्र ही नहीं वरन् देवता के समान माना जाता था। वही प्रमुख धर्माध्यक्ष, सेनाध्यक्ष तथा न्यायाध्यक्ष गिना जाता था। उसकी विवाहिता रानी का पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी माना जाता था। अतः वंशानुगत होने के कारण राजसत्ता किसी नये वंश के लिए दुष्प्राप्य थी।

राजा की आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए अगणित राज्य कर्मचारी नियुक्त थे। व्यावहारिक दृष्टि से मिस्र का शासन नौकरशाही करती थी जिसमें समाज की किसी भी श्रेणी का व्यक्ति भरती किया जा सकता था। पहले प्रान्त का शासक राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसे प्रायः प्रान्त के लोगों में से चुना जाता था किन्तु आगे चलकर वह भी वंशानुगत हो गया। प्रान्तीय शासक ही वहां

का सेनापति तथा शासनाध्यक्ष होता था। वही लगान, कर, सिंचाई, न्यायाध्यक्ष आदि का कार्य करता था। उसके निर्णय के खिलाफ राजा के मंत्री के पास अपील की जा सकती थी। मुख्यमन्त्री का पद प्रायः राजकुमारों को ही दिया जाता था। एक मंत्री उत्तर के और दूसरा दक्षिण के प्रान्तों के लिए नियुक्त था।

शिक्षा तथा कला

पुराने युग के आरम्भ होने के पहले मिस्र में सभ्यता ने उल्लेखनीय उन्नति कर ली थी। मिस्रियों को इतना काल ज्ञान हो गया था कि चान्द्र वर्ष को छोड़ कर उन्होंने तीन सौ पैंसठ दिन के सौर वर्ष की प्रतिष्ठा की (२८५० ई० पू०)। उसी के अनुसार वे अपने हिसाब-किताब तथा ऐतिहासिक घटना क्रम का वर्णन करने लगे थे। इसके सिवा पत्थर को काटकर इमारतें तथा मूर्तियां भी बनाना उन्होंने प्रारंभ किया जिससे निर्माण कला के विकास के लिए नया रास्ता खुल गया। लेखन कला का भी स्वरूप बदल दिया गया। पहले वे चित्र-लेख अंकित करते थे, तदनन्तर स्फुट चिह्नों का संयोजन कर उन्होंने विचार संकेतों का प्रयोग किया। प्रत्येक विचार का चित्र निर्धारित कर उसे उपर्युक्त संकेतों से मिला कर उन्होंने एक लिपि शैली बनायी जो 'डिमोटिक' नाम से प्रसिद्ध है। पिरामिड के निर्माण में गणित, योजना, कला-कौशल, नाप-जोख, हिसाब-किताब, संगठन तथा व्यवस्था का प्रदर्शन हुआ। उसके विकास में युगों का प्रयास और चिन्तन पाया जाता है। सब बातों पर विचार कर यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि ऐतिहासिक युग अर्थात् ३००० ई० पू० के पहले मिस्र देश ने सभ्यता के विकास में विलक्षण उन्नति कर ली थी जिसकी समता शायद ही कहीं अन्यत्र पायी जा सके।

मिस्र में तक्षण, मूर्तिकला तथा चित्रकला ने भी उन्नति की। पत्थर, लकड़ी, तांबा पर वे मूर्तियां बनाते थे जिनमें सजीवता तथा अंशांशी अनुपात और सुडौलपन पाया जाता है। दीवार पर पलस्तर लगाकर ऐसे भिन्न भिन्न-चित्र वे रचते थे जिनमें यथार्थता का विविध भावों का और व्यक्तित्व का अच्छा प्रदर्शन हुआ। उनके बनाये चित्रों का अद्यावधि सम्मान होता है और उनसे तत्कालीन जीवन पर अच्छा प्रकाश भी पड़ता है।

पुराने युग में शिक्षा का मुख्य ध्येय मनुष्य को व्यवहार-कुशल, शिष्टाचारी बनाते हुए जीविका चलाने के योग्य बनाना था। शिक्षितों का आदर्श लेखक की नौकरी प्राप्त करना था। तत्कालीन रचनाओं में धार्मिकता का भी पुट मिलता है।

गणित, लिखना-पढ़ना तथा उपदेशात्मक सुभाषितों को याद करना शिक्षा के मुख्य अंग थे। किल्क की कलम से पेपाइरस वृक्ष की छालों पर लेख लिखे जाते थे।

धर्म

मिस्रवालों का परलोक में अटूट विश्वास था। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक पदार्थ जैसे नदी, पहाड़, तारे, वृक्ष, सूर्य, चन्द्रमा आदि में देवता हैं। उनकी संख्या अनन्त और उनके व्यवहार विचित्र हैं। महत्व के अनुसार उनकी भी साधारण, मध्य और श्रेष्ठ श्रेणियां हैं। कुछ देवता स्त्री या पुरुष की आकृति के और कुछ मछलियों अथवा मगर, कुत्ता, बिल्ली, बैल, दरयाई घोड़े तथा पक्षियों की आकृति के हैं। देवताओं की चेष्टाएं, उनके स्वभाव और व्यवहार मनुष्यों जैसे हैं। विविध रूप रंग होते हुए भी देवता एवं मनुष्य में समान तत्व हैं। प्रत्येक ग्राम, नगर तथा प्रान्त का विशिष्ट देवता होता था। सारे राज्य में प्रथम सम्मानित देवताओं में प्रकाश का देवता 'होरस' था जिसका धड़ मनुष्य का और मुख बाज पक्षी का था। पांचवें राजवंश में उसका स्थान 'रे अथवा रा' नामक सूर्य को प्राप्त हुअ। उनके अलावा 'प्रेह' जो कारीगरों का देवता था तथा 'नुत' नाम्मी व्यो देवी भी जातीय देवताओं में गिने जाते थे।

मिस्र वाले मृत्यु को जीवन का अन्त नही मानते थे। उनका विश्वास था कि मृतक वस्तुतः मरा नहीं बल्कि अनिश्चित काल के लिए सो रहा है। इसीलिए वह मृतक का शरीर मकबरों में रक्षित कर देते थे और उसके साथ उसकी आवश्यकताओं के पदार्थ और खाने-पीने की चीज़ें रख देते थे। शरीर को अनुप्राणित करने वाला 'का' नामक तत्व माना जाता था। उनके अनुसार मरने पर 'का' अमरत्व के देवता 'ओसिरिस' के सामने उपस्थित किया जाता था। यदि 'का' ऐसे व्यक्ति का हो जो हत्यारा, देवनिन्दक, माता-पिता के साथ कुव्यवहार करने वाला, चोर, दूसरे का माल हड़पने वाला था तो उसको एक भयंकर दैत्य खा जाता था। किन्तु यदि वह उन दोषों से मुक्त रहा होता तो उसको अमरत्व प्रदान कर दिया जाता था। यमलोक के अधिपति ओसिरिस की स्त्री उसकी बहिन 'आइसिस' कही जाती थी।

मिस्र की राजकता का पोषण वहाँ के धार्मिक विश्वास और विचार करते थे। मिस्र में विजातीयों के अधिकाधिक आगमन तथा धर्माधिकारियों के उत्तरोत्तर बढ़ते महत्व के कारण राजा की शक्ति में क्षीणता आती गयी। समाधियों और बड़े बड़े देवालयों के निर्माण पर अपार धन खर्च होता रहा। फलतः सामन्तों और

धर्माधिकारियों की शक्ति और आर्थिक स्थिति जिस अनुपात से बढ़ी उसी अनुपात से राजा का आतंक और कोष घटता गया। इसके सिवा मिस्र के लोग धर्म को ऐहिक सुख और सिद्धि को साधन समझने लगे जिससे पुरानी सभ्यता का दृष्टिकोण बदलता चला गया।

मध्य युग (२३७५–१८०० ई० पू०)

मध्य युग का आरम्भ बारहवें राजवंश से गिना जाता है। कुछ विद्वानों की राय में इस वंश में नीग्रो रक्त मिश्रित था जिसके कारण उनमें अधिक पुरुषार्थ का प्रदर्शन मिलता है। उसका संस्थापक 'आमेनेमहेत' के नाम से प्रख्यात हुआ। मेमफिस से साढ़े चार सौ मील पर थेबेज में उसने अपनी राजधानी स्थापित की। उद्धत सामन्तों का दमन करके उसने नयी राज्य-व्यवस्था का प्रचलन किया जिसका आगे चलकर वर्णन किया जायेगा। इस वंश में अन्य दो प्रतापी राजा हुए। इनमें से 'सेनुसरेत' प्रथम ने नील नदी से लाल समुद्र तक एक नहर खुदवाई, करनक, हेलिओपोलिस और अबाइस के विशाल मन्दिरों की रचना करायी तथा अपनी विशाल मूर्तियों की भी स्थापना करवायी। दूसरा प्रतापी राजा 'सेनुसरेत' तृतीय हुआ जिसने न्यूबिया की ओर से होने वाले आक्रमणों को एक प्रकार से सैनिक शक्ति द्वारा रोक दिया। पैतृक सामन्तों और जमींदारों को हटाकर अपनी ओर से शासक नियुक्त किये और शासन व्यवस्था सुधारी। किन्तु उसकी इस नीति से सामन्तों एवं जमींदारों में असन्तोष की आग सुलगने लगी। यद्यपि उसके जीवन काल में वे सब दबे रहे पर उसकी मृत्यु के बाद खुल खेले जिससे मिस्र का इतिहास फिर उपद्रवपूर्ण अन्धकार में पड़ गया। उस देश के साम्राज्य का इतिहास अगले अध्यायों का विषय होगा। इस प्रसंग में उपर्युक्त पुरातन एवं माध्यमिक युग की सभ्यता का ही वर्णन उपयुक्त होगा।

सामाजिक जीवन

आर्थिक कारणों से साधारण मनुष्य एक ही ब्याही स्त्री से निर्वाह कर लेता था किन्तु जो सम्पन्न थे वे बहुविवाह से भी सन्तुष्ट न रह कर वेश्याएं भी रखते थे। मिस्र के समाज पर मातृक परम्परा का प्रभाव जान पड़ता है। वहां स्त्रियों के अधिकार रिवाज एवं कानून द्वारा रक्षित थे। विवाह के पूर्व लड़कियों को अधिक स्वतंत्रता रहती थी। विवाह हो जाने के बाद भी वे पुरुषों के साथ खुलेआम

खाती-पीतीं और बेधड़क बाजार में घूमती तथा क्रय-विक्रय करती थीं। वे स्वतंत्र रूप से लेन-देन और व्यापार या रोजगार-धंधे करती और अपनी निजी जायदाद अपने उत्तराधिकारी को दे सकती थीं। विवाह के पश्चात् उनका आचरण अच्छा रहता था जिससे तलाक की जरूरत कम ही पड़ती थी। उनका वैवाहिक जीवन साधारणतया अच्छा था। पति को कभी-कभी अपनी कुल पूंजी पत्नी को दहेज में लिख देना पड़ती थी। जायदाद के खान्दान से बाहर जाने के भय से वहां भाई अपनी बहन से भी विवाह कर लेता था। माता-पिता और बड़े-बूढ़ों का सन्तान आदर करती थी और वे उस पर स्नेह करते थे। दम्पति के प्रायः कई बच्चे हुआ करते थे जिनसे घर भरा रहता था। सयानेपन तक लड़के नंगे और लड़कियां गुरियों की झालर या थोड़ा कपड़ा कमर से नीचे लटकाए घूमती रहती थीं। अच्छे घर की स्त्रियां भी घुटने से नीचे अथवा नाभि से ऊपर ढांकना अनावश्यक समझती थीं। दस वर्ष की अवस्था में कन्या विवाह योग्य मानी जाती थी यद्यपि उसका विवाह कर देना आवश्यक न था। स्त्रियों को उबटन, लेप, अंगराग और आभूषणों का शौक था। पुरुष भी बाल संवारते और आभूषण पहनते थे। बच्चे गेंद और लट्टू खेलते और पुरुष पांसे। वे कुश्ती, मुष्टिकयुद्ध और बैलों की लड़ाई देखने के भी शौकीन थे। मिस्र के लोग परम्परा के प्रेमी और परिवर्तन के विरोधी थे।

आर्थिक

नील की तलहटी बड़ी उपजाऊ थी। कहा जाता है कि किसी समय केवल अनाज बिखेरने मात्र से ही अन्न फट पड़ता था किन्तु वह भूमि फेरो की थी। वह जिसे चाहता देता। प्रत्येक कृषक को अपने खेत की उपज का दशमांश अथवा पंचमांश राजा को देना पड़ता था। लोगों का साधारण भोजन अन्न, मछली और मांस था जो नाना प्रकारसे पकाया जाता था। गरीब कृषक की दशा अच्छी न थी। यदि दैविक आपत्तियों या लुटेरों के उपद्रव से हानि भी हो गयी हो तो भी उससे मारपीट कर कर वसूल कर लिया जाता था। कृषकों को धर्म, मुख्य धर्माधिकारी, या राजा, के नाम पर श्रमदान करना पड़ता था। सामन्तों ने भी अपने-अपने क्षेत्र में उसी भावना से लाभ उठा कर बेगार लेना शुरू कर दिया था। फलतः कृषक को बेगार भी करना पड़ती थी यद्यपि काम प्रायः लोकोपयोगी ही होता था, जैसे सड़क, नहर आदि बनाना। खेत जोतने वाले भले ही गुलाम हों तो भी उनके समान ही होते थे। अमीरों अथवा सामन्तों को जो जमीन दी जाती थी उसे वे दासों

से जुतवाते थे। उनमें बाज-बाज तो इतने सम्पन्न होते थे कि वे पन्द्रह सौ तक गाये रख सकते थे।

कला-कौशल

मिस्र में धातुओं का अभाव था। केवल थोड़ा तांबा निकलता था। अन्य धातुएं, जैसे लोहा और सोना, अन्य देशों से मंगवायी जाती थीं। किन्तु वह व्यापार राजा के ही हाथ में था। तांबे और टीन को मिला कर कांसा तैयार किया जाता जिससे औजार और हथियार गढ़े जाते थे। औजार इतने अच्छे थे कि उनसे बड़े-बड़े बरमे, गड़ासियां, आरियां आदि जो पत्थरों तक की भारी भारी शिलाओं को छेद या काट सकती थीं बनायी जा सकती थीं। ढाल, तलवार और झिल्लम बनाना उनको आता था। लकड़ी के काम करने में वे बड़े निपुण थे और कारीगरी दिखाते थे। कुरसी और तख्तों आदि का तो कहना ही क्या। सौ फुट लम्बी और पचास फुट चौड़ी नावें भी वे बनाते थे। चमड़े को कमाना और उससे अनेक सुन्दर चीज़ें बनाना उनको आता था। पेप्राइरस की छाल से कागज बना लेने की विधि भी ज्ञात थी। बुनाई में तो वे इतने सिद्धहस्त थे कि उनके सूती तागों की बारीकी और बुनाई की करामात का मुकाबला आज तक नहीं हो सका। कारीगर प्रायः स्वतंत्र प्रजाजन थे, यद्यपि कभी गुलामों से भी काम लिया जाता था। मजदूरी में विलम्ब होने पर वे लोग हड़ताल और आन्दोलन कर देते थे। मिस्र कच्चा माल बाहर से मंगाता और उससे बढ़िया चीज़ें तैयार करके बाहर भेजता था। इसी कारण वह समृद्धिशाली हो गया था।

मिस्र में वास्तुकला ऐसी उन्नत अवस्था में थी कि उसका प्रतियोगी संसार में मिलना कठिन है। वैसी इंजीनियरी तो ईसा के बाद की अठारहवीं शती तक यूरोप में भी नहीं हुई। बड़ी-बड़ी नहरें, बड़े-बड़े बांध, और बड़े-बड़े जलाशय ही वे नहीं बनाते थे, वरन् उन्होंने ऐसे पिरामिड भी बनाये जो संसार को आज तक चुनौती देते और सर्वग्रासी काल पर हंसते हैं। वे संसार के सब से बड़े वास्तुकला-विशारद माने जाते हैं। इतना सब होते हुए भी वहां की सड़कें खराब थीं। जिनसे यातायात में कठिनाई पड़ती थी और प्रायः नावों से ही काम लेना पड़ता था।

मिस्र में सिक्कों का प्रचलन न था। इसलिए व्यापार विनिमय द्वारा होता था। लोगों को वेतन या मजदूरी भी जिन्स के रूप में दी जाती थी और कर भी उसी में लिया जाता था। भारी व्यापार साख पर हुंडी-पुर्जे से तथा कानूनी लिखा-पढ़ी से चलता था। कला-कौशल वंशानुगत होते थे जैसा कि हमारे देश में सदा रहा।

शिक्षा और साहित्य

मिस्र में एक प्रकार की लिपि जिसे हाइरोग्लिफिक कहते हैं, प्रचलित थी। हाइरोग्लिफिक का अर्थ है धार्मिक खचन अथवा लेख। पदार्थों, विचारों और भावों को वे उन्हीं से चित्रित करते थे क्योंकि उन्हें अक्षरों का ज्ञान न था। संभवत: संसार के सबसे पुराने लिखित ग्रन्थ मिस्र में ही मिलते हैं। पेपाइरस की पतली टहनियों को दबाकर वे एक तरह का कागज सा बनाते और उस पर लिखते थे। उस समय के लेख पांच सहस्र वर्ष के बीतने पर भी स्पष्टतया पढ़े जा सकते हैं। वे पन्ने जोड़ कर जन्मपत्रियों की तरह पुस्तक को लपेट लेते थे। कभी-कभी उनकी लम्बाई चालीस गज तक होती थी। वे उनको सजाकर मटकों में रखते थे। मिस्र के साहित्य-कार कहानी, कविता, स्तुतियां, पत्र, मंत्रतंत्र, ऐतिहासिक कथानक, कानूनी और धार्मिक लेख लिखते थे। ऐतिहासिक घटनाओं को संक्षेप में लिखने की प्रथा पुरातन काल से ही प्रचलित थी। मन्दिरों में शिक्षा प्राप्त करके उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी राज्य संस्थापित स्कूल में भरती होता था। कहा जाता है कि मिस्र में ही सबसे पहिले सरकारी स्कूल की स्थापना हुई थी। वहाँ गणित शास्त्र, विशेषकर ज्यामिति, ने काफी उन्नति की थी जिसकी साक्षी वहां के पिरामिड दे रहे हैं। उनको ३६५ दिनों और १२ महीनों के वर्ष का ज्ञान था। उन्होंने एक प्रकार की जंत्री भी बना ली थी जो सब से पुरानी मानी जाती है। चिकित्सा शास्त्र में भी उन्होंने अच्छी उन्नति कर दिखाई थी। अनेक भयंकर रोगों की वे सफल चिकित्सा कर लेते थे।

कला-कौशल

कहा जाता है कि मिस्री संसार के सबसे श्रेष्ठ वास्तुकला-विशारद थे। पत्थरों एवं ईटों के मकान, मंदिर एवं समाधिस्थान बनाने में वे अद्वितीय थे। मध्य राजत्व काल के विशाल मन्दिरों विशेषत: उनके खंभों की रचना दर्शकों को अद्यावधि चकित करती है। शिल्पकला उन्नत अवस्था में थी यद्यपि भित्ति शिल्प की वहां विलक्षण उन्नति हुई। चित्रकला ने दोनों युगों में वहां कोई विशेष उन्नति नहीं प्राप्त की यद्यपि पुराने युग में उसका अभाव न था। उसकी उन्नति आगे चलकर हुई। संगीत कला ने भी कोई विशेष उन्नति नहीं की।

धर्म

मिस्रियों की अपने धर्म पर बड़ी श्रद्धा थी। उनके सारे व्यापार, विचार,

आचार धार्मिक भावों से रंगे थे। उनकी भावना के अनुसार आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नदी, पर्वत, वन, वृक्ष आदि सभी देवताओं के स्थूल रूप थे। पृथ्वी को वे देवी मानते थे। विभिन्न वंशों के देवताओं में भी न्यूनाधिक विभिन्नता थी। ग्रहण को वे दैत्य द्वारा चन्द्रमा का लीला जाना और प्रार्थना द्वारा उसका उग्रह होना मानते थे। यद्यपि चन्द्रमा उनका सबसे पुराना देवता था किन्तु सूर्य ही सबसे बड़ा माना जाता था। सूर्य के अनेक रूप थे पर सबसे महत्वपूर्ण देवाधिदेव 'रा' था। मानव सृष्टि उसी की सन्तति है। मध्य राजत्व काल में 'रा' का दूसरा रूप 'आमोन' नामक हुआ। दोनों को मिला कर 'राआमो' का पूजन जनता में बहुत प्रचलित हुआ। इनके सिवा वे नील नदी की जलधाराओं, वृक्षों, वनस्पतियों, मकर आदि जलचरों, गाय, कुत्ता, बिल्ली, शृगाल, आदि पशुओं, बाज़, हंस आदि पक्षियों और सर्प में भी देवताओं की कल्पना करते थे। वे सब किसी न किसी देवता के प्रतीक या वाहन माने जाते थे। मिस्र में बैल और बकरे विशेष रूप से सेव्य और पूजनीय समझे जाते थे। देवता मनुष्य रूप धारण कर सकते और मनुष्य देवता हो सकते थे। देवियों में मुख्य और व्यापक प्रभाव वाली 'आइसिस' माता थी। उसका पति उसी का भाई 'ओसिरिस' था। अपने अनन्य प्रेम से वह पति को अपने वश में रखती थी। वह पृथ्वी और उसके जीवों की जननी मानी जाती थी। सूर्य भी उसी का पुत्र था। उसकी मूर्ति बनायी और पूजी जाती थी।

मिस्र में देवताओं के मन्दिर थे जिनमें पुजारियों का अनुशासन रहता था। मन्दिरों के खर्च के लिए जागीरें दी जाती थीं। पुजारियों या पुरोहितों का सबसे बड़ा नेता स्वयं वहां का राजा होता था। विशेष उत्सवों में वही पूजन करता-कराता था। देवताओं पर जो कुछ चढ़ता वह पुजारियों में बंट जाता था जिससे वे बड़े चैन से जीवन व्यतीत करते थे। इसके बदले वे विद्याध्ययन और अध्यापन और आदर्श आचरण का प्रदर्शन कर उसकी मर्यादा रखते थे।

मिस्र वालों का परलोक में बड़ा विश्वास था। वहां पहुंचने के लिए आचरणों की शुद्धता, भावों एवं विचारों की पवित्रता तो थी ही, मन्दिरों के निर्माण कराने तथा पूजा भेंट चढ़ाने से कर्मानुसार स्वर्ग प्राप्त भी हो सकता था। उस देश में मंत्र तंत्र भी खूब चलते थे किन्तु उनमें आध्यात्मिक विषयों या आत्मा सम्बन्धी दार्शनिक विचारों की ओर प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। तथापि उनकी धारणा थी कि शरीर में 'का' के सिवा जीव भी रहता है जो ओसिरिस का कृपापात्र होने से अमर हो सकता है।

मिस्र में फेरो राजा का बड़ा महत्त्व था। वह देवताओं का प्रमुख पुरोहित ही नहीं वरन् स्वयं आमो न रा का पुत्र माना जाता था। अपने दैविक अधिकार से वह राज्य करता था। इसी कारण उसका ऐसा सम्मान और दबदबा था कि बिना बड़ी सेना या पुलिस विभाग के राज्य में शान्ति रहती और अबाधित शासन चलता रहता। राजा की आज्ञा और अनुशासनों का पालन करना प्रजा अपना कर्त्तव्य समझती थी। फेरो को सम्मति देने के लिए 'सरु' नामक वृद्ध राजसेवकों की एक सभा थी किन्तु उसकी सहायता की बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि फेरो एक प्रकार से सर्वज्ञ माना जाता था। शासन के संचालन की पूरी जिम्मेदारी मंत्री के ऊपर थी। वही प्रमुख शासक, प्रमुख न्यायाधीश और प्रमुख कोषाध्यक्ष माना जाता था। फेरो की सेवा करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में सेवक रखे जाते थे। उनमें सब से बड़ा व्यक्तित्व मंत्री (वजीर) का था। राज्य के दफ्तर में भी लेखक अधिक संख्या में नियुक्त किये जाते थे। वे आय-व्यय का लेखा रखने के सिवा जनसंख्या का व्योरा भी रखते थे। राज्य के कारखानों के निरीक्षण के लिए निरीक्षक नियुक्त थे। मिस्र में उत्तराधिकार, मालगुजारी एवं फौजदारी के अच्छे खासे कानून बने हुए थे। जमीन की नपाई समय-समय पर की जाती थी। सब के लिए कानून एक सा लागू होता था। वादी और प्रतिवादी मौखिक वादविवाद न कर के उसको लिख कर न्यायाधीश को दे देते थे। स्थानिक न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध मंत्री के न्यायालय में अपील हो सकती थी। दंड विधान में शारीरिक दंड, अंग विच्छेद, अनेक प्रकार के प्राण दंड तथा देश से निर्वासन आदि के नियम थे। आज्ञाकारी शान्त जनता तथा संगठित शासन एवं व्यावहारिक विधान के कारण मिस्र का राज्य अनेक शतियों तक स्थायी रहा।

बहुत काल तक शान्ति रहने के कारण मिस्र के निवासियों की सैनिक शक्ति, जो कभी पहले भी बहुत प्रबल न थी, बहुत कमजोर हो गयी। इसके सिवा अत्यधिक सम्मानित तथा धनधान्य से सम्पन्न होने के कारण वहाँ के शासन में शैथिल्य और राजाओं एवं धर्माधिकारियों में विलासिता तथा प्रतिद्वंद्विता बहुत बढ़ गयी। ऐसी परिस्थिति में मिस्र पर एशिया की 'हिकसोस' नामक खानाबदोश सेमेटिक जाति ने आक्रमण किया। उनके पास घोड़े और अच्छे शस्त्र थे। मिस्रियों को सरलता से परास्त कर के उन्होंने उनके नगर विध्वंस कर डाले, मंदिरों को लूट कर तोड़-फोड़ डाला। लगभग दो सौ सर्ष तक मिस्र श्रीहत और दलित रहा तथापि स्वतंत्रता प्राप्त करने की आशा मिस्रियों में जीवित रही।

अध्याय ३

हिट्टी और मिट्टनी

जिस युग में मिस्र का अठारहवाँ वंश राज्य कर रहा था उस समय पश्चिमी एशिया का वह भू-भाग, जो आगे चलकर एनेटोलिया और एशियाई तुर्की कहलाया, कुछ नई जातियों के आक्रमणों का क्षेत्र बन गया। उनमें कस्सी और हिट्टी प्रमुख थे। उनके आक्रमणों ने बेबीलोनिया साम्राज्य को नष्टप्राय कर दिया। अमोरी वंश को हटाकर कस्सियों ने बेबीलान पर, मिट्टनी लोगों ने, उत्तरी मेसोपटामिया पर तथा एशियाई कोचक के मध्य भाग पर हिट्टियों ने अपना अधिकार स्थापित कर दिया। उपर्युक्त तीनों वंश इन्डो-आर्य जाति की ही शाखाएं थीं। उनकी बोली, शब्द-प्रयोग, एवं व्याकरण में बहुत कुछ समता थी। वे लोग उतने सुसंस्कृत और सभ्य न थे जितने कि मेसोपटेमिया अथवा मिस्रवासी। किन्तु लोहे के अस्त्र-शस्त्रों और घुड़सवारों के कारण उनकी युद्ध-क्षमता को बहुत बल प्राप्त हो गया था।

ईसा से २५०० वर्ष से भी पहले केस्पिअन सागर के आसपास से बढ़कर हिट्टी एनेटोलिया में घुसे और उस पठार को जो हलीस नदी के मोड़ पर है उन्होंने अपना अड्डा बनाया। वह प्रदेश हिट्टी कहलाता था। इसलिए विजेता दलों का हिट्टी नाम रख लिया गया। पहले तो उनके विभिन्न दलों में लड़ाई झगड़े होते किन्तु बाद को वे सब संगठित हो गये। उनकी भाषा भी अन्य भाषाओं के प्रभाव से पुष्ट होने लगी। मेसोपटेमिया के व्यापारियों से आदान-प्रदान होने के कारण लेखन-कला, व्यापार-कौशल भी उन्होंने प्राप्त किया। उनके आदिम इतिहास का ज्ञान अभी अधिक प्राप्त नहीं हो सका। एक अनुश्रुति के अनुसार २२०० ई० पू० जब अक्कद के राजा नरमसिन ने उत्तर के सत्रह राज्यों के संघ पर चढ़ाई की थी तब उनमें हिट्टी दल भी था जिसका राजा पम्बा था।

ईसा से १९०० वर्ष पूर्व व्यापारियों की एक टोली हत्तुसस, हिहत्तू या खत्तू में आकर बस गयी थी। वे अपने दैनिक व्यापार से सम्बद्ध विषय मिट्टी की शिलाओं पर क्यूनीफार्म लिपि (रेखा लिपि) में लिखकर बेबीलोनिया को भेजा करते थे। मिट्टी

की पटरियों पर लिखे वैसे अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जिनसे कुछ विश्वसनीय बातों का पता चल रहा है। यह ज्ञात होता है कि उस समय हिट्टियों के कम से कम दस राज्य थे जिनमें सबसे महत्त्वशील पुरुष-खंड (बुरुशखतुम) था, जिसका अधिपति महाराज कहलाता था। उन राजाओं में एक का नाम पिस् था जिसका पुत्र अनित्तस था। पिता और पुत्र दोनों ने निरन्तर प्रयत्न करके नेश, जलपवा, पुरुषखंड, सलतिवारा और हत्तुसम (हट्टी) आदि नगरों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। सबसे घोर युद्ध संभवतः हत्तुसस में हुआ जिसका परिणाम नगर का विध्वंस हुआ। अतः विजेता ने अपने ही नगर नेश में विजित प्रदेशों की राजधानी स्थापित कर दी।

प्रथम ज्ञात राज्य का संस्थापक राजा लबरनस हुआ जिसने अपने कुटुम्बियों के सहयोग और पराक्रम के बल से अन्य सात नगरों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया। इसके पश्चात् अरजवा प्रान्त पर भी उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। उसकी पहली राजधानी संभवतः कस्सर में थी किन्तु बाद में हत्तुसस अंकारा के समीप बोगज़कूई में स्थापित की गयी। अनुमान किया जाता है कि लबरनस का युद्ध हलप (अलेप्पो) के राजा यमहद के साथ हुआ, जिस पर उसने विजय प्राप्त की। लबरनस के बाद राजा मुरसिलम प्रथम ने हलप को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वहां से बढ़कर उसने बेबीलॉन पर भी अपनी विजयपताका फहरा दी (१६०० ई० पू०)। मुरसिलम प्रथम की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर उसके बहनोई हन्तिलिस ने षड्यंत्र रचा और सम्राट के लौट आने पर उसका वध कर डाला। उसी समय से हिट्टी के प्रथम साम्राज्य का क्षय आरम्भ हो गया। अधीन राज्य स्वतंत्र होने लगे। इस पतन का यह भी कारण हो सकता है कि उस समय वहां राजानुक्रम का विधान अनिश्चित था। इस दोष के निराकरण के लिए राजा तेलिपिनस (१५२५–१५०० ई० पू०) ने घोषणा द्वारा यह निश्चित कर दिया कि प्रथम महारानी का पुत्र अथवा उसके अभाव में प्रथम पुत्री के पति को राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार होगा। यद्यपि इस नियम का अच्छा पालन किया गया तथापि साम्राज्य क्रमशः क्षीण होता गया। तेलिपिनस ने शांति स्थापित करने के लिए युद्ध के बदले सन्धि नीति का प्रयोग किया किन्तु राष्ट्र को बल प्राप्त न हो सका। प्रथम हिट्टी साम्राज्य का महत्त्व आधी शती में समाप्त हो गया (१४६० ई० पू०)।

हिट्टियों के द्वितीय साम्राज्य का आरम्भ १४६० ई० पू० से तुधलियस द्वितीय के समय तक हुआ। उसने सीरिया के प्रमुख नगर को फिर से जीत लिया और शनैः शनैः पूर्व अधीनस्थ राज्यों को, जो स्वतंत्र हो गये थे, फिर से दमन करके उन पर

प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यह अवसर अच्छा था, क्योंकि इसी समय के लगभग मिस्र वालों ने असीरिया पर आक्रमण किया तथा १४५७ के लगभग हरियन अथवा मिट्टनियों पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया किन्तु मिट्टनियों का वास्तविक दमन न हो सका। उन्होंने घोर विरोध जारी रखा, जिससे उत्साहित होकर अन्य अधीनस्थ राज्यों ने भी उपद्रव आरम्भ कर दिया। यह अव्यवस्थित दशा शायद १३८० ई० पू० तक रही। जब सुप्पिलियुस सिंहासनारूढ़ हुआ तब उसने हतुतस नगर को सुदृढ़ बनाकर और राज्यस्थ अन्य किलों को मजबूत करके विरोधियों का दमन आरम्भ किया। सबसे पहले उसने मिट्टनियों पर, जिन्हें मिस्र के सम्राट् से सहायता मिलती थी, घोर आक्रमण किये। पहला तो असफल-सा रहा किन्तु दूसरा बड़ी सावधानी और तैयारी के साथ हुआ। उसने मिट्टनी की राजधानी वासुक्कान्नी में घुसकर उसको लूट लिया। वहां से लौटते समय सीरिया पर चढ़ाई की, जिससे घबराकर सीरिया वालों ने उसके आगे घुटने टेक दिये। मिस्र के मित्रकदेश के राजा ने सामना करने का साहस किया किन्तु उसे भी गहरी पराजय मिली। उसने हलप और अलालख राज्यों को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। इस प्रकार सीरिया के अधिकांश भाग पर हिट्टियों की सत्ता स्थापित हो गयी।

सुप्पिलियुमस का इतना आतंक फैल गया था कि मिस्र के सम्राट् एखतोन की तीसरी पुत्री अंखेसेनमन ने उसके पास प्रार्थना भेजी कि मेरे पति की मृत्यु हो गयी और मैं निःसन्तान होने के कारण अत्यन्त चिन्तित और दुखी हूं। मेरा विचार किसी मिस्रवासी को पति वरण करने का नहीं है। यदि आप कृपा करके अपने किसी पुत्र को यहां भेज दें तो मैं उससे विवाह करके निश्चिन्त हो जाऊं और वह राज्य का संचालन करे। तदनुसार हिट्टी सम्राट् ने अपने एक पुत्र को भेज दिया। किन्तु मिस्र के 'आइ' नाम के प्रमुख पुजारी और प्रतिष्ठित दरबारी ने उसका वध करवाकर विधवा रानी के साथ ब्याह कर लिया।

यद्यपि दक्षिण और पूर्व में हिट्टी साम्राज्य में शान्ति रही किन्तु पश्चिम के अरज़वा नामक राज्य ने मिस्र के पृष्ठपोषण से उपद्रव प्रारम्भ कर दिया। दो वर्ष तक घोर युद्ध करके हिट्टी सम्राट् मुरसिलिस ने वहां के राजा का वध कर दिया और वहां अपना एक अनुकूल शासक नियुक्त कर दिया। उत्तरी सीमा के उद्धत और स्वतंत्र दलों के दमन करने के लिए अनेक सैनिक दल स्थापित कर दिये गये। उस विस्तृत साम्राज्य पर प्रभुत्व स्थापित रखने के लिए बारम्बार सेनाएँ भेजी जाया करती थीं, तथापि स्थायी शान्ति इसलिए नहीं हो पाती थी कि मिस्र और

असीरिया के सम्राट् विरोधाग्नि को भड़काते और किसी न किसी ढंग से विरोधियों की सहायता करते रहते थे। इसका आगे चलकर यह परिणाम हुआ कि मिस्र के सम्राट् रमेस्सस ने सीरिया छीन लेने के लिए उस पर चढ़ाई की। १२८६ ई० पू० कडेश में दोनों साम्राज्यों की टक्कर हुई। मिस्र की सेना पराजित होकर लौट गयी। यदि नाजुक समय पर अतिरिक्त सेना न आ पहुंचती तो बहुत संभव था कि मिस्र की सेना समूल नष्ट कर दी जाती। किन्तु सीरिया में हिट्टियों की शक्ति को वह कोई आघात न पहुंचा सका। उत्तरपूर्वीय प्रदेश की रक्षा करने के लिए एक नया प्रान्त बना दिया गया जिसकी राजधानी हकमिस में राजवंश का शासक नियुक्त कर दिया गया।

असीरिया साम्राज्य की प्रबुद्ध शक्ति को रोकने के लिए हिट्टी और मिस्र के सम्राटों ने मैत्री स्थापित करना उचित समझा। अतः १२६९ ई० पू० में दोनों साम्राज्यों ने आपस में सन्धि कर ली, जिसका ध्येय एशियाई कोचक में शान्ति रखना था। सन्धि को अधिक पुष्ट करने के लिए १२५६ में हिट्टी राजा हत्तुशिलिस तृतीय ने अपनी राजकुमारी का विवाह फेरोरामेसेस से कर दिया। इस समय हिट्टियों का साम्राज्य करीब करीब सम्पूर्ण उत्तरी एनटोलिया पर स्थापित हो गया था। साम्राज्य अभी संगठित न होने पाया था कि पश्चिमी और पूर्वी प्रान्तों में उपद्रव हो उठे और साम्राज्य अस्त-व्यस्त हो गया। (११९० ई० पू०) एनेटोलिया अनेक छोटे मोटे राज्यों में बंट गया। संभवतः कई छोटे राज्यों पर हिट्टी लोग राज्य करते रहे। ऐसी परिस्थिति देखकर असीरिया के सम्राट् शलमन्सेर तृतीय ने सबको अपने अधीन कर लिया। नवीं शती के आरम्भ से असीरिया वालों का बल बढ़ता ही चला गया, यहां तक कि आठवीं शती के आरम्भ तक असीरिया का आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। हिट्टी आदि का नामोनिशान मिट गया।

सामाजिक व्यवस्था

राजघराने के सिवा सामन्तों के वंश थे जिनका समाज एवं राज्य में विशेष महत्त्व और अधिकार था। राजवंशियों तथा सामन्तवंशियों के ही हाथ में शासन के सभी पद और अधिकार रहते थे। कृषकों और उद्योग-धंधों में लगे हुए लोगों की स्थिति एक प्रकार के दासों की सी थी। वे अपना स्थान अथवा काम छोड़कर नहीं जा सकते थे। इस प्रथा का प्रतिपालन अनावश्यक कड़ाई से नहीं किया जाता था। नौकरों और दासों पर पूरा अधिकार रखते हुए भी उनके साथ अमानुषिक और

निर्दयता का व्यवहार नहीं होता था। शारीरिक क्षति के लिए उनके मुआविज़े की रकम स्वतंत्र व्यक्तियों से आधी मानी जाती थी। नियम यह भी था कि जघन्य काम करने के लिए स्वतंत्र व्यक्तियों को उनसे दुगुना दंड देना पड़ता था। हिट्टी विधान में नौकरों के कर्त्तव्यों और अधिकारों की व्यवस्था की गयी थी। उनकी जायदाद पर उनका अपना अधिकार होता था और कुछ धन देकर वे स्वतंत्र समुदाय की लड़की से विवाह भी कर सकते थे। हिट्टियों का वैवाहिक विधान बेबीलोनिया जैसा था। सगाई की प्रथा अवश्य थी किन्तु लड़की उससे बाध्य न थी। यदि वह चाहती तो माता-पिता की आज्ञा लेकर अथवा बिना आज्ञा लिये हुए भी जिससे चाहे विवाह कर सकती थी। किन्तु वैसी स्थिति में उसे सगाई में जो कुछ भेंट मिलती थी वह लौटानी पड़ती थी। लड़की के पिता को दहेज देना पड़ता था। इतना सब होने पर भी यदि पति संगम से इन्कार करता अथवा स्त्री इन्कार करती तो विवाह टूट जाता और दोषी को हरजाना देना पड़ता था। यदि सम्बन्ध होने के बाद स्त्री व्यभिचार करती तो पति प्राणदंड तक भी दे सकता था। पति-के निधन के पश्चात् उसकी विधवा को उसके भाई के साथ और भाई के अभाव में पति के पिता और पिता के अभाव में भतीजे से ब्याह करना पड़ता था। कुछ हेरफेर से हिब्रू लोगों में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी। हिट्टी कानून में पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अपनी सौतेली मां के साथ संभोग कर सकता था, क्योंकि पिता की सम्पत्ति का, जिसमें उसकी स्त्रियां भी गिनी जाती थीं, वह उत्तराधिकारी होता था। हिट्टियों में भाई-बहन का विवाह अवैध नहीं माना जाता था।

शासनविधान और कानून

प्रारम्भ में राजा के निर्वाचन की प्रथा थी। कभी कभी एक से अधिक व्यक्तियों का नाम चुनाव के लिए प्रस्तावित होता था, जिससे उत्पात मचने की आशंका रहती थी। सामन्त लोग राजा चुनने का अधिकार छोड़ने में आनाकानी करते थे। किन्तु जब राजसत्ता बलिष्ठ हो गयी तब राजा अपने उत्तराधिकारी का नाम स्वयं प्रस्तावित करता था जिसका समर्थन चुनाव करनेवाले प्रायः कर देते थे। निर्विघ्न चुनाव को सरल, स्थिर और व्यवस्थित बनाने के लिए अन्त में यह विधान बना कि राज्य का उत्तराधिकारी प्रथम महिषी का पुत्र हो और उसके अभाव में पुत्री का पति हो। एक दो अपवादों को छोड़कर इस नियम का प्रतिपालन होता रहा। राजा की

उपाधियों में 'तवरण' तथा 'वीर-देव' अथवा 'देवी-प्रिय' आदि होती थीं। अशोक का 'देवानां प्रिय' उसी की प्रतिध्वनि हो सकती है। अपने जीवन-काल में तो नहीं किन्तु मरणोपरान्त राजा देवत्व को प्राप्त हो जाता था। राजसत्ता के पूर्ण विकास होने पर राजा ही राज्य का सर्वोपरि पुरोहित, सेनापति, विधायक और न्यायाधीश माना जाता था। सन्धि, विग्रह आदि का उसे पूरा अधिकार था। पौरोहित्य, राष्ट्रीय याज्ञिकत्व तथा महत्त्वपूर्ण संग्राम में सेना-संचालन का कार्य उसे स्वयं करना पड़ता था। अन्य कार्यों के लिए वह जिसे चाहे नियुक्त कर सकता था।

हिट्टियों के विधान में महारानी के कुछ स्वतंत्र अधिकार थे। महारानी की उपाधि एक ही महिषी को जीवन भर के लिए मिलती थी, चाहे वह विधवा से सधवा क्यों न हुई हो। महारानी की अपनी विशेष मुद्रा होती थी और वह अन्य देश की रानियों से पत्र व्यवहार भी कर सकती थी। राज्य की आज्ञाओं और लेखों में उसके नाम का कभी कभी उल्लेख रहता और यज्ञ में भी वह भाग लेती थी।

यद्यपि हित्तुसस का राजवंश अधिक महान् और शक्तिमान् था तथापि हिट्टी साम्राज्य वस्तुतः संघ-साम्राज्य था जिसमें अनेक राज्य संयुक्त थे। राज्य का शासन-विधान जटिल न था। प्रत्येक नगर या बस्ती अपनी परम्परा और परिपाटी के अनुकूल वृद्धों की समिति द्वारा शासित होती थी। प्रदेशों के शासक-पद पर राजा राजवंशियों या सामन्तों में से किसी व्यक्ति की नियुक्ति कर देता था। प्रदेश का शासक स्थानीय शासन की परम्परा में हस्तक्षेप न करता था। शान्ति और प्रान्त की रक्षा के सिवा मंदिरों, राजमार्गों, लोक-भवनों का संरक्षण, राष्ट्रीय उत्सवों का प्रबन्ध, पुरोहितों की नियुक्ति आदि उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। अधिक महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्व के प्रदेशों या स्थानों का शासन प्रायः राजकुमारों या राजवंशियों के ही सुपुर्द किया जाता था।

कभी-कभी छोटे या कमजोर राज्य आत्मरक्षा के लिए या तो स्वयं या प्रेरणा द्वारा साम्राज्य के संरक्षण में आ जाते थे। उनसे आधिपत्य के प्रमाण-स्वरूप कुछ कर लिया जाता था। संरक्षित राज्य के स्वामी को वफादारी की शपथ लेनी पड़ती थी किन्तु ओल नहीं मांगी जाती थी। सम्बन्ध दृढ़ करने के लिए प्रायः वैवाहिक बन्धन स्थापित कर लिया जाता था। साम्राज्यों में बराबरी के स्तर पर सन्धियां होतीं और धातुओं या मिट्टी की पट्टियों पर उन्हें अंकित कर दिया जाता था।

साम्राज्य का विधान अथवा प्रचलित कानून मिट्टी की पट्टियों पर लिखा हुआ बोग़ाजकुई में मिला है। इसमें कृषि, मालगुज़ारी, व्यापार, सफाई, अकाल में सहा-

यता, सम्पत्ति, मजदूरी की दरें, नौकरी, गुलाम, वेतन, विवाह आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कानूनों की सूचना मिलती है। उसी प्रकार यह भी विदित होता है कि चोरी, हत्या, जादू टोना, राजाज्ञा की अवज्ञा, फौजदारी, अग्निकांड, अवैध मैथुन आदि के सम्बन्ध में भी कानून बने हुए थे।

मुकदमा पहले वृद्धों की समिति के सामने आता था। न्याय के लिए जो व्यक्ति राजा के प्रतिनिधि के पास, जो प्रायः स्थानीय सेना का अध्यक्ष होता था, आता था। उसके साथ अच्छी तरह जाँच करने के बाद न्याय किया जाता था। हिट्टियों के दंडविधान में प्रतिशोध की भावना कम थी। बलात्कारपूर्वक मैथुन, पशुमैथुन, राजानुशासन की अवज्ञा और व्यभिचार के लिए प्राण-दंड दिया जाता था। अन्य जुर्मों के लिए जुर्माना ही प्रायः पर्याप्त समझा जाता था। अंग-भंग की सजा कभी-कभी गुलामों को दी जाती थी। स्वतंत्र प्रजा पर वह लागू न थी। यदि किसी स्थान पर हत्या हो जाती और मुजरिम भाग जाता तो तीन मील के भीतर जो गांव होते थे उनको मृतक के कुटुम्बियों को मुआवजा देकर संतुष्ट करना पड़ता था। राजाज्ञा की अवहेलना करनेवाले व्यक्ति के कुटुम्बियों को भी दंड का पात्र माना जाता था।

आर्थिक परिस्थिति

हिट्टी लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषिकर्म तथा गोरक्षा था। भूमि का बहुत बड़ा अंश राजा और मन्दिरों के अधिकार में था। भूमि सम्बन्धी कानून भी पट्टियों पर लिखे हुए थे। जमीन लगान पर अथवा सेवा के एवज में दी जाती थी। राजा से प्राप्त भूमि पानेवाले के बदल जाने या मर जाने के बाद राजा को वापस हो जाती थी। किन्तु कारीगरों और मजदूरों को दी हुई भूमि उनके चले जाने के बाद गांव को वापस हो जाती थी। दी हुई जमीन की नाप, देने और पानेवाले के अधिकार और कर्त्तव्य आदि की लिखा-पढ़ी कर ली जाती थी। गेहूं और जौ की खेती के सिवा लोग अंगूर, बादाम आदि फलों के बगीचे लगाते और बैल, सुअर, बकरे, भेड़ आदि पालते थे। तेल के लिए वे जैतून के पेड़ उगाते थे। अनाज, शराब और तेल वहाँ की मुख्य पैदावार थी।

पहाड़ी प्रान्तों में धातुएँ पायी जाती थीं। तांबा, काँसा, चाँदी, लोहा और फूल निकलता या तैयार होता था। लोहा तो कम मात्रा में किन्तु तांबा और कांसा अधिक मात्रा में प्रस्तुत होता था। चांदी के टुकड़ों या बालियों से सिक्कों का काम लिया जाता था। पशु, अनाज, चमड़े, जमीन, मांस, धातु और कपड़े—इनकी

कीमत शासन द्वारा निर्धारित कर दी जाती थी। तांबे और चांदी का अनुपात १.२४० था।

धर्म

हिट्टी शासकों की धार्मिक नीति उदार थी, यद्यपि कुछ विशेष देवी और देवताओं की ओर राजाओं की अधिक श्रद्धा हो गयी थी तथापि प्रजा को स्वतंत्रता थी कि वह चाहे जिसे माने-पूजे। हिट्टियों का सबसे प्रमुख देवता तेशब मेघ-प्रभंजन का स्वामी था। सेरिस और हर्रिस नामक बैलों का उसका रथ था। उसके एक हाथ में फरसा और दूसरे में विद्युतप्रभा का त्रिशूल-सा अस्त्र रहता था। छोटी-बड़ी नाना आकार-प्रकार की उसकी मूर्तियां पूजी जाती थीं। हिट्टियों में प्रचलित आख्यान के अनुसार उसका सबसे घोर शत्रु इल्लियंकस नाम का अप्रसहिष्णु नाग (सर्प) था जिसने एक बार तो उसे तथा अन्य देवताओं को बुरी तरह से पराजित किया, किन्तु बाद को तेशबने देवी इनरसकी विनय छलना की सहायता से उसे मार डाला। तेशब की पत्नी "हेबत" उसी के समान प्रभावशालिनी, शक्तिमती समरभयंकरी देवी थी। देवी का वाहन सिंह था और उन दोनों (तेशब तथा हेबत) का पुत्र था शरमा। हेबत के सिवा शौशका नाम की सिंहवाहिनो पंखवाली देवी की भी पूजा होती थी। तेशब और उसकी पत्नी साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में अनेक नामों से पूजे जाते थे। प्रत्येक नगर में देवालय प्रतिष्ठित थे। पूजने के लिए अनेक प्रकार की मूर्तियां बनायी जाती थीं। छोटी से छोटी मूर्ति से लेकर बड़ी से बड़ी पत्थर या धातुओं की मूर्तियां बनायी जाती थीं।

अरिन्ना नाम के नगर में अरिन्ना नाम की सूर्या देवी की पूजा प्रचलित थी। हिट्टी के राजा अरिन्ना (सूर्या) को त्रैलोक्य की स्वामिनी और राज्य की रक्षिणी तथा नेत्री मानते थे। उसकी समता सत्य और न्याय के संरक्षक सूर्यदेव भी नहीं कर सकते थे। सूर्य देवता का प्रतीक पंखवाला बिंब था, जैसा कि मिस्र वाले मानते थे। अरिन्ना का पति था वुरुसेमू (मेघराज) किन्तु देवी के मुकाबले में उसका महत्त्व कम माना जाता था। कृषि के विधायक देवता तेलिपिनू, भाग्य के देवता आदि अनेक देवों और देवियों की पूजा की जाती थी। चन्द्रदेव का नाम 'कशक' था, पाताल का हेसुइ और समुद्रतल के इअ नामक देवता थे। देवी की सेवा के लिए अनेक सखियां भी थीं।

मंदिरों, पर्वतों, खुले मैदानों में पूजन होते और उत्सव मनाये जाते थे। देवी-

देवताओं को सविधि पूजने के लिए पुजारी नियुक्त थे। वे उन्हें नहलाते-धुलाते, वस्त्र पहनाते, भोज्य और पेय पदार्थों का भोग लगाते और गान, वाद्य तथा नृत्य से उनको प्रसन्न करते थे। प्रसाद बांटने की प्रथा हिट्टियों में प्रचलित न थी। देवता को पशु, मांस, अन्न, फल, फूल वस्त्रादि चढ़ाये जा सकते थे। पशुबलि में बैल, छाग, भेड़ ही नहीं कुत्ते और सुअर भी प्रयुक्त होते थे। कहते हैं कि कभी-कभी नर-मेध भी होता था। हिट्टियों में ऋतुओं और वर्षारम्भ के मुख्य उत्सव निश्चित थे जिनके कार्यक्रम में नृत्य, गान और एक प्रकार का छोटा-मोटा नाट्य-प्रदर्शन भी होता था। कभी-कभी कृत्रिम युद्ध का आयोजन किया जाता था। देवताओं की रथयात्राएँ करायी जाती थीं। रथों के आगे आगे देवदासियों तथा अन्य स्त्रियों के दल जलती मशाल लेकर चलते थे। देवताओं के विश्राम और सुविधा के लिए भवन, जो 'तरनवी' भवन कहे जाते थे, रहते थे।

कुछ देवताओं के रहने के विशेष स्थान नियत थे, जैसे सूर्य का सिप्पर में, चन्द्रमा का कुज़ीन में, मघवा-का कुम्मिया में, ईश्तर देवी का निनेवह् में, नन्नियां देवी का किसन्न और मरदक का बेबीलान इत्यादि में। लोगों का विश्वास था कि देवता परोक्ष में अदृश्य रूप से रहते हैं। वे अमर हैं किन्तु उनके व्यापार और व्यवहार मनुष्यों के व्यवहारों के सदृश होते हैं। उनका मनुष्य के प्रति वैसा ही व्यवहार होता है जैसा कि मालिक का दास के साथ। जब देवता दुचित्त हो जाता है तब असुर उसके भक्तों को सताने लगते हैं। प्रार्थना करने पर देवता रक्षा करते हैं किन्तु यदि यातना किसी पाप के दंडस्वरूप हो तो उसका निराकरण पाप स्वीकार करने और उसके लिए प्रायश्चित्त करने तथा क्षमा मांगने पर ही हो सकता है। भूत प्रेतों, रोगों और बलाओं से बचने के लिए जादू-मंत्रादि उपचार किये जाते थे।

हिट्टियों में मृतक जलाने की प्रथा थी। मृतक-संस्कार तेरह दिन तक चलते रहते थे। चिता से अवशिष्ट हड्डियों को निकालकर उसे शराब से बुझा देते और हड्डियों को किसी पात्र में रखकर दफना देते थे।

कला-कौशल

हिट्टी लोगों ने नगर-निर्माण और शिला-तक्षण कला में सराहनीय निपुणता प्राप्त कर ली थी। उनकी राजधानी हत्तुसस तत्कालीन एशिया का सबसे विशाल, सुदृढ़ और आकर्षक नगर था। उनके प्रासादों की दो विशेषताएँ थीं। पहली यह कि सबसे पहले वहां के स्थपतियों ने राजप्रासादों को दो खम्भों पर आश्रित द्वार-प्रकोष्ठ

द्वारा विभूषित किया, जिसके दोनों पार्श्वों में समचौकोर धरहरे या मीनारें बनी थीं। आगे चलकर असीरिया और फारस वालों ने उसी नमूने का अनुकरण और उन्नयन किया। इसके सिवा राजप्रासाद के मुख्य द्वार की शोभा बढ़ाने के लिए उन्होंने आनुपातिक सिंहों की मूर्तियां बनाने की परिपाटी आरम्भ की। मुख्य द्वारों पर स्फिक्स मिस्र में बनते थे किन्तु हिट्टियों के द्वार-प्रकोष्ठ के साथ द्वाररक्षक सिंह और बलिष्ठ द्वारपालों के बनाने की परिपाटी अपनी विशेषता रखती थी। मिस्र तथा मेसोपटेमिया की वास्तुकला से भी उन्होंने लाभ उठाने में कोई संकोच नहीं किया था।

बोग़ाज़कुई और टाजिलिकुट में, जो बोग़ाजकुई से दो मील पर है, पत्थर की चट्टानों पर उत्कीर्ण नाना प्रकार की मूर्तियां और दृश्य बने हुए हैं, जो हिट्टियों की तक्षण कला के सुन्दर नमूने माने जाते हैं। मूर्तियों की अनेक मुद्राएँ पायी जाती हैं जिनमें कुछ मूर्तियां नग्न देवियों की भी हैं। मिट्टी तथा धातुओं की बनी छोटी-बड़ी चीजें खुदाई में मिली हैं, जिनसे अनुमान किया जाता है कि चित्रण कला और सुनारी ने वहाँ काफी उन्नति कर ली थी।

हिट्टी पुरुष और स्त्रियाँ सिले हुए कपड़े और शिरस्त्राण पहनते थे जिनकी आस्तीनें तथा लम्बाई छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की होती थीं।

युद्धकला

हिट्टियों के रथ मिस्र वालों की तरह छः तीलियों के होते थे, किन्तु उन पर तीन व्यक्तियों के लिए स्थान होता था। शीघ्रगामी होने से उनकी भी गिनती हिट्टियों की विजय के कारणों में है। वे लोग भालों, दोधारे फरसों और धनुष बाण का प्रयोग करते थे। घुड़सवारों का रिसाला उनके पास न था और पदाति का स्थान भी सेना में गौण था। सेना-संचालन तथा युद्धकला में वे कुशल थे। दृढ़ किलों के निर्माण की कला ने भी वहां अच्छी उन्नति की थी।

भाषा और लेख

हिट्टी साम्राज्य में अनेक भाषाएँ बोली जाती थीं जिनमें पांच मुख्य थीं। किन्तु सब भाषाओं में मिट्टनी लोगों की भाषा अच्छी मानी जाती थी। वह भाषा इन्डो-यूरोपियन भाषा की एक शाखा थी। यद्यपि बाद में अन्य भाषाओं के बहुत से शब्द मिल गये जिससे उसका रूप बदल गया। लिखने तथा उच्च राजनीतिक व्यवहार में मिट्टनी भाषा का अधिक उपयोग होता था। हिट्टियों के पट्ट-लेखों में प्रायः कानून,

व्यापारिक काम की बातें, कुछ प्रचलित लोक कथाएँ, पूजा की विधियाँ, पौराणिक ढंग के आख्यान तथा विजयों और युद्धों के वर्णन मिलते हैं जो गद्य में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य, तत्व दर्शन और विज्ञान की ओर उनका ध्यान आकर्षित न हो सका था।

मिट्टनी

हिट्टियों के इतिहास में जिन जातियों का उल्लेख मिलता है उनमें मिट्टनी लोगों का विशेष स्थान है। ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी में इन्डो-आर्यन लोगों की एक शाखा कैस्पियन सागर की पूर्वी ओर से घूमते हुए काकेशिया के पर्वतों को लांघकर मेसोपटेमिया के उत्तर तथा जगरोस की घाटी में, जो अब कुर्दिस्तान कहलाता है, आ बसी थी। उस समय वहां के निवासी हर्री लोग थे। हर्री न तो आर्य और न सेमेटिक जाति के थे। ईसा से पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में वे लोग आरमीनिया में थे। वहां से वे असीरिया,-सीरिया और फिलस्तीन (पेलेस्टाइन) तक जा बसे थे। ईरान के नूजी नामक स्थान पर उनकी बस्ती के अवशेष अब भी मिलते हैं। हर्री और मिट्टनी घुल-मिलकर रहने लगे और शक्तिशाली हो गये। ई० पू० पन्द्रहवीं शती में हिट्टियों के समान वे भी लोहे का प्रयोग करते थे। उनके पश्चिम में सीरिया राज्य था। वस्सुकन्नी में उन्होंने अपनी राजधानी स्थापित कर ली। उनकी बढ़ी हुई शक्ति से हिट्टी राज्य को चिन्ता होने लगी, क्योंकि कुछ रजवाड़े उसके आधिपत्य से निकलकर मिट्टनी लोगों के साथ शामिल हो गये। १४५०–१४०० में मिट्टनी के आधिपत्य में असीरिया भी चला गया था, किन्तु बहुत लड़ने झगड़ने के बाद असीरिया स्वतंत्र होकर अपना बल उत्तरोत्तर बढ़ाने लगा। मिट्टनी के राजा तुषरद्द ने मिस्र के राज्य से भी मेल-जोल बढ़ाना आरम्भ कर दिया। पन्द्रहवीं शती के मध्य तक उनकी शक्ति का पूर्ण विकास हो गया। फेरो थटमास चतुर्थ और एमेनहोतेप तृतीय ने वहां की राजकुमारियों से विवाह कर लिया। आखिरकार हिट्टियों का उनसे खुल्लमखुल्ला संघर्ष होने लगा। हिट्टी राजा सुप्पीलूल्यूमस ने उनकी राजधानी पर आक्रमण करके उसे लूट लिया (१३६८-९ ई० पू०)। संभव है कि मिट्टनी की देखा-देखी हिट्टी राजाओं ने भी 'वीरदेव' अथवा 'देवीप्रिय' की उपाधि ग्रहण कर ली हो। हिट्टी के राजा के लौट जाने के बाद मिट्टनी पुनः अपनी स्थिति पूर्ववत् सुदृढ़ कर सके। उन्होंने हिट्टी राजा से सन्धि स्थापित कर ली। सन्धि-पत्र के महत्त्व का एक यह भी कारण है कि जिन देवताओं का नाम उसमें उल्लिखित

हैं उनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य के भी नाम हैं। उनके सिवा कुछ देवताओं के संयुक्त नाम भी वहां प्रचलित थे। उनकी प्रमुख देवी कभी सूर्य की और कभी पृथ्वी की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। इससे यह प्रतीत होता है कि उनका कुछ धार्मिक सम्बन्ध भारतवर्ष के आर्यों से रहा होगा। यह भी अनुमान किया जाता है कि शायद वे उसी शाखा के आर्य हों जिन्होंने भारत में पदार्पण किया। उन्हीं लोगों में नहीं, वरन् कस्सी लोगों में भी, जो आधुनिक लूरिस्तान के प्रदेश में रहते थे, आर्य देवताओं के जैसे सुरेश, सूर्य और मरुत के नाम प्रचलित थे और अश्व देवत्व का एक प्रतीक माना जाता था। पहले कस्सी का इन्डो-आर्य जाति के होना संदिग्ध था, किन्तु अब यह माना जाता है कि वे भी संभवतः इन्डो-आर्य वंश के हैं।

मिट्टनियों का समाज सामन्तशाही था। सामन्त अपनी अपनी रियासत में शासन करते थे किन्तु राजा को अपना अधिपति मानते थे। उनके समाज में कम से कम तीन वर्ग थे। पहला मर्यन्नी जो रथों पर चढ़कर युद्ध करता था, दूसरा कारागर, और तीसरा सबे नमे, जो ग्रामवासी कृषकों का वर्ग था। इनके विषय में अभी तक अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है।

अध्याय ४

मिस्र साम्राज्य के नये युग का उत्थान और पतन

(१५८०--१०८५ ई० पू०)

यद्यपि 'हिकसोस' लोगों ने मिस्र पर आतंक जमाने में कोई कसर न रखी, तथापि मिस्र-निवासी उनको घृणा की दृष्टि से देखते रहे। अन्त में थेबीज़ नगर के अहमोस नामक एक राजकुमार ने असंतुष्ट प्रजा को संगठित कर उनको मिस्र से निकाल दिया। द्वितीय प्रपात से सीरिया तक उसने अपना आधिपत्य भी स्थापित कर लिया। आक्रमणकारियों की तरह उसने भी घोड़ों के रिसालों और अश्वरथों की सेना का संगठन किया। घोड़ों के उपयोग से बड़े साम्राज्य की स्थापना भी संभव हो सकी। मिस्रवासियों में नयी क्षात्र-वृत्ति का प्रादुर्भाव हो गया और अहमोस से मिस्र के अठारहवें राजवंश का आरम्भ हुआ। इस वंश के राज्यकाल में मिस्र में साम्राज्य एवं साम्राज्यवाद की तथा संस्कृति एवं सभ्यता की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस नये वंश के सहायकों में केवल सामन्त श्रेणी के ही नही वरन् मध्य श्रेणी के लोग भी थे।

अठारहवाँ राजवंश (१५८०–१३५० ई० पू०)

इस वंश ने चौथे प्रपात तक दक्षिण में तथा सीरिया की ओर फरात नदी तक एशिया में अपनी पताका फहरायी। मिस्र की सीमाएं दृढ़ कर दी गयीं जिससे उस पर आक्रमण का भय न रहे। इसी ध्येय से इसने एशिया पर भी आतंक और बल बढ़ाने की नीति का अनुसरण किया। इसका प्रथम पराक्रमी राजा थटमोस (१५४०-१५०१) था जिसकी विजयों और विजित देशों की लूट से मिस्र के आत्मविश्वास, उत्साह एवं आर्थिक दशा की उन्नति होने लगी। तीस वर्ष राज्य करने के बाद उसने अपनी पुत्री 'हाशेपसत' को सहयोगिनी राज्यशासिका बना लिया। पिता के मरणोपरान्त उत्तराधिकारी की उपेक्षा करके पुत्री ने स्वयं राज्य किया (१५०१–१४७९ ई० पू०)। चूंकि मिस्र की प्रथा थी कि राजसिंहासन पर पुरुष ही बैठे इसलिए उसने

पुरुष का बाना बनाया, अपने को पुरुषों के समान सम्बोधित करने की आज्ञा दी और अपनी एक ऐसी मूर्ति बनवायी जिसका वक्षस्थल पुरुषों का सा था और दाढ़ी भी थी। अपना पुंस्त्व सूचित करने वाली पौराणिक ढंग की कथाओं का खूब प्रचार किया। उसकी सफलता से यह निष्कर्ष निकल सकता है कि अठारहवें वंश के शासक की इतनी धाक और शक्ति थी कि वह यदि चाहे तो स्त्री को भी पुरुषत्व प्रदान कर दे। बीस वर्ष के अपने राज्यकाल में उसने मिस्र की मानमर्यादा की ही रक्षा न की वरन् व्यापार के नये स्थानों और मार्गों को खोलकर उसकी अच्छी उन्नति की। इसके सिवा उसने कार्नक के नष्ट-भ्रष्ट मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और अपूर्ण मंदिरों को पूरा करा दिया। अपने लिए भी उसने एक सुन्दर समाधिस्थान बनवाया।

महारानी का उत्तराधिकारी उसका भाई एवं पति थटमोज़इय हुआ (१४७९-१४४७ ई० पू०), वह बड़ा तेजस्वी एवं पराक्रमी निकला। उसने सीरिया और उसके सहायक राज्यों को मेगीड़ों के मैदान में (१४७९) परास्त कर फरात नदी के पूर्वी भाग तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। हिट्टी तथा मेसोपटेमिया के राजाओं ने उसकी सेवा में उपहार भेजे। मिट्टनी ने विरोध करने का साहस किया, किन्तु उसको भी पराजित होना पड़ा। इस प्रकार पन्द्रह युद्ध जीतकर उसने भूमध्यसागर पर अपना अप्रतिम आतंक जमा दिया। संभवतः वह संसार का पहला ज्ञात राजा था जिसने साम्राज्यवाद तथा समुद्री बल के महत्त्व को समझा और अपने जहाजी बेड़े से अपना आधिपत्य स्थिर रखा। उसकी सेना खूब सुसज्जित, अनुशासित और प्रबल थी। उसके कोष में ग्यारह सौ मन चांदी-सोना था। थेबीज़ तथा कार्नक की शोभा, समृद्धि और मिस्र के व्यापार की यथेष्ठ वृद्धि होती रही। कहा जाता है कि उसकी विभूति का पूरा प्रदर्शन उसके प्रपौत्र ऐमेनहोतेप तृतीय के राज्यकाल में हुआ (१४११–१३७५)। मिस्र की महानता ऐमेनहोतेप तृतीय के समय (१४११–१३७५ ई० पू०) में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची। उसी ने 'कलोसस' का निर्माण कराया जो संसार की महान् आश्चर्यजनक कृतियों में गिना जाता है। उसके महल में मिट्टनी, बेबीलॉन आदि देश विदेशों की सैकड़ों रानियां थीं। उनमें सबसे प्रमुख पुरोहित कुल की ताई नाम की महारानी थी। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उसने अपने पुत्र ऐमेनहोतेप चतुर्थ को अपना सहयोगी सम्राट् बनाया। वही आगे चलकर इख़नातोन के नाम से विख्यात सम्राट् हुआ। ऐमेनहोतेप के समय में थेबीज़ नगर इतना श्रीशोभा-सम्पन्न हो गया कि उसकी समानता प्राचीन संसार का ही नहीं, अद्यावधि शायद ही कोई नगर कर सका हो। उसके स्वर्ण-खचित विशाल

मंदिर पूजा-भेंट से अपार सम्पत्ति बढ़ा रहे थे। चारों ओर से व्यापारी आकर वहां जमा होते और देश-देश की वस्तुओं का वहां खुलकर क्रय-विक्रय करते थे।

अठारहवें वंश का राजा ऐमेनहोतेप चतुर्थ था (१३७५ से १३५८ ई० पू०)। वह कवि, सहृदय और दार्शनिक था। उसका संयम दृढ़ और आचार विचार पवित्र एवं सात्विक थे।' मंदिरों के भोग-विलास, वैभव, पशुबलि, नरबलि, भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार से उसे ऐसी ग्लानि हुई कि उसने उनका खुल्लमखुल्ला विरोध किया। उसकी धारणा थी कि मन्दिरों की पूजा अर्चा, पुजारियों का ढोंगमय जीवन तथा मंत्र तंत्र, जादू आदि सब मिथ्या और भ्रमात्मक हैं, ढकोसले हैं। उसका विश्वास केवल 'आतोन' (सविता) पर था। सूर्य को वह प्रकाश का ही नहीं वरन् जीवन का भी आधार मानता और उसकी भक्ति के आवेश में आकर सारगर्भित तथा मर्मस्पर्शी स्तुतियों की रचना करता था। वह एकेश्वरवादी था और निराकार ईश्वर की अपार विभूति को आलोकित करनेवाले एक मात्र प्रतीक आतोन (सविता) को ही मानता था। उसको वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, दयालु, भर्ता और प्रेमस्वरूप समझता था। उसे यह आशा थी कि एक ईश्वर का आदर्श साम्राज्य के सभी निवासियों को आकृष्ट कर सकेगा और विभिन्न स्थानिक देवताओं के संघर्ष को हटा देगा।

सुधार की प्रबल प्रेरणा ने उसे कुछ असहिष्णु कर दिया। उसने आज्ञा दी कि आतोन के सिवा आमोन आदि सभी देवताओं के नाम मिटा दिये जायं और आपत्ति-जनक पूजा अर्चा बन्द कर दी जाय। ऐ मेनहोतेप नाम बदलकर उसने अपना नाम इखनातोन रख लिया। आमोन से उसे चिढ़ सी हो गयी थी। यही नहीं, थेबीज़ नगर के विलास, स्वार्थ और धूर्ततामय जीवन से ऊबकर वह अखेतातोन (आधुनिक तेलएल-अमरना) में नयी बस्ती बसाकर रहने लगा। थेबीज़ का पतन और नयी नगरी का उत्कर्ष दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया। उसके उतावलेपन और असहिष्णुता से पुजारियों, धनिकों तथा रूढ़िग्रस्त प्रजा में असन्तोष उत्पन्न हो गया। उसके शान्ति और संतोष-पूर्ण विचारों के कारण सम्राट् की सत्ता के पोषकों में असंतोष फैला, जिससे लाभ उठाकर हिट्टियों ने उत्तरी सीरिया और हिब्रुओं ने पेलेस्टाइन पर आक्रमण कर दिया। शस्त्रबल से साम्राज्य की नीति की रक्षा करने तथा प्रान्तस्थ प्रजा पर प्रभुत्व कायम रखने के लिए मिस्रवासियों का रक्तपात कराना सम्राट् ने चिन्त्य ही नहीं वरन् घृणित समझा। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि नौकरशाही प्रजा को लूटने खसोटने लगी, धर्माधिकारी विरोध और षड्यंत्र करने लगे और दूसरा यह कि

प्रान्तों ने क्षुब्ध होकर मिस्र का आश्रय छोड़ दिया और वे स्वतंत्र हो गये। साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। मिस्र की धाक बिगड़ गयी और उसकी समृद्धि के साधन जाते रहे। वह श्रीहत होकर अर्थ-संकट में ग्रस्त हो गया। ऐसे ऊंचे और पवित्र विचारों और आदर्शों तथा अन्तर्जातीय बन्धुत्व की भावना का इतना भयंकर परिणाम देख-कर इखनातोन का कवि-हृदय ऐसा आहत हुआ कि वह इतिहास की विषमता की निष्ठुर कहानी छोड़कर भरी जवानी में ही परलोक को चला गया।

इखनातोन के सिद्धान्त के अनुसार सत्य एवं यथार्थ का अन्वेषण मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। रूढ़िग्रस्त रहना मानसिक दुर्बलता का द्योतक है। उसके विचारों का प्रभाव कुछ काल तक कला और शिक्षा पर भी रहा,जिसकी साक्षी उसके नये नगर अखेतातोन (तेल एलअमरना) की शिल्पकला की स्वाभाविकता एवं स्वतंत्रता अद्यावधि दे रही है। उसके विचारों और आदर्शों से संभवतः मिस्र की सभ्यता में एक नवजीवन प्रदायिनी धारा प्रवाहित हो जाती। क्रान्ति ने उसके प्रयत्नों को सुखा डाला।

इखनातोन की मृत्यु के बाद ही देश में प्रतिक्रिया हुई। उसका दामाद तूतांखामेन (१३५८–१३५३)सम्राट् हुआ। उसने अपने श्वशुर के सुधारों को हटाकर पुनः पुराने सिद्धान्तों को उज्जीवित किया। धर्माधिकारियों तथा सम्पन्न श्रेणी वालों ने उसकी नीति का स्वागत कर उसको यथाशक्ति सहयोग प्रदान किया। इखनातोन को सबने भयंकर विद्रोही तथा दोषी घोषित कर दिया। तूतांखामेन की समाधि से जो बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई (१९२० ई०) उससे बड़ी सनसनी फैली और मिस्र के इतिहास पर अच्छा प्रकाश भी पड़ा। इससे अनुमान किया जाता है कि मिस्र की आर्थिक दशा कुछ संभली थी, किन्तु वह भी अठारहवें राज्यवंश के पतन को न रोक सकी।

उन्नीसवां राजवंश (१३५०–१२२५ या १२०५ ई० पू०)

इस वंश का संस्थापक हरमहरब (१३५२–१३१९) नाम का एक पराक्रमी सेनानायक था, जिसने मिस्र-राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा लिया। कुछ विद्वानों की राय है कि उन्नीसवें वंश का आरम्भ हरमहरब की मृत्यु के बाद हुआ था। उसके वंश के प्रसिद्ध राजाओं में रामेसेज़ (१२९९–१२३२ ई० पू०)का नाम पहला है। वह जैसा पराक्रमी वैसा ही व्यसनी भी था। उसके महलों में सैकड़ों रानियां थीं, जिनमें कई तो उसी की पुत्रियां थीं। उनको उसने अपने वंश के व्यक्तित्व

एवं पराक्रम को अक्षुण्ण रखने के लिए ब्याह लिया था। मृत्यु के समय उसके सौ पुत्र और पचास पुत्रियां थीं। साम्राज्य की रक्षा, संगठन तथा प्रसार के लिए उसने जो सफल उद्योग किया वह थटमोज़ की कृतियों की समता रखता है। उसके राजत्व-काल में मिस्र की सेना पुनः फरात के तट पर उसके नेतृत्व में विजय का डंका बजाने लगी। हिट्टी लोगों के दर्प को चूर्ण करके उनको शान्ति-याचना के लिए उसने वाधित किया। सन्धि द्वारा यह निश्चित हुआ कि सीरिया पर हिट्टियों का और पेलेस्टाइन पर मिस्र का प्रभावक्षेत्र माना जाय। हिट्टी वंश की एक राजकुमारी से रामेसेस ने ब्याह कर लिया। उसी प्रकार बर्बरों के भी आक्रमणों को निष्फल करके उसने उन्हें परास्त किया। बाहर के देशों की लूट तथा उसकी प्रेरणा से हुई न्यूबिया की सोने की खानों की खुदाई से मिस्र की सम्पत्ति पुनः बढ़ गयी। इस धन से उसने एक नयी नहर खुदवायी और कारनक तथा लक्सर में विशाल एवं भव्य इमारतें बनवायीं। उनमें से सबसे महत्त्व का रमीसियम का मन्दिर तथा उसकी मूर्तियाँ हैं।

तेरहवीं शती के अन्त में बीसवें राजवंश की स्थापना हुई। उसका सबसे प्रसिद्ध सम्राट् रामेसेज़ तृतीय हुआ (११९८–११६७), जिसने कोचक की ओर से मिस्र पर समुद्र मार्ग से आक्रमण करने वालों को पीछे भगा दिया। उन आक्रमणकारियों की इतनी शक्ति थी कि उसके सामने हिट्टी और माइसीन वाले नष्ट हो गये और फोनीशिया वालों के नगर भी लूट लिये गये।

उपर्युक्त शान-शौकत और समृद्धि मिस्र के महत्त्व की अन्तिम छटा थी। वस्तुतः फेरो की शक्ति पतनोन्मुख हो रही थी। पुजारियों और देवालयों के पास इतनी सम्पत्ति एकत्रित हो गयी थी और उनका राज्य तथा जनता पर इतना प्रभाव बढ़ गया था कि फेरो को भी उनके सामने सीस झुकाना और दबना पड़ता था। विशेषतः आमोन सम्प्रदाय का धार्मिक नेतृत्व एक वंशविशेष का पैतृक अधिकार हो गया था। उसके सामने फेरो का तेज क्षीण होता चला गया। उसके अधिकार में मिस्र देश का लगभग सप्तमांश था। सेवा में एक लाख से अधिक दास और पाँच लाख पशु, पौने दो सौ करमुक्त नगरों की आय तथा सोना, चाँदी, अन्नादि के अपार साधन थे। उधर फेरो का कोष उत्तरोत्तर खाली होता चला जाता था और जनता भी गरीब होती जाती थी। इस परिस्थिति में मिस्र साम्राज्य के अन्तर्गत जो राज्य अथवा एशियाई प्रान्त थे वे एक-एक करके स्वतन्त्र होते गये। मिस्र के भीतर बड़ी संख्या में बर्बर और हब्शी आ बसे जिनमें स्वार्थ ही स्वार्थ था, अराजकता बढ़ती जाती थी। यद्यपि ऊपरी दिखावे और व्यापार एवं व्यवसाय चलते रहे किन्तु मिस्र

की आत्मा, उसका व्यक्तित्व एवं महत्त्व सर्वथा नष्ट हो गये। ग्यारहवीं शती ई० पू० तक मिस्र देश कई टुकड़ों में बँट गया, जिससे उसकी बची-खुची शक्ति भी नष्ट हो गयी।

साम्राज्य-काल की संस्कृति

साम्राज्य-काल में स्त्रियों की परिस्थिति कुछ-कुछ गिर गयी थी। धीरे-धीरे उनका तलाक देने का अधिकार भी छिन गया। हिकसोस लोग पैतृक प्रथा को, जिसमें पिता का स्थान माता से ऊँचा और उसी से संतति का नामकरण एवं विचार होता था, मिस्र में लाये, जहाँ मातृक प्रथा थी। बहुधा देखा जाता है कि पैतृक प्रथा मातृक पर हावी हो जाती है। मिस्र में भी माता का महत्त्व उसी संघर्ष के कारण कम होता गया। फिर भी मातृक परम्परा के कारण वहाँ बाल-हत्या का प्रचलन नगण्य-सा रहा। यही नहीं, मिस्र में पुरुषों के बदले स्त्रियाँ ही पहले अपना प्रेम प्रकट करतीं और प्रिय पुरुष से विवाह का प्रस्ताव अनुनय एवं विनय के साथ करती थीं। फलतः लज्जा, संकोच अथवा अवगुंठन का वहाँ कोई विशेष स्थान न था। इसका यह अर्थ न समझना चाहिए कि स्त्रियाँ पतिपरायण न थीं। वहाँ के लोगों में यौन विषयों की चर्चा बेधड़क होती थी। उनके मन्दिरों में भी नग्न और लज्जाहीन मूर्तियाँ और चित्र बनाये जाते थे। समाज में वेश्या तथा किंपुरुष अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे। नर्तकियाँ अपना शरीर अंग-राग से रंजित कर कम-से-कम ढँकती और अच्छे घरानों में आती जाती थीं। किन्तु साधारण जनता में वस्त्रों का पूर्व युगों से अधिक प्रचलन होता गया, यहाँ तक कि आगे चलकर पोशाक भारी और बड़ी सजधज की होने लगी। स्त्री एवं पुरुषों को आभूषण पहनने का शौक पहले से बहुत अधिक बढ़ गया था। धन की वृद्धि के कारण ही फैशन बढ़ गया था। ऊपरी टीमटाम मिस्रियों की परम्परा-प्रियता में विशेष कमी न कर पायी। वहाँ के निवासी परिवर्तनशील न थे।

शासन

थटमोस तृतीय के समय में साम्राज्य का शासन विजित प्रदेशों के ही राजाओं अथवा सामन्तों द्वारा होता था, किन्तु सम्राट् के नियुक्त प्रतिनिधि पदाधिकारी उनकी गतिविधि का निरीक्षण करते थे। चतुर्थ राजवंश के समय में वजीर के पद का आरम्भ हुआ। यद्यपि राजा के बाद उसका स्थान था, किन्तु उसके मुख्य

कर्तव्य न्यायाध्यक्षता और राजकीय पुस्तकाध्यक्षता थे। वजीर के बाद अन्य प्रमुख अधिकारी थे कोषाध्यक्ष और कृषिमन्त्री। नवीन युग तक उनके सुपुर्द शासन, सेना, कृषि, राजकीय पत्र-व्यवहार भी कर दिये गये। उनको प्रत्येक दिन सम्राट् को साम्राज्य का लेखा-जोखा तथा व्यवस्था बतानी पड़ती थीं। सम्राट् के दो प्रमुख वजीर होते थे—एक तो राजधानी में रहता और सम्राट् की अनुपस्थिति में राज्य के शासन का संचालन करता, दूसरा हेलिओपोलिस में रहता, जिसका विशेष कर्तव्य मिस्र के निचले भाग का शासन था। उनका कार्य-क्षेत्र शासन था। वित्त सम्बन्धी कार्यों की देखभाल के लिए अन्य पदाधिकारी थे। साम्राज्य के पचपन नोमों के शासनाध्यक्षों के कार्यों का निरीक्षण मन्त्री का विशेष कर्तव्य माना जाता था। प्रत्येक नगर तथा नोम में अपना न्यायालय होता जिसके निर्णयों के विरुद्ध अपील थेबीज के वजीर की अदालत में होती थी। साम्राज्य में डाक-चौकी का प्रबन्ध होने के कारण न्याय तथा शासन के कार्य में पहले से अधिक सुविधा हो गयी। यह स्मरण रखना चाहिए कि फौजदारी अथवा माल दीवानी का कार्य पुरोहितों या धर्माधिकारियों को नहीं दिया जाता था। मिस्र में कानूनों का निश्चित सम्पादन ईसा के पूर्व आठवीं शती तक नहीं हो पाया था, जब कि वह मेसोपटेमिया में सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका था।

प्रान्तों का शासन पहले कुलीन तथा बड़े जमींदारों के हाथ में था। धीरे-धीरे उनका पद वंशानुगत हो गया, जिससे सामन्तशाही को अधिक बल मिला। मिस्र पर विजातियों के आक्रमणों तथा राजसत्ता के पुनः संस्थापन से पुरानी व्यवस्था बदल गयी। सम्राट् के नियुक्त सेवकों द्वारा प्रान्तों का शासन होने लगा।

आर्थिक स्थिति

यद्यपि मिस्र के व्यापार में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही तथापि वहाँ का आर्थिक जीवन कृषि पर ही अवलम्बित था। जमीन का मालिक सम्राट् था जो चाहे जिसको चाहे जितनी भूमि दे देता था। बहुत-सी जमीन तो देवालयों को दी गयी थी, किन्तु अधिकांश प्रजा को बाँट दी जाती थी। नील नदी में प्रति वर्ष बाढ़ आती थी। पानी उतर जाने पर जमीन की नपाई की जाती और फिर वह वितरित कर दी जाती थी। उपजाऊ भूमि का क्षेत्र सीमित होने के कारण जमीन तथा पैदावार पर खास निग-रानी रखी जाती थी जिससे उसका अधिक-से-अधिक उपयोग हो सके। इसी कारण नहरों-नालियों आदि का भी अच्छा प्रबन्ध किया जाता था। राज्य की विभिन्न

प्रकृति की भूमि, क्षेत्रों, उनके पास रहनेवाले व्यक्तियों की संख्या का लेखा रहता था, जिससे यह जाना जा सकता था कि अमुक क्षेत्र में किस चीज की कितनी पैदावार और उस पर क्या खर्च होगा। उसी साधन से मंत्री बोने के पहले ही खेती की आमदनी का अच्छा अनुमान लगा लेते थे। किसान को राजा की आज्ञानुसार फसल बोनी पड़ती थी। कब, क्या, कहाँ और कितनी चीज़ बोयी जाय; राजाज्ञा ही निश्चित करती थी। किसानों द्वारा उसका प्रतिपालन अनिवार्य था, क्योंकि उनके लिए कोई अन्य चारा ही न था। किसानों को खेत की उपज का पाँचवाँ भाग देना पड़ता था। अपनी खेती के अलावा सम्राट् अथवा मन्दिर की भूमि पर भी किसान को श्रमदान करना पड़ता था, जिसको आधुनिक भाषा में बेगार कहा जा सकता है। मिस्र के निवासी धर्मभीरु थे और राजा को ईश्वर का अंश समझते थे। अतः श्रमदान करना उनके लिए स्वाभाविक कर्तव्य-सा था। उस युग की इस प्रेरणा का कमोबेश उतना ही महत्त्व था जितना कि आधुनिक संसार में देश-सेवा अथवा जनसेवा का है।

साम्राज्य की वृद्धि के साथ मिस्र की सम्पत्ति तथा व्यापार में अच्छी वृद्धि हुई। इस युग में मिस्र-भूमध्य-सागर के तटों पर बसे नगरों एवं टापुओं से व्यापार करता था। एशियाई प्रान्तों, विशेष कर पश्चिमी एशिया से उसका व्यापार होता था। उसके सामने जल और स्थल दोनों के मार्ग खुले हुए थे। पर सड़कें अच्छी न थीं और सिक्कों का भी प्रचलन न था, जिससे व्यापार में अवश्य असुविधाएँ होती होंगी। इसके सिवा व्यापारियों को प्रत्येक देश में चुंगियाँ तथा कर देने पड़ते थे, जिससे अन्तर्जातीय व्यापार का खुलकर प्रवाह नहीं होने पाता था। अन्यथा मिस्र की समृद्धि को चार चाँद लग जाते, क्योंकि न्यूबिया की खानों से अच्छी मात्रा में सोना मिलता था। उसकी समृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वहाँ के साधारण श्रेणी के लोगों में भी कपड़ों तथा आभूषणों की अधिक माँग होने लगी। राजाओं, जमींदारों एवं मन्दिरों की सुसम्पन्नता का कहना ही क्या था। उत्तर काल में साम्राज्य के संकुचित एवं विभक्त होने के कारण आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक हो गयी थी। यद्यपि देवस्थानों की विभूति और सम्पत्ति बहुत बढ़ गयी थी, तथापि राज्य-कोष खाली और जनता गरीब होती जाती थी। व्यवसाय और व्यापार प्रायः वंशानुगत होते थे। मज़दूरों के संघ का नेता या ठेकेदार ठेके पर मज़दूरों को भेजता किन्तु उनकी मज़दूरी उन्हें अलहदा-अलहदा देता। इस विधान से वह अच्छा लाभ भी उठाता और मजदूर उसकी मुट्ठी में रहते थे। वस्तुतः मज़दूरों की परिस्थिति वहाँ अच्छी न थी।

मिस्र से शीशे का सादा अथवा रंगीन सामान, कलई और पालिश की चीज़ें, वाद्य यन्त्र, मिट्टी के बरतन, कपड़े, जेवर, पत्थर या धातु की बनी चीज़ें बाहर भेजी जाती थीं। उनके बदले बाहर से वहाँ लकड़ी, ताँबा, हाथी-दाँत, मसाले, बरतन और गुलाम खरीदे जाते थे। कारीगरी में जो चमत्कार मिस्र वालों ने दिखाया वह शायद यूरोप में अठारहवीं सदी तक नहीं दिखाई पड़ा।

राज-परिवार के अलावा बड़े पदाधिकारी, धर्माधिकारी और सफल व्यापारी सुख तथा वैभव का जीवन व्यतीत करते थे। उनके घर बड़े और सुन्दर होते थे जिनकी शोभा बागों और तड़ागों से और भी बढ़ जाती थी। सम्पन्न कुलीनों का व्यवसाय था सिपाहीगिरी और राजसेवा। उसके अतिरिक्त उनका समय शेर तथा हाथी आदि पशुओं के शिकार और मोहरों से शतरंजी ढंग के खाने बनाकर अनेक प्रकार के खेल खेलने में व्यतीत होता था। मनोरंजन के सिवा जो समय बचता वह भोग-विलास में खर्च होता था।

साधारण जनता गरीब थी, फिर भी हँसते हुए समय काटती थी। दिल्लगी मजाक का उसे शौक था। कारीगर अमीरों, मन्दिरों अथवा राजकुल की सेवा में रहते और मज़दूरी पर काम करते थे।

कला-कौशल

स्थापत्य, मूर्ति, तक्षण तथा चित्रकला में मिस्र की निजी विशेषता थी। आर्थिक सम्पन्नता के कारण उसके लिए यह सम्भव हो सका कि वह अपने धार्मिक भावों तथा बिश्वासों के अनुकूल पत्थर के विशाल देवालयों, समाधियों, भवनों एवं स्मारकों का बड़े पैमाने पर निर्माण कराये। उसकी इमारतों में विविध प्रकार के पत्थरों, स्तम्भों और धरनों का प्रयोग मिलता है। विशाल खम्भों के अतिरिक्त उनके कमरे भूलभुलैया जैसे जान पड़ते हैं। गोपुर और अनेक सितून वाले बड़े कमरे मिस्त्रियों की चि का विशद प्रदर्शन करते हैं। विशाल स्मारकों और विजय-स्तम्भों के निर्माण का शौक उनके लिए स्वाभाविक था। पिरामिड बनाना पहले ही बन्द हो चुका था। उसके स्थान पर पहाड़ियों को कोल-कर समाधि-स्थान बनने लगे। विजय-स्तम्भों का निर्माण भी बड़े पैमाने पर हुआ। थाटमस प्रथम का विजय-स्तम्भ ६४ फुट ऊँचा, महारानी हतशेपसत का ९२ फुट और थाटमस तृतीय का १०५ फुट ऊँचा बना। उसका विचार १३७ फुट ऊँचा एक स्तम्भ बनवाने का था किन्तु सामग्री एकत्रित होने पर भी किसी कारण वह रोक दिया गया। स्तम्भ के

व्यास का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि एक की चोटी पर सौ मनुष्य खड़े हो सकते हैं। प्राचीन संसार में मिस्र की विशाल निर्माण-कला की समता करनेवाला कोई नहीं हुआ।

शिल्पकला में भी मिस्र वालों ने अपने कौशल का अच्छा प्रदर्शन किया। कड़े अथवा नरम पत्थर, चाँदी-सोने अथवा काँसे पर वे समान दक्षता के साथ अपनी कारीगरी दिखाते थे। प्रतिरूपों के बनाने में उन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई। उनमें प्रतिभा के व्यक्तित्व एवं तद्रूपता की प्रतिष्ठा पायी जाती है और विकास के लक्षण भी दिखाई देते हैं। अपनी कृतियों पर वे रंग चढ़ाने के शौकीन थे। उत्कीर्ण मूर्ति को रँगते-रँगते मिस्र में चित्रकला का विकास हुआ। शायद इसी लिए उनके चित्रों में रेखागणित का आवश्यकता से अधिक प्रभाव पड़ा। यह कहा जा सकता है कि चित्रकला वहाँ उन्मुक्त होकर अपना विकास कर सकी, जिससे उसमें प्रकाश और छाया के कलात्मक संयोजन तथा पृष्ठभूमि की आनुपातिक कल्पना का अच्छा चित्रण न हो पाया। कलाकारों को विधिवत् शिक्षा देने के लिए कलाकेन्द्र स्थापित थे। किन्तु उनमें तत्कालीन रूढ़िग्रस्त विचारों के अनुकूल ही शिक्षण होता था। कला केवल कला के लिए नहीं वरन् जीविका-उपार्जन के लिए सिखायी जाती थी। उसका ध्येय केवल व्यावहारिक था। इससे एक प्रकार का यह लाभ हुआ कि उनके चित्रों का क्षेत्र तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, व्यावसायिक अथवा दैनिक जीवन का प्रदर्शन कराना ही रहा। उनमें वहाँ के रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, घरेलू जीवन और काम-काज का यथेष्ट ज्ञान संरक्षित हुआ। उनके चित्र सजीव, गतिशील और भावपूर्ण हैं। चित्रों में कई रंगों से काम लिया जाता था। मिस्री चित्रों की समता करनेवाले चित्र चीन वाले भी सैकड़ों वर्षों के बाद तक न बना पाये। लेखन-कला का भी वहाँ विकास हुआ। तीन प्रकार की शैलियाँ, जैसे चित्र-संकेत, सांकेतिक भाव या कल्पना-संकेत, लेखन और स्वर-संकेत और उनके सम्मिश्रण का उपयोग किया गया। सम्भवतः मिस्रियों को अक्षरों का ज्ञान न था। पत्थरों, धातवीय पत्रों के अलावा पेपाइरस के गूदे से बने कागज पर अंकित उनके बहुत-से लेख प्राप्त हैं। उनसे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि मिस्र के साहित्य में इतिहास, कहानियाँ, स्तुति, शिष्टाचार, नैतिकता, प्रेमगीत, भोज के गीत, वीरगाथा, कहावत, युद्ध, भविष्य-वर्णन, चिकित्सा, गणित, आय-व्यय का हिसाब आदि अनेक विषयों पर रचनाएँ होती थीं। मिस्र वालों का साहित्य और उनकी कला का उनके धार्मिक विचारों से घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। उनके साहित्य के अध्ययन से

यह ज्ञात होता है कि उनमें आत्म-विश्वास, देशभक्ति, उत्साह, स्फूर्ति, यथार्थता एवं नवीनता के गुण थे।

मिस्रियों ने चिकित्सा-शास्त्र में और भी उन्नति की। यद्यपि उनको शव की रक्षा करने के मसाले और क्रिया का ज्ञान था तथापि उनका शरीर-रचना का ज्ञान परि-मित था। उनमें अस्त्र-चिकित्सा भी कुछ बढ़ रही थी। रोग का निदान और इलाज कुछ शास्त्रीय ढंग से वे करने लगे थे। उनकी सबसे मार्के की गवेषणा यह थी कि शरीर के अवयवों का संचालन मस्तिष्क से ही होता है। वनस्पतियों, मांसों, रक्त, मेद आदि से वे औषध तैयार करते थे।

धर्म

मिस्र में सूर्य की पूजा पुरातन काल से विभिन्न नामों से प्रचलित थी। थेबीज़ में उसको 'एमोन' और हेलियोपोलिस में 'रे' कहते थे। कालान्तर में दोनों नामों को मिलाकर एक सर्वप्रमुख सूर्य देवता 'एमोन रे' की कल्पना की गयी, जो मिस्र राज्य के प्रसार के साथ उपयुक्त प्रतीत हुई। एमोन रे की पूजा के लिए बड़े-बड़े देवालय स्थापित कर दिये गये। यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक प्रत्यक्ष सूर्य ही प्रमुख माना जाता था। किन्तु एमोन-होतेप तृतीय के समय में एक नयी कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अनुसार उपर्युक्त नाम के सूर्य मिस्रियों के देवता समझे गये और एक नये विश्वोपरि देवाधिदेव 'आतोन' की परिकल्पना की गयी जो सर्वव्यापी हो गये। मिस्र देश के बाहर दूर-दूर तक साम्राज्य का विस्तार हो जाने से उस प्रकार की कल्पना स्वाभाविक सी प्रतीत होती है। आतोन केवल मिस्रियों का ही नहीं वरन् सारे विश्व का देवता है। सूर्य-बिम्ब उसी का प्रतीक मात्र है। अनुमानतः आतोन की कल्पना एकेश्वरवाद पर आश्रित थी। 'आतोन' के सामने अन्य देवता गौण प्रतीत होने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि आतोन को छोड़कर अन्य देव-ताओं की अवहेलना होने लगी, जिससे पुराने सम्प्रदाय के अनुयायियों को बड़ा क्षोभ तथा असन्तोष हुआ और आर्थिक एवं सामाजिक हानि की आशंका उनमें उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। जब इखनातोन ने नये जोश में आकर साम्राज्य में केवल 'आतोन' की पूजा पर ज़ोर दिया और राष्ट्रीय देवता एमेन रे की पूजा बन्द कराने की धृष्टता की, तब देश में क्रान्ति फैल गयी। उसके निधन के बाद ऐसी प्रतिक्रिया हुई जिससे पुराने विचारों की पुनः प्रतिष्ठा बढ़ी और साम्राज्य को आघात पहुँचा।

मिस्र वालों ने आचार और व्यवहार के सिद्धान्तों पर विशेष रूप से ध्यान

दिया। उस विषय पर उनके उल्लिखित नियम चीन के लिखित नियमों से भी पुराने हैं। सत्य, न्याय, औदार्य एवं सदाचार का वहाँ सम्मान था। उन लोगों की प्रवृत्ति व्यावहारिक ज्ञान की ओर थी इसलिए आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन वहाँ कम दिखाई पड़ता है। फिर भी अमरत्व में उनका विश्वास था। इखनातोन ने तो तत्कालीन धार्मिक रूढ़ियों से हटकर विश्वबन्धुत्व, मानवजगत् की एकता और एकेश्वरवाद का ही प्रचार किया। उस क्षेत्र में तो वह सबसे प्रथम और प्रमुख कहा जाता है। देवालयों की सम्पत्ति और समृद्धि में अपूर्व वृद्धि हुई। प्रजा का पाँचवाँ भाग उनकी सेवा में किसी न किसी प्रकार लगा हुआ था और उपजाऊ भूमि का एक तिहाई भाग भी मन्दिरों के अर्पण था।

असीरिया

असीरिया का इतिहास पढ़ने के पूर्व यदि तत्कालीन एशिया माइनर की राजनीतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तो उसके समझने में सुविधा होगी। फारस की खाड़ी से दजला-फरात के दोआब के ऊपर की ओर बढ़ने पर पहले सुमेरिया के प्राचीन राज्य के ध्वंसावशेष मिलेंगे। उसके आगे बेबीलोनिया का राज्य और उसके भी ऊपर दजला नदी के दोनों ओर असीरिया का पर्वतीय राज्य था। असीरिया के उत्तर में आरमीनिया, उत्तर-पश्चिम में फरात के दाहिने तट पर मिट्टनी और बायें तट पर हिट्टी के राज्य थे। हिट्टियों के राज्य के दक्षिण पश्चिम भाग में भूमध्यसागर के पूर्व तट पर फिलस्तीन और फोनीशिया के राज्य थे। असीरिया के दक्षिण-पूर्व में एलाम और पूर्व में कस्सी तथा मीडिया के राज्य थे। फरात के पश्चिम में अरब का रेगिस्तान है।

पश्चिमी एशिया में सबसे पहले सुमेरिया का राज्य बना, जिसका पतन तीन सहस्र वर्ष ईसा पूर्व में हो गया। उसके उपरान्त बेबीलोनिया का पूर्व साम्राज्य बना जो १७४६ ईसा पूर्व के लगभग विनष्ट हो गया। इसके अनन्तर असीरिया के साम्राज्य का अभ्युदय हुआ। यह वह जमाना था जब मिस्र के मध्यवर्ती राज्य को हिकसोस लोगों ने नष्ट कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उनको निकालकर मिस्र के अठारहवें राजवंश ने साम्राज्य-युग का आरम्भ किया।

नील नदी के प्रदेश से मिस्र का साम्राज्य बढ़ा और दजला नदी की तलहटी से असीरिया का साम्राज्य। इन दोनों साम्राज्यों के बीच में अनेक राज्यों के आ जाने से उनका संघर्ष अधिक भयंकर रूप धारण न कर सका और वे दोनों अपने-

अपने ढंग से चलते रहे, किन्तु मध्यवर्ती राज्यों की परिस्थिति अवांछनीय और चिन्ता-जनक थी। इन छोटे राज्यों ने भी संसार के कर्मक्षेत्र में कुछ अभिनय किया, यद्यपि साम्राज्य की शक्ति के सामने वे अधिक फूल-फल न सके।

असीरिया राज्य का आरम्भ दजला नदी की तलहटी के चार नगरों—अशुर, अरबेल,कलख और निनेवह् से हुआ। अशुर देव के नाम से पहले अशुर नगर का और बाद को राज्य का नामकरण हुआ। अशुर नगर में ३७०० वर्ष ई० पू० की कुछ ऐसी अवशिष्ट वस्तुएँ मिली हैं जिनसे वहाँ मध्य एशिया के लोगों के बसने का अनुमान किया गया है। किन्तु जिन लोगों को असीरियन कहा गया है वे सेमेटिक, काकेशियन तथा अन्य जातियों के सम्मिश्रण से बने थे। चूँकि असीरिया की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी जिसमें नैसर्गिक रक्षा के साधन नगण्य थे, अतएव सीमान्त प्रदेशों के निवासी उस पर बहुधा आक्रमण करते रहते थे। १४५० से १४०० ई० पू० तक असीरिया पर मिट्टनी का आधिपत्य रहा किन्तु अपनी दुर्दमनीयता से वे स्वतन्त्र हो गये। आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए असीरियनों को भरपूर और निरन्तर परिश्रम करना, सतर्क और उद्यत दण्ड रहना आवश्यक था। इसका परिणाम यह हुआ कि वे बड़े युद्ध-कुशल, साहसी, पराक्रमी तथा निष्ठुर ही नहीं वरन् क्रूर भी हो गये।

बारहवीं शती ई० पू० तक बेबीलोनिया और मिस्र के साम्राज्य क्षीण हो गये थे। उनसे अन्य राज्यों को सहायता मिलने की कोई आशा न रही। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर 'टिगलाथ पिलीज़र' प्रथम (१११५ से ११०२ ई० पू०)तक नाम के एक योद्धा ने अपूर्व पराक्रम से बेबीलॉन, आरमीनिया तथा हिट्टी के लोगों को परास्त करके मिस्र तक अपना आतंक फैला दिया। किन्तु बेबीलॉन वालों ने उससे ऐसा बदला चुकाया कि पराभव की लज्जा से वह मर गया। इसके पश्चात् दो सौ वर्ष तक असीरिया क्षीण और शत्रुओं का रणक्षेत्र रहा।

असीरिया की विजयों और अभ्युत्थान का आरम्भ आशुर नजिरपाल द्वितीय (८८४—८५९ ई० पू०) के राजत्वकाल से हुआ। पश्चिम की ओर विजय करती हुई उसकी सेना भूमध्यसागर के पूर्वी तट तक पहुँच गयी। अपनी विजय-यात्राओं का सजीव वर्णन उसने सफेद पत्थर की शिलाओं पर खुदवा दिया है। उनके पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसकी नीति अपने विरोधियों को अकथनीय निर्दयता और पशुता के साथ मार-काटकर उनमें भय तथा आतंक जमा देने की थी। रक्त बहाने, अंग-भंग करने तथा अनेक यातनाओं के साथ उनका वध करने से उसका मनोरंजन होता

था। यह उसका व्यक्तिगत दोष न था। निर्दयता असीरिया वालों के स्वभाव में ही थी। फिर भी आशुर नजिरपाल ने कुछ निर्माण-कार्य भी किया। उसने शासन-विधान को संगठित किया। कहीं-कहीं असीरिया वालों की नयी बस्तियाँ बसायीं, जिससे वे विजित प्रजा का दमन करते रहें। कलख में उसने नहर खुदवायी जिसके तट पर अच्छे-अच्छे पेड़ों की कतार और बाग लगवाये। वहाँ एक पशुशाला की स्थापना की, जिसमें जल-थल के जानवरों को लाकर रखा, सुन्दर विशाल राज-भवन का वह भी एक अंग था।

आशुर नजिरपाल के पुत्र शालमनेसर द्वितीय ने भी अपने पिता का अनुसरण कर अपनी विजयों का वृत्तान्त पत्थरों पर खुदवाया। उसकी प्रगति उसके उत्तरा-धिकारी राजकुमार के विद्रोह के कारण रुक गयी। साम्राज्य का पतन रोकने में उसकी पुत्रवधू सम्मूरमत ने विशेष पराक्रम दिखाया, किन्तु चूहों द्वारा प्रसारित प्लेग को रोकना उसकी शक्ति के बाहर था। साम्राज्य की दशा अव्यवस्थित हो गयी।

संकटापन्न साम्राज्य की रक्षा करने में टिगलथ पिलीज़र तृतीय (७४५—७२७ ई० पू०) ने अच्छी योग्यता का प्रदर्शन किया। बेबीलॉन, दमिश्क, इज़राइल, जूडा, फिलस्तीन और गाजा तक उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसकी नीति राज्यों को जीतकर स्वयं अपने नियुक्त राजसेवकों द्वारा शासन करवाने की थी, किन्तु वह उसको पूरा न कर पाया।

जब शर्रुकिन (सारगन) द्वितीय (७२२—७०५ ई० पू०) असीरिया के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तब उपर्युक्त नीति का पुनः आरम्भ हुआ। इज़राइल की विजय होने से मिस्र वालों का उससे युद्ध छिड़ा, जिसमें उसी की जीत हुई। एलाम, बेबीलॉन तथा सीरिया के विद्रोहियों का दमन कर तथा मिस्र की सेना को परास्त करके सीरिया में ६४,००० असीरिया वालों को बसा दिया गया।

पुरानी राजधानी छोड़कर दर शर्रुकिन (खुरसाबाद) में उसने नयी राजधानी स्थापित की। उस समय केमेरियन जाति के कबीलों ने एनाटोलिया में घुसकर भयंकर मारकाट शुरू कर दी। सम्भव था कि उसे जीतकर वे वहाँ जम जाते। किन्तु सारगन ने उनको ऐसा पराजित किया और उनके आने के मार्गों को ऐसा संग-ठित किया कि उनका प्रवाह दूसरी ओर चला गया। उत्तरी प्रान्त की रक्षा में ही वह वीरगति को प्राप्त हुआ (७०५ ई० पू०)।

सारगन का पुत्र सेनेकेरिब (७०५—६८१ ई० पू०) योग्य सेनापति और

शासक था। उसने निनेवह राजधानी का निर्माण कराया, जिसके संग्रहालय में उसके समय का सच्चा वर्णन अंकित है। उससे पता चलता है कि बेबीलॉन के साथ अच्छा व्यवहार करने पर भी वहाँ वालों ने उपद्रव जारी रखा। तब उसने वहाँ के निवासियों को बहिष्कृत कर दिया और नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तदनन्तर मिस्र के षड्यन्त्र से जूडा और फोनीशियनों के उपद्रवों को शान्त कर मिस्र के ऊपर आक्रमण करने की धमकी दी। सम्भव है कि उसने हमला भी कर दिया होता किन्तु प्लेग से उसकी सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। लोगों में यह विश्वास चल पड़ा कि जेरुसलम के विनाश करने की धृष्टता के कारण ईश्वर ने उसकी सेना नष्ट कर दी। फिर भी टायर, सिडान आदि नगरों को लूटने से उसको अपार सम्पत्ति मिली। उसका वह उपभोग न कर सका क्योंकि पूजा करते समय उसी के एक पुत्र ने उसकी हत्या कर दी, जिससे गृह-युद्ध जारी हुआ। पितृघाती पुत्र से उसके भाई ने राज्य छीन लिया।

एस्सुरहद्दों (६८१—६६९ ई० पू०) जैसा पराक्रमी, वैसा ही नीतिकुशल भी था। बेबीलॉन के ध्वस्त नगर का पुनर्निर्माण कराने एवं उसके देवालयों में सम्मान-पूर्वक देवताओं को प्रतिष्ठित करा देने के कारण वहाँ के निवासी उसकी कृतज्ञता के पाश में बँध गये। दुर्भिक्ष से पीड़ित प्रजा को अन्नादि वितरण करके उसने प्रसन्न किया। वह बल का उतना ही प्रयोग करता था जितना कि अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य होता। उसकी नीति का ध्येय प्रजा को सन्तुष्ट करके राजभक्त बनाना था। पूर्व में मीड़ों तथा उत्तर में केमेरियनों के उपद्रवों से रक्षा करने के सिवा उसने मिस्र राज्य पर बड़े ठाठ से चढ़ाई की और नील के डेल्टा पर आधिपत्य स्थापित कर दिया (६७१ ई० पू०)। वहाँ उसने असीरियन शासक नियुक्त कर दिया। उसके दमन के लिए वह फिर लौटा किन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गयी। एस्सुरहद्दों असीरिया का सबसे चतुर और प्रजावत्सल सम्राट् माना जाता है। उसका साम्राज्य पश्चिमी एशिया में अपने से पहले के सभी प्राचीन राज्यों से बढ़ा-चढ़ा था।

आशुर बानीपाल (६६९—६२६ ई० पू०) असीरिया का अन्तिम प्रभावशाली तथा सुविख्यात सम्राट् हुआ। मीडिया वालों तथा केमेरियनों से युद्ध में व्यस्त रहने की सम्भावना सोचकर उसने अपने एक भाई को बेबीलॉन के राजसिंहासन पर बैठा दिया। उसे यह आशा थी कि उसके प्रयत्न से बेबीलॉन में शान्ति एवं सन्तोष रहेगा और असीरिया का बल एवं संगठन अधिक दृढ़ हो जायगा। किन्तु वैसा न हुआ। उसके भाई ने बेबीलॉन का नेतृत्व ग्रहण कर तथा एलाम का सहयोग

प्राप्त कर विद्रोह कर दिया। दोनों भाइयों का भयंकर युद्ध बहुत काल तक चलता रहा। अन्ततोगत्वा आशुर बानीपाल ने बेबीलॉन को फिर जीत लिया और एलाम की राजधानी सूसा को विनष्ट कर दिया (६३९ ई० पू०)। इसी प्रकार टायर नगर के विद्रोहियों को भी उसने अच्छा दण्ड दिया।

आशुर बानीपाल ने मिस्र की समस्या पर विचार कर यह परिणाम निकाला कि असीरिया के उत्तर और पूर्व की ओर से भयंकर शत्रुओं के कारण उसका शासन जितने सैनिक बल से हो सकता है, उतना संग्रह कर सकना असीरियनों की जनसंख्या की शक्ति के बाहर है। मिस्र के साथ लीडिया राज्य की भी सहानुभूति थी और गुप्त रूप से वह उसकी सहायता भी करता था। इसलिए उसने मिस्र को स्वतन्त्र करके उसके साथ मित्रता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर समझा।

आशुर बानीपाल केवल विजेता ही न था, वह साहित्य तथा कला का भी पोषक था। सारे साम्राज्य से कारीगरों को एकत्रित कर उसने निनेवह में बड़े सुन्दर देवालयों एवं प्रासादों का निर्माण कराया। बहुत से लेखकों को नियुक्त करके सुमेरिया तथा बेबीलोनिया के प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ कराकर उसने अपने संग्रहालय में संगृहीत कर दीं जो अद्यावधि विद्यमान हैं।

आशुर बानीपाल के अन्तिम वर्ष बड़े चिन्ताजनक एवं दुःखमय रहे। इधर उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और उधर उत्तर की ओर के यायावर तथा युद्धशील स्काइथियनों के आक्रमणों का प्रकोप बढ़ गया। उसी परिस्थिति में उसकी मृत्यु हो गयी। सम्भव है कि उसके अन्तिम दिनों में अथवा उसकी मृत्यु के बाद ही बेबी-लॉन के खाल्दिया वंश के राजा, मीडिया, स्काइथियन तथा फारिसी ने मिलकर निनेवह पर विध्वंसकारी आक्रमण किये और उसे लूट-पाटकर नेस्तनाबूद कर दिया (६१२ ई० पू०)। असीरियन लोगों का नाम-निशान मिट-सा गया।

असीरिया के पतन का कारण

असीरिया को प्रकृति ने रक्षा के कोई विशेष साधन नहीं दिये थे। राज्य चारों ओर से खुला था। इस पर भी वहाँ के शासकों ने इतने बड़े साम्राज्य का निर्माण करना चाहा जिसका प्रबन्ध केवल दमन द्वारा करना दुःसाध्य था। असीरिया के चारों ओर प्रबल शत्रु थे जो उसकी श्रीवृद्धि देखकर ललचाते रहते थे, उदाहरण के लिए सीथियन, मीड, मिस्री आदि। निरन्तर युद्धों से उनके सैनिकों का अधिक संख्या में इधर-उधर भेजा जाना और मारा जाना उनकी शक्ति को क्षीण करता रहा।

उनकी सन्तान भी कम उत्पन्न होती थी जिससे उस कमी की पूर्ति न होने पाती थी। गुलामों तथा विजातियों से मनुष्य तो मिल गये किन्तु उनमें वीरता और राजभक्ति न फूँकी जा सकी। मानव के प्रति उनकी निर्दयता, स्त्रियों के प्रति उचित सम्मान का अभाव तथा पुरुषों की क्रूरता और दुराचार भी उनके सामाजिक तथा मानसिक ह्रास के कारण थे।

सामाजिक सभ्यता

असीरिया की प्रजा मिश्रित थी। समाज में दो श्रेणी के लोग थे, एक स्वतन्त्र और दूसरे गुलाम। गुलामों के कोई कानूनी अधिकार न थे, यद्यपि उनके साथ बुरा व्यवहार न किया जाता था। स्वतन्त्र लोगों की तीन श्रेणियाँ थीं। बड़े लोगों में धर्माधिकारी, उच्च राजकर्मचारी आदि थे। मध्यम श्रेणी में उद्योग-धन्धा और व्यापार करनेवाले थे। तीसरी में सिपाही, किसान और मज़दूरी क़रनेवाले थे। गुलामों से बेगार तथा तुच्छ काम लिये जाते थे। निशानी के लिए उनके सिर मुड़े और कान छिदे रखे जाते थे।

असीरिया का पारिवारिक संगठन पैतृक विधान पर अवलम्बित था। पिता ही सर्वेसर्वा माना जाता था। स्त्रियों की स्थिति वहाँ वैसी अच्छी न थी जैसी कि बेबीलोनिया में। वे परदे में रखी जाती थीं। यदि बाहर जातीं तो चेहरा ढँकना पड़ता था। पातिव्रत की रक्षा के लिए कड़े नियम बना दिये गये किन्तु पत्नीव्रत उतना आवश्यक न माना जाता था। नाच-गाना, सीना-पिरोना और बकझक करना स्त्रियों के लिए काफी समझा जाता था। विवाहिता स्त्री चाहे पति के साथ अथवा अपने माता-पिता के साथ रह सकती थी। बिना पति की आज्ञा के वह कोई व्यापार आदि न कर सकती थी। व्यभिचारिणी के लिए प्राणदण्ड तक का विधान था। इतनी कठिनाइयाँ होने पर भी उच्च घरानों की स्त्रियाँ कभी-कभी प्रान्तों की गवर्नर बना दी जाती थीं। वहाँ एक-दो रानियों ने राज्य भी किया था। यद्यपि जनसंख्या बढ़ाने के लिए वे बड़े उत्सुक थे तथापि वहाँ के लोगों को सन्तान-वृद्धि में सफलता नहीं मिली।

आर्थिक स्थिति

असीरिया का आर्थिक जीवन कृषिमूलक था। सैनिक वृत्ति के बाद कृषि-कार्य को ही वे सर्वोत्तम कार्य मानते थे। व्यापार को वे अच्छा न समझते थे।

व्यापार में प्राय: विदेशी या अन्य जाति के लोग थे। वे अनाजों और कपास की खेती या मेवाओं, फलों, विशेष कर खजूर और तरकारियों की बागवानी करते थे। इनके सिवा वहाँ सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा और लोहे तथा मिट्टी की चीज़ें भी बनायी जाती थीं। ढलाई, रँगाई और शीशे का अच्छा काम होता था। सोने-चाँदी, ताँबे और काँसे के सिक्कों का वहाँ प्रचलन था। फौजी सड़कों के बनने से व्यापार को भी लाभ हुआ और शान्ति-रक्षा में सुविधा हो गयी।

धार्मिक विचार

असीरिया के धार्मिक विचारों पर सुमेरिया और विशेष कर बेबीलोनिया का बड़ा प्रभाव था। वहाँ के लोग मिस्र वालों की तरह सूर्य की उपासना करते थे। उसको वे 'अश्शुर' कहते थे। उनकी कल्पना के अनुसार पर लगे हुए सूर्य के बिम्ब में तरकस बाँधे और धनुष खींचे हुए सूर्यदेव ही पूजनीय थे। वहाँ का राजा अपने को सूर्यवंशी कहता था। उसके सिवा उनकी अधिष्ठात्री देवी 'निन्ना' प्रेम की प्रतीक समझी जाती थी। भूतों-प्रेतों पर उनका विश्वास था। उनसे अपनी रक्षा के लिए वे मन्त्रों और तन्त्रों का प्रयोग करते थे। उनको शकुन अथवा अपशकुन का बड़ा ध्यान रहता था। उनमें धार्मिक संकीर्णता और असहिष्णुता विशेष मात्रा में थी। इसका कारण सम्भवत: उनमें दार्शनिक विचारों का अभाव था। फिर भी उनमें एक देव की अनन्य भक्ति के भाव ने ही यह प्रेरणा उत्पन्न की जिसके लिए आगे चलकर हिब्रू जाति विशेषतया विख्यात हुई।

शिक्षा, साहित्य

असीरिया वालों ने अक्षरों को सरल तथा सुन्दर रूप देने की चेष्टा की। वे पुस्तकों का महत्त्व समझते थे अतएव आशुरबानीपाल ने अपने युग के अद्वितीय पुस्तकालय में प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियां एकत्रित कर दी थीं। उनकी प्रशस्तियों ने तत्कालीन इतिहास की रचना में बड़ी सहायता दी है। उन्होंने वन-स्पति शास्त्र तथा पदार्थ विज्ञान में कुछ उन्नति की थी तथा फलित ज्योतिष (सूर्य और चन्द्र ग्रहण) की गति-विधि की ओर उनका अधिक ध्यान था। इसके सिवा उन्होंने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया।

कला-कौशल

दूसरों की सम्पत्ति लूट-खसोट कर उन लोगों ने अपनी राजधानी तथा नगरों

की शोभा और शान बढ़ायी। इस प्रयत्न में गृह-निर्माण-कला ने वहाँ अच्छी उन्नति की, जिसका प्रमाण वहाँ की आलीशान मेहराबदार इमारतें हैं। विद्वानों का मत है कि उनकी गृह-निर्माण-कला ने उन्नति का नया मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर रोम वालों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। मूर्तिकला तथा शिल्पकला में भी वहाँ अच्छी उन्नति हुई। वे सौन्दर्य के इतने प्रेमी न थे जितने कि विशालता के। ईंटों के सिवा पत्थरों तथा संगमरमर को भी वे प्रयोग में लाते थे। उन पर नक्काशी और तक्षण का वे अच्छा काम बनाते थे। जानवरों के शिल्पित चित्र बनाने में वे सिद्धहस्त थे। दीवारों की सतह को चिकनी कर रंगीन ऐतिहासिक चित्रों तथा उत्कीर्ण या सादी मूर्तियों के बनाने का उन्हें शौक था। लकड़ी पर हाथी-दाँत और तारों की जड़ाई का भी वे अच्छा काम करते थे।

शासन

असीरिया एक प्रकार का सैनिक राज्य था, जिसकी सत्ता उसकी सैनिक शक्ति पर थी। अतएव राजा के अधिकार निःसीम थे। फिर भी सम्राट् भविष्य-वक्ताओं और उनके संरक्षक पुरोहितों के कथन पर काफी ध्यान देता था। वह अश्शुर (सूर्य) का पुत्र और देवता-तुल्य समझा जाता था। उसकी आज्ञा का पालन प्रजा का राष्ट्रीय ही नहीं वरन् धार्मिक कर्तव्य भी था। सम्राट् के मुख्य पदाधि-कारियों में प्रधान मन्त्री, मुख्य सेनाध्यक्ष, नगराधिपति तथा प्रान्तों के गवर्नर थे। उनके सिवा शिष्टाचाराध्यक्ष, भाण्डागाराध्यक्ष, राजभवनाध्यक्ष आदि अनेक पदाधिकारी रहते थे। साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। बड़े प्रान्तों में सम्राट् प्रधान शासक नियुक्त करता था। प्रान्त के महत्त्व के अनुसार गवर्नर का दर्जा माना जाता था। उसका उत्तरदायित्व सीधे सम्राट् के प्रति था। प्रान्त का सेनापति प्रान्त का सबसे बड़ा शासक अथवा अध्यक्ष (शकनू, उरसू, बलपखती) कहलाता था। उस पद पर या तो कोई राजवंश का या सम्राट् के वंश का अथवा कोई प्रभाव-शाली व्यक्ति नियुक्त किया जाता था। अपने प्रान्त में वह सबसे शक्तिशाली पदा-धिकारी था। तत्कालीन समस्याओं के कारण उसको सिपाही नियुक्त करने, प्रान्त की आय बढ़ाने, न्याय करने, दण्ड देने का अधिकार देना आवश्यक-सा था। उसका दरबार भी सम्राट् के दरबार के समान, किन्तु छोटे पैमाने पर संगठित होता था। अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो वह साधन एकत्रित करता ही था, उसी के साथ साम्राज्य के लिए धन-धान्य एकत्रित करके सम्राट् के पास

भेजता था। प्रत्येक प्रान्त को सम्राट् के लिए क्या देना चाहिए, यह केन्द्रीय शासन प्रान्त की क्षमता के अनुसार निर्धारित करता था। इसके सिवा उसको प्रान्त की गति-विधि तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं की रिपोर्ट भेजनी पड़ती थी। प्रत्येक प्रान्त में सम्राट् की सेनाएँ भी रखी जाती थीं, जिनका निरीक्षण सम्राट् के नियुक्त किये हुए निरीक्षक करते थे। प्रान्ताध्यक्ष का उस सेना पर विशेष अधिकार न था, क्योंकि उसका उत्तरदायित्व सीधे सम्राट् के प्रति होता था।

किसी धर्म-विशेष, रीति-रिवाज, भाषा आदि को किसी प्रान्त या समुदाय पर आरोपित करने की चेष्टा नहीं की जाती थी, ताकि लोगों के साधारण जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप की भावना उत्पन्न न हो। यदि कहीं निरन्तर उपद्रव अथवा विद्रोह होते तो वहाँ की उपद्रवी प्रजा को अन्यत्र भेजकर दूसरे लोगों को बसा दिया जाता था।

प्रान्त में कई 'पखती' (जिले) होते थे जिनके शासक 'शनु' या 'अमूल' कहे जाते थे। उनकी सहायता के लिए कई छोटे-बड़े अधिकारी रखे जाते थे। शासकों के कर्तव्य कर वसूल करना, शान्ति रखना, इमारतों के लिए मज़दूर और सेना के लिए सिपाही एकत्रित करना था। राज्य का प्रबन्ध सुसंगठित और व्यवस्थित था। कहा जाता है कि राजधानी से दूर स्थित प्रान्तों का शासन भी उतना ही अच्छा था जितना कि नजदीक के प्रान्तों का। ऐसी व्यवस्था सम्भवतः किसी साम्राज्य में उस समय तक न हो सकी थी। राजद्रोह का दमन बड़ी निर्दयता से किया जाता था। वहाँ का दण्ड-विधान भी कठोर था। अंग-विच्छेद और देश-निर्वासन एवं प्राणदण्ड देना साधारण बात थी।

असीरिया में सैनिकों का प्राबल्य होने के कारण, वहाँ सिपाहियों के शारीरिक बल तथा उनकी सैनिक दीक्षा का उचित प्रबन्ध रहता था। रथों और घोड़ों का प्रयोग होता था और उनके अस्त्र-शस्त्र लोहे के थे। ७०० ई० पू० वहाँ लोहे के शस्त्र प्रयुक्त होने लगे थे। कहा जाता है कि उन्होंने किलों को तोड़ने के अस्त्रों का भी आविष्कार कर लिया था। सेना दस-दस और पचास-पचास के जत्थों में श्रेणीबद्ध थी। अनुमान किया जाता है कि वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य सैनिक शिक्षा दी जाती थी। सम्भवतः उसका कारण यह था कि सैनिक-शक्ति ही साम्राज्य का मुख्याधार थी। निरन्तर युद्धों के कारण सैनिकों का अधिक संख्या में निधन होता था, जिसकी पूर्ति, वहाँ के लोगों में कम पैदाइश होने के कारण, कठिनाई से हो पाती थी।

सभ्यता को देन

असीरियावालों ने विद्या और विज्ञान में कोई विशेष उन्नति नहीं दिखायी, किन्तु बड़े साम्राज्य की रचना और उसके शासन का मार्ग उन्होंने अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया। उनकी राजनीतिक कल्पना अनेक सीमाओं का उल्लंघन कर उत्तरोत्तर व्यापक होने की चेष्टा करती रही। इसके साथ ही उनकी देवताओं की कल्पना भी विशद होती गयी, जिसका पूर्ण विकास हिब्रू लोगों के अखण्ड एकेश्वरवाद में हुआ। किन्तु सैनिक आदर्श के कारण उनमें धार्मिक असहिष्णुता और संकीर्णता का अधिक मिश्रण हो गया जो चिन्त्य था। कलाओं में नगर और गृह-निर्माण कला का असीरिया में अच्छा विकास माना जाता है। दीवार पर चिकनी सतह बनाकर रंगीन चित्र चित्रित करने की कला में भी उन्होंने अच्छी उन्नति की थी।

सीरिया—पेलेस्टाइन

भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर टारस की पर्वतमाला से नील नदी के दहाने तक चार सौ मील लम्बा और सौ मील चौड़ा जो भू-भाग है, वह सीरिया—पेलेस्टाइन कहलाता है। पेलेस्टाइन (फिलस्तीन) का हिस्सा सीरिया (शाम) से अधिक चौड़ा है परन्तु सीरिया उससे क्षेत्रफल में बड़ा है। सीरिया और पेलेस्टाइन का धरातल पहाड़ी तथा ऊबड़-खाबड़ है। पहाड़ियों में इधर-उधर घाटियाँ हैं। उसके उत्तर-पूर्व में फरात नदी, पूर्व में अरब का रेगिस्तान, पश्चिम में भूमध्यसागर, नील नदी का दहाना तथा एक अंश रेगिस्तान का है, जो उसको मिस्र से अलग करता है। ऐसे प्रदेश में केवल छोटी-छोटी रियासतों के ही बनने की सम्भावना हो सकती है, बड़े राज्य की नहीं। कुछ भाग, जो समुद्र के तट के समीप हैं, बहुत उपजाऊ हैं परन्तु प्रदेश का अधिक भाग बहुत कम उपजाऊ है। फलतः वहाँ बहुत बड़ी जनसंख्या का होना सम्भव न था। छोटी-छोटी रियासतों में आपसी स्पर्धा और वैमनस्य रहता था और वे एक-दूसरे को हड़प लेने को सदा उद्यत रहती थीं, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वे आपस में कभी अच्छी तरह संगठित न हो सकीं। इसलिए प्रबल साम्राज्यों को उन पर ऑक्रमण करने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। बेबीलान, मिट्टानी, मिस्र, असीरिया और केल्डिआ उन पर आक्रमण करते रहे। इस परिस्थिति का उनकी संस्कृति तथा विश्वासों पर बहुत प्रभाव पड़ा। समुद्र के तट पर बसे हुए नगरों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे समुद्र मार्ग से आगे

बढ़कर अपनी बस्तियाँ या उपनिवेश अन्यत्र स्थापित करें और व्यापार से जीविका चलायें।

ईसा के पूर्व की पंचम सहस्राब्दि में उस भू-भाग पर किसानों के छोटे-छोटे गाँव बसे थे। चतुर्थ सहस्राब्दि में मेसोपटेमिया का उन पर प्रभाव पड़ा। तृतीय सहस्राब्दि में वे समुद्र-मार्ग से पश्चिम की ओर बढ़ने और व्यापार करने लगे। वहाँ की जनता यद्यपि मिश्रित थी तथापि उसमें सबसे बड़ा अंश अरब की सेमेटिक जातियों का था। उन्हीं लोगों के एक बड़े दल ने बेबीलोनिया साम्राज्य की स्थापना की थी। द्वितीय सहस्राब्दि में अरब के कनआनी भाषा-भाषी सेमेटिक बहुत बड़ी संख्या में आते रहे। उनके बाद ही आरमेएन आदि कबोलों के सेमिटिक कबीले आ-आकर बस गये। इसका परिणाम यह हुआ कि बस्ती में अनेक बड़े-बड़े नगरों, बन्दरगाहों, किलों आदि की स्थापना हो गयी। व्यापार तथा पारस्परिक सम्मिलन से उनके सांस्कृतिक विकास की गति बढ़ती गयी। पेलेस्टाइन पर मिस्र, तथा सीरिया पर मेसोपटेमिया का अधिक प्रभाव पड़ा जिससे उत्तरी कनआनी समाज ने अपनी महत्त्वपूर्ण संस्कृति का निर्माण किया। समुद्र-तट के सेमेटिक निवासियों को ग्रीस के लोग फोनीशियन कहते थे।

सीरिया और पेलेस्टाइन में सेमेटिक प्रजाति के कनआनी भाषा बोलने वाले तथा हिब्रू लोग बसते थे। इसीलिए वह प्रदेश कनआन के नाम से प्रसिद्ध था। तेरहवीं शती (ई० पू०) में अरब से हिब्रू भाषा-भाषी यहाँ आकर बसने लगे। बारहवीं शती में 'पेलेसेत' (फिलस्तीनी) लोग, जिनको मिस्र के फेरो रामेसस तृतीय ने मिस्र से खदेड़ भगाया था, आ बसे। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि फिलस्तीनी कौन थे और कहाँ से आये। पहले यह धारणा प्रचलित थी कि वे लोग भी सेमेटिक प्रजाति के होंगे किन्तु अनुसन्धानों से यह पता चला कि वे सेमेटिक न थे। वरन् वे एनाटोलिया (टर्की) के निवासी थे, जिनपर माइसीन की सभ्यता का काफी असर पड़ चुका था। उनके पास लोहे के अस्त्र थे और उनका सैनिक संगठन भी अच्छा था। इसलिए उनको कनाआनियों और हिब्रुओं पर विजय प्राप्त हुई। उन्हीं के नाम पर फिलस्तीन या पेलेस्टाइन का नामकरण हुआ। उसके पाँच प्रमुख नेताओं ने अशदाद, गाजा, गाथ, अस्कलान और एकरान पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उनमें गाजा नगर का विशिष्ट स्थान था।

फिलस्तीनी लोग हिब्रू तथा कनआनियों को नीची दृष्टि से देखते थे। अतः उनमें वैमनस्य बढ़कर विद्रोह हो गया। विजित कबीलों ने धीरे-धीरे अपना संगठन

कुछ मज़बूत बना कर साल के नेतृत्व में विजेताओं से बराबरी का लोहा लिया (१०२० ई० पू०)। जब डेविड विद्रोहियों का प्रमुख नेता हुआ तो उनको अच्छी सफलता प्राप्त हुई। वीर और साहसी होने के साथ ही डेविड (दाऊद) उदारचेता, प्रसन्नवदन और संगीत कला का प्रेमी भी था। इज़राइल और जूड़ा पर अपना अधिकार स्थापित कर उसने अपनी राजधानी जेरुसलम में बनायी और वहाँ के किले को और भी सुदृढ़ कर दिया।

दाऊद का पुत्र सुलेमान (सोलोमन, ९७०—९३७ ई० पू०) भी अपने पिता के समान योग्य, नीतिज्ञ और चतुर था। व्यापारी बेड़े को बढ़ाकर उसने समुद्री मार्ग से भी वैसा ही सफल व्यापार किया जैसा कि स्थल-मार्ग से। सोने तथा जवाहरात की खानें भी उसने खुदवायीं। ताँबा वहाँ अच्छा बनता था जिसके बदले उसे सोना मिलता था। घोड़ों का व्यापार उसने बड़े पैमाने पर किया। व्यापार से उसे अपार धन प्राप्त हुआ। अपना सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व बढ़ाने के लिए उसने सैकड़ों शादियाँ कीं। कहा जाता है कि उसकी सात सौ व्याही रानियाँ थीं और तीन सौ अनूढ़ा स्त्रियाँ थीं। उसका समकालीन टायर नगर का राजा हिराम था जिससे उसकी मित्रता थी। उसके सहयोग से उसने जेरुसलम के यहवेह के विशाल देवालय का निर्माण कराया। उसके निर्माण कराने के लिए उसने प्रजा पर कष्टप्रद कर लगाये और बेगार करवायी जिससे प्रजा में असन्तोष बढ़ा। परिणाम यह हुआ कि सुलेमान के पुत्र के समय में विद्रोह हुआ और पेलेस्टाइन दो भागों में विभक्त हो गया। उत्तरी भाग में इज़राइल का आधिपत्य रहा और दक्षिणी भाग जूड़ा कहलाया। इज़राइल की 'सुमरिया' और जूड़ा या जूड़िया की जेरुसलम राजधानी रही। जेरुसलम में सुलेमान का पुत्र और सुमरिया में विद्रोहियों का नेता जेरोबोअम राज्य करता था। दोनों राज्यों में यहवेह की पूजा होती थी। इज़राइल की आर्थिक स्थिति अच्छी थी, वहाँ व्यापारी और धनी लोग भी थे किन्तु जूड़िया की प्रजा गरीब थी।

पड़ोसियों की विरोधात्मक आर्थिक परिस्थिति होने के कारण उनमें घोर संघर्ष का होना स्वाभाविक था। उस युग में पश्चिमी एशिया में अपने-अपने अनु-यायियों का पक्ष लेकर देवता भी लड़ते थे और उनके जय-पराजय में सुख-दुख भोगते थे। पहले इज़राइल वालों का मुख्य देवता 'बाल' था। और जूड़िया वालों का युद्ध-प्रिय देवता 'येहवेह' था जो छः शती के बाद जिहोवा नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैमनस्य बढ़ता गया। यहाँ तक कि इज़राइल के राजा अहब के समय में उसके लोभ और

जबरदस्ती से रुष्ट होकर जार्डन के खानाबदोशों के हिब्रू नेता एलिजा ने अहब और उसके वंशजों तक का वध कर डाला। यही नहीं, 'बाल' के पुजारियों को भी मरवा डाला।

एलिजा के समय से हिब्रू लोगों में एक न एक प्रभावशाली नेता प्रकट होता रहा जो नागरिक जीवन और उसके वैभव और विलासिता का विरोधी तथा सरल साधारण गरीब जीवन का गुणगान करता था। ऐसी ही विचारधारा मिस्र में एक बार सुधारकों ने चलायी थी जिसका ज्ञान हिब्रू सुधारकों को प्राप्त हो गया था। अमीरी और गरीबी की प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष के नाटक के एक महत्त्वपूर्ण अंक का प्रदर्शन पेलेस्टाइन के इतिहास में हुआ जो विचारणीय एवं आलोचनीय है। लगभग सौ वर्ष तक विचारों का यह संघर्ष चलता रहा।

जूड़िया वालों को पाप का प्रसार चारों ओर दिखाई देता था। पाप से शरीर-धारी का बचना वे असम्भव मानते थे। मृत्यु के बाद पृथ्वीतल के नीचे अन्धकार-पूर्ण स्थान में जाना वे अनिवार्य समझते थे। पाप तथा पुण्य का फल इसी जन्म में भोगना वे मानते थे। पाप से बचने के वे दो उपाय बताते थे। एक तो प्रार्थना और दूसरा कुरबानी। कुरबानी में वे नरमेध, पशुमेध करते और भेंट चढ़ाते। उन लोगों में पुरोहितों की एक पृथक् श्रेणी थी जो यज्ञ तथा धर्म के रहस्यों को समझते थे। वहाँ के लोग जिन्नों, पर्वत तथा कन्दराओं के देवताओं, नन्दी, भेड़-बकरी, सर्प आदि तथा शिवलिंग के-से पत्थरों को देवता या देवी मानकर पूजते थे। वहाँ मन्दिरों की प्रथा न थी। जेरुसलम का ही मन्दिर उनके लिए बहुत था। ईसा के पूर्व सातवीं शती के धर्मप्रचारक मूर्तिपूजा का घोर विरोध करने और उसके मूलो-च्छेद की चेष्टा करने लगे थे।

विभिन्न जातियों और कबीलों के मिलने से तथा मेसोपटेमिया और मिस्र के प्रभावों से पेलेस्टाइन तथा सीरिया में अनेक प्रकार के देवताओं और देवियों की पूजा होती थी। प्रत्येक नगर के अपने-अपने देवी-देवता थे। कहीं का प्रमुख देवता 'इल' और कहीं का 'बआल' था। बआल तूफान, बिजली एवं वर्षा का प्रतीक था। उनके सिवा अन्य देवता भी थे। देवियों में अनत और अस्तरते में, जो मेसोपटेमिया की इष्तरदेवी-सी जान पड़ती है, कुमारित्व और मातृत्व का संयोग माना जाता है। उनकी प्रतिमाएँ मिथुनत्व प्रदर्शिनी थीं। कनआनियों की श्रद्धा सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवताओं में धीरे-धीरे कम होती जाती थी। ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में एमोस नामक जूड़िया के एक सुधारक ने यह प्रचार करना आरम्भ किया कि

'येह्वेह्' युद्धका अथवा किसी समुदाय या जाति का देवता नहीं, वरन् मनुष्य-मात्र का ईश्वर है जिसमें पिता के तुल्य दया, मया एवं कृपा के गुण हैं। उसे रक्तपात और हत्याकाण्ड अप्रिय हैं। सरल जीवन और सांसारिक सम्पत्ति-विहीन मनष्यों के प्रति उसकी विशेष कृपा रहती है। धन, वैभव, सम्पत्ति-संग्रह, बाहरी दिखावा, शान-शौकत आदि उसको प्रिय नहीं। अमीरी जीवन मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। अत: उससे बचकर रहना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य को दासत्व की जंजीर में बाँधना बुरा है।

जिस समय विचारों का यह संघर्ष चल रहा था उसी समय असीरिया की सेनाएँ साम्राज्य-स्थापन के लिए आक्रमण कर रही थीं। सीरिया का प्रसिद्ध नगर दमिश्क जीतने के बाद सम्राट् की सेना ने जेरुसलम को घेर लिया। उस समय 'इजाया' नामक धार्मिक नेता ने हिब्रू लोगों को आश्वासन दिया कि यदि वे साहसपूर्वक डटे रहेंगे तो 'येह्वेह्' उनकी रक्षा अवश्य करेगा और असीरिया के देवता अस्सुर की कुछ न चलेगी। उसका आश्वासन और जेरुसलम की जनता की आशाएँ निष्फल न हुई। संयोग से असीरिया की सेना में ऐसी बवा फैली जिससे बहुत-से सैनिक मरने लगे। घबराकर सेनापति जेरुसलम छोड़कर लौट गया। इस घटना से पेलेस्टाइन वालों का दृढ़ विश्वास हो गया कि येह्वेह् सर्वोपरि ईश्वर है और वह निर्बलों का बल है।

सातवीं शती के आरम्भ में असीरिया का साम्राज्य नष्ट हो गया (६१२ ई० पू०)। किन्तु उसके स्थान पर केल्डिया के साम्राज्य की स्थापना हुई। केल्डिया के सम्राट् नेबुकेदनज़र ने पेलेस्टाइन को फतह करके जेरुसलम को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वहाँ के हिब्रू लोगों को कैद कर बेबीलोनिया ले गया। (५८६ ई० पू०)। जो लोग बचे वे मिस्र भाग गये। इतनी आपत्तियों पर भी हिब्रू लोगों का विश्वास 'येह्वेह्' पर अटल रहा और वे निराश न हुए। उनके धार्मिक नेता जेरीमिया ने उनका उत्साह कायम रखा और उन्हें यह सिखाया कि येह्वेह् का मन्दिर किसी स्थान-विशेष में नहीं वरन् प्रत्येक भक्त के हृदय में है। उसी में प्रत्येक व्यक्ति को उसे प्रतिष्ठित करना चाहिए। इस नव्य सिद्धान्त ने येह्वेह् को एक देश या जाति से उठाकर सर्वव्यापी और प्रत्येक भक्त का साथी बना दिया। वह एकराट् हो गया और उसके अनुयायी एकेश्वरवादी हो गये। इन नये विचारों को इसाया नाम के सहृदय, प्रवचन-प्रवीण नेता ने अपने ओजपूर्ण उपदेशों से अनुयायियों के मन में जमा दिया। हिब्रू अपने कष्टों को शान्तिपूर्वक सहन करते और यातनाओं को

एक प्रकार की तपस्या समझते जिससे उन्हें इष्टदेव की कृपा के अधिकारी हो सकने की आशा थी।

संयोगवश फारस की नवोदित शक्ति के नेता राजा काइरस ने केल्डियनों को परास्त करके उनकी राजधानी बेबीलॉन में अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया (५३८ ई० पू०)। उदारनीति का आश्रय लेकर उसने हिब्रू लोगों को मुक्त करके उन्हें अपने देश पेलेस्टाइन वापस जाने की स्वतन्त्रता दे दी। कुछ को छोड़कर अधिकांश लोग प्रसन्नतापूर्वक पेलेस्टाइन लौट गये। यद्यपि वे फारस के सम्राट् के अधीन रहे किन्तु उसने उनके विकास में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। फारस के साम्राज्य के पतन के बाद वे अलक्जेण्डर के सेनापतियों के शासन में लगभग दो शताब्दी तक रहे। ग्रीक लोगों के सम्पर्क में आ जाने से पेलेस्टाइन वालों के आचार-विचारों में नयी लहरें उठने लगीं और हेर-फेर होने लगे। वहाँ उदार नवीनता और प्राचीनता का संघर्ष शुरू हो गया।

यह स्मरण रखना चाहिए कि हिब्रू धर्म-प्रचारकों ने कुछ ज्ञातव्य सिद्धान्त स्थापित कर दिये थे। पहला यह कि ईश्वर एक ही है जो सारे विश्व का नियन्ता है। दूसरा यह कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि अपने ही नमूने की बनायी जिसके कारण उसमें क्षमता, शिष्टता तथा आत्मोन्नति, आत्म-सम्मान आदि गुण पाये जाते हैं। तीसरा यह कि मनुष्य में शुभ एवं अशुभ भावनाओं का द्वन्द्व होता रहता है। उसे अशुभ गुणों का दमन करने और शुभ गुणों का संग्रह करने की स्वतन्त्रता है। अपनी विवेक शक्ति का यदि वह उपयोग करे तो वह अधर्म से बचकर धर्मात्मा बन सकता है। धर्म के तीन विशिष्ट लक्षण हैं—न्याय, दया और दीनतापूर्वक ईश्वर का अनुगमन। उनकी सिद्धि से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

केल्डिआ

असीरिया के पतन-काल में उसकी ओर से नियुक्त बेबीलॉन के प्रशासक नेबोपोलस्सर ने स्वतन्त्र राजा बनकर विद्रोह का आरम्भ किया। बेबीलॉन में अपनी शक्ति संगठित कर उसने असीरिया पर आक्रमण कर दिया (६१५ ई० पू०)। अश्शुर नगर के जीतने में वह असफल रहा, किन्तु मीडिया वालों ने अश्शुर को लूट लिया (६१६ ई० पू०)। तदनन्तर मीडिया वालों ने बेबीलोन के राजा से मिलकर असीरिया की राजधानी पर संयुक्त आक्रमण किया। दजला में भयंकर बाढ़ आने के कारण निनेवेह की चहारदीवारी भी कमजोर हो गयी थी। आखिरकार निनेवेह

का पतन हो गया और वहाँ का राजा सिनशर इश्कन लड़ता हुआ मारा गया (६१२ ई० पू०)। असीरियन लोग इधर-उधर भाग गये अथवा खदेड़ दिये गये। मिस्र की सहायता भी उनकी रक्षा न कर सकी। सम्भव था कि राजकुमार नेबुकेदनज़र मिस्र पर भी आक्रमण कर देता किन्तु पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह लौट पड़ा (६०५ ई० पू०)।

नेबुकेदनज़र (६०५–५६२ ई० पू०)

प्रारम्भ के कुछ वर्षों तक उसका मिस्र से संघर्ष चलता रहा क्योंकि वहाँ का फेरो जूडिया, पेलेस्टाइन और फोनीशिया वालों के साथ षड्यन्त्र किया करता था। इधर नेबुकेदनज़र भी उन पर दाँत गड़ाये बैठा था। सन् ५८६ ई० पू० नेबुकेदनज़र ने जेरुसलम जीतकर वहाँ के यहूदियों को कैद कर लिया और वहाँ पर दूसरे लोगों को लाकर बसा दिया। टायर् नगर का भी उसने अवरोध किया किन्तु उसको ले न सका। फिर भी उसका साम्राज्य फारस की खाड़ी से मध्य सागर के तट तक विस्तृत था और उसका आतंक मिस्र पर जमा रहा। पूर्व और पश्चिम के व्यापार के स्थल-मार्ग पर अधिकार स्थापित होने के कारण उसका खजाना भरपूर हो गया और नव बेबीलॉन एक समृद्धिशाली वैभवपूर्ण नगर बन गया। संसार का सम्भवतः वह सबसे बड़ा, सुन्दर तथा धनधान्यवान् नगर हो गया। उस नगर की जनसंख्या कम से कम अस्सी हजार होगी। लगभग दो सौ वर्गमील भूमि पर वह नगर बसा था। उसकी सौ फुट ऊँची, सात गज मोटी सुदृढ़ बाहरी चहारदीवारी ने उसे अजेय दुर्ग सा बना दिया था। उसका जगत्प्रसिद्ध सात मंजिलों का 'ज़िग्गुरत' ६५० फुट ऊँचा (पिरा-मिड से भी ऊँचा) था जिसकी चमकदार रंगीन ईटें दूर से ही चकाचौंध करती थीं। मरदक देवता तथा अन्य देवताओं के विशाल मन्दिरों, राजमहल तथा खम्भों की ईटें भी उसी प्रकार की थीं। उसने जिग्गुरत के चबूतरों पर बाग लगवाये जो संसार के सप्त आश्चर्यों में गिने गये तथा राजधानी की शोभा बढ़ाते रहे। फरात नदी पर उसने एक पुल बनवाया जो सम्भवतः संसार में सबसे पहला पुल था। इनके सिवा उसने व्यापार के योग्य बन्दरगाहों की रचना करायी। बेबीलॉन का यह अभूतपूर्व उत्थान और वैभव नेबुकेदनज़र असरस्य का प्रताप था। उसकी मृत्यु ५६२ ई० पू० के लगभग हुई।

नेबुकेदनज़र की मृत्यु के बाद वहाँ के तीन राजाओं के विषय में किसी उल्लेख-नीय घटना का पता नहीं चलता। अनुमानतः केल्डिआ का पतन हो रहा होगा। हाँ,

नबोनिदस के राजत्वकाल में (५५६—५२९ ई० पू०)कुछ जानकारी मिलती है। वह बेबीलॉन के राजवंश का नहीं वरन् हरीन के एक पुजारी का पुत्र था। इसी कारण वह लोकप्रिय न हो सका। दुर्भाग्यवश मीड लोगों से भी उसका सम्बन्ध अच्छा न रहा। यह भी कहा जाता है कि वह मीडिया के खिलाफ फारस के विद्रोहियों की सहायता भी गुप्त रूप से करता था (५५० ई० पू०)। मीडियनों के पतन के उपरान्त आगे चलकर फारसवालों से भी उसका झगड़ा ठन गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि फारस वालों ने पूर्वी व्यापार के स्थल-मार्ग को बन्द कर दिया जिससे बेबीलॉन की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी। चिन्तित होकर नबोनिदस ने अरब से लालसागर तक कारवान के लायक मार्ग खोलने का प्रयत्न किया। उसकी गैरहाज़िरी में फारस वालों ने बेबीलॉन के कुछ धर्माधिकारियों से षड्यन्त्र रचकर राजधानी पर आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की, जिससे केल्डिया के साम्राज्य का अन्त हो गया (५३९ ई० पू०)।

लीडिया

हिट्टियों के उपरान्त एशिया माइनर की सभ्यता में लीडियनों ने विचारणीय स्थान प्राप्त किया। वे लोग मिश्रित जाति के थे जो पश्चिम की ओर से आकर एशिया में बस गये थे। उनमें तीन राजवंश हुए जिनके विषय में कुछ निश्चित ज्ञान नहीं। सातवीं शती (६७५—६५० ई० पू०) के आरम्भ में गाइगेज़ या गूगू नामक एक राजा हुआ जिसमें पराक्रम तथा दूरदर्शिता के लक्षण थे। उसकी राजधानी सारडिस में थी। उसने राज्य की नौ-शक्ति का अच्छा संगठन किया। उसने असीरिया का भी यथाशक्ति विरोध किया। उसके वंशजों ने शत्रुओं का दमन करके स्मरना पर अधिकार कर लिया तथा राज्य को समुद्र तट से हालिस नदी के तट तक बढ़ा दिया। व्यापारी नगरों पर अधिकार प्राप्त कर लेने से राज्य समृद्धिशाली तथा राजा बड़ा धनी हो गया। सारडिस ने भी अच्छी उन्नति की और यूनानियों के व्यापार का वह केन्द्र हो गया। गाइगेज़ कभी असीरिया और कभी मिस्र में मिल जाता था किन्तु उसकी सबसे कठिन समस्या थी काईमीरियन जाति के आक्रमणों को रोकना। उनसे कई युद्ध हुए। आखिर उनसे लड़ते हुए उसका निधन हो गया।

गाइगेज़ के वंशजों ने समुद्र के तट पर स्थित कई नगरों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। एशियाई कोचक में बढ़ते-बढ़ते वे हालिस नदी तक पहुँचे जहाँ मीडों ने उनका सफलतापूर्वक सामना किया (५८५ ई० पू०)। लीडिया के राजा

अलयत्तेस ने अपनी एक पुत्री का विवाह मीडिया के राजकुमार अस्त्यगस से कर दिया। उसी ब्याह से प्रख्यात क्रीसस का जन्म हुआ। सन् ५६० के आसपास क्रीसस लीडिया के राजसिंहासन पर बैठा। उसके राज्य काल में लीडिया का अच्छा उत्कर्ष हुआ। क्रीसस की अपार सम्पत्ति और समृद्धि की कहानी सैकड़ों वर्ष तक पश्चिमी एशिया और ईरान में प्रचलित रही तथा वहाँ के साहित्य में अंकित हो गयी। उसके सहायकों में मिस्र, स्पार्टा एवं मीडिया के राज्य थे। फारसियों ने जब मीड राजा अस्त्यगस को परास्त कर दिया तब उन पर क्रीसस ने आक्रमण कर दिया। फारस वालोंने उसको हराया जिससे श्री-हत और असफल होकर वह सारडिस लौट गया। फारसी राजा काइरस ने सारडिस को जला दिया और क्रीसस को पकड़ लिया (५४६ ई० पू०)।

लीडिया के निवासियों का व्यापार में अनुराग था अतएव वे सम्पन्न थे। वहाँ चमड़े की सादी तथा रंगीन वस्तुओं, कालीनों और कम्बलों तथा सोना-चाँदी की स्वर्णकारी, ओषधियों, सुगन्धिते पदार्थों तथा अंग-राग की सामग्री का अच्छा काम और व्यापार होता था। यूरोप तथा एशिया के अनेक जातियों के व्यापारी वहाँ आकर क्रय-विक्रय करते थे। यद्यपि यह तो अब नहीं माना जाता कि सिक्कों का उन्होंने ही आविष्कार किया तथापि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सबसे पहले सुन्दर कलदार और क्रमबद्ध सिक्के बनाकर चलाये, जिनका सबने आदर किया। उस वातावरण में वहाँ सभ्यता की उन्नति तथा भोगोपभोग के उत्तेजक साधनों की वृद्धि हो रही थी। वाद्य-नृत्य, भोज्य-पेय पदार्थों, प्रीतिभोजों, द्यूत तथा आमोद-प्रमोद की धूमधाम के साथ ही शारीरिक सजावट, व्यायाम और खेल-कूद का भी उनको बड़ा शौक था। वहाँ की व्यापारमूलक सभ्यता पर यूनानी तथा यूरोपीय संस्कृति की गहरी छाप थी। उसको यदि हम एशिया की ओर बढ़नेवाली यूरोपीय सभ्यता की लैनडोर कहें तो अनुचित न होगा। यद्यपि उनमें धनवानों के व्यसन तथा व्यभिचार चिन्ताजनक थे तथापि उत्साह, आत्मविश्वास एवं उद्यमशीलता की उनमें कमी न थी। युद्धकला तथा सैनिक संगठन में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी। फिर भी ईरान की प्रबुद्ध शक्ति के सामने वह कुछ न कर सकी।

लीडिया वालों के धार्मिक विचार भी अनेक जातियों से प्रभावित थे अतएव उनकी सभ्यता की तरह मिश्रित थे। उनकी देवी आर्तेमिस में तत्कालीन तथा तद्देशियों की 'मा' आदि देवियों के लक्षण थे। उनका पूज्य देवता 'सन्दोन' (सूर्य) था। उनके पुजारी वंशानुगत होते थे। वे मुर्दों को दफन करके समाधि के ऊपर स्तूप-

सा बनाते अथवा ऊँचे स्थान में गाड़ कर ऊपर-से शिवलिंग की तरह चिह्न प्रतिष्ठित कर देते थे। छोटे-छोटे शिवलिंग से प्रतीक अनिष्ट-निवारण के लिए वे इधर-उधर प्रतिष्ठित करते रहते थे।

यूट्रेस्कन

मध्य सागर में यूरोप के तीन प्रायद्वीप हैं—ग्रीस (ईजियन), इटली और स्पेन। उसका पूर्वी तट एशियाई कोचक और पश्चिमी तट स्पेन है। उसके मध्य में सिसली नामक द्वीप है जो इटली और उत्तरी अफ्रीका को संयुक्त अथवा पृथक्-सा करता है। सिसली के पश्चिमी भाग का ऐतिहासिक एवं आर्थिक जीवन उसके पूर्वी भाग से ग्रीस के अभ्युदय काल में एक प्रकार से भिन्न रहा। ग्रीस वालों ने सिसली तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर फोनीशियन लोगों से व्यापार तथा प्रभाव छीन लिया था। किन्तु सिसली के पश्चिमी भाग पर कार्थेज के फोनेशियन राज्य का प्रभाव अक्षुण्ण-सा रहा। जब रोम राज्य की सत्ता बढ़ने लगी तब कार्थेज राज्य के लिए एक भीषण समस्या उत्पन्न हो गयी जिसकी पूर्ति कार्थेज के विनाश से ही हो सकी।

इटली की भौगोलिक स्थिति भी मध्य सागर के बीच में है। उसकी लम्बाई लगभग ६५० और चौड़ाई २०० मील की है। उसके पूर्वी पार्श्व में बलकान और पश्चिमी में स्पेन है। एड्रियाटिक समुद्र उसको बलकान से और पश्चिमी मध्य सागर स्पेन से पृथक् करता है। यद्यपि आल्प्स पर्वत इटली को यूरोप से विभक्त करता है तथापि वह भी पहाड़ी प्रदेश है। उसकी पर्वतमाला एपिनाइन उत्तर से दक्षिण की ओर मेरुदण्ड के समान फैली है। उसका प्रभाव पश्चिमी तट के जलवायु पर बहुत अच्छा रहा। उसका ढलाव उसके पश्चिमी तट की ओर है। अतएव पश्चिमी तट पर ही अधिक बस्तियाँ बसीं जिससे वहाँ की समस्याएँ पश्चिमोन्मुखी अधिकतर रहीं। यद्यपि इधर-उधर कुछ दर्रे हैं जिनसे होकर आक्रमण किये जा सकते हैं तथापि वह पर्वत ग्रीस के पर्वतों की तरह बहुत विच्छिन्न नहीं इसलिए वहाँ के निवासियों का ऐतिहासिक विकास ग्रीस से भिन्न रहा। वहाँ बड़े राज्यों की स्थापना में विशेष प्राकृतिक अड़चनों की सम्भावना न थी। इसके सिवा खेती करने का भी वहाँ अधिक सुभीता था जिससे अधिक संख्या में लोग वहाँ बस सकें। वहाँ दो फसलें होतीं और पशु दो बार ब्याते हैं। पुरुष और स्त्रियाँ सुडौल और सुन्दर हैं। वहाँ की पो नदी की उपत्यका अतिशय उर्वरा है। समुद्री पश्चिमी तट पर अच्छे बन्दरगाह कम होने के कारण व्यापार निश्चित स्थानों पर ही केन्द्रित हो सका

जिससे राजनीतिक एवं आर्थिक समस्या उतनी जटिल और विविध न थी जैसी कि ग्रीस में उत्पन्न हो गयी थी। इटली का दक्षिणी भाग उत्तरोत्तर कम उपजाऊ है। इटली का जलवायु आकर्षक है। वहाँ न अधिक सर्दी पड़ती है, न अधिक गर्मी और वर्षा भी अच्छी होती है।

अनुमान किया जाता है कि ईसा के पूर्व बारहवीं शती में एटेलिक लोगों को भगाकर यूट्रेस्कन लोग इटली के पश्चिमी तट पर टाइबर नदी के उत्तरी भाग में बस गये। यूट्रेस्कन सम्भवतः पश्चिमी एशिया से आये थे। वे वेलीडिया, हिट्टी राज्य अथवा ईजियन सागर के टापुओं से आये होंगे, क्योंकि वहाँ की सभ्यताओं का कुछ-न-कुछ प्रभाव यूट्रेस्कस संस्कृति में पाया जाता है। वे लोग एक साथ नहीं वरन् समय-समय पर कई दलों में आये होंगे। उनके बारह वंश थे जो अपनी-अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए भी एक प्रकार के संयुक्त विधान में रहते थे, जो शिथिल ढंग का था। प्रत्येक वंश और नगर अपनी स्वतन्त्रता तथा उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील था, किन्तु आपस में मिलकर काम करने की कला अथवा योग्यता उनमें कम थी। यही उनकी बड़ी कमजोरी थी जो उनकी पराजय का मुख्य कारण सिद्ध हुई। यूट्रे-स्कनों के पास घोड़ों की संगठित सेना तथा समुद्री बेड़ा भी था जिसके द्वारा वे व्यापार करते थे।

यूट्रेस्कन सभ्यता अच्छी खासी थी। उन्होंने दलदल तथा जंगली पेड़-पल्लवों को साफ करवाकर सड़कें बनवायीं तथा पानी लाने और निकालने के लिए मेहराबदार गोल नालियाँ खुदवायीं। वे ताँबे तथा लोहे की चीजें, हथियार आदि बनाते और बेचते थे। पाँचवीं शती (ई० पू०) में व्यापार के लिए वे सिक्कों का उपयोग करते और आभूषण पहनते थे। प्रतियोगिता के खेलों, शस्त्रास्त्र-संचालन, भोज, द्यूत, नाच-गाने, घुड़दौड़, रथ-दौड़, सांड़ों के युद्ध, मल्लयुद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि का उन्हें शौक था। खेल में खून-खच्चर होने से उनको न तो भय था और न ग्लानि होती थी। उनका समाज मातृक था। स्त्रियाँ और पुरुष स्वतन्त्रतापूर्वक मिलते-जुलते थे। स्त्रियों को शिक्षा भी दी जाती थी। दहेज की प्रथा होने से जो स्त्रियाँ गरीब होतीं वे वेश्यावृत्ति से पर्याप्त धनोपार्जन करके अपना व्याह कर लेती थीं। उस विधान में उन्हें कोई जुगुप्सा की या आपत्तिजनक बात न दिखाई पड़ती थी।

जल एवं स्थल द्वारा फोनीशियनों, ग्रीकों आदि से व्यापार करनेसे यूट्रेस्कनों को अच्छा लाभ हुआ। व्यापार तथा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए उन्होंने अपने नगरों के चारों ओर पत्थर की प्राचीरें बना ली थीं। नागरिक तथा ग्रामीण जीवन

की समस्याओं से उनका परिचय था। धनी व्यापारियों के कुटुम्ब वाले अपने को उच्च अथवा विशिष्ट श्रेणी का समझते और इटली के पुराने निवासियों को नीची नज़र से देखते थे। उस भावना के कारण कुलीन (पेट्रीशिअन) और अकुलीन (प्लीविअन) की समस्या चल पड़ी जिसका कमोबेश प्रभाव रोम के इतिहास पर शतियों तक पड़ता रहा।

बादलों की गरज तथा बिजली की चमक और तड़प वाले 'तीनिया' नामक देवता को यूट्रेस्कन प्रमुख एवं प्रधान मानते थे। उसके आज्ञानुवर्ती बारह देवता थे जिनमें पाताल का देवता 'मन्तू' बहुत ही भयंकर और दुराराध्य समझा जाता था। देवताओं में तीन-तीन की इकाइयाँ थीं। प्रत्येक इकाई का एक प्रमुख होता था। यही नहीं, प्रत्येक नगर तथा व्यापार का अपना विशिष्ट देवता होता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वे पशुबलि और कभी-कभी नर-बलि भी चढ़ाते थे। वे लोग नरक में विश्वास रखते थे। देवताओं के सिवा भूत-पिशाचों में भी वे विश्वास रखते थे। उनकी धारणा के अनुसार मरणोपरान्त प्रत्येक व्यक्ति को वहाँ जाना और अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल भोगना अनिवार्य था। पापियों को जो अत्यन्त पीड़ाजनक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं उन सबसे बचने का एकमात्र उपाय देवताओं को स्तुतियों और बलिदानों द्वारा तुष्ट रखना समझा जाता था। मुर्दों को यदि सम्भव हो तो गुफाओं में रखते थे, अन्यथा जला देते थे।

यूट्रेस्कनों को अक्षरों का व्यावहारिक ज्ञान था यद्यपि शिक्षा में उनकी अधिक रुचि न थी। फिर भी व्यापार और कलाप्रियता से उन्होंने अपनी सभ्यता की छाप सिसली, कॉर्सिका और सारडीनिया पर लगा दी। स्थापत्यकला, चित्रण, शस्त्रास्त्र बनाने, मिट्टी के काले सुन्दर बरतन और रंगीन खिलौने तैयार करने, सुन्दर दर्पण तथा कपड़े बनाने में उन्होंने अपनी योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया। रोम वालों ने उनके सैनिक संगठन और शस्त्रीकरण से लाभ उठाया। ईसा के पूर्व छठी शती में यूट्रेस्कन सभ्यता अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी। व्यापारादि क्षेत्रों में उनके प्रतियोगी ग्रीक और कार्थेज के लोग थे। कार्थेज से मिलकर उन्होंने ग्रीकों को उनके उपनिवेश कार्सिका से भगा दिया। पाँचवीं शती में उनका ह्रास होने लगा, यहाँ तक कि वे इट्रूरिया प्रान्त में सीमित रह गये।

अध्याय ५

रोम

इटली की प्रसिद्ध नदी टाइबर के दक्षिण में समुद्र के किनारे लेटियम नाम का प्रान्त है जिसके लेटिन वंश के निवासी आगे चलकर रोम राज्य के ही नहीं वरन् रोमन साम्राज्य के संस्थापक बने। रोम के ऐतिहासिक उत्थान में जिन लोगों ने प्रमुख भाग लिया वे किसी एक जाति या वंश के न थे। ग्रीक, यूट्रेस्कन, सेवाइन आदि के सम्मिश्रण से वह जन-समुदाय प्रकट हुआ जिसने संसार के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। लेटिन लोग आरम्भ में कृषि तथा पशुपालन करते थे।

आठवीं शती (ई० पू०) में यूट्रेस्कनों ने टाइबर के इस पार भी अपना शासन स्थापित कर लिया था। उस युग में राजा टारक्यूनिअस वंश से ही जीवन भर के लिए चुन लिया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर वह वृद्धों की सभा बुलाकर उनका मत ले लेता था तथापि उसका अधिकार अबाधित और पूर्ण था। टाइबर नदी के उस पार यूट्रेस्कन लोगों के नगरों और उनकी समृद्धि को देखकर वे आश्चर्य करते थे। आठवीं शती के मध्य में यूट्रेस्कनों ने उन पर आधिपत्य जमा लिया और रोम नगर पर उनका एक राजा राज्य करने लगा। किन्तु लेटिन लोगों ने अपना व्यक्तित्व और ऐक्य कायम रखा। यूट्रेस्कनों के नगर से नदी की बाढ़ का पानी निकालने का मेहराबदार पटा नाला बनाकर रोम के स्वास्थ्य और आर्थिक जीवन को सुधार दिया।

जनता की एक सभा थी जिसे कमीशिया क्यूरिआटा कहते थे। कमीशिया क्यूरिआटा असेम्बली में प्रमुख तीन कबीलों के दस-दस व्यक्ति प्रतिनिधि थे। जो प्रश्न उनके सामने आते थे उन पर अपना निर्णय वह दलों के वोट से निश्चित करते थे। प्रत्येक दल के पास एक वोट होता था।

यूट्रेस्कन राज्य के प्रति लेटिन लोगों में अश्रद्धा और भी बढ़ गयी जब उन्होंने केपिटोलइन के मन्दिर के निर्माण कराने के लिए गरीब लोगों से बेगार ली। यह

स्मरण रखने योग्य बात है कि उस समय रोम में दास-प्रथा नाम-मात्र के लिए ही थी। केवल वे ही व्यक्ति निर्धारित अवधि के लिए दास बनाये जाते थे जो कर्ज अदा करने में असमर्थ होते थे। साधारण किसान और कारीगर यद्यपि गरीब था किन्तु था स्वतन्त्र। लोगों के रोष का यह भी कारण था कि एक शाहजादे ने एक भले खान्दान की स्त्री ल्यूकेटिया पर बलात्कार किया था। जनता की यूट्रेस्कन विरोधिनी प्रवृत्ति से लाभ उठाकर पेट्रीशियन अर्थात् कुलीन या अमीर लोगों ने जिनमें यूट्रस्कस लैटिन आदि भी थे राजवंशियों को रोम से बहिष्कृत कर दिया। तीन बार प्रयत्न करने पर भी वे रोम में न धँस सके (ई० पू० ५०९)।

राज-शासन बदल कर जनता ने वहाँ जनसत्ता की स्थापना की। शस्त्रधारी जनता ने एक के बदले दो प्रीटर कान्सल (मजिस्ट्रेट) चुनना आरम्भ कर दिया जो एक वर्ष तक शासन के पूर्ण अधिकारों का प्रयोग करते थे। दोनों को समान तथा पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। यद्यपि जनसभा उनको चुनती थी तथापि वे पेट्रीशियन श्रेणी के व्यक्ति होते थे। अतः पेट्रीशियन श्रेणी का महत्त्व अधिक बढ़ गया और जनता के साथ उनका व्यवहार उद्दण्ड रहने लगा।

तदनुसार पेट्रीशियनों और प्लीबियनों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया जो दो सौ वर्ष तक चलता रहा। शस्त्रधारी प्लीबिअनों को साधारण लोगों का बल था। चूँकि शस्त्रधारी जनता ही सेना का मुख्य अंग थी अतः प्लीबियन आन्दोलनों में बल था। पहले आन्दोलन में जब उन्होंने युद्ध में जाने से इंकार किया तब उन्हें दो अधिकार मिले। पहला यह कि वे प्रतिवर्ष अपनी श्रेणी में से ही दो 'ट्राइब्यून' चुन लें जो कान्सल या पेट्रीशियनों के अनाचारों से जनता की रक्षा करें। कुछ समय के बाद ट्राइब्यूनों की संख्या दो से बढ़कर दस तक पहुँच गयी (४४९ ई० पू०)। दूसरा यह कि किसी को तब तक प्राण-दण्ड न दिया जाय जब तक कि 'सन्टूरियन' सभा उसका अनुमोदन न करे। ट्राइब्यून प्लीबियनों के स्वाभाविक नेता और पथ-प्रदर्शक हो गये। वे ही उनकी सभा आयोजित करते और उनके हित वाले प्रस्ताव स्वीकृत कराते थे। संगठन कुछ पुष्ट होने पर प्लीबियनों ने भूमि-सम्बन्धी कानूनों में सुधार के लिए आन्दोलन किया। दस वर्ष के बाद पेट्रीशियनों ने दस सदस्यों की कमेटी काननों को स्पष्ट करने और सुधारने के लिए बनायी। उसी कमेटी ने कानूनों को लिपिबद्ध कर दिया। वे ही १२ पट्ट-लेखों के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यद्यपि अधिक सुधार तो कानूनों में न हुए किन्तु एक यह बात स्पष्ट हो गयी कि प्लीबियनों की सभा को रोम के विधान में स्थान मिल गया। दूसरा सुधार यह हुआ कि कान्सल पद के चुनाव में प्लीबियन

भी लिये जाने लगे। कान्सलों की अधिक समय तक अनुपस्थिति में आर्थिक कामों के लिए 'क्लेस्टर' लगान, करों की व्यवस्था के लिए 'सेन्सर', और न्याय के लिए 'प्रीटर' नियुक्त किये गये। अति विषम संकट पड़ने पर निर्धारित समय के लिए 'डिक्टेटर' नियुक्त करने का विधान माना गया। डिक्टेटर का सम्पूर्ण, यहाँ तक कि प्राण-दण्ड देने का भी, अधिकार मान लिया गया। अन्य विधान प्राय: वैसे ही रहे जैसे कि यूट्रेस्कन राजाओं के समय में थे।

पट्टलेखों से संघर्ष का अन्त न हुआ क्योंकि जनता यह चाहती थी कि उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सभा हो जिसको कानून बनाने का अधिकार हो। उसकी यह शिकायत थी कि 'कमीशिया या सेन्चुरियाटा' में केवल शस्त्रधारी सैनिक भाग लेते हैं। जो शस्त्रधारी नहीं उनकी कहीं पूछ नहीं होती। शस्त्रादि वे ही ले सकते हैं जिनके पास आर्थिक साधन हों। अत: पुरानी सभा पैसे वालों की ही है, साधारण जनता की नहीं। आन्दोलन का यह फल हुआ कि एक ऐसी सभा का निर्माण हुआ जिसमें अमीर-गरीब सभी के निर्वाचित सदस्य मिलकर काम करें। उसका नाम रखा गया 'कमीशिया ट्राइब्यूटा पोप्यूलाइ'। यही नहीं, उस सभा को राज्य के पदाधिकारी सेन्सर, क्लेस्टर, प्रीटर जिसे वह चाहे, उसे चुनने का अधिकार मिल गया। साधारण व्यक्तियों के लिए भी रास्ता साफ हो गया किन्तु व्यवहार में लोग पेट्रीशियनों अथवा पूर्व पदाधिकारियों में से ही चुनाव करते थे, क्योंकि समाज में उन लोगों का अधिक मान था।

सेनेट में भी कुछ परिवर्तन हुआ। पहले उसके सदस्य केवल पेट्रीशियन ही होते थे। किन्तु नयी व्यवस्था के अनुसार उसके सदस्यों के चुनाव में उन लोगों को, जो मजिस्ट्रेट रह चुके हों, अधिक महत्व दिया जाने लगा। फलत: प्लीबियन लोग जो कभी मजिस्ट्रेट रह चुके थे, सेनेट के सदस्य होने लगे। दूसरा लाभ उससे यह भी हुआ कि सेनेट में अनुभवी शासकों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। सेनेट के सदस्यों की संख्या तीन सौ थी। सदस्यता जीवन भर के लिए होती थी। उसका सभापति कान्सल होता था जिसका चुनाव प्रतिवर्ष किया जाता था। सेनेट का कान्सल पर ही नही वरन् नागरिकों पर भी बड़ा रोबदाब और आतंक था। इसके सिवा 'नये' कानूनों को प्रस्तावित करने का अधिकार सेनेट को ही प्राप्त था। २८७ ई० पू० तक होरटेन्सिआ विधान स्वीकृत हो गया जिसके अनुसार साधारण जनसभा द्वारा निर्मित कानून का स्वतन्त्र वैध होना मान लिया गया। तब से उसको किसी अन्य संस्था या व्यक्ति की स्वीकृति की आवश्यकता न रही। इस कानून के बनने

के साथ उस संघर्ष का अन्त-सा हो गया जो दो सौ वर्ष से चला आता था। जन-सभा का एकमात्र कर्तव्य उसे स्वीकार या अस्वीकार कर लेना ही था। कानून को कार्यान्वित होने से रोक देने का अधिकार ट्राइव्यूनों को था अतः सेनेट उनसे पहले ही परामर्श कर लेती थी। इस ढंग से सेनेट ही प्रबलतम संस्था हो गयी। जनता उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। इसी कारण बिना अधिक रक्तपात के रोमवासियों ने अपनी संस्थाओं में सुधार कर लिये। नीचे दी हुई वर्षक्रमानुसार तालिका से प्लीबियनों की अधिकार-प्राप्ति का इतिहास सरलता से जाना जा सकेगा——

४४५ ई० पू०	...	प्लीबियन और पेट्रीशियन का विवाह गैरकानूनी समझा जायेगा।
३७६ ई० पू०	...	किसी नागरिक का निश्चित सीमा से ज्यादा जमीन पर मिल्कियत का अधिकार न रहेगा।
३६७ ई० पू०	...	दो कान्सलों में एक प्लीबिअन होगा।
३५६ ई० पू०	...	डिक्टेटर चुना गया।
३५० ई० पू०	...	सेन्सर बन सकते हैं।
३३७ ई० पू०	...	प्रीटर बन सकते हैं।
३१३ ई० पू०	...	कर्ज़ न अदा करने पर भी गुलाम न बनाये जायेंगे।
३०० ई० पू०	...	धर्मसंघ में सदस्य होने का अधिकार मिला।
२८७ ई० पू०	...	साधारण सभा द्वारा बना हुआ कानून बिना किसी अन्य संस्था या पदाधिकारी की स्वीकृति के प्रयुक्त होगा।

गणतंत्र शासनकाल

जिस युग में रोम की साधारण जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी उसी में रोम इटली में अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील था। अधिकार के संघर्ष ने रोम के नागरिकों की अपनी जाति के प्रति, नगर और संस्थाओं के प्रति सम्मान और भक्ति की भावना में अथवा उनके प्रति कर्तव्य की साधना में किसी प्रकार की कमी न आने दी। रोम के हित के लिए वे हर तरह के कष्ट और आपत्ति झेलने के लिए सदैव तैयार रहते थे। उसके लिए भूख-प्यास, अंग-भंग यहाँ तक कि प्राणदान के लिए भी वे कोई आनाकानी न करते थे। कर्तव्य और अनुशासन के प्रति उनकी विलक्षण निष्ठा ने ही उनको राजनीतिक क्षेत्र में जो सफलताएँ प्रदान कीं, वे इतिहास में विशेष स्थान और महत्त्व रखती हैं। रोमन लोग किसी

राजा या व्यक्ति के लिए, जैसा कि अन्यत्र बहुधा देखा जाता है, भयवश या लोभवश नहीं लड़ते थे। उनकी भक्ति रोम तथा रोम के निवासियों के लिए थी। कर्तव्यपरा-यणता ही उनकी प्रेरक शक्ति थी। उसके उदाहरण यूरोप और विशेषकर ब्रिटिश लोगों के लिए आज तक पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। रोमवासियों के कानूनों की रचना किसी शास्त्रीय ढंग, सांगोपांग विचारधारा अथवा सिद्धान्त के अनुसार नहीं की गयी थी। व्यावहारिक जीवन में जो समस्याएँ या कठिनाइयाँ दिखाई पड़ीं, उनके समाधान के लिए वे कानून बना लेते थे। इसीलिए उनका कानून अनुभवमूलक माना जाता है। यही ढंग रोम के राजनीतिक उत्तराधिकारी ब्रिटिश लोगों का भी है।

इटली में एक राष्ट्र की स्थापना हो गयी किन्तु गौण विषयों को छोड़कर वहाँ रोमनों का ही शासन था। ऐसे कुछ प्रान्तों के, जिनका संयुक्त क्षेत्रफल इटली के तृतीय भाग के लगभग था, प्रशासन का सम्पूर्ण काम रोमनों ने अपने हाथ में ले लिया था। जहाँ वे स्वयं शासन-प्रबन्ध में कठिनाई पाते, वहाँ शासन का कुछ अंश स्थानिक लोगों के सुपुर्द कर देते थे। किन्तु फिर भी वे काफी निगरानी रखते थे। सन्धि, विग्रह, विदेशी नीति, सिक्कों का प्रचलन एकमात्र रोम से ही हो सकता था। प्राय: सभी गण्य स्थानों पर रोमन लोगों के उपनिवेश स्थापित कर दिये गये थे; जिससे इटली के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन पर रोमनत्व का रंग उत्तरोत्तर चढ़ता रहे। इटलीवालों के लिए रोमनों से विवाहादि सम्बन्ध करने में कोई रोक-टोक नहीं रखी गयी थी। इसके सिवा उन्होंने युद्ध के लिए, विशेषत: व्यापार की सुविधा के निमित्त सड़कें बनवा दीं और स्थान-स्थान पर सैनिकों के दल स्थापित कर दिये।

रोम के गणराज्य (रिपब्लिक) की स्थापना से लेकर कार्थेज वालों के साथ हुए प्रथम युद्ध के आरम्भ तक के करीब दो सौ वर्षों तक, रोम राज्य को तीन विशेष परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। पहला युग (५०९—३३४ ई० पू०) वह था जब रोम को अपनी सत्ता कायम रखने के लिए अपने आसपास के राज्यों से संघर्ष करना पड़ा। उसी युग में गाल जाति के आक्रमणकारियोंने रोम को लूटा और लाखों रुपयों का सोना लेकर वे लौट गये (३९० ई० पू०)। फिर भी हताश न होकर रोमन लोग अपने ध्येय से विमुख न हुए। परिणाम यह हुआ कि रोम का महत्त्व पश्चिमी और मध्य इटली में स्थापित हो गया। दूसरा युग (३३४—२९० ई० पू०) रोम को इटली में अपना आधिपत्य प्राप्त करने में बीता। फिर भी दक्षिणी प्रान्त

पर अधिकार करना बाकी रह गया। तीसरे युग में (२९०—२६५ ई० पू०) रोम का प्रभुत्व उत्तर से दक्षिण तक सारे देश में फैल गया। यद्यपि उपर्युक्त युगों की घटनाएँ अपना महत्त्व रखती हैं तथापि उनका विशद वर्णन यहाँ अनुपयुक्त होगा। फिर भी तीसरे युग की एक घटना की ओर इशारा करना आवश्यक प्रतीत होता है। दक्षिण इटली का टैरेण्टिइम नामक नगर ग्रीकों का अड्डा और व्यापारिक केन्द्र था। पहले तो उन्होंने रोमनों को दक्षिण की ओर बढ़ने में काफी सहयोग दिया किन्तु जब उनको यह जान पड़ा कि रोम सारे दक्षिण भाग पर अपना आधिपत्य जमाने पर तुला हुआ है तब उन्होंने युद्ध करना अनिवार्य समझा और एपिरस के राजा पिरस को, जो अपने युग का महान् सेनापति माना जाता है, सहायता के लिए आमन्त्रित किया। पिरस ने रोमनों को दो बार (२८० ई० पू०) परास्त किया। संयोग से कार्थेजवालों से रक्षा करने के लिए सिराक्यूज के ग्रीकों ने उसे आमन्त्रित किया। वहाँ से तीन वर्ष के बाद जब वह लौटा तब रोमनों ने उसको ऐसा परास्त किया (२७५ ई० पू०) कि उसे वापस चला जाना पड़ा। इटली में रोमनों का कोई प्रतिद्वन्दी न रहा (२६५ ई० पू०)।

ग्रीक सत्ता का क्षय हो जाने से रोमवालों को कार्थेजवालों का सामना करना पड़ा।

कार्थेज

ग्रीक प्रतिद्वन्दियों के दमन के पश्चात् पश्चिमी भूमध्यसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए रोमनों का कार्थेजवालों से संघर्ष शुरू हुआ। यद्यपि उनकी उत्पत्ति का विषय अभी तक अन्तिम निश्चय तक नहीं पहुँचा तथापि विद्वानों का बहुमत उनके अरब से पेलेस्टाइन में आकर बसे हुए सेमेटिक जाति के 'कानआनी' वंश का होने के पक्ष में है। उन्होंने भूमध्य सागर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और जलमार्ग से व्यापार करने लगे। ग्रीक लोग उन्हें व्यापार तथा गुलामी के लिए मर्दों और औरतों को पकड़ ले जाने वाले डाकू कहते थे। मिस्र वाले उन्हें जहाज बनाने वाले समझते थे। वे फोनीशियन और सिडोनी कहलाते थे।

ईसा की नवीं शती में, जब कि इज़राइल और जूडिया आपस में लड़ रहे थे, फोनीशियनों ने भूमध्यसागर में अपना व्यापार और उपनिवेश बढ़ा लिये। पहला उपनिवेश साइप्रस में स्थापित हुआ। उसके पश्चात् मध्यसागर और स्पेन में जहाँ-तहाँ उन्होंने बस्तियाँ कायम कर लीं। उत्तरी अफ्रीका में यूटिका और कार्टिरादस्त में

(कार्थेज, आधुनिक दर एस्साफी जो बान अन्तरीप के एक पार्श्व में है नया नगर) नवीं या आठवीं शती में उपनिवेश कायम किये। अनुश्रुति के अनुसार नगर को बसाने वाली राजकुमारी एलिस्सा थी। यद्यपि उनकी संस्कृति मूलतः सेमेटिक प्रजाति की कानआनी थी तथापि उस पर मेसोपटामिया और मिस्र तथा ईजिअन का भी प्रभाव था। मिस्र तथा ग्रीस की प्रतियोगिता के कारण पूर्वी भूमध्य सागर में संघर्षजनित कठिनाइयों से बचने के लिए सातवीं शती से उन्होंने पश्चिमी ओर अपना प्रयत्न केन्द्रित किया। सिसली टापू पर अधिकार प्राप्त करने के लिए कार्थेज वालों को सेराक्यूज़ के ग्रीक राज्य से संघर्ष करना पड़ा। जब रोमनों और ग्रीकों की टक्कर शुरू हुई तब कार्थेज ने रोमनों का सहायक बनकर ग्रीकों की शक्ति का क्षय करवा दिया।

उत्तरी अफ्रीका के समुद्र तट पर कार्थेज नगर की स्थिति सब प्रकार से अनुकूल थी। जहाज बहुत नजदीक तक जा सकते जिससे व्यापार तथा रक्षा में सुभीता था। पीछे विस्तृत मरुभूमि होने के कारण सहसा उस ओर से आक्रमण की भी सम्भावना बहुत कम थी। ग्रीकों और मिस्रियों से भी भय की आशंका नगण्य-सी थी। उसके आसपास ऐसे स्थान न थे जिनसे निरन्तर खटपट होने की चिन्ता हो। ट्यूनीसिआ में इतना पानी बरसता था जिससे अनाज और फलों की खेती हो सके। दो सौ फुट की ऊँचाई पर नगर की रक्षा के लिए एक सुदृढ़ किला बना दिया गया। नगर के चारों ओर ऊँची चहारदीवारी जो २५ मील लम्बी और कहीं-कहीं ४० फुट ऊँची और तीस फुट तक मोटी थी, बनवायी गयी। साठ-सत्तर मील के फासलों पर बुर्जियाँ बनी हुई थीं। नगर के बाहर साठ फुट चौड़ी खाई खुदी हुई थी। कार्थेज वाले स्पेन से चाँदी, टिन, लकड़ी, कपड़ा, रंग आदि अनेक पदार्थो का व्यापार करते थे। व्यापार से उनको इतना लाभ हुआ कि उनका नगर जो रोम से पँचगुना बड़ा था, प्रभूत धन-धान्यवान् हो गया। पाँचवीं शती (ई० पू०) में वहाँ की जनसंख्या दो लाख थी। उसके बाद बड़े शहरोंमें ट्यूनीसिआ का स्थान माना जाता था। तीसरी शती (ई० पू०) में वहाँ की जनसंख्या बढ़कर सम्भवतः पाँच या छः लाख तक हो गयी। कार्थेज भयंकर मरुस्थली और कृषि करनेवाली प्रजा के अभाव के कारण अच्छी स्थल-सेना न बना सका किन्तु उसकी नौ-शक्ति काफी प्रबल थी। उसकी सेना में अनेक देशों और जातियों के लोग भरती थे, जिससे उस पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत रोम की सेना जातीय और सुसंगठित थी। कार्थेज नगर में गुलामों की संख्या बहुत ज्यादा थी। कारण यह था कि सौदागर लोग

उद्योग-धन्धे तथा विविध प्रकार की सेवाएँ उन्हीं से करवाते थे। वास्तु-कला में वहाँ के कारीगर बड़े निपुण थे।

नगर में एक खुला मैदान था जहाँ से तीन सड़कें, थानिट के देवालय, समाधि-स्थल और सभा-भवन को जाती थीं। नगर में एक किला भी था। साधारणतः गलियाँ सँकरी तथा घूम-घुमाव वाली थी। मकान पत्थर के बने थे जिनमें बाज़-बाज़ छः मंजिले ऊँचे थे। दीवारों पर सफेदी की जाती थी। मकानों की छतें अच्छी खरादी लकड़ी की धन्नियों पर रखी जाती थीं। छतें कुछ गोलाई लिये हुए बनायी जाती थीं। नगर में तानित देवी, बआल हम्मोन आदि अनेक देवताओं के बाड़े थे। वहाँ का सबसे बड़ा और धन-सम्पन्न देवालय एशमोअन का था जिस तक पहुँचने के लिए साठ सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं। उसके सिवा अन्य देवालय भी थे जैसे 'देमितर' और 'कोरी' के जिनमें चाँदी तथा सोना चढ़ाया जाता था। उनका पूजन केवल ग्रीकों के ही लिए सीमित था।

सेमेटिक जातियों के समान कार्थेज-निवासी भी धर्म के बड़े पक्के थे। कुछ देवताओं का केवल स्थानिक और सूर्यदेव जैसे कुछ का सर्वव्यापक महत्त्व था। लोक-सम्मानित देवताओं में बआल हम्मोन, सम्भवतः 'एल' देवता का प्रतिरूप था और चन्द्रमा की प्रिया तानितदेवी अशरत देवी की प्रतिरूपिणी थी। देवता नगर का रक्षक और देवी जीवन तथा सुख-सौख्य-प्रदायिनी मानी जाती थी। लोग देवी की अपार शक्ति के कायल थे। उनका एक देवता मौलाक भी था जिसे किसी जमाने में बच्चों की बलि दी जाती थी किन्तु आगे चलकर पशु-बलि का विधान हो गया। इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं कि वहाँ के किसी देवस्थान में मैथुन की प्रथा का प्रचलन था। मेलकार्तया मौलाक देवता के पुजारी ब्रह्मचारी रहते, शिर तथा दाढ़ी मुँड़वाते और खास ढंग के कपड़े पहनते थे। उसके देवालय में स्त्रियाँ तथा सुअर न जाने पाते थे और उसके क्षेत्र में मैथुन सर्वथा वर्जित था। यही नहीं, दर्शक लोगों को भी यह आदेश दिया गया था कि वहाँ आने के तीन दिन पहले ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है। कार्थेज के लोगों में पूजा के पशु, विशेषतः बैल की बलि चढ़ाना आवश्यक माना जाता था। उसके सिवा चाँदी-सोना, वस्त्र तथा भोज्य पदार्थ भी चढ़ाये जाते थे।

कार्थेज वाले मरणोपरान्त जीवन के विषय में विरक्त थे इसीलिए शवों की सुरक्षा की उन्हें चिन्ता न थी।

अपने धर्म और विश्वासों पर अपार श्रद्धा रखने के कारण उनमें आपसी बन्धुत्व

और एकता का भाव अधिक स्थायी और दृढ़ था। उसमें इतना ही दोष रह गया था कि नवीन विचारों और संगठनों से लाभ उठाने की प्रेरणा जाती रही।

ग्रीस के लोग कार्थेज के शासन की प्रशंसा इसलिए करते थे कि उसमें राजसत्ता, कुलीन सत्ता और जनसत्ता तीनों का अच्छा सम्मिश्रण हुआ। यह धारणा यदि अक्षरश: नहीं तो अंशत: सत्य है। उनके विधान के अनुसार दो व्यक्ति जो अच्छे वंश के और धनाढ्य हों, पूरी जनता द्वारा 'सपेत' पदों के लिए चुने जाते थे। उनका चुनाव पहले एक से तीन वर्ष के लिए होता था किन्तु बाद को जीवन भर के लिए हो गया। सेना पर तो उनका अधिकार न था किन्तु वे ही कार्यकारिणी सभा तथा जन-सभा को आमन्त्रित और उसका सभापतित्व करते तथा अन्तिम न्यायाधीश होते थे। वास्तविक शासन का संचालन तीस सफल व्यापारियों की स्थायी कार्यकारिणी सभा करती थी जो 'गेरुसिआ' कहलाती थी। वही सन्धि-विग्रह, सेना-नियोजन तथा उपनिवेशों का स्थापन और सम्भवत: निरीक्षण भी करती थी। तीसरी संस्था भी धनी व्यापारियों की थी जिसके सैकड़ों आजीवन सदस्य होते थे। यदि उसमें कोई स्थान खाली हो जाता तो पाँच सदस्यों की एक समिति उसकी पूर्ति कर देती थी। कार्थेज की सबसे बड़ी सभा 'जनसभा' थी। यदि सपेत और गेरुसिआ में मतभेद होता अथवा कोई भयंकर समस्या उठ खड़ी होती तो सपेत अथवा गेरुसिआ समिति उसे आमन्त्रित करती और उसकी राय ले लेती थी। इसे कानून बनाने के भी कुछ अधिकार थे। उपर्युक्त पदाधिकारियों के अलावा सेनापति, आचाराध्यक्ष, कोषा-ध्यक्ष आदि के पद भी थे।

कार्थेज के निवासी मुख्यत: व्यापारी थे अत: उनको शान्ति रखने में अधिक दिलचस्पी थी, न कि राज्य-विस्तार में। मज़बूरी की दशा में वे युद्ध ठानते थे। सेनापतियों पर उनकी कड़ी नज़र रहती थी; क्योंकि उनकी धारणा थी कि सेनापतियों में निजी स्वार्थ के लिए अपनी सैनिक शक्ति का दुरुपयोग करने की प्रबल प्रेरणा पायी जाती है। इसी के साथ यदि सेनापति को सेना पर यथेष्ट अधिकार न दिया जाय तो वह अपने कर्तव्यों का पूरा निर्वाह न कर सकेगा। अत: सेनापति के लिए जितने आवश्यक अधिकार थे वे सब उसे दे दिये जाते थे। किन्तु उसका चुनाव एक वर्ष अथवा निश्चित अवधि के लिए किया जाता था। यदि युद्ध में वह असफल होता तो उसकी कड़ी जाँच होती और आवश्यकतानुसार दण्ड भी दिया जाता था।

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि आत्म-रक्षा, कृषि के विकास तथा बढ़ती हुई रोमन जनता के निर्वाह के लिए प्रयत्न करते-करते रोमनों को इटली पर आधि-

पत्य स्थापित करना पड़ा किन्तु कार्थेजवालों से व्यापार के विकास के कारण ही उन्हें संघर्ष करना पड़ा। यद्यपि कुछ अंश तक यह सत्य है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें विजयैषणा एवं प्रभुत्व-स्थापना की लालसा की कमी थी।

रोमनों की इटली-विजयों ने उनके हौसले को बढ़ा दिया। उन्हें यह भय रहता था कि जिस प्रकार कार्थेजवालों ने अफ्रीका और मध्य सागर के टापुओं पर अड्डे जमा दिये हैं उसी तरह इटली में भी जमाने का वे प्रयत्न करेंगे। इसीलिए उन्होंने जितने समझौते उनसे किये लगभग उन सभी में यह शर्त रखी कि इटली में वे कहीं स्थापित हो जाने का प्रयत्न न करेंगे। इसके सिवा इटली के समुद्री तट की रक्षा के लिए उन्होंने फौजों के दस्ते रख दिये थे और उसके किनारे-किनारे उनके छोटे जहाज पहरा देते रहते थे। इधर कार्थेजवालों को भी भय था कि इटली पर प्रभुत्व स्थापित करने के उपरान्त रोमन लोग सिसली में घुस आने का प्रयत्न करेंगे। दोनों की मानसिक वृत्ति का परिणाम भयंकर हो सकता था।

आखिरकार झगड़े का सूत्रपात हो गया। सिसली में 'मेसेना' नाम का एक नगर दक्षिणी इटली के बहुत समीप बसा हुआ था। उसमें इटली के दक्षिणी प्रदेश से भगे हुए अथवा वहाँ से बरखास्त किये हुए सैनिकों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। सेराक्यूज़ के ग्रीक राजा ने उन पर आक्रमण किया। उससे डर कर मेसेना के एक दल ने कार्थेज से सहायता माँगी जो उसने यथाशीघ्र भेज दी। दूसरे दल ने रोमनों की मदद चाही जो उन्हें भेज दी गयी। रोमवाले यह नहीं चाहते थे कि कार्थेजवाले इटली के समीप कहीं जम पायें। युद्ध में कार्थेज और सेरा-क्यूज़ वालों की पराजय हुई (२६४ ई० पू०)। सेराक्यूज़ के राजा ने रोमनों के साथ मेल कर लिया। इस युद्ध से रोमनों को विश्वास हो गया कि कार्थेजीनियनों से उनका तुरन्त संघर्ष अवश्यंभावी है तथा इस उद्देश्य से उनके लिए प्रबल जहाजी बेड़ा बनाना अनिवार्य है। दो-तीन वर्षों में उन्होंने करीब उतना ही बड़ा बेड़ा तैयार कर लिया जितना कि कार्थेजवालों का था।

रोम और कार्थेज में पहला युद्ध २६४—२४१ ई० पू० में, दूसरा २०९ से २०१ ई० पू० में और अन्तिम तीसरा युद्ध १५३ से १४६ ई० पू० तक हुआ: पहले युद्ध का परिणाम हुआ कि जल और स्थल पर कुछ लड़ाइयों में हारने पर भी रोमनों के जहाजी बेड़े ने कार्थेज के बेड़े को नष्टप्राय कर दिया जिससे उन्हें सन्धि करने पर मजबूर होना पड़ा (२४१ ई० पू०)। कार्थेज को हर्जाने की बड़ी रकम देनी पड़ी और सिसली तथा उसके समीपस्थ टापुओं से हाथ धोना पड़ा। रोमनों में

आत्मविश्वास एवं अपनी नौ-शक्ति का अभिमान बढ़ गया किन्तु दोनों राज्यों को यह ज्ञात हो गया कि युद्ध तब तक चलता रहेगा जब तक एक का दूसरे पर आधिपत्य स्थिर रूप से स्थापित न हो। सम्भव था कि द्वितीय युद्ध पहले ही आरम्भ हो जाता यदि उत्तरी इटली की गाल जाति के साथ रोम का भयंकर युद्ध न छिड़ जाता और कार्थेजवालों को यह विश्वास न हो जाता कि मध्य सागर के टापुओं—सिसली, कारसिका और सार्डीनिया पर अधिकार चले जाने से जो क्षति हुई उसकी पूर्ति आवश्यक है। रोमनों ने कार्थेज के विरोध करने पर भी सार्डीनिया और कारसिका ले लिया था। उस क्षति की पूर्ति करने के लिए उन्होंने स्पेन पर आक्रमण करना आवश्यक समझा। वे सोचते थे कि स्पेन की चाँदी और ताँबे की खानों से उनकी आर्थिक पूर्ति होगी और वहाँ के साहसी लड़ाकों को अपनी सेना में भरती करके स्थल-सेना की कमी दूर की जा सकेगी। कार्थेज के सेनानायक हेमिलकर की धारणा थी कि जब तक इटली में घुसकर रोमनों को स्थल-युद्ध में हराया न जायगा तब तक अर्थ की सिद्धि न हो सकेगी। स्पेन में हेमिलकर को यथेष्ट सफलता मिली। उसने स्पेन के कुछ सरदारों से मैत्री-सी स्थापित कर ली। हेमिलकर की मृत्यु के बाद सेनापतित्व का भार उसके पचीस वर्ष के पुत्र हेनीबाल को सौंपा गया जिसका नाम आगे चलकर संसार के सुप्रसिद्ध सेनानायकों में हो गया।

जब कार्थेजवालों ने सेगेण्टम नगर पर, जिसकी रक्षा का रोमनों ने वचन दिया था, आक्रमण किया तब दूसरा प्यूनिक युद्ध आरम्भ हो गया (२१९ ई० पू०)। रोमनों ने एक सेना कार्थेज और दूसरी स्पेन की ओर भेज दी। किन्तु हेनीबाल उसकी चिन्ता न करके अपूर्व चतुरता, साहस और सावधानता से एक विशाल सेना के साथ पेरीनीज़ पर्वतमाला, रोन नदी और दुस्तर बर्फ से लदे आल्प्स पर्वत को लाँघता हुआ एकाएक इटली में घुस गया। उस अपूर्व उद्योग और साहस के कई कारण थे। मुख्य कारण था जहाजी बेड़े की अक्षमता, उतनी बड़ी सेना को घोड़ों सहित ले जाने की अक्षमता। इसके सिवा उसे आशा थी कि गाल आदि जातियाँ, जिनको रोम दबा रहा था, मार्ग में उसका साथ देंगी और रसद आदि का प्रबन्ध भी हो सकेगा। तूफानों में रोमनों ने उसको रोकने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु एक न काम आया। इटली में उसके साथ सिर्फ ३४ सहस्र सेना रह गयी थी। रोमनों की दो बहुत बड़ी सेनाओं को भी हेनीबाल ने विनष्ट कर दिया। हेनीबाल चाहता तो रोम को भी विध्वंस कर देता किन्तु उसकी नीति थी कि इटली में विद्रोह की आग भड़का कर उसी में रोमनों को स्वाहा कर दे। दो करारी पराजयों से रोम का आतंक

नष्ट हो गया और इटली की जातियों ने ही नहीं, सेराक्यूज़ ने भी सिसली में विद्रोह कर दिया। हेनीबाल का दबदबा इतना बढ़ गया कि मकदूनिया का राजा पंचम फिलिप भी उसका साथ देने के लिए आ गया। विपत्तियों के भयंकर घटाटोप से भी रोमनों का धैर्य और साहस न छूटा। केपुआ की रक्षा के लिए हेनीबाल ने रोम के सामने अपनी सेना ला खड़ी की। उसके पास न तो इतनी बड़ी सेना थी कि वह उसका अवरोध कर सकता और न प्राचीरों को तोड़ने के यन्त्र थे। फाटक बन्द करके रोम वाले चुप बैठे रहे। कुछ दिनों तक बेकार पड़े रहकर वह फिर दक्षिण को लौट गया।

धीरे-धीरे उन्होंने इटली की जातियों का दमन कर लिया। सिसली पर फिर अधिकार स्थापित कर दिया। मकदूनिया के विरुद्ध रोम वालों ने ग्रीस में विद्रोह की आग सुलगा दी जिससे त्रस्त होकर फिलिप पहले ही लौट गया था। रोमनों की गम्भीरता, अविचलता, धैर्य, साहस और वीरता से प्रभावित होकर मध्य इटली के निवासियों ने भी विद्रोह का प्रसंग न छेड़ा।

स्पेन में पहले तो रोम वालों की पराजय रही किन्तु बाद को सेना बढ़ जाने से उनको विजय प्राप्त हुई और कार्थेज का प्रभाव वहाँ निरस्त हो गया (२०६ ई० पू०)। स्पेन को रोमनों ने दो सूबों में विभक्त कर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (१९७ ई० पू०), जिसे कायम रखने के लिए उन्हें ऐसी बेईमानियाँ और युद्ध करने पड़े जिनमें भयंकर रक्तपात हुआ।

सौभाग्य से रोम की सेवा में भी सीपिआ नामक एक सुयोग्य सेनानायक था। उसने पहले ही सफल नेतृत्व कर रोमनों को विजयी किया। फिर लौटकर वह अफ्रीका गया (२०५ ई० पू०) और अपनी नीतिकुशलता तथा सैनिक पराक्रम से कार्थेज वालों पर ऐसा आतंक फैला दिया कि हेनीबाल की सहायता करना तो दूर रहा उसको उन्हें कार्थेज की रक्षा के लिए बुलाना पड़ा। जामा के मैदान में दोनों प्रतिभाशाली सेनापतियों का संग्राम हुआ। सीपिया की पैदल सेना तथा घोड़ों का रिसाला संख्या ही में बड़ा न था वरन् युद्ध-कला में भी सुशिक्षित था। कार्थेज की सेना नष्ट हो गयी जिससे व्याकुल होकर हेनीबाल ने सन्धि करने के लिए वहाँ के शासकों से आग्रह किया (२०२ ई० पू०)। रोम वालों ने बहुत बड़ी रकम हरजाने की ली और उनको यह मानने पर बाधित किया कि वे दस जहाजों से अधिक समुद्री बेड़ा न रखें और बिना रोम की स्वीकृति के किसी से युद्ध न ठानें (२०१ ई० पू०)। दूसरे प्यूनिक युद्ध के महत्त्व और परिणामों के विचार से इसे प्राचीन युग का एक महा-युद्ध माना जाता है। क्रूरता की दृष्टि से रोमन ही दोष के भागी हैं। यद्यपि विवशता

के कारण अन्ततोगत्वा हेनीबाल की पराजय हुई किन्तु उसकी योग्यता और सेनापतित्व की दक्षता अलेक्ज़ेण्डर, जूलिअस सीज़र, नेपोलियन से कुछ अधिक ही मानी जाती है। कार्थेज से प्राण बचाकर हेनीबाल तृतीय एण्टिआकस के पास चला गया किन्तु ग्रीक सम्राट् अपनी अहंमन्यता के कारण उसका उचित उपयोग न कर सका। निआर्कस के हारने पर रोम वालों ने हेनीबाल को माँगा किन्तु वह भागकर पूसिअस के पास बेथीनिया चला गया। रोम ने जब पूसिअस पर ज़ोर डाला तब हेनीबाल ने विष खाकर प्राणान्त कर लिया (१८३ ई० पू०)।

तीसरा प्यूनिक युद्ध और कार्थेज का विध्वंस (१५६–१४६ ई० पू०)

रोम का सितारा बुलन्द था। ई० पू० २०० और १९० वर्ष के बीच में ग्रीस, एशिआई कोचक तथा मध्य सागर के पूर्वी भाग पर रोमनों ने अपना आधिपत्य जमा लिया और मिस्र को अपनी छत्रछाया में ले लिया। इसके बाद कार्थेज का अन्तिम काल आ पहुँचा। कार्थेज का पड़ोसी राज्य न्यूमीडिया जिसने रोमन लोगों से मेल कर लिया था, कुछ-न-कुछ झगड़ा उठाता रहता और रोमनों को कार्थेज के विरुद्ध उभारा करता था। उसको यह जलन और रोम को यह चिन्ता रहती थी कि कार्थेज की व्यापारिक निपुणता फिर उसे संपन्न बना रही है। वे दोनों देश इसी घात में रहते थे कि कोई अच्छा बहाना मिल जाय तो कार्थेज का सदा के लिए अन्त कर दिया जाय। इधर हेनीबाल की ईमानदारी और शासन-प्रवीणता के कारण उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके रोम के अधिकारियों को उसके विरुद्ध उभाड़ा। परिणाम यह हुआ कि उसका देश से निष्कासन हो गया। कार्थेज के स्वार्थी व्यापारियों ने अपने स्वार्थ की सिद्धि में पूर्ववत् संलग्न हो कार्य किया। किन्तु वे भी न्यूमीडिया के अतिक्रमणों से तथा रोमनों द्वारा उनके अनुकूल पक्ष ग्रहण करने से इतने परेशान हो गये थे कि उन्होंने न्यूमीडिया पर चढ़ाई कर दी। बस ऐसे ही अवसर की रोम प्रतीक्षा कर रहा था। यद्यपि न्यूमीडिया की विजय हो चुकी थी और कार्थेजवाले पराजित हो गये थे तथापि रोम ने कार्थेज पर आक्रमण कर दिया। कार्थेज वालों ने बड़ी अनुनय-विनय की, अनेक प्रकार से अपनी वफादारी के प्रमाण दिये किन्तु रोम ने कुछ ध्यान न दिया, क्योंकि वह उसको समूल नष्ट करने पर तुला हुआ था। लाचार होकर कार्थेजवाले भी लड़कर मरने को तैयार हो गये। कार्थेज का अवरोध चार वर्ष तक चलता रहा। भूख-प्यास तथा अन्यान्य क्लेशों को सहन करते हुए भी कार्थेजवालों ने शहर के भीतर और उनके साथियों ने बाहर से गोरिला

युद्ध किया। अन्त में रोमन दीवार तोड़कर नगर में घुस पड़े, घोर रक्तपात तथा अग्निकाण्ड का ताण्डव हुआ। कार्थेज का पतन हो गया। केवल पचास हजार अस्थि-पंजर वाले प्राणी जीवित मिले जो गुलाम बनाकर बेच दिये गये। नगर जमीन से मिला दिया गया ताकि उसका नामोनिशान भी न रहे। कार्थेज के खँड-हरों में रोम वालों की धूर्तता, निष्ठुरता और बर्बरता का ज्वलन्त प्रमाण संसार के लिए रह गया (१४६ ई० पू०)। कार्थेज की शक्ति के लोप हो जाने से मध्य सागर के निचले और पश्चिमी भाग पर तो रोम का अबाधित अधिकार हो ही गया, पर साथ ही पूर्वी भाग पर भी उनके अधिकार की अथश्री हो गयी।

रोम तथा कार्थेज के संघर्ष में जब शिथिलता और शान्ति आ जाती थी तब रोमन लोग अपने आधिपत्य के प्रसार में प्रवृत्त हो जाया करते थे। आल्प्स पर्वत से दक्षिणी इटली के समुद्र तट तक उन्होंने अपना प्रभुत्व दृढ़ कर लिया था। स्पेन में भी प्रसार और संगठन का काम होता रहा। इलीरिआ के समुद्री डाकुओं और उनके ग्रीक नेताओं का रोम वालों ने दमन कर दिया। इस समय तक ग्रीक और फोनीशियनों का पश्चिम में उच्छेद हो चुका था, अब पूर्व की समस्या छेड़ने में कोई विशेष अड़चन न रही। इटली पर इपिरस के राजा पिरस के आक्रमण की कहानी भी पुरानी हो गयी थी किन्तु मकदूनिया के राजा पंचम फिलिप का हेनीबाल की सहायता के लिए आना रोमनों को खटकता था। तभी से वे ग्रीस की राजनीति में अधिक दिल-चस्पी लेने लगे थे। फिलिप की बढ़ती शक्ति और सीरिया के ग्रीक राजा एण्टिआकस तृतीय के सहयोग से मध्य सागर के पूर्वीय टापुओं तथा दक्षिणी ग्रीस पर अधिकार जमाने के प्रयत्नों को रोम अपने हितों के विरुद्ध समझता था। यद्यपि रोम ने मिस्र के टालमी राज्य को आश्वासन दे दिया था कि वे उसका अनहित न होने देंगे तथापि उसको कार्य-रूप में परिणत करने का कोई उपाय न हो सका। जब फिलिप ने एथेन्स पर आक्रमण किया तब मित्र होने के नाते रोम ने शस्त्र उठाना आवश्यक समझा। रोम के साम्राज्यवादी पहले से ही इस बात का भय फैला रहे थे कि फिलिप इटली पर आजकल में आक्रमण करने ही वाला है। यद्यपि इसकी विशेष सम्भावना न थी तथापि उस आन्दोलन से रोम में युद्ध के लिए एक वातावरण तैयार हो गया था। यह जान पड़ने लगा कि अलेक्ज़ेण्डर के उत्तराधिकारी ग्रीक राजाओं से रोम का संघर्ष अनिवार्य है।

ग्रीस वालों का स्वभाव रोम वालों से अनेकांशों में भिन्न था। सबसे विचित्र विभिन्नता तो यह थी कि भयंकर स्थिति उत्पन्न होने पर ग्रीस वाले ऐक्य स्थापन

करने में बिलकुल असमर्थ रहते थे। इसके विपरीत रोम वाले उस दिशा में विशेष सामर्थ्य प्रकट करते थे। वस्तुतः रोम को ग्रीस के साम्राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई न्यायसंगत अधिकार न था किन्तु रोम की साम्राज्य-विस्तार की नीति ने उनको हठात् इस ओर प्रेरित किया। ग्रीस पर जब रोम ने आक्रमण किया तो वहाँ के राज्य तटस्थ, निःसंग और अकर्मण्य रहे (२०० ई० पू०)। फिलिप की सेना दो बार पराजित हुई जिससे हताश होकर उसने सन्धि की याचना की। सन्धि इस शर्त पर हुई कि मकदूनिया वाले ग्रीस के राज्यों में हस्तक्षेप न करें और रोम की आज्ञा प्राप्त किये बिना उनसे युद्ध न छेड़ें। उन राज्यों से अपनी सेनाएँ और अपने प्रतिनिधि हटा लें, अपना समुद्री बेड़ा रोम के सुपुर्द कर दें। सारांश यह कि ग्रीस की एकता जिसे मकदूनिया के फिलिप प्रथम और अलेक्ज़ैण्डर ने स्थापित किया था, समाप्त हो गयी। राज्यों को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा में उनकी स्वतन्त्रता की इतिश्री गुप्त रूप से निहित थी (१९४ ई० पू०)। तीन वर्ष व्यतीत होने न पाये कि रोम की सेनाएँ फिर ग्रीस में जा पहुँचीं। इसका कारण यह था कि इटालियन लोगों ने रोम की आक्रान्ति से ग्रीस की रक्षा के लिए सीरिया के सम्राट् तृतीय एण्टिआकस को निमन्त्रित किया। एण्टिआकस ने सिन्धु नद से मध्य सागर तक ग्रीक आधिपत्य की रक्षा करने तथा पार्थिआ के अर्धशिक्षित खानाबदोशों के आक्रमणों को रोकने में अपने उत्साह, कर्मठता और योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया। इसी से ग्रीक उसे अपना उद्धारकर्ता-सा समझने लगे थे। उसने मकदूनिया के पंचम फिलिप से मिस्र के टालमियों के विरुद्ध समझौता भी कर लिया था जिसके प्रतिकार के लिए रोम ने टालमी राज्य को सहायता देने का आश्वासन दिया था। एण्टिआकस ने अपना आधिपत्य सीरिया और फिलिस्तीन पर स्थापित करके पंचम टालमी से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया।

इटोलियन लीग के निमन्त्रण को स्वीकार कर एण्टिओकस ने दस सहस्र सेना के साथ ग्रीस में पदार्पण किया। अपनी परिपाटी के अनुसार ग्रीस के राज्यों ने उसकी सहायता करना तो दूर रहा उसके प्रति या तो उदासीनता या विरोध का प्रदर्शन किया। मकदूनिया का ग्रीस पर आधिपत्य जमाने का स्वप्न अभी तक भंग न हुआ था। ग्रीस के अन्य राज्य इस भ्रम में थे कि रोम की छत्रछाया में वे स्वतन्त्रता का सदैव उपभोग करते रहेंगे। फलतः एण्टिआकस को उनसे कुछ सहायता न मिली। उसके विरुद्ध रोम ने बीस सहस्र सेना भेजी। थर्मापली के युद्ध में एण्टिआकस की सेना विनष्ट हो गयी (१९२—९१ ई० पू०) और ग्रीस को उसके भाग्य पर छोड़

कर वह वापस चला गया। इटोलियन लीग विच्छिन्न कर दी गयी। ग्रीस के राज्यों की काल्पनिक स्वतन्त्रता के विलीन होने की दूसरी मंजिल आ गयी।

रोम ने अपनी विजय से यथासम्भव लाभ उठाना उचित समझा। अतः रोम के प्रबल बेड़े ने पूर्वी टापुओं के जहाजों के सहयोग से एण्टिआकस के जहाजी बेड़े का विध्वंस कर दिया (१९० ई० पू०)। उसके साथ ही रोम की सेना एशियाई कोचक में उतर पड़ी। यह रोम का एशिया में प्रथम पदार्पण हुआ। यद्यपि एण्टि-आकस की सेना रोमन सेना से दुगुनी से भी अधिक थी तथापि मेगनोसिया के मैदान में रोमनों के नवीन युद्ध-कौशल के कारण उसका निपात हो गया। एण्टिआकस सन्धि करने पर मजबूर हो गया। उसको अपना सारा समुद्री बेड़ा, टारस (तूर) पहाड़ का पश्चिमी भू-भाग तथा बहुत बड़ी रकम हरजाने में देना पड़ी। उससे वचन ले लिया गया कि वह हलिअस नदी को कभी पार न करेगा। एशियाई कोचक सेल्युकस के वंशजों से छिन गया। चौबीस वर्ष के बाद पार्थियनों ने, जो सीथियन जाति की एक प्रबल शाखा थी, चतुर्थ एण्टिआकस से मेसोपटेमिया और बेबीलोनिया छीन लिया। सेल्यूकस वंश के साम्राज्य का अन्त हो गया यद्यपि उसके वंशज सीरिया में येनकेन प्रकारेण राज्य करते रहे। ग्रीक लोगों के रजवाड़े रोम के आधिपत्य में चले गये। एण्टिओकस चतुर्थ के आक्रमण से घबड़ाकर मिस्र का टोलेमी, जिससे रोम की मित्रता थी, रोम की छत्रछाया में आ गया। गृह-कलह से (१६८ ई० पू०) टालमी वंश और मिस्र राज्य जर्जरित होकर रोम का अधिकाधिक आश्रित हो गया। रोम के ग्रीक प्रतिद्वन्द्वी निरस्त हो गये और दूसरा प्रतिद्वन्द्वी कार्थेज मृत्यु-शय्या तक पहुँच गया, उसका केवल शव-संस्कार रह गया। रोम ने आश्चर्यजनक प्रगति से अपना आधिपत्य तो स्पेन से सीरिया और ग्रीस तक बढ़ा लिया किन्तु उसी के साथ-साथ उसकी समस्याओं की भी अपार वृद्धि होती गयी। आधिपत्य के अन्तर्गत अनेक विधान, विविध प्रकार की सन्धियाँ और समझौते आते थे। राज्यों के अनेक प्रकार के आपसी झगड़े तथा आपसी दलबन्दियों के संघर्ष सुलझाने का भार उसके ऊपर आ पड़ा। कभी-कभी व्यवस्था करने में अव्यवस्था, सुलझाने से उलझने और उपकार से अपकार उत्पन्न हो जाता था। रोमनों को बड़े साम्राज्यों के शासन का न तो कोई अनुभव ही था, न परम्परागत ज्ञान ही। यह स्पष्ट-सा प्रतीत होता था कि ग्रीस वालों की तरह रोम वाले भी नगर राज्य के शासन के ही अभ्यस्त थे किन्तु विशाल राज्य अथवा साम्राज्य के शासन की कला से अनभिज्ञ थे। इसीलिए वे निर-

न्तर अपनी अयोग्यता के प्रमाण देते रहे। वे ईरान की नकल करने का प्रयत्न तो समय-समय पर करते थे किन्तु प्रायः असफल ही होते रहे।

रोम साम्राज्य का मानचित्र तो ईसा के पूर्व द्वितीय शती में ही तैयार हो चुका था अतः कोई विशेष चमत्कारपूर्ण विस्तार बाद को न हुआ। फिर भी विजित प्रान्तों की सीमाओं की रक्षा और उनके अतिक्रमण करनेवालों के दमन करने, तथा शान्ति कायम रखने के लिए उन्हें समय-समय पर युद्ध करने और साम्राज्य की सीमाओं को विस्तृत एवं दृढ़ करने के लिए अपने आधिपत्य का क्षेत्र बढ़ाना आवश्यक-सा हो गया। उन घटनाओं में से कुछ का संक्षिप्त वर्णन अनुचित न होगा।

कार्थेज विनष्ट होने के बाद उसके पड़ोसी राज्य न्यूमीडिया ने जो उत्तरी अफ्रीका में था, अच्छी उन्नति की, विशेषतः अनाज के व्यापार से। ११८ ई० पू० में राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर वहाँ गृहयुद्ध छिड़ गया। रोम की सेनेट से झगड़ा निपटाने की प्रार्थना की गयी। रोम ने उस राज्य के दो टुकड़े कर दिये। औरस पुत्र को अधिक समृद्ध और दत्तक पुत्र जुगार्था को साधारण अंश मिला। दोनों में युद्ध छिड़ गया। जुगार्था को सफलता तो मिली किन्तु उस युग में उसके प्रतिपक्षी इटोलियनों का कत्लेआम हुआ। रोम ने जुगार्था से युद्ध छेड़ दिया। बड़े साहस और वीरता से जुगार्था लड़ा किन्तु अन्त में छल से पकड़ कर मार डाला गया (१०५ ई० पू०)। कार्थेज की शत्रुता का दुष्परिणाम न्यूमीडिया को भोगना पड़ा।

काले समुद्र के दक्षिण में पाण्टस राज्य था। उसके युवक राजा मिथ्रनीज़ छठा (१२०—१६३), जिसमें फारस तथा ग्रीस का रक्त प्रवाहित था, क्रीमिया के नगरों की प्रार्थना पर सीथियन आदि से उनकी रक्षा करने गया। उसको ऐसी सफलता मिली जिससे उसकी शक्ति और साधनों में खूब वृद्धि हुई। रोम ने क्षुब्ध होकर उससे राज्य का वह भाग छीन लिया जो उसके पिता को दिया गया था। झगड़े की जड़ पड़ गयी। ग्रीक नगरों ने मिथ्रनीज़ का साथ दिया। रोम को काफी परेशानी उठानी पड़ी। रोम का पाण्टस से युद्ध पुश्त-दर-पुश्त चलता रहा।

रोम (२)

टाइबर नदी के दक्षिणी तट के लैटिन कृषक सैनिकों ने रोम में संस्थापित नगर-राज्य को विशाल और प्रबल साम्राज्य का शासन-केन्द्र बना दिया था। उनके उत्साह, उद्योग, विजयैषणा, साहस और वीरता का वह एक देदीप्यमान और गौरवपूर्ण प्रमाण है। किन्तु इस साम्राज्य-विस्तार का रोम पर जो प्रभाव पड़ा

वह मनोरंजक, ज्ञानवर्धक और उपदेशप्रद है। उसके हानि-लाभ का विवरण और सन्तुलन इतिहास के प्रेमियों के लिए अत्याकर्षक रहा है। साम्राज्य के विकासके साथ-साथ गणतन्त्र राज्य द्वारा अपने स्वरूप को भूल जाने की आशंका, अपने व्यक्तित्व एवं वैशिष्ट्य की रक्षा के लिए संघर्ष और छटपटाहट, और अन्त में चोला बदल देना, नवोदित समस्याओं के लिए नये-नये उपाय निकलना, उनकी सफलता और विफलता, साम्राज्य के अनुभव, विभव और पराभव की कथा, यह सब घटनाक्रम एक कुतूहलवर्धक महाकाव्य-सा है।

जब तक रोम के समीपस्थ प्रदेश में आत्मरक्षा के लिए रोमनों का युद्ध होता रहा तब तक उनके कृषिमूलक सामाजिक और आर्थिक जीवन में अधिक क्रान्ति की संभावना कम थी किन्तु ज्यों-ज्यों राज्य बढ़ता गया और कृषकों को खेती-बारी छोड़कर अधिकाधिक समय तक बाहर रहने की आवश्यकता बढ़ती गयी त्यों-त्यों उनका प्राचीन संगठन और जीवन अस्त-व्यस्त होता गया। कृषक और ग्रामीण जीवन की सरलता, एकरसता और उसके दैन्य से उन्हें उत्तरोत्तर अरुचि होने लगी। नागरिक जीवन के प्रलोभन गाँवों से किसानों को खींचते चले गये। गार्हस्थ्य जीवन, पिता, भ्राता, पुत्रादि के सम्बन्ध शिथिल होते गये। स्त्रियों ने यथासाध्य कृषि, गोरक्षा का काम चलाया किन्तु वे बढ़ती हुई अव्यवस्था का सीमित अंश तक ही प्रतिकार कर सकीं। कृषि-कार्य के लिए गुलाम सुलभ दिखाई पड़े। उनकी संख्या रोम प्रदेश के क्षेत्रों में क्रमशः बढ़ती चली गयी। फिर भी वहाँ का पैदा किया हुआ अनाज उतनी सस्ती दर पर न बिक सकता था जितनी पर साम्राज्य के प्रान्तों से प्राप्त हुआ अन्न। कृषि की लाभहीनता से जनता में बेकारी, गरीबी और असन्तोष बढ़ने लगा। उसमें किसानों के साथ गुलाम भी शामिल हो गये। किसान कर्ज और सूद के बोझ से घबरा कर अपनी भूमि बेचने लगे जिसे खरीदकर उस पर अमीर आलीशान मकान बनवाते और बाग-बगीचे लगवाते या चरागाह बना लेते थे।

रोम में चारों ओर से लूट-पाट का माल तथा करों, महसूलों और खानों से प्राप्त धन-द्रव्य आने लगा जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया। नये प्रान्तों का व्यापार, ठेकेदारी और महाजनी रोम के व्यापारियों, अफसरों और सेनानायकों के हाथ में आती गयी जिससे पूंजीपतियों का समुदाय वृद्धि और समृद्धि प्राप्त करता गया। धन के बल पर वे राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रभाव डालने लगे और उनमें अनेक प्लीबिअन लक्ष्मीपति पेट्रीशिअनों में सम्मिलित कर लिये गये। ये नवजात पेट्रीशियन पुरानों से भी अधिक अहम्मानी, अभिमानी होकर प्लीबिअनों को नीची

निगाह से देखते थे जिससे प्लीबिअनों को क्षोभ और रोष होता था। अमीर लोग गुलामों को सेवा करने के लिए अधिकाधिक संख्या में नौकर रखने लगे जिससे रोम में उनका समुदाय बहुत बढ़ गया। अमीर बड़े ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी स्त्रियाँ भी बड़े सज-धज से रहतीं और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। उनके रेशमी वस्त्र, शृंगार, मोती और रत्नों के आभूषणों को देखकर प्राचीन सरलता के प्रेमी दुःखी, लज्जित और क्षुब्ध होते थे।

गरीबों के वोट प्राप्त करने के लिए अमीर लोग विविध उपायों का अवलंबन करते थे। वे उनको रिश्वत देते, सस्ता और कभी बिना मूल्य भी अन्न वितरण करते और उनके मन-बहलाव तथा विनोद के लिए खेल-तमाशों और उत्सवों का आयोजन करते थे। उन खेलों में सबसे प्रसिद्ध रंगांगण (एम्फी थियेटर) के खेल थे जिनमें शस्त्रधारी आपस में अथवा भयंकर हिंसक पशुओं के साथ आमरण द्वन्द्व युद्ध करते थे। उन रक्ताक्त पाशविक प्रदर्शनों के लिए विजित जातियों के हृष्ट-पुष्ट बन्दी और गुलाम बड़े उपयुक्त सिद्ध होते थे। उन प्रदर्शनों से लोगों में रक्तप्रियता का दोष तो बढ़ ही सकता था किन्तु उन क्षणिक उपायों से उनके क्लेश और गरीबी की समस्या की पूर्ति असंभव थी। स्वतन्त्र जनता की शिकायतें बहुत थीं किन्तु गुलामों की तो परिस्थिति सर्वथा दयनीय और उनका जीवन सतत यातनामय था। जनसत्ता का ढकोसला चलता चला जा रहा था किन्तु जनता दीन और क्षीण होती जाती थी। उस दुःखद परिस्थिति में केवल कृषक और गुलाम ही नहीं वरन् कारीगर और श्रम-जीवी भी ग्रस्त थे। रोम प्रदेश में ही नहीं वरन् सारे इटली तथा रोमन उपनिवेशों में भी इस कारण वैसी ही दशा हो गयी थी। रोम का साम्राज्य उसकी धाक और वैभव बढ़ रहा था किन्तु इटली की जनता का ह्रास और पतन जारी था। विचित्र विडम्बना थी।

विजित प्रदेशों की परिस्थिति और भी शोचनीय थी। अग्निकाण्ड, हत्या-काण्ड, कैद और गुलामी से जो जीवित रह जाते उनको लूटने, खसोटने के लिए रोम के अफसर, व्यापारी, जमीन अथवा लगान के ठेकेदार थे और सूदखोर उनका खून चूसते थे। युद्ध की लूट का माल सेनानायक और सैनिक बाँट लेते और शान्ति स्थापना होने पर उपर्युक्त समुदाय भी जोंक की तरह जनता से चिपट जाते थे। रोम राज्य को उतना लाभ न होता था जितना उसके नौकरों और पिछलग्गुओं को होता। विजित प्रजा को फारस वालों तथा ग्रीकों का ज़माना याद आता था जब कि

उनका जोवन अनुपाततः अधिक शान्त और बहुत सुखी तो नहीं किन्तु सहनीय तो था ही।

तत्कालीन परिस्थिति पदाधिकारियों और पूंजीपतियों के अनुकूल थी। वास्तव में शासन यन्त्र भी उन्हीं के हाथ में था। इसलिए उसको बदलने की उनको न तो कोई चिन्ता थी और यदि कभी किसी को होती भी थी तो उनको साम्राज्य की समस्या को अच्छी तरह समझने और उसे हल करने का कोई उपाय सुझाई न पड़ता था। स्वार्थ और ज्ञान-शून्यता तथा अनुभवहीनता ने मिलकर रोम के शासकों को स्तब्ध कर रखा था। रोम की स्थिति के सुधार में यदि कोई मर्यादा-स्थापक या निषेधात्मक कानून कभी बनाये जाते थे तो उनकी कोई परवाह न करता और कार्य रूप में वे परिणत न होने पाते थे। सारांश यह कि रोम-साम्राज्य के प्रदेश और प्रान्त भी दरिद्रता और दीनता के गर्तावर्त में फँसते चले जाते थे।

सबसे विलक्षण बात तो यह थी कि विधान के अनुसार राजनीतिक अधिकार जनसभा और जनता के हाथ में थे किन्तु व्यवहार में वे असमर्थ थे। पेट्रीशियनारूढ़ सेनेट ही उसका पूर्ण प्रयोग और उपयोग करती थी। किन्तु मजिस्ट्रेट (कान्सल), उपकान्सल को अधिकार थे कि यदि वे चाहें तो सेनेट के परामर्श के बिना जनसभा में जो प्रस्ताव चाहें भेज दें। युद्धों के संचालन में जो सफलताएँ सेनेट ने प्राप्त की थीं तथा उसके सदस्य पूर्व पदाधिकारी, अनुभवी एवं सामाजिक परम्परा द्वारा प्रतिष्ठित होने के कारण, उसका बहुत रोब और दबदबा था। फिर भी विधान के अनुसार उसकी शक्ति जनसभा से कम मानी जाती थी।

जनता की बढ़ती हुई गरीबी और असन्तोष ने उसमें एक क्रान्ति गर्भित वातावरण उत्पन्न कर दिया। उसको ऐसे साहसी नेता की आवश्यकता थी जो उसका पथ-प्रदर्शन कर सके। उसे वैसा नेता प्रतिभाशाली टाइबीरिअस ग्रेकस, जो सुप्रसिद्ध सेनापति और विजेता सीपियों का साला था, मिल गया। १३३ ई० पू० में जब वह ट्राइव्यून के पद पर नियुक्त हुआ तब उसने किसानों की दुर्दशा दूर करने के लिए जनसभा में सरकारी भूमि के पुनर्वितरण और किसानों के संरक्षण के लिए कुछ प्रस्ताव उपस्थित किये और स्वीकृत भी करा लिये। यद्यपि प्रस्ताव सीमित और साधारण थे तथापि सेनेट में रोष इतना बढ़ा कि सेनेट वालों ने उसका वध कर दिया (१३० ई० पू०)। सात वर्ष के पश्चात् उसका छोटा भाई ट्राइव्यून नियुक्त हुआ। उसने ऐसे पूंजीपतियों को जो सेनेट के सदस्य न हो सके थे, एशिया में लगान वसूल करने के ठेके दिलवाकर तथा लौटे हुए सूबों के उच्च पदाधिकारियों के विरुद्ध

भ्रष्टाचार की जाँच कराने और अपराधी को दण्डित करने का अधिकार दिलाकर अपनी ओर मिला लिया। इसके बाद सेनेट के सूबेदार नियुक्त करने तथा लगान वसूली के नियन्त्रण के अधिकार सीमित कर दिये गये। रोम की गरीब जनता को मासिक अनुदान देकर तथा सस्ते दाम पर अन्न देने के नियम बनवाकर उसने मिला लिया। इटली के निवासियों को रोम की नागरिकता के अधिकार दिलाने का वादा करके उनकी भी सहानुभूति प्राप्त करने का जब उसने प्रयत्न किया तब उपद्रव होने लगे जिसमें उसका भी वध हो गया (१२३ ई० पू०)। यद्यपि भूमि-सम्बन्धी सुधार कुछ अपने दोषों के तथा विरोध के कारण असफल रहे तथापि जनता में जाग्रति और अपने अधिकारों की चेतना उत्पन्न हो गयी। उसके सिवा, रोमन विधानों के दोषों की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हो गया।

जुगार्था (न्यूमीडिया) के युद्ध में पहली रोमन सेना के सेनापति कान्सल के घूस खा लेने के कारण सेना के विनष्ट हो जाने, उत्तरी इटली में ट्यूटन और गाल जातियों के सफल आक्रमणों, और रोमन सेना की पराजयों के कारण रोम की जनता में बड़ी सनसनी फैली और हंगामा मचा। इस पर जनसभा ने सेनेट द्वारा नियुक्त सेनापति की अवहेलना करके स्वयं मेरिअस नामी एक किसान नागरिक को सेनापति बनाया। मेरिअस ने न्यूमीडिया और इटली के आक्रमणकारियों को परास्त कर शान्त कर दिया। उससे वह ऐसा लोकप्रिय हो गया कि छः बार निरन्तर वह ही कान्सल निर्वाचित हुआ। जनसभा का सेना पर अधिकार स्थापित हो गया और सेना के संगठन तथा प्रबन्ध में ऊँच-नीच का भेद मिटा दिया गया। मेरिअस यद्यपि योग्य सेनापति था किन्तु वह राजनीति-कुशल न था और वह अपने सहयोगी नेताओं तथा अनुयायियों के औद्धत्य का नियन्त्रण न कर सका। रोम में क्रान्ति-कारियों के उपद्रव तथा अनाचार से लोग व्याकुल हो उठे। परिणाम यह हुआ कि उपद्रवियों का दमन करने के लिए मेरिअस को शस्त्र उठाने पड़े और सेनेट ने उन कानूनों को जो आतंक तथा बलप्रयोग द्वारा पास हुए थे रद्द कर दिया।

उपर्युक्त संघर्ष से चार बातें स्पष्ट जान पड़ने लगीं। पहली यह कि कान्सल के चुनाव में सेनापतित्व की योग्यता होना विशेष लक्षण-सा हो गया। दूसरी यह कि रोम के नागरिक इटली वालों को नागरिकता के अधिकार देने के विरुद्ध थे। तीसरी यह कि राजनीतिक सुधार अथवा परिवर्तन के लिए उपद्रव तथा नृशंसता का प्रयोग होने लगा। चौथी यह कि सर्वोपरि शासनिक शक्ति की प्राप्ति के लिए सेनेट और जनसभा में, विद्वेषात्मक, भयंकर और अमर्यादित विग्रह की अनि-

वार्यता स्पष्ट हो गई। गणतन्त्र राज्य के अन्तिम दिनों में उपर्युक्त समस्याओं के अनुकूल अथवा प्रतिकूल सेनापतियों, धनिकों, राजनीतिक व्यवसायियों तथा जनता की दलबन्दियाँ बनती-बिगड़ती रहीं। सेनापति सेला सेनेट का पोषक और मेरिअस जनता का समर्थक था। मेरिअस के बहिष्कृत हो जाने पर सेला ने सेनेट के अधिकार स्थापित कर दिये और जन सभाओं की अवहेलना की। जब वह युद्ध करने के लिए एशियाई कोचक चला गया तब रोम के सेनेट और जन सभा के प्रतिद्वन्दियों में खून खच्चर होने लगा। उस अवसर पर जनसभा के निर्वाचित सेनापति के नाते मेरिअस ने आकर सेनेट के पोषकों का भयंकर वध करा दिया। युद्ध से जब सेला लौटा तब तक मेरिअस मर चुका था। सेला ने अब सभा के पोषकों से और भी भयंकर बदला चुकाया और जनता की सेना को परास्त करके स्वयं डिक्टेटर बन बैठा। उसने सेनेट की शक्ति की पुनः स्थापना की (८२ ई० पू०)।

सेला की मृत्यु के उपरान्त जनसत्ता को एक पोषक मिल गया। यह सुयोग्य और प्रबल सेनापति पाम्पे था। पाम्पे को स्पेन, पूर्वी मध्य सागर और एशियाई कोचक में जो अभूतपूर्व सैनिक सफलताएँ प्राप्त हुईं उनसे उसकी धाक और शक्ति बहुत बढ़ गयी। पाम्पे ने सेला के बनवाये हुए कानून रद्द करा दिये (७०—६९ ई० पू०)। संयोग से पाम्पे का सम-सामयिक जूलिअस सीज़र हुआ, जो मेरिअस का भतीजा था। उसने पाम्पे का पूर्ण रूपेण समर्थन किया। पाम्पे के विदेशों में जाने के कारण रोम में जूलिअस सीज़र नेतृत्व करता रहा और अपनी वाग्मिता से लोक-प्रियता बढ़ाता रहा। उसका एक पेट्रीशियन मित्र था, केटलीनि, जो कान्सल होने के लिए इटली भर में विद्रोह की अग्नि भड़काने का षड्यन्त्र करता था। सिसरो ने, जो अपने युग का सबसे प्रभावशाली वाग्मी और सुशिक्षित नेता था, इन षड्-यन्त्रों को निष्फल कर दिया और अनेक षड्यन्त्रकारियों को प्राणदण्ड देकर शान्ति स्थापित कर दी। उसे घोर सन्देह था कि सीज़र भी उसमें गुप्त रूप से सम्मिलित था। कोई स्पष्ट प्रमाण न मिलने के कारण सीज़र बच गया।

संयोग से पाम्पे उसी समय पूर्व से लौटकर आ गया। आते ही उसने अपनी सेना वितरित कर दी। उसे आशा थी कि उसकी सेवाओं के उपलक्ष में उसके सैनिकों को भूमिदान मिलेगा और राज्यों के साथ उसके किये हुए समझौते स्वीकृत हो जायेंगे। किन्तु सेनेट ने दो वर्ष तक उसके प्रस्तावों को लटका रखा जिससे वह क्षुब्ध हो गया। सीज़र ने उसके प्रस्तावों को स्वीकृत करा देने का आश्वासन देकर उसे मिला लिय और दोनों ने क्रीसस नाम के समृद्धशाली व्यक्ति को भी साथ ले लिया। वह सिसरो

को भी मिलाना चाहता था किन्तु उसमें उसे सफलता न हुई। चुनाव में सीज़र कान्सल हो गया। अपने वायदे के अनुसार उसने पाम्पे की माँगें तथा भूमि सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव सेनेट और जनसभा में रखे। जब उनके पास कराने में अधिक विरोध हुआ तब उसने पाम्पे के सैनिकों को जो रोम में थे, शस्त्रबल के प्रयोग के लिए उत्तेजित किया। आतंक और त्रास दिखाकर यथेष्ट प्रस्ताव पास करा लिये गये। सीज़र ने अनुभव कर लिया कि बिना एक सबल सेना की सहायता के उसका भविष्य अनिश्चित रहेगा। उसने अपने सैनिक नेतृत्व की परख स्पेन में की थी जिससे उसका आत्म-विश्वास बढ़ गया था। उसकी इच्छा पूर्ण हुई जब उसको इलीरिआ और गाल की सूबेदारी मिल गयी।

गाल उस प्रदेश को कहते थे जिसमें आजकल फ्रांस और बेल्जियम सम्मिलित हैं। वहाँ कई जातियों के लोग रहते थे जिनमें केल्ट, लाइजरिअन, जर्मन आदि थे। जिस समय रोमनों से उनका सम्पर्क हुआ उस समय कम से कम पचास कबीले गाल में रहते थे। प्रायः वे आपस में लड़ते और संघर्ष करते रहते थे जिसका सम्भवतः परोक्ष उद्देश्य विशाल संगठन होगा। फलतः अरबर्नी नामक कबीलों के आक्रमणों से पीड़ित होकर मसिलिया (मारसेई) के व्यापारियों ने रोम से सहायता की प्रार्थना की। संयोग से दक्षिणी फ्रांस की ओर रोमनों का ध्यान विशेष रूप से इसलिए आकर्षित हुआ कि कार्थेज के सेनानायक हेनीबाल ने स्पेन से उसी प्रान्त को मझाकर इटली पर आक्रमण किया था। इटली को स्थल मार्ग से स्पेन जाने के लिए दक्षिणी फ्रांस होकर जाना पड़ता था। मेसिलियनों का निमन्त्रण स्वीकार कर रोमनों ने वहाँ सेना भेजी जिसने लाइजूरियन और अरबर्नी कबीलों को हराकर दक्षिणी फ्रांस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया (१२५—१२१ ई० पू०)।

गाल के निवासी असभ्य न थे। यद्यपि साधारण लोग लेखन-कला से अपरिचित थे तथापि उनके धार्मिक नेता अपने कामों में ग्रीक लिपि का प्रयोग करते थे। गाल के निवासी अच्छी और मार्जित भाषा बोलते और वीर काव्य रचते थे। धार्मिक विषयों में उनके नेता ड्रूइड लोग थे जिनका जनता के ऊपर अच्छा प्रभाव था और वे धर्म तथा शान्ति की रक्षा के लिए समझौते से लेकर बहिष्कार, प्राणदण्ड आदि अन्तिम दण्ड तक देने का अधिकार रखते थे। गाल के कुछ कबीलों पर राजे किन्तु अधिकतर सामन्त राज्य करते थे। वहाँ शासनिक संस्थाएँ तथा पदाधिकारी भी काम करते थे। उत्तरी यूरोप और पश्चिमी मध्य सागर तथा स्पेन का व्यापार उनके ही द्वारा अधिकतर होता था। व्यापार जलमार्ग और स्थलमार्ग

से भी होता था। जिसके लिए उन्होंने अच्छी खासी सड़कें बना ली थीं। लोहे के काम में वे स्पेन वालों से कम न थे। कृषिकर्म में तो वे रोम वालों से भी बढ़े-चढ़े थे। गाल देश को प्रकृति ने इटली से अधिक संपन्न और उपजाऊ बनाया था। उनकी सेना, विशेषत: घुड़सवारों के रिसाले, रोम वालों से भी अच्छे थे, साज़-सामान भी अच्छा था। किन्तु अनुशासन और रणकौशल में वे इतने अच्छे न थे।

जिस समय जूलिअस सीज़र सूबेदार (कान्सल) होकर वहाँ गया (५८ ई० पू०) उस समय रोमनों के मित्र एडुई कबीले पर अरबर्नी और सीकानी के कबीले संयुक्त आक्रमण कर रहे थे। आपसी कलह के सिवा दूसरा संकट था सुएवे जाति के खानाबदोशों का जर्मनी की ओर से गाल पर धावों का वेग उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। एडुई कबीले ने रोम से सहायता की प्रार्थना की जिसको जूलियस सीजर ने, जो महत्वाकांक्षी था, प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अपनी सेनाएँ संचालित कर दीं। शीघ्रता से बढ़कर पहले तो उसने एडुई प्रदेश में घुसने वाले हटवेटाई खाना-बदोशों को हराकर पीछे हटा दिया। उसके बाद उसने सुएवी दल के नेता एरिओ-विस्टस को कर्ने के समीप ऐसा परास्त किया कि वे भाग खड़े ही नहीं हुए वरन् उनका दल ही छितर-बितर हो गया। जिससे दीर्घकाल के लिए राइन सीमान्त से आक्रमण की आशंका जाती रही। उसके उपरान्त धीरे-धीरे उसने वैल्जिक, गालिक तथा राइन नदी के आसपास के बचे-खुचे खानाबदोशों का दमन किया। गाल में ही नहीं उसने ब्रिटेन के दक्षिणी पूर्वी तट पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसका सबसे भयंकर और निर्णायिक युद्ध अरबर्नी कबीले के योग्य राजा, कुशल सेनानायक वर्सिंजटोरी से हुआ जिसकी अध्यक्षता में गाल के रोमनों से अस-न्तुष्ट कबीलों ने विद्रोह ठाना। पहले तो सीज़र को गर्गोविआ में हार उठानी पड़ी किन्तु अन्त में एलेसिआ में बुरी तरह से घिरकर वर्सिजटोरी को हथियार रख देने पड़। इस विजय से गाल पर रोमनों का अबाधित आधिपत्य स्थापित हो गया, और जूलियस के सेनापतित्व तथा योग्यता की धाक चारों ओर जम गयी (५१ ई० पू०)। सीज़र ने गाल का दमन उसी नृशंसता, क्रूरता, हत्या और आततायिता के साथ किया जिसके लिए रोमन सारे साम्राज्य में बदनाम थे। सीज़र को अपार धन, सामग्री और सैनिक साधन प्राप्त हो गये जिनकी आवश्यकता उसकी महत्त्वा-कांक्षा की पूर्ति के लिए अनिवार्य थी। उसको यह भी विश्वास हो गया कि रोम का गणराज्य जर्जरित और निःशक्त हो चुका है अतः साम्राज्य के शासन के लिए नये संगठन और विधान की आवश्यकता है तथा उसके लिए वह स्वयं सबसे योग्य और

उपयोगी शासक सेनापति है। उसका सहयोगी क्रीसस पार्थियनों के युद्ध में मर चुका था। अतः पाम्पे ही से उसे अपनी चूल बैठाना शेष रह गया था।

सीज़र की विक्रान्त शक्ति, सैनिक साधनों और महत्वाकांक्षा से घबराकर रोम की सेनेट ने पाम्पे को अपनी रक्षा करने के लिए एकमात्र कान्सल अर्थात् डिक्टेटर निर्वाचित कर दिया। उस नीति के लिए अच्छा बहाना भी इसलिए मिल गया कि रोम में सीज़र के समर्थक क्लाडिअस तथा पाम्पे के समर्थक एनिअस मिलों के गुण्डों ने गदर मचा रखा था और ऐसी अशान्ति फैला दी थी कि लोगों की नाकों में दम आ गया था। उसी मार-पीट में क्लाडिअस मारा गया। इससे क्रुद्ध होकर उसके गुण्डों ने सेनेट तथा अन्य इमारतों में आग लगा दी। पाम्पे और सीज़र में मनोमालिन्य पैदा करने के विविध प्रयत्न किये जाने लगे। सीज़र ने सेनेट से समझौता करने के लिए यह प्रस्ताव किया कि उसकी और पाम्पे की सेनाएँ भग्न और वितरित कर दी जायें किन्तु सेनेट से तदनुकल प्रस्ताव पास हो जाने पर भी विरोधी दल ने पाम्पे को उसके मानने से इन्कार करवा दिया। तदुपरान्त सीज़र को आदेश दिया गया कि वह गाल से रोम वापस आ जाय। इस पर सीज़र ससैन्य लौटा। और रुबिकन नदी पार कर इटली में घुसा। मार्ग में उसने पांच छः प्रस्ताव समझौते के लिए किये जो असफल रहे। संशयात्मा पाम्पे सीज़र के विरोधियों की असहिष्णुता के कारण तथा राजनीतिक अज्ञता के कारण अनायास गृहयुद्ध के आवर्त में फँसता चला गया।

पाम्पे को गाल के सिवा सारे साम्राज्य के साधन प्राप्त थे किन्तु उसके पास तैयार सेना नगण्य थी, वह स्पेन तथा साम्राज्य में इधर-उधर फैली थी। सीज़र के साथ लगभग पचास हजार तैयार और अभ्यस्त सेना थी तथापि वह यथासंभव युद्ध बचाना चाहता था। इसमें उसको इतनी सफलता अवश्य हुई कि केवल सेना-संचालन द्वारा सारी इटली उसके आतंक अथवा सहानुभति से उसके पक्ष में हो गयी। इसके बाद वह रोम पहुँच गया। पाम्पे भी सीज़र से बचकर उसके पहले ही ब्रिण्डि-जिअम और इटली से बाहर सेना एकत्रित करने के लिए चला गया। (४९ ई० पू०) सीज़र को रोम की जनसभा ने डिक्टेटर नियुक्त कर दिया (४८ ई० पू०)।

जहाजों की कमी से सीज़र पाम्पे का पीछा न कर सका। फिर भी यथाप्राप्त साधनों से एड्रिआटिक समुद्र पारकर उसने पाम्पे को फरसेलस के मैदान में परास्त कर (४८ ई० पू०) उसकी सेना तितर-बितर कर दी। पाम्पे भागा किन्तु सीज़र उसका अनवरत पीछा करता हुआ मिस्र पहुँचा। मिस्र में टोलेमी के मन्त्रियों ने

सीज़र के भय से पाम्पे का वध करवा दिया। अनुमानतः सीज़र यदि पाम्पे को पकड़ भी लेता तो उसके साथ वैसा व्यवहार न करता। मिस्र में सीज़र कर वसूल करने तथा वहाँ के राजा बारहवें टोलेमी और उसकी सुविख्यात बहिन क्लिओपेट्रा के झगड़ों को निपटाने के लिए अलेक्जैण्ड्रिया में ठहर गया। वहाँ के महल में उसे टोलेमी के सैनिकों तथा नगर के विद्रोहियों ने कई महीनों तक घेरे रखा। कुछ सैनिकों की सहायता आ जाने पर सीज़र चुपके से अपने सहायकों से जा मिला और युद्ध करके बारहवें टोलेमी को उसने मार डाला। यद्यपि उसका छोटा भाई सहयोगी शासक नियुक्त हुआ किन्तु वास्तविक शासन क्लिओपेट्रा के ही सुपुर्द हुआ।

जेला के युद्ध में मिथ्रेडस महान् के पुत्र फारनेसस को हराकर (४७ ई० पू०) थेप्सस में केटोछोरे को परास्त करके अफ्रीका में (४६ ई० पू०) और पाम्पे के ज्येष्ठ पुत्र को मन्दा में हराकर स्पेन में (४५ ई० पू०), तीन-चार वर्षों के भीतर ही सीज़र ने साम्राज्य के सारे विद्रोहियों का दमन कर शान्ति स्थापित कर दी। यद्यपि उसकी शक्ति अप्रतिहत थी किन्तु वह रोमन संस्थाओं और परम्पराओं का विनाश न चाहता था। यद्यपि वह जीवन भर के लिए डिक्टेटर बना दिया गया था तथापि उसने सम्राट् होने की प्रत्यक्ष कामना कभी न की थी। अपने विरोधियों के प्रति उसने उदारता और क्षमा का ऐसा व्यवहार किया कि लोग उससे चकित ही नहीं हुए वरन् उन्होंने उसकी क्षमा के उपलक्ष में एक मन्दिर की प्रतिष्ठा भी की।

शान्ति-स्थापन के पश्चात् सीज़र ने सुधार और संगठन का कार्य हाथ में लिया। उसके सामने मुख्य चार प्रश्न थे। पहला, रोम के विशाल साम्राज्य की व्यवस्था का संगठन और सुधार तथा सीमाओं को सुदृढ़ बनाने की योजना। दूसरा, रोम नगर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जनसंख्या का नियन्त्रण और नगर के स्वास्थ्य तथा जनता के रहने का प्रबन्ध। तीसरा, बिना लगान बढ़ाए क्षीण राज्य-कोष की पूर्ति। चौथा, सेना को तुष्ट करके आवश्यकतानुसार वितरण।

अपने प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिए साम्राज्य के प्रान्तों का प्रबन्ध उसने एक प्रकार से अपने हाथ में ले लिया। सूबों के प्रमुख शासकों की सेवा की अवधि कम कर दी ताकि वे प्रबल न हो सकें और शासन में अधिक हस्तक्षेप न कर सकें। यद्यपि उस प्रबन्ध से कुछ हानि होने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता तथापि सूबेदार के अधिकारों का कुछ नियन्त्रण कर ही दिया गया। सूबों के लगान और टैक्स कम कर दिये गये और ठेकेदारों द्वारा वसूली कराने की प्रथा हटाकर

वह काम संस्था के सुपुर्द कर दिया गया। वर्ष की गणना के लिए उसने चान्द्र वर्ष की गणना को हटाकर मिस्र की सूर्य गणना का प्रचलन किया जिसका लाभ कृषकों को हुआ यह विधि थोड़े परिवर्तन से आजतक यूरोप और एशिया के अनेक देशों में प्रचलित है। किसानों के लगान की मात्रा भी निश्चित कर दी गई जो पहले से कम थी। कई सूबों को उसने रोम प्रान्त के-से अधिकार दिलाकर उस नवीन नीति का सूत्रपात किया जिससे रोम, इटली तथा अन्य प्रदेशों के सूबों में असमानता का भाव जाता रहा और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध द्वारा ऐक्य की भावना उत्पन्न हुई। इटली के जो निवासी सूबों में जाकर बस गये थे उन्हें अपने पूर्व अधिकारों में प्रतिष्ठित कर दिया गया। इटली तथा रोम वालों को सुविधाएँ देकर सूबों में बसने के लिए उत्साहित किया गया जिससे वहाँ रोमनों की संस्कृति और सभ्यता तथा स्थानीय संस्कृति और सभ्यता में आदान-प्रदान द्वारा सामंजस्य स्थापित हो सके और सूबों में शान्ति तथा शक्ति का अधिक संचार हो। सूबों में स्कूल खोले गये जिनमें शिक्षा देने के लिए रोमन भेजे जाते थे। सूबों की सीमाओं की रक्षा के लिए मर्मस्थानों को सुदृढ़ बनाने की योजनाएँ सीज़र ने स्वयं बनाना आरम्भ कीं।

रोम नगर की जनसंख्या करीब पाँच लाख के हो गयी थी जिससे वहाँ का जनस्वास्थ्य जो पहले से ही अच्छा न था और अधिक खराब हो गया। रहने के लिए ही नहीं, सरकारी कामों तक के लिए स्थान और भवनों का अभाव हो गया। नगर में शान्ति बनाये रखने में कठिनाई का अनुभव होने लगा था। सीज़र की योजना थी कि टाइबर नदी की धारा बदल दी जाय जिससे नगर के बढ़ने की गुंजाइश निकल सके। नगर के मध्य भाग को साफ करवा के वहाँ पर अच्छी और बड़ी इमारतें बनवाने की योजना भी उसने तैयार करायी। समुद्र पार भूमि देकर शहर के अस्सी हजार आदमी वहाँ बसा दिये गये। शान्ति रखने के लिए उसने अपने मनोनीत अफसर नियुक्त किये और धार्मिक तथा व्यापारिक संघों को छोड़कर जितने प्राइवेट क्लब और संस्थाएँ थीं, अवैध करार देकर बन्द कर दी गयी। न्यायालयों में जनता के निर्वाचित न्यायाधीशों की नियुक्ति न करके उनकी जगह निष्पक्ष व्यक्तियों को स्थापित कर दिया गया। क्योंकि जनता उसे अपना नेता मानती थी इसलिए सीजर जनता को प्रसन्न रखना चाहता था, अतः शासनिक आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त प्रबन्ध से वह विमुख न होता था। पिछले आन्दोलनों तथा अनाज की मँहगी के कारण लगभग सवा तीन लाख आदमियों को मुफ्त अनाज बाँटा जाता था। उसने डेढ़ लाख आदमियों को इस सुविधा से वंचित करके मुफ्तखोरों की

संख्या कम कर दी और बाकी लोगों को उपनिवेशों में भेज दिया। नगर में अनाज के अधिकाधिक आयात के लिए एक नया बन्दरगाह बनवाने की योजना कार्यान्वित की जाने लगी। इसके सिवा साधारण लोगों का कर्ज हलका करने के लिए कर्ज की रकम की एकदम माफी न देकर महाजनों से सूद की दर कम करा दी और अदा करने की सुविधा भी दिलवा दी।

राजकोष तथा अपने कोष की पूर्ति तथा इटली के उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए उसने विदेशी माल पर टैक्स फिर से लगा दिये। इसके सिवा उसने अमीरों तथा रोम राज्य के आश्रित राजाओं और नगरों से उनके अधिकारों के एवज में उपहार के तौर पर धन वसूल कर लिया। इस विधि से साढ़े सत्रह करोड़ दीनार राज्यकोष में और ढाई करोड़ अपने कोष में जमा कर दिये।

सेना की तुष्टि का सबसे पहला कारण तो स्वयं उसका विजयपूर्ण और सफल नेतृत्व तथा व्यक्तित्व था। सैनिकों को वह इनाम-इकराम मुक्त हस्त से प्रदान करता और जमीनें और पेंशनें भी दिलवाता था। इसके सिवा उसने सैनिकों का वार्षिक वेतन एक सौ बीस से २२५ दीनार जो लगभग ११२ रुपये के बराबर था, करवा दिया।

यह स्मरण रखना चाहिए कि सीज़र का आधिपत्य केवल पाँच वर्ष तक रहा जिनमें चार वर्ष तो उसे विभिन्न स्थानों पर लड़ने-भिड़ने और विरोधियों का दमन करने में ही व्यतीत हो गये। इस स्वल्पकाल में उसने जो सुधार किये वे उसकी आश्चर्यजनक कर्मठ, प्रेरक तथा प्रबन्ध-शक्ति के देदीप्यमान प्रमाण हैं। वह केवल योद्धा और चतुर, साहसी, धैर्यवान् तथा निर्भीक सेनापति ही न था, वरन् बहुश्रुत तथा विचारशील लेखक तथा वक्ता भी था। उसमें उत्साह, उद्योग, शौर्य, तेज़ और प्रतिभा का अच्छा विकास पाया जाता है। उसके विचार और उसकी योजनाएँ बहुमुखी एवं ऊर्जित थीं। यदि वह अधिक काल तक जीवित रहता तो बहुत कुछ कर जाता और विशेष यश का अर्जन करता।

सीज़र ने सेनेट के सदस्यों की संख्या छः सौ से नौ सौ कर दी थी जिनमें अधिकांश उसी के आदमी थे। सेनेट पर उसका इतना प्रभुत्व हो गया था कि उसके आदेशानुसार ही सेनेट प्रायः कार्य करती थी। उच्च और महत्व के पद या तो रिक्त रहते थे या उनको दिये जाते थे जिनकी वह नियुक्ति चाहता था। उसकी शक्ति और प्रभाव की सेना, जनता तथा सेनेट और शासन में अभिवृद्धि देखकर उसके विरोधी तथा गणतन्त्र में विश्वास करने वाले कुढ़ते-जलते थे। यद्यपि उनकी

संख्या बहुत कम थी और यदि सीज़र चाहता तो उन्हें सरलता से निरस्त कर सकता था तथापि लोकप्रियता तथा आत्म-विश्वास के कारण उसने अंगरक्षक अथवा गुप्तचरों को भी रखना अनावश्यक समझा। षड्यन्त्र की सूचना मिलने तथा हितैषियों के आग्रह करने पर भी उसने अंगरक्षक रखने या सशस्त्र रहने से इन्कार कर दिया। सम्भवत: वह यह सोचता होगा कि लोगों की उस पर अपार श्रद्धा है और राज्य तथा साम्राज्य के श्रेय के लिए उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव लोगों को है विशेषत: जब कि वह रोम के प्रबल विरोधी पार्थियनों से लड़ने के लिए जाने वाला था। अठारह मार्च को रोम से जाने की तिथि निश्चित हो चुकी थी किन्तु पन्द्रह तारीख को षड्यन्त्रकारियों ने, जिनके नेता पाम्पे के अनुयायी केसियस और ब्रूटस, जिनको सीज़र ने क्षमा करके अपना विश्वासपात्र समझ लिया था, तथा ट्रिबोनिअस थे, पचास साठ सेनेट के सदस्यों के साथ निरस्त्र सीज़र पर, जो मीटिंग के लिए एक संलग्न कमरे में प्रतीक्षा कर रहा था, एकाएक आक्रमण करके उसकी हत्या कर डाली (१५ मार्च '४४ ई० पू०)। कहा जाता है कि षड्यन्त्रकारियों का मुख्य उद्देश्य गणराज्य की एक-सम्राट् राज्य से रक्षा करना था। षड्यन्त्रकारी यह न समझ सके कि एक व्यक्ति के निधन से घटनाओं का वह प्रवाह रुक न सकेगा जिसने मेरिअस और सेला के समय से दूसरा पथ ग्रहण कर लिया था और जिसकी तरंग माला ने सीज़र को ऊपर उठाया था।

सीज़र के मरणोपरान्त सत्रह वर्ष तक रोम साम्राज्य में अशान्ति और उथल-पुथल मची रही। सेनेट का अथवा गणतन्त्र राज्य के पुनरुद्धार का प्रश्न, जिसके लिए षड्यन्त्रकारी प्रयत्नशील थे, ओझल हो गया। सेनापतियों और सूबेदारों में सीज़र के उत्तराधिकारी बनने के लिए तुमुल संघर्ष होता रहा जिसमें सैनिकों का तो भयंकर निधन हुआ ही, सेनेट के सैकड़ों सदस्यों और हज़ारों नागरिकों के रक्त से रोम तथा अन्य नगरों की ज़मीन रंग दी गयी। सीज़र के रिक्त स्थान के लिये यों तो कई सेनापति लालायित थे किन्तु उनमें तीन एण्टनी, सेक्स्टस पाम्पे और आक्टेविअस सबसे प्रबल और प्रभावशाली थे। एण्टनी प्रगल्भ वक्ता, कुशल सेनापति और बलवीर्यवान् तथा साहसी व्यक्ति था। वह सीज़र के प्रमुख अनुयायियों में था और उसकी हत्या का बदला लेने पर तुला हुआ था। एण्टनी ने क्लिओपेट्रा से प्रसूत जूलिअस सीज़र के तीन वर्ष के पुत्र को उत्तराधिकारी घोषित कर उसके नाम से कोषादि पर अधिकार कर लिया और उसका प्रतिनिधि बनकर शासन करना आरम्भ कर दिया।

सेक्स्टस पाम्पे बड़े पाम्पे का दीर्घकाय बलवान पुत्र मध्य सागर के जहाजी बेड़े की नौ-सेना का अध्यक्ष था और तीसरा अठारह वर्ष का सीजर का दत्तक पुत्र आक्टेविअस था। नवयुवक होने पर भी महत्त्वाकांक्षा में वह कम न था और चतुरता, नीतिज्ञता तथा कूटनीति में अपने प्रतिद्वन्दियों से बहुत बढ़ा-चढ़ा था।

आक्टेविअस ने एण्टनी और लेपिडस से समझौता करके आपस में अधिकार क्षेत्र बाँट लिए। उनका सबसे पहला काम सीज़र के विरोधी षड्यन्त्रकारियों और उनके समर्थकों का वध करना था। रोम में उन्होंने खून की नदी बहा दी। जिस स्थान पर सीज़र का अग्निदाह हुआ था उस पर एक मन्दिर बनवाकर उसमें सीज़र के देवत्व की प्रतिष्ठा की गई। ब्रूटस और केसिअस ने मेसीडोनिया भागकर सेना एकत्रित की किन्तु उनको फिलिपी के युद्ध में सफलता न हुई। ब्रूटस का वध हुआ और केसिअस ने डरकर आत्महत्या कर ली (४२ ई० पू०)। बेचारा सिसरो जो अपनी योग्यता तथा वाग्मिता के कारण गणतन्त्र राज्य का प्रबल पोषक माना जाता था तलवार के घाट पहले ही उतार दिया गया। आक्टेविअस के सुपुर्द हुआ सेक्स्टस पाम्पे का दमन तथा रोम में रहकर इटली और पश्चिमी प्रान्तों की व्यवस्था। एण्टनी ने पूर्वी प्रदेशों, ग्रीस एशियाई कोचक तथा मिस्र में व्यवस्था स्थापन का काम अपने हाथ में लिया। आक्टेविअस को सौभाग्य से अग्रिपा और मेसिनस नामक दो सुयोग्य और विश्वसनीय मन्त्री मिल गये। उसने शनैः शनैः अपना जहाजी बेड़ा तथा स्थल सेना संगठित कर ली और उसकी शासन-नीति भी लोकप्रिय एवं शान्ति-विधायक सिद्ध हुई। किन्तु एण्टनी पूर्वी प्रान्तों में अपनी विजयों तथा लूट-खसोटों से प्राप्त सम्पत्ति के वैभव में मस्त होकर अपनी प्रियतमा मिस्र की सुन्दरी रानी क्लिओपेट्रा के साथ ऐशोआराम में समय और शक्ति का नाश करता और उपहासास्पद बनता रहा। उसका आक्टेविअस से इसलिए और भी भयंकर संघर्ष हुआ कि उसके बल पर ही क्लिओपेट्रा ने यह दावा किया कि सीज़र से उसकी कोख में जो पुत्र हुआ है उसी को सीज़र का उत्तराधिकारी होना चाहिए। यदि उसकी वह अभिलाषा पूर्ण हो जाती तो उसका आधिपत्य सारे रोम साम्राज्य पर स्थापित हो जाता। इसमें सन्देह नहीं कि क्लिओपेट्रा में अनेक गुणों का समाहार हुआ था। प्रतिभा, वाक्-चातुर्य, नीति, कार्यकौशल कुशाग्र बुद्धि, सतर्कता, प्रबुद्धता, युद्ध-नेतृत्व, अनेक-कला-विलास, आत्मविश्वास, उत्साह, साहस, धीरता आदि गुणों से विभूषित होने पर भी सौन्दर्य, माधुर्य, कोमलता, लालित्य तथा रसज्ञता की उसमें विशेष मात्रा थी। उसकी समानता की गिनी-चुनी कुछ ही स्त्रियाँ इतिहास में मिल सकेंगी।

अपरिमित मात्रा में मद्यपान करने पर भी उससे वह कभी अभिभूत नहीं हुई। उन्हीं गुणों के कारण उसने सीज़र और एण्टनी को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। उनके सिवा उसका अनुराग या संसर्ग अन्य पुरुषों से न था। क्लिओपेट्रा का दावा और एण्टनी जैसे अनुशासनवर्ती सहायक की सहायता आक्टेविअस के लिए घोर चिन्ता के विषय हो गये। अन्ततोगत्वा एग्रिपा के पूर्ण सहयोग और एण्टनी की लापरवाही से आक्टेविअस की जहाजी युद्ध में पूर्ण विजय हुई। अपनी सेना के शत्रु से मिल जाने के कारण तथा अपनी नौ-शक्ति की क्षीणता देखकर और यह झूठी अफवाह सुनकर कि क्लिओपेट्रा की मृत्यु हो गई एण्टनी ने आत्महत्या कर ली (३१ ई० पू०)। उसकी मृत्यु की खबर पाकर क्लिओपेट्रा ने भी आत्मघात कर लिया। वह समझ गयी थी कि आक्टेविअस उसको सह न सकेगा।

रोम (३)

गणतंत्रविडम्बना : सम्राट् शासन

आक्टेविअस (२९ ई० पू०, १४ ई०) का स्वभाव और उसकी नीति अपने धर्म-पिता जूलिअस सीज़र से अनेकानेक अंशों में विभिन्न थी। जूलिअस सामन्तों के-से राजसिक ठाठ-बाट, शान-शौकत, व्यग्रता, चपलता और अनावृत आधिपत्य के प्रदर्शित करने में स्वभावतः निःशंक था। किन्तु आक्टेविअस सरल, साधारण, गंभीर, सावधान, सूक्ष्मदर्शी, गूढ़नीतिज्ञ, मितव्ययी, संयमी, अव्यग्र, शिष्टाचार-प्रिय और परम्परागत विचारों तथा भावनाओं का आदर करनेवाला व्यक्ति था। उसकी रूपरेखा और विचारशैली साधारण रोमन नागरिक की-सी थी। पुरानी परम्पराओं और विश्वासों का समादर करते हुए वह उनको ऐसा संयोजित अथवा व्यवस्थित करना चाहता था जिससे तत्कालीन समस्याओं की पूर्ति हो सके। पुरानी संस्थाओं तथा पदों का परिष्कार करके अथवा उनमें घटा-बढ़ी करके सुपरिचित एवं प्रचलित परिभाषाओं का प्रयोग करते हुए वह उन्हें नये अर्थों तथा उपयोगों से अनुप्राणित करके इष्ट सिद्ध करने में निपुण था। उसके सामने मुख्य प्रश्न थे शान्ति एवं शासनिक क्षमता का संस्थापन, भयापहरण, गणतन्त्र शासन का उद्धार करके उसकी मर्यादा का स्थापन, साम्राज्य के शासन का सुधार और संगठन। रोम के नागरिकों में साम्राज्य के गौरव की चेतना तथा उसके प्रति श्रद्धा और कर्तव्यनिष्ठा जाग्रत करके तदनुकूल विधान-रचना की आवश्यकता सिद्ध करते हुए उनका पथ-प्रदर्शन करना उसका मुख्य ध्येय था।

आक्टेविअस ने शासन के आरम्भ में ही पुराने देवताओं के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवा दिया और परम्परागत पूजाविधि का प्रचलन कर दिया। नवीन देवताओं और आचार्यों का बहिष्कार करवा दिया गया। कुछ वर्षों के बाद उसने उन कानूनों को, जो अवैध प्रतीत हुए, रद्द कर दिया। इसके पश्चात् उसने संस्कार-पूर्वक अपने उन अधिकारों को, जो आपत्तिकाल की तीव्रता के अनुसार अवैध ढंग से ग्रहण कर लिये गये थे, सेनेट और जनता को वापस कर दिया और उनके सदुपयोग के लिए उनको प्रेरणा दी। उसकी विजयों, शान्ति स्थापन की क्षमता, क्षमानीति और अभयदान से सर्वसाधारण जनता पहले ही से प्रभावित थी। अवैध अधिकारों के उसके समर्पण से जनता में विश्वास उत्पन्न हो गया कि वह निःस्वार्थ, निर्लोभ, कर्तव्य-परायण, और निश्छल जन-सेवक हैं। उसकी उदारता, दाक्षिण्य और त्याग तथा सरल जीवन का जनता तथा सेनेट पर ऐसा जादू चला कि वे उसके निर्दिष्ट पथ पर चलना ही श्रेयस्कर समझने लगे। बिना माँगे ही उसको आगस्टस (महा-महिम), प्रिंसेप (प्रमुखाधीश), इम्पेरेटर (महाधिपति) आदि उपाधियों से जनता ने विभूषित कर दिया। उसको दस वर्ष के लिए सर्वाधिपत्य, अखिल सैन्य का सेना-पतित्व, सन्धि-विग्रह के पूर्ण अधिकार, सूबों का प्रमुख निरीक्षण एवं नियन्त्रण और सीरिया, मिस्र, स्पेन, गॉल सूबों की एकमात्र सूबेदारी प्रदान कर दी गयी। इटली तथा रोम के अन्न और जल का सम्भार, पुलिस का शासन तथा जन-पथों का नियन्त्रण भी उसी के सुपुर्द कर दिया गया। रोम राज्य तथा साम्राज्य के सब बड़े अथवा गण्यमान्य पदाधिकारी भी उसकी छत्रछाया में रख दिये गये। सारांश यह कि उसको नाम को छोड़कर व्यवहार में वे सब अधिकार जो सम्राटों के होते थे सवैध मिल गये। केवल इतना भेद अवश्य रह गया कि उसका आधिपत्य वंशानुगत न बनाया गया जिससे उसके पद का चुनाव सेनेट के अधिकार में रहा। प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाचन का अपेक्षी रहना पड़ता था। आक्टेविअस को उपर्युक्त अधिकार एक-साथ न मिलकर धीरे-धीरे बिना सनसनी पैदा किये हुए प्राप्त होते गये।

उस पर श्रद्धा-विश्वास होने के कारण उसके निर्देश के अनुसार सेनेट के सदस्यों की संख्या कम कर दी गयी। अवांछित सदस्य निकाल दिये गये। सेनेट की सदस्यता के चुनाव में उसका हाथ रहता और जिसे वह चाहता निकलवा देता था। यद्यपि वह उच्च कुल-जाति के व्यक्तियों को ही प्रायः सदस्य चुनता तथापि किसी को भी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता उसे थी। यही नहीं, वह जिन विषयों को उठाना या रोकना चाहता था, सेनेट तदनुसार ही करती थी। यद्यपि सेनेट उसकी इच्छाओं और

आदेशों का आदर और पालन करती थी, जिससे यह कहा जा सकता है कि सेनेट ने अपने अधिकार स्वतः खो दिये, तथापि आक्टेविअस द्वारा उसका सम्मान तथा सदस्यों के सामाजिक और आर्थिक लाभों ओर मान-मर्यादा की रक्षा होती रहने के कारण वाह्याडम्बर पूर्ववत् ही कायम रहा। अपनी सामाजिक नीति के अनूकूल आक्टेविअस ने सेनेट के सदस्यों का समाज में सबसे ऊँचा स्थान बनाये रखा।

जन-सभा (असेम्बली) का परिष्कार भी उसने उसी प्रकार कर दिया। राजनीतिक दलों की उन संस्थाओं को, जो उपद्रव खड़ा किया करती थीं, उसने पहले ही बन्द करा दिया था। सभा में जो भ्रष्टाचार और अव्यवस्था फैली हुई थी उसका दमन किया गया। यद्यपि विधान की परम्परा के अनुसार असेम्बली का ही अन्तिम आधिपत्य माना जाता था तथापि व्यवहार में वह आक्टेविअस की इच्छानु-वर्तिनी थी। उसी के नामजद व्यक्तियों को वह मजिस्ट्रेट चुनती और उसके भेजे हुए प्रस्तावों को पास कर देती थी। उसकी नीति ने असे बली का महत्व एक प्रकार से सदा के लिए नष्ट कर दिया।

आक्टेविअस ने ऐसी नीति और परिपाटी का अवलम्बन किया जिससे प्रजा श्रेणी-बद्ध हो गयी। वह रोमन जाति की शुद्धता और रक्त-रक्षा का बड़ा हामी था। यथासाध्य वह वर्णसंकरता का विरोधी और परम्परा का प्रेमी था। पुरानी धार्मिक संस्थाओं, वेषभूषा तथा रहन-सहन के पुनः संस्थापन के लिए वह प्रयत्नशील रहा। पुरानी सामाजिक व्यवस्था को उज्जीवित करके स्थायित्व देने का प्रयत्न करता रहा। रोम तथा इटली की शुद्ध रक्त की जनता को वह राजवंशी मानता और उसको अन्य लोगों अर्थात् प्रान्तीय या विदेशीय लोगों, मुक्त दासों अथवा अन्य दासों से पृथक् एवं श्रेष्ठ स्थान देता था। उसके सामने सरल और उद्यमशील होने का आदर्श रखकर वह उसमें स्फूर्ति, साहस, आत्माभिमान एवं कर्तव्यपरायणता के संचार के लिए प्रयत्न करता रहता था। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में, घर और बाहर, उत्सवों और बाजारों में शिष्टाचार के पालन का वह जनता से सक्रिय आग्रह करता और कानूनों द्वारा उसका प्रवर्तन कराता था। उपर्युक्त सुधारों तथा नियमों का यह प्रभाव पड़ा कि रोम वालों में एकता तथा जातीयता के भाव दृढ़ हो गये। परम्परागत जीवन-विधान में यह क्षमता तो रहती ही है चाहे और कुछ भी दोष क्यों न हों।

महत्त्व के क्रम से प्रजा में सेनेटर, भट, रोम के साधारण जन और मुक्त या अमुक्त दास थे। भटों की श्रेणी आक्टेविअस ने इसलिए प्रतिष्ठित की कि उससे उत्कृष्ट

सैनिकों और नागरिकों का उद्भव, संतुष्टि एवं सम्मान हो सके। उस श्रेणी में स्थान प्रदान करने अथवा उससे बहिष्कृत करने का अधिकार उसने अपने ही हाथ में रखा। उसकी सदस्यता वैयक्तिक जीवन काल के लिए थी न कि वंशानुगत। उनमें से सूबेदार, सम्राट् के उच्च पदाधिकारी तक नियुक्त हो सकते थे। भट श्रेणी सम्राट् की मुखापेक्षिणी और उसकी अनुवर्तिनी रहती थी। प्लीबियन श्रेणी में वे थे जो न तो सेनेटरों में न भटों में ही गिने जा सकते थे। रोम की जनता प्रायः उसमें थी। दासों के लिए अथवा मुक्त दासों के लिए उसमें स्थान न था। आक्टेविअस ने ऐसे कानून बनाये जिनसे लोग अपनी-अपनी श्रेणी में विवाहादि सम्बन्ध करें, उसी की मान-मर्यादा में रहें और उसे अतिक्रमण करने का प्रयत्न न करें। दासों के लिए मुख्य क्षेत्र सेवा और मजदूरी का ही समझा गया।

आक्टेविअस साम्राज्य के अधिकाधिक विस्तार करने के पक्ष में न था। उसकी धारणा थी कि साम्राज्य अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है और उससे आगे बढ़ना अनावश्यक तथा अहितकर होगा। अतः उंसने सीमाप्रान्तों की अत्यन्तावश्यकताएँ सोचकर कम-से-कम प्रदेश साम्राज्य के अन्तर्गत किये। सीमा के समीपस्थ राज्यों अथवा जातियों से यथासम्भव शान्ति विधायक समझौते उसने कर लिये, जिससे दोनों ओर से छेड़-छाड़ रुक गयी। राइन और डेन्यूब नदी को ही यूरोप में उसने साम्राज्य की सीमा निश्चित किया।

सैनिकों की संख्या उसने आधी से भी कम कर दी किन्तु शेष सेना की भरती, सेवाकाल, वेतन तथा अनुशासन के नियमों को परिष्कृत और निश्चित कर दिया। उसके शासन में सेना सम्राट्-भक्त रही। साम्राज्य के बढ़ते हुए खर्च के कारण सूबों पर टैक्स बढ़ा दिये और अधीनस्थ रजवाड़ों से अधिक भेंट ली गयी। वहाँ के निवासियों को कुछ अधिक कर देना स्वीकार था क्योंकि वे अव्यवस्था, रिश्वत, मनमाने करों तथा माँगों से व्यथित हो गये थे।

वृद्धावस्था आने पर उसने टाइबेरिअस को अपना उत्तराधिकारी बनाना निश्चित कर उसकी दीक्षा और मर्यादा को उन्नत करने के यथासम्भव प्रयत्न किये और अपने जीवन काल में ही उसको इस योग्य बना दिया कि वह साम्राज्य का भार वहन कर सके। इकतालीस वर्ष तक सफल शासन करके वह परलोकगामी हुआ (२७ ई० पू०, १४ ई०)।

शान्ति, सुव्यवस्था, राजकोष की सम्पन्नता, प्रान्तों के बढ़ते हुए सम्पर्क तथा ग्रीस, पश्चिमी एशिया और मिस्र की सभ्यता तथा संस्कृति के संसर्ग से रोम में कला

साहित्य, नई भावनाओं और उदार विचारों की अच्छी उन्नति हुई। उसका शासन-काल रोम के इतिहास का 'स्वर्ण युग' माना जाता है।

टाइबेरिअस कुशल सेनानायक था। उसको रोम, इटली तथा प्रान्तों के शासन और समस्याओं का व्यावहारिक अनुभव भी था। किन्तु उसमें कुछ चिन्त्य दोष भी थे जिनके कारण वह सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहा। वह संवरणशील, चुप्पा, अवसन्न, शंकाकुलित और संशयात्मा था। अपने कुल, प्रसूति, शिक्षा-दीक्षा और पराक्रम के कारण उसमें अभिमान की मात्रा इतनी बढ़ गयी थी कि वह साधारण जनों को उपेक्षा और अनादर की दृष्टि से देखता था जिसके कारण वह लोकप्रिय न हो सका। वस्तुतः उससे लोग घबराते, डरते और असन्तुष्ट रहते थे। मितव्ययी होने के कारण जनता को प्रसन्न तथा अनुरक्त रखने वाले कामों, क्रीड़ाओं, उत्सवों, दान-दक्षिणाओं, जनोपयोगी इमारतों आदि के प्रति वह सर्वथा उदासीन रहता था। गृहजनित षडयन्त्रों ने उसके चित्त में उच्चाटन उत्पन्न कर दिया जिससे रोम छोड़कर वह केप्री में रहने लगा। फिर भी उसके समय में शासन में कोई विचारणीय शैथिल्य न होने पाया, यद्यपि पतन के चिन्ह् कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगे थे। उसकी मृत्यु ३७ ई० में हुई।

उसके पश्चात् क्रमशः केलीगुला, क्लाडिअस और नीरो सम्राट हुए किन्तु तीनों निकम्मे, निष्ठुर, निर्दयी, असंयमी सिद्ध हुए। उनके समय में गुलामों, षड्-यन्त्रकारियों, लुटेरों, हत्यारों और आततायियों की धूम रही। उनका समय रोम के इतिहास का लज्जाजनक काल कहा जाता है। उनके समय में व्यवसायहीन, लफंगों, मुफ्तखोरों, गुण्डों और अधम लोगों का बोलबाला रहा।

केलीगुला ने जा-बेजा कर लगाने शुरू कर दिये। उदाहरण के लिए उसने नजराने, गुलामों के क्रय-विक्रय तथा वस्तुओं की बिक्री, और वेश्याओं की विभिन्न केलि तथा सहवास कलाओं पर टैक्स लगाये। वह अपने को देवता मानता था और अपना पुरोहित उसने एक घोड़े को नियुक्त किया। दुर्व्यसनी और व्यभिचारी होने के कारण उन्तीस वर्ष की आयु में ही वह जीर्णशीर्ण हो गया। क्रुद्ध होकर अंगरक्षकों के एक नेता ने उसका वध कर डाला।

क्लाडिअस भी नितान्त निकम्मा निकला। अपने पुत्र नीरो के उत्तराधिकार के छिन जाने के डर से उसकी रानी अग्रिपिना ने उसे जहर देकर मार डाला।

नीरो की शिक्षा ग्रीक साहित्य तथा आचार-शास्त्र में हुई। अग्रिपिना ने उसे दर्शन इसलिए नहीं पढ़वाया कि उससे वह शासन के योग्य न रह जाता। उसको

गद्य पर अच्छा अधिकार था। बोलने और लिखने में उसे अच्छी क्षमता थी। कुछ कविता भी कर लेता था। गाना भी गा लेता था। अन्य कलाएँ भी कुछ-कुछ सीख लीं थीं। व्यायाम, व्यभिचार, तथा भेष बदलकर गुण्डई करने का उसे व्यसन था। उसने टैक्स कम कर दिये। प्राण दण्ड वह लाचारी से ही देता था और क्षमा का पक्षपाती था। नववयस्क होने के कारण शासन की बागडोर उसने अपनी माता अग्रिपिना के सुपुर्द कर दी। फिर लोगों के कहने पर उसने जब शासन अपने हाथ में लेना चाहा तब माता ने उसको नकली पुत्र का अभियोग लगाकर पदच्युत करने की धमकी दी। नीरो ने माता को अन्ततोगत्वा मरवा डाला। उसने एक हसीन गुलाम को आख्ता करवाकर उससे विवाह भी कर लिया। ऐयाशी, फैलसूफी, इमारतों, इनामों में उसने खजाना खाली कर दिया, अमीरों और मन्दिरों का धन लूटा तथा सोने-चाँदी की मूर्तियों को गलवा डाला। इसी के समय में वह भयंकर भूचाल आया जिससे पाम्पिआई नगर धरती में समा गया। आखिरकार उत्तरी गॉल में राजद्रोह की आग सुलगी और स्पेन के सेनापति गेल्वा ने विद्रोह का झण्डा उठाया जिसने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि नीरो को उसके नौकर-चाकरों के सिवा कोई सहायक न मिला। सेनेट ने सुअवसर समझकर नीरो को पदच्युत कर दिया और डण्डों से मार डालने का फैसला दे दिया। उस घोषणा से त्रस्त होकर उसने स्वयं आत्महत्या कर ली (६८ ई०)। नीरो की मृत्यु से सुविख्यात 'जूलिओ क्लाडियन' राज वंश का पतन हो गया।

रोम (४)

सन् ६९ ई० में सम्राट् के आसन के लिए स्पेन, राइन, डेन्यूब, पेनोमिया तथा सीरिया के सेनापतियों में घोर युद्ध होते रहे और भारी रक्तपात हुआ। अन्ततोगत्वा सीरिया के सेनापति फ्लेविअस वेस्पेसिअन को सम्राट् होने का श्रेय प्राप्त हुआ। उसी के उत्तराधिकारी फ्लेविअन वंशी सम्राट् कहे जाते हैं। उपर्युक्त संघर्ष से यह स्पष्ट हो गया कि सम्राट् का चुनाव सेनेट के हाथ में नहीं वरन् सफल सेनापति के हाथ में चला गया। इसके सिवा यह भी सिद्ध हो गया कि सम्राट् का उच्चकुलीन रोमन होना आवश्यक नहीं है, और यह कि उसका वास्तविक निर्वाचन रोम के बाहर से भी हो सकता है। वेस्पेसिअन न तो इटली में ही उत्पन्न हुआ था और न किसी उच्च कुल से ही उसका सम्बन्ध था। वह साधारण राजसेवकों में भरती किया गया था। संघर्ष का महत्त्वपूर्ण दूसरा पक्ष यह था कि प्रत्येक सेनापति ने अपने स्वल्पकालिक

शासन में अपने-अपने प्रान्तों के निवासियों को रोम की नागरिकता प्रदान करा दी थी जिसका अपहरण किसी भी सम्राट् के लिए भयावह होने के कारण अनुचित और अव्यावहारिक हो गया।

वेस्पेसिअन के समय में उपर्युक्त परिवर्तनों के अतिरिक्त यह भी प्रयत्न हुआ कि सम्राट् का चुनाव पुश्तैनी बना दिया जाय। सम्राट् लोग अपने औरस अथवा दत्तक पुत्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर उसे 'सीज़र' की उपाधि से भूषित करके लोक में उसका महत्व प्रतिष्ठित करने लगे थे। विधान शास्त्रियों ने उसे ऐसा रूप दिया जिससे वह पद पुश्तैनी तो हो जाय किन्तु परम्परागत चुनाव का आडम्बर भी कायम रहे। इस दुष्कर प्रयत्न में उन्हे न्यूनाधिक सफलता भी प्राप्त हो गयी। वेस्पेसिअन ने सादगी और मितव्ययिता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने शिक्षा के प्रसार और उपयोगी भवनों के निर्माण करानेमें तथा भूकम्प द्वारा नष्ट नगरों को सहायता प्रदान करने में उदारता दिखायी। गरीबों की सहायता के लिए उसने विशाल देवालयों तथा कोलीसिअम (स्टेडियम) आदि का निर्माण कराया। उनके निर्माण में उसने यन्त्रों का प्रयोग इसलिए मना कर दिया कि जिससे अधिकाधिक आदमियों को श्रम द्वारा जीविकोपार्जन का अवसर मिल सके। आर्थिक स्थिति ज्यों-ज्यों सुधरती गयी, त्यों-त्यों उसने टैक्स कम कर दिये। इस नीति का पालन उसके उत्तराधिकारी न कर सके। शासन का खर्च फिर बढ़ने लगा जिसके लिए डोमीशियन सबसे ज्यादा जिम्मेदार था क्योंकि सेना को सन्तुष्ट रखने के लिए उसने वेतन खर्च तीन सौ से चार सौ दीनार वार्षिक बढ़ा दिया था।

फ़्लेवियन वंश के राज्य काल में पेलेस्टाइन के यहूदियों से घोर युद्ध हुआ और बड़ी कठोरता से उनका दमन किया गया। उनका विशिष्ट देवस्थान जेरुसलम का मन्दिरों सहित विध्वंस कर दिया गया, धर्म-प्रचार अवैध घोषित कर दिया गया और वहाँ के बचे-खुचे लोग गुलाम बना दिये गये। विद्रोह की आग राइन तथा उत्तरी गॉल में भड़की किन्तु वेस्पेसिअन ने उसको भी शान्त कर दिया। ब्रिटेन में वेल्स और स्काटलैण्ड की तराई तक रोमन आधिपत्य स्थापित हो गया। डोमीशियन ने राइन तथा डेन्यूब की सीमाओं को सुदृढ़ बनाकर वहाँ रोमन सेनाएँ नियुक्त कर दीं। फ़रात घाटी तथा एशियाई कोचक को भी संगठित करने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया गया। उन सब प्रयत्नों के कारण सूबों और प्रदेशों में शान्ति स्थापित हुई जिससे वहाँ की प्रजा की आर्थिक दशा भी सँभलने लगी। रोम साम्राज्य में स्थिरता, शान्ति तथा आत्म-विश्वास स्थापित करने के कारण वेस्पेसिअन करीब-करीब

उतना ही लोकप्रिय हो गया जितना आक्टेविअस था। मरणोपरान्त उसको देवत्व की प्रतिष्ठा प्रदान की गयी, किन्तु डोमीशियन के विरुद्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता चाहनेवाले गणतन्त्रवादी षड्यन्त्र करने लगे। उनको कठिन दण्ड भी दिये गये तथापि साजिशें चलती रहीं। अन्ततोगत्वा उसकी रानी डोमीशिया की प्रेरणा से छुरा भोंककर वह मार डाला गया। सेनेट के प्रस्ताव से डोमीशियन का नामोनिशान सब स्मारकों से हटा दिया गया।

सेनेट ने नर्वा नामक एक प्रसिद्ध कानूनदां को सम्राट् नियुक्त किया। वह सेनेट का आदर करता था। इटली की जनसंख्या तथा खेती की उन्नति के लिए उसने विशेष ध्यान दिया। यद्यपि वह शासन-विधान और कला में निपुण था तथापि वयोवृद्ध होने तथा युद्धकला से अनभिज्ञ होने के कारण उसको कठिनाइयों का अनुभव होने लगा। अत: उसने उत्तरी जर्मनी के सेनापति ट्रेजन को अपना उत्तराधिकारी एवं सहयोगी नियुक्त कर दिया। संयोग से नर्वा तथा उसके पश्चात् के दो सम्राटों के कोई सन्तान न थी जो अधिकार के लिए लड़ती-भिड़ती अत: उन सम्राटों को अपना उत्तराधिकारी चुनने में स्वतन्त्रता रही, जिसका उन्होंने अच्छा उपयोग किया, और चुनाव की अच्छी परिपाटी का प्रचलन कर दिया। नर्वा तो दो ही वर्ष तक राज्य कर सका किन्तु उसकी मृत्यु के बाद क्रमश: ट्रेजन, हेड्रियन, एण्टोनियस, ऑरिलियस सम्राट् हुए। वे सभी योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति सिद्ध हुए जिनके शासनकाल 'पंच शुभगुणी शासकों का युग' नाम से रोम के इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

ट्रेजन

उपर्युक्त युग में सैनिक उत्कर्ष तथा साम्राज्य-व्यवस्था के कारण ट्रेजन का स्थान ऊँचा है। वह अपनी सहनशीलता, शिष्टाचार और शौर्य, शिक्षा तथा विज्ञान के संरक्षण और संवर्द्धन, लोकोपयोगी रचनात्मक कार्यों—जैसे सड़कों, इमारतों, घाटों, पुलों, विजय स्तम्भों आदि के निर्माण के कारण लोकप्रिय हो गया। साम्राज्य को दृढ़ और व्यवस्थित बनाने के लिए उसने रोमनों में रण-प्रियता और विजयकामना को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया। 'सदा उद्यत दण्ड' वाली नीति का अवलम्बन कर उसे साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने का श्रेष्ठतम उपाय उसने मान लिया। तदनुसार साम्राज्य के सीमा प्रान्तों के आस-पास के राज्यों अथवा कबीलों पर आक्रमण कर उनका दमन करने में वह लग गया। डेन्यूब नदी के निचले प्रान्तों में डेशिया नाम का एक प्रान्त था। वहाँ के तथा आसपास के रहने वालों ने संघ बनाकर डेसि-

बेलस नामक एक कुशल योद्धा को अपना नेता नियुक्त किया था। उसके नेतृत्व में रोम राज्य के निकटस्थ सूबों पर वे आक्रमण करने लगे। यद्यपि कई बार रोमन सेना ने उनको दबाने के प्रयत्न किये किन्तु यथेष्ट सफलता प्राप्त न हुई। आखिर लाचार होकर सम्राट् डोमिशियन ने उनको शान्त रखने के लिए निश्चित वार्षिक रकम देना स्वीकार कर लिया। सम्राट् होने पर ट्रेजन ने रकम देना बन्द कर दिया और उन पर चढ़ाई कर दी। डेसिबेलस को परास्त करके उसके गढ़ विध्वंस कर दिये। भारी मशीनें और अस्त्र छीन लिये और डेशिया में अपने गढ़ बनवाकर उनमें रोमन सैनिक नियुक्त कर दिये। इस निष्ठुर नीति से डेशिया के कबीलों में असन्तोष की आग सुलगती रही। अन्ततोगत्वा ट्रेजन को उन कबीलों के प्रान्त को जीतकर साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेना पड़ा (१०६ ई०)। ट्रेजन ने ईसाई धर्मावलम्बियों के प्रति उदार और सहिष्णु नीति का पालन किया। यह स्मरण रखना चाहिए कि ईसाइयों के सिद्धान्त उन सिद्धान्तों के अनुकूल न थे जिन पर रोम का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक जीवन अवलम्बित था।

ट्रेजन ने दमिश्क और लाल सागर के बीच रहने वाले कबीलों को परास्त कर उनके प्रदेशों को भी साम्राज्य में मिला लिया जिससे मेसोपटेमिया और लाल सागर के बीच के व्यापार मार्ग रोम के अधिकार में आ गये। उसी प्रकार पार्थिया के आधिपत्य से आरमीनिया छीनकर रोम का प्रान्त बना लिया गया। ट्रेजन की नीति पश्चिमी एशिया में असफल हुई क्योंकि वहाँ की जातियाँ और कबीले अवसर मिलते ही विद्रोह करते रहे। वह उनसे लड़ते-लड़ते थक गया। अपने प्रमुख सेनापति हेड्रियन को वहाँ की समस्या सुपुर्द कर वह लौट पड़ा किन्तु मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गयी (११७ ई०)।

हेड्रियन

यह भी स्पेन का निवासी था। ग्रीक और लैटिन साहित्य का उसने अच्छा अध्ययन किया था, किन्तु गणित, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, शासन और कानून में उसकी विशेष अभिरुचि थी। वह अच्छा कवि, प्रौढ़ गद्य-लेखक, कुशल चित्रकार तथा संगीत विद्या एवं कला में निपुण था। उसकी मेधा शक्ति विलक्षण थी। उसकी योग्यता और युद्ध तथा शासन की विलक्षणता का लोहा सभी मानते थे तथापि उसके व्यवहार से बहुत लोग उसके प्रतिकूल अथवा शत्रु हो गये थे। वीर एवं रणकुशल होते हुए भी वह शान्तिप्रिय था। उत्तम किन्तु व्यावहारिक नीति तथा सुव्यवस्थित

शासन द्वारा वह शान्ति स्थापन करना चाहता था। साम्राज्य की सीमाओं की रक्षा करना नितान्त आवश्यक था। अतएव उसने ट्रेजन द्वारा जीते हुए प्रान्तों का उतना ही भाग साम्राज्य के अन्तर्गत रखा जितना कि रक्षा के लिए तथा अन्य राज्यों से युद्ध-निवारण के लिए आवश्यक समझा। साम्राज्य को दूसरे राज्य से पृथक् करने के लिए उसने लकड़ी की सरहद खिंचवा दी। मेसोपटेमिया और आरमीनिया से उसने फौजें हटा लीं। प्रादेशिक शान्ति रखने के लिये उसने कहीं उपनिवेश और कहीं सैनिक दल स्थापित कर दिये। उसकी नीति का फल यह हुआ कि अधिक काल तक साम्राज्य में शान्ति रही। साम्राज्य के शासन का भार रोम नगर अथवा इटली के ऊपर न छोड़ उसने साम्राज्य के केन्द्रीय शासन के ही ऊपर रखा। सैनिक शासन और नौकरियों को उसने साधारण शासन से पृथक् कर दिया। कानूनों का विधिवत् संकलन कराके शासनयन्त्र को व्यवस्थित कर दिया। न्यायालयों के लिए सावधानतापूर्वक न्यायाधीशों का चुनाव किया। प्रदेशों में भी शासन तथा न्याय के विधानों को स्थिर करके प्रान्तीय शासन तथा केन्द्रीय शासन के परस्पर सम्बन्धों को निर्धारित कर दिया। अपने विधानों को सुव्यवहृत करने, साम्राज्य की समस्याओं को समझने तथा सम्राट् का प्रभाव स्थापित करने एवं परस्पर का सम्बन्ध घनिष्ट करने के लिए उसने साम्राज्य में दौरे किये। सेना की उचित शिक्षा और अभ्यास के लिये भी उसने कुछ सुधार किये। विद्रोहों के दमन करने में उसने कठोरता का प्रदर्शन किया। उसके सुधारों तथा निर्माण-कार्यों से प्रेरित होकर उसकी रानी सेवाइना ने भी स्त्रियों की एक संस्था स्थापित की जो स्त्रियों में शिष्टाचार, सामाजिक पद तथा वेषभूषा का नियन्त्रण करती थी। साम्राज्य का उत्तराधिकारी उसने एक प्रमुख सेनेटर आरिलिअस एण्टोनिअस को बना दिया। एण्टोनिअस वृद्ध और शान्तिप्रिय था। हेण्ड्रिअन ने अपने ही जीवनकाल में एण्टोनिअस के आग्रह से उसके भतीजे मार्कस आरिलियस को उत्तराधिकारी नियुक्त करवा दिया। एण्टोनिअस ने यथाशक्ति हेड्रिअन की नीति का पालन किया और वह सेनेट के आदर का पात्र बना रहा।

मार्कस आरिलिअस (१६१-१८० ई०)

मार्कस आरिलिअस सुशिक्षित विद्वान्, विवेकशील विचारक, दार्शनिक, संयमी, सदाचारी और सरल जीवन का प्रेमी पुरुष था। वह विचार-स्वातन्त्र्य तथा नागरिकों के समान अधिकार के पक्ष में था। प्रजा ने उसका सादर स्वागत किया।

गरीबों को सहायता देने, दान देने, करों को माफ करने में उसे अधिक संकोच न होता था चाहे उससे राज्य-कोष का नुकसान ही क्यों न हो। अत्याचार, अपव्यय तथा भ्रष्टाचार को रोकने के लिये उसने कई सुधार किये।

मार्कस के सहयोगी शासक (रिजेण्ट) लूसिअस ने उसकी नीति और निर्णयों का सदा समर्थन किया। आठ वर्ष के बाद लूसिअस की मृत्यु हो गयी जिससे साम्राज्य का कुल बोझ मार्कस पर आ गिरा। उसकी शान्तिप्रिय नीति को निर्बलता का द्योतक मानकर साम्राज्य के द्रोहियों ने, विशेषत: सीमान्त के युद्धप्रिय कबीलों और राज्यों ने, आक्रमण करना शुरू कर दिया। यद्यपि रोमनों ने पार्थियनों के आक्रमणों को निरस्त कर उन्हें पीछे हटा दिया किन्तु वहाँ से वे प्लेग (महामारी) का भयंकर रोग ले आये जिससे सीरिया से गॉल तक असंख्य प्रजा की मृत्यु और विनाश हुआ। उसके सिवा डेन्यूब नदी के उस पार के भ्रमणशील, असंस्कृत किन्तु लड़ाकू कबीलों ने आक्रमण शुरू किये। सम्भव है कि इन कबीलों पर उनसे भी पीछे रहने वाले कबीलों ने इतना दबाव डाला हो कि वे आगे बढ़ने पर मजबूर हुए हों। जो कुछ हो, उनके आक्रमणों से साम्राज्य के लिए भयंकर संकट उठ खड़ा हुआ। लाचार होकर मार्कस को साम्राज्य की मर्यादा ही नहीं वरन् इटली की रक्षा के लिए युद्ध छेड़ना पड़ा। युद्ध तेरह वर्ष तक चलता रहा। उसी के बीच केसिअस ने विद्रोह की आग भड़कायी जिससे और भी उलझन पैदा हो गयी। यद्यपि केसिअस के विद्रोह का दमन कर दिया गया किन्तु उसके कारण उपर्युक्त कबीलों को पूर्ण रूप से परास्त करने में अड़चन पैदा हो गयी। कठिनाइयों को तीव्रतर बनाने के लिए अतिवृष्टि ने अकाल फैला दिया। अनेक आपत्तियों के आ जाने से साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था डगमगाने लगी। ऐसी दशा में नये कर लगाना अनुचित एवं असम्भव समझकर सम्राट् को राज्य की इमारतें, जवाहरात, कलात्मक मूर्तियाँ, सजावट के सामान, यहाँ तक कि कपड़े भी बेचकर युद्ध के लिए धन एकत्रित करना पड़ा। यही नहीं, लाचार होकर उसको आक्रमणकारियों से सन्धि करनी पड़ी जिससे कुछ समय के लिए सीमाओं पर शान्ति रही। किन्तु बर्बरों को अनुभव हो गया कि रोमन सेना अजेय नहीं जिससे उसका आतंक क्षीण होने लगा।

मार्कस का गार्हस्थ्य जीवन भी चिन्ताजनक रहा। संयम, दिन में एक बार स्वल्प भोजन तथा मानसिक चिन्ताओं के कारण वह अपनी रूपवती किन्तु चंचल स्वभाव की विनोदप्रिय स्त्री को यथेष्ट समय और ध्यान न दे पाता था। लोग तरह-तरह की झूठी-सच्ची बातें कहने और व्यंग्यात्मक तथा उपहासजनक लेख और

रचनाएँ लिखने तथा सुनने-सुनाने लगे। यद्यपि रोम के अनेक सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित सेनानियों तथा सम्राटों के सम्बन्ध में ऐसी ही बातें प्रचलित हुईं और होती रहीं किन्तु अधिक कोमलचित्त होने के कारण वह व्यथित हो जाता था।

मार्कस ने एक भयंकर भूल की जब उसने अपने पुत्र कमोडिअस को उपना उत्तराधिकारी बनाया। हट्टा-कट्टा, लापरवाह नवयुवक कमोडिअस खेलकूद, कुश्ती, शिकार, शराब, जुआ और स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक भोग-विलास में मस्त रहता था। उसे स्त्री-रूप बनाकर तदनुकूल व्यवहार-प्रदर्शन का भी शौक था। निर्दयता के दृश्यों से उसका मनोविनोद होता था। सारांश यह कि वह विलक्षण नर-पशु था।

एण्टोनाइन वंश का अन्तिम सुयोग्य, कर्मठ और प्रतापी सम्राट् मार्कस था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उस वंश का ह्रास होता चला गया।

कमोडिअस (१८०-१९२ ई०)

साम्राज्य की आर्थिक अव्यवस्था, रोग तथा दुर्भिक्ष, सेना के आतंक तथा बरसों के निरन्तर युद्धों से प्रजा के बल के ह्रास एवं स्वयं अपनी नैतिक दुर्बलता के कारण कमोडिअस ने शत्रुओं से सन्धियाँ करके उन्हें शान्त रखना श्रेयस्कर समझा। इसके सिवा सीमा-प्रान्तों के शासन को भी संगठित करने का उसने कुछ प्रयत्न किया। किन्तु अपने क्रूर स्वभाव, निर्दयता, भ्रष्टाचार एवं व्यभिचार के कारण उसका लोकप्रिय होना असम्भव-सा हो गया। वह पदों और अधिकारों को बेचता था जिससे योग्य तथा मर्यादाशील व्यक्तियों की अवहेलना होती थी। स्वयं वह अपने रनिवास में, जहाँ सैकड़ों सुन्दरियाँ उसने एकत्रित कर रखी थीं, भोग-विलास में फँसा रहता था। परिणाम यह हुआ कि षड्यन्त्रकारियों ने, जिसमें उसकी बहिन और एक प्रेयसी भी शामिल थी, उसका वध कर डाला। उसके वध से सेनाशाही का आरम्भ माना जाता है। सेनेट द्वारा निर्वाचित और अभिषिक्त सम्राट् हेल्किअस का भी प्रिटोरियन गार्ड्स दल के सिपाहियों ने वध कर डाला और जूलिएनस नामक एक धनाढ्य व्यक्ति से प्रति सिपाही सवा छः हजार ड्राश्म घूस लेकर उसे सम्राट् बना दिया। यह समाचार फैलते ही साम्राज्य के चार प्रमुख सेनापतियों ने यह नारा उठाया कि सम्राट् के पद का क्रय-विक्रय सर्वथा असह्य और दण्डनीय है। ब्रिटेन, पेनोनिआ, सीरिया आदि के सेनापतियों ने हथियार उठा लिये। भयंकर जंग छिड़

गया। अपने प्रतिद्वन्दियों को अपनी ओर मिला कर या उन्हें हराकर सेप्टिमस सेवेरस सम्राट् हो गया।

सेप्टिमस सेवेरस (१९३-२११ ई०)

अफ्रीका में फोनीशियनों तथा ईसाइयों के बीच उसका पालन-पोषण हुआ था। एथेन्स में उसने साहित्य तथा दर्शन का अध्ययन किया था। उसे कवियों और दार्शनिकों को अपनी गोष्ठियों में रखने का शौक था किन्तु उनके संसर्ग से उसके साहस, शौर्य और क्षात्र धर्म में विकार या दुर्बलता न आ पायी। डील-डौल में पुष्ट तथा वीर एवं चतुर सेनानी होते हुए भी वह सरल जीवन और रहन-सहन की सादगी का प्रेमी था। उसने सम्राट् के गार्ड (अंगरक्षक) दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। प्रिटोरिअन गार्ड का चुनाव इटेलियनों में से ही हुआ करता था किन्तु नये सम्राट् ने वह परिपाटी तोड़कर विभिन्न प्रान्तों के सिपाहियों को उत्तरोत्तर भरती करना शुरू कर दिया। उद्दण्ड व्यक्तियों तथा सेनेट के बीसों उपद्रवी सदस्यों का भी वध उसने करवा डाला। इसके सिवा बहुत बड़ी सम्पत्ति वाले कुलीनों की जायदादें भी उसने जब्त कर लीं। उसकी शक्ति का रहस्य उसकी आज्ञानुवर्तिनी सेना थी जिसको उसने वेतन बढ़ा-बढ़ाकर और अच्छे-अच्छे पदों पर नियुक्त करके सन्तुष्ट कर रखा था। जिन सैनिकों की नियुक्ति प्रान्तों में होती उनको वहाँ विवाह करने को उत्साहित किया जाता। परिणाम यह हुआ कि उनकी सन्तति रोम साम्राज्य की संस्कृति, व्यापार और हित साधन में स्वाभाविक दिलचस्पी लेती और सीमाओं की रक्षा में दत्तचित्त रहती थी। सबसे विलक्षण सुधार सैनिक शिक्षा को अनिवार्य बनाकर भी इटेलियनों को उससे वंचित रखना था। इस नीति का यह परिणाम हुआ कि भविष्य में प्रान्तीय सेना ही सम्राट् के चुनाव के लिए समर्थ हो सकी। रोम में उसने प्रान्तीय सेना के कई लीजन्स लाकर जमा दिये जिससे रोमनों पर आतंक छाया रहे।

रोम साम्राज्य में टैक्सों की इतनी वृद्धि हो गयी थी कि लोग टैक्स लेने वालों की सूरत देखकर भागते और मुँह चुराते थे। इसके सिवा रोम के द्वारा नियुक्त नौकरों अथवा ठेकेदारों को स्थानिक प्रजा के साथ सहानुभति नहीं हो सकती थी, जिसका दुष्परिणाम यह भी हुआ था कि लोग रोमनों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। इन सब कठिनाइयों को समझकर सम्राट् ने टैक्स वसूल करने की जिम्मेदारी म्युनिसिपल सभाओं को दे दी और उनको यह आदेश दिया कि समाज के नानबाई, तेली आदि अत्यावश्यक सेवकों पर टैक्स न लगावें।

सेप्टिमस ने 'इम्पेरेटर' की उपाधि धारण की जो रोमनों के लिए एक नयी पदवी थी उससे एशियाई और मिस्री सम्राट् की ध्वनि आती थी। वह एक नये युग की सूचना-सी बन गयी। सैन्य बल शासन का आधार और स्वच्छन्द सम्राट् साम्राज्य का सर्वेसर्वा बन गये।

सेप्टिमस की महारानी जूलिआ जो एक धनाढ्य पुरोहित की पुत्री थी, अपने रूप और लावण्य के लिए विख्यात थी। सम्राट् राजनीतिक उलझनों में फंसा था पर वह एक संस्था का संचालन कर रही थी जिसमें साहित्य और कलाओं के प्रेमी तथा कलाकार एकत्रित होते और विचार-विनिमय करते थे। महारानी उनके उत्साह का उन्मुक्त संवर्धन करती थी। उसके व्यक्तित्व का प्रभाव सेप्टिमस के विचारों और व्यवहारों पर भी दिखाई पड़ने लगा। अपने पुत्रों को सम्राट् ने यह उपदेश दिया कि सेना को यदि सन्तुष्ट रखा जाय तो फिर किसी की भी चिन्ता करना अनावश्यक है।

केरकेला (२११-२१७ ई०)

सेप्टिमस का पुत्र मारकस एमेलिअस, जो केरकेला के नाम से विख्यात है, सम्राट् हुआ। साझीदार होने के भय से उसने अपने छोटे भाई का वध करा दिया और उसके सहायकों को भी हजारों की संख्या में तलवार के घाट उतार दिया। केरकेला भी एक विलक्षण जीव था। साधारण शासन का भार तो उसने अपनी माँ के हाथ में छोड़ दिया और स्वयं सैनिकों, द्वन्द युद्ध करने वालों और गरीबों के साथ मिलता-जुलता रहता था। उसे शिकार और शेर से अकेले लड़ने का व्यसन था। उसके भोजन के समय मेज के पास सिंह बैठा रहता। एक सिंह उसके पलंग पर भी बैठा रहता था। युद्ध करना उसे प्रिय था किन्तु बल के बदले छल से काम चलता हो तो वह उसका निस्संकोच प्रयोग कर डालता था। धोखा देकर उसने आरमीनिया के राजा और राजकुमारों को कैद कर लिया। उसका सबसे निर्दयतापूर्ण और घृणित काम था अलेक्जैण्ड्रिया के युवकों को सेना में भरती करने के बहाने बुलाकर सबका वध करवा देना। सरकस के खेलों का उसे इतना व्यसन था कि उन पर वह अपार धन व्यय करता रहा और सैनिकों का वेतन भी ड्योढ़ा कर दिया। रोम का सबसे बड़ा स्नानागार बनवाने में भी उसने खूब धन लगाया। उसकी बड़ी उत्कट आकांक्षा महान् अलेक्जैण्डर के समान विजयी होने की थी। मनसूबों तथा व्यसनों में धन का अपव्यय करने से राज्य-कोष खाली हो गया। उसकी पूर्ति के लिए उसने ऐसा

ढंग निकाला जिससे साम्राज्य की नीति में बड़े मार्के का परिवर्तन हो गया और जिसका प्रभाव विस्मयजनक हुआ। उसने साम्राज्य की सब स्वतन्त्र प्रजा को रोमनों के-से नागरिक अधिकार प्रदान कर दिये (२१२ ई०)। यद्यपि क्लाडिअस के समय से ही इस विचारधारा का कुछ कुछ विकास हो रहा था किन्तु उसको निर्भयता के साथ पूर्ण करने का श्रेय केरकेला को ही प्राप्त हुआ। उसकी नीति का एक परिणाम तो यह हुआ कि साम्राज्य में रोमनों का विशिष्ट महत्व न रहा। दूसरा यह कि प्रान्तीय प्रजा का राजनैतिक स्तर रोमनों के समान हो जाने के कारण साम्राज्य में उनको समान अधिकार प्राप्त हुए जिससे उनमें आत्माभिमान की वृद्धि हुई। किन्तु सम्राट् को तात्कालिक लाभ यह हुआ कि प्रान्तीय प्रजा पर वे विशिष्ट कर लग गये जिनसे अभी तक वह मुक्त थी। इसीलिए यह शंका की जाती है कि केरकेला इस कार्य में किसी उच्च आदर्श से प्रेरित नहीं था बल्कि अपने रिक्त कोष की आमदनी बढ़ाने के लिए ही उसने एक स्थायी साधन प्रचलित किया था। उस आर्थिक ध्येय को सामने रखकर उसने प्रचलित सिक्कों का मूल्य तो पूर्ववत् रखा किन्तु उनके चाँदी-सोने में अन्य सस्ती धातुएँ मिलाकर उन्हें भ्रष्ट कर दिया। उसके व्यवहार से क्षुब्ध होकर एक प्रिटोरियन गार्ड ने उसका वध कर डाला (२१७ ई०)। और चौदह महीने तक सिंहासन सेवरस वंश के हाथ से निकला रहा। केरकेला की सुन्दरी महारानी जूलिया डोम्ना ने निर्वासित दशा में निराहार रहकर प्राण त्याग दिये।

जूलिया डोम्ना की बहन जूलिआ मेइसा बड़ी योग्य और चतुर स्त्री थी। उसके प्रयत्न से फिर सेवरस वंश का एलागेबेल्स नामक चौदह वर्ष का राजकुमार सिंहासन पर बिठाया गया। सेवेरिअस एविटस बेसिएक्स सीरिया के सूर्यदेवता के मन्दिर में पुजारी था। शायद इसीलिए वह एलागेबेल्स के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह स्वयं रूपवान् भी था और अपना स्थान देवता जुपिटर से भी ऊँचा समझता था। उसी धारणा के साथ-साथ वह हिराक्लस की पत्नी होने की कल्पना करता और तदनुकूल व्यवहार भी करता था। उसके अदम्य व्यभिचार और दुर्व्यसनों के कारण हिंसाप्रिय तथा भोग-विलास-प्रिय रोमन भी हैरान थे। कहा जाता है कि सम्भवतः रोम का कोई भी सम्राट् या सेनानायक व्यभिचार और दुर्व्यसन में उसकी समता नहीं कर सका। सनक में आकर अपने विवाह के अवसर पर उसने बेहिसाब सौगातें बाँटीं और एम्फीथियेटर के खेलों में अगणित पशुओं का, जिनमें ५१ व्याघ्र तथा एक हाथी भी था, वीभत्सता के साध वध करवाया। वह अकारण अनेक मनुष्यों को मरवा डालता था। उसके दो कामों से रोमनों को विशेष क्षोभ और क्रोध उत्पन्न

हुआ। पहला यह कि उसने वेस्टल वर्जिन (देव कुमारी) से बलात् विवाह कर लिया, और दूसरा यह कि जुपिटर के मन्दिर से भी विशाल मन्दिर बनवाकर बड़े समारोह के साथ 'एलागेबेलस (सूर्य देवता)'को उसमें प्रतिष्ठित किया। फिर अपने एलागे-बेलस का बड़े धूमधाम से कार्थेज की देवी यूरेनिआ से व्याह करवाया। मन्दिर और व्याह से सीरिया और अफ्रीका के सैनिकों और लोगों को चाहे जितना सन्तोष और आनन्द प्राप्त हुआ हो किन्तु रोमनों को बड़ी वेदना हुई। चार वर्ष भी राज्य के पूरे न हो पाये थे कि प्रिटोरियन गार्ड ने उसका वध कर डाला।

एलागेबेलस तो निकम्मा था किन्तु उसकी नानी जूलिआ मेइसा अद्भुत प्रतिभाशालिनी, योग्य तथा कार्यकुशल थी। कहा जाता है कि उसका स्थान रानी एग्रिपिना से भी ऊँचा था। सम्भवतः वह प्रथम स्त्री थी जिसने सेनेट की बहसों में भाग लिया और जिसकी सम्मति ध्यानपूर्वक सुनी जाती थी। नये सम्राट् अले-क्ज़ेण्डर की अवस्था सिहासनारूढ़ होने पर केवल चौदह वर्ष की थी अतएव साम्राज्य के शासन और नियन्त्रण का भार राजमातामही प्रतिनिधि की हैसियत से वहन करती थी। उसकी नीति सेवेरस और केरकेला से भिन्न थी। केवल सेना के बल पर अवलम्बित रहना उसे श्रेयस्कर प्रतीत न हुआ। अतएव उसने सेनेट के सम्मान का पुनः स्थापन तथा शासन को सेना के हाथों से नागरिकों के हाथों में सौंप देने का कुशल प्रयास किया। उसकी अध्यक्षता में बारह वर्ष तक ऐसी शान्ति और ऐसा सुन्दर शासन रहा कि उसके युग को परवर्ती लेखक 'स्वर्णयुग' कहने लगे। उसकी नीति-कुशलता, शान्ति तथा न्याय-प्रियता, धार्मिक उदारता, प्रजा के प्रति सहानुभूति के कारण सीमाओं के दोनों ओर शान्ति रही जिससे व्यापार तथा आर्थिक संगठन में उन्नति हुई। कला-कौशल तथा शिक्षा-प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया गया और प्रजा के भरण-पोषण में सुरुचि तथा सहानुभूति से काम हुआ। शिक्षकों और विद्वानों का आदर-सम्मान बढ़ गया। जिमींदारों के कर भी घटा दिये गये जिससे उनकी दशा भी सुधरने लगी। उपर्युक्त नीति से शासन का खर्च बढ़ गया तथापि राजकोष उसे झेल ले गया। राज-दरबार के खर्च में जहाँ तक किफायत हो सकी वह की गयी, जिससे साम्राज्य का कोष खाली न होने पाया। राजमाता ने अलेक्जेण्डर को बुरी संगति से दूर रखकर उसके आचार-विचारों को शिष्ट और पुष्ट बना दिया। उसकी शिक्षा और दीक्षा बड़े सुन्दर ढंग से की गयी। उसके आचरण शुद्ध और सरल थे। उसको परामर्श देने के लिए राजमाता ने सोलह सुशिक्षित और आदरणीय सज्जनों की एक समिति बना दी।

साम्राज्य में बारह वर्ष तक शान्ति रही किन्तु सेना की बेकारी और व्यवस्थित शासन प्रजा को कम रुचिकर प्रतीत होने लगा। यद्यपि साम्राज्य की धाक बँध गई थी और नीति सफल होने लगी थी तथापि सैनिकगण तथा रणप्रिय नेता मन ही मन संघर्ष चाहते थे। संयोग से वैसा अवसर भी आ गया। फारस का सासानी राजवंश दिनोदिन संगठित और बलशाली होता जा रहा था। अनुश्रुति के अनुसार सासानी वंश का अभ्युदय अनाहिता के मन्दिर के विशिष्ट अधिकारियों से आरम्भ हुआ। उक्त वंश के पपक नामक व्यक्ति ने किसी प्रान्तीय सरदार की पुत्री से विवाह करके आखिरकार अधिकार भी छीन लिया (२०३ ई०)। उसके पार्थियन अधिपति ने अधिकार-परिवर्तन को अस्वीकृत कर दिया। इस पर राजा और सरदार पपक का संघर्ष आरम्भ हुआ। उस संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि ईरान, विशेषतः फारस, में विप्लव-सा उठ खड़ा हुआ। पपक की मृत्यु के उपरान्त उसके दोनों पुत्रों, शापुर और अर्दशीर में युद्ध छिड़ा। दैवयोग से शापुर की मृत्यु हो गई और अर्दशीर की सत्ता स्थापित हो गयी। उसने घोषणा कर दी कि वह फारस का स्वतन्त्र राजा है और तदनुसार उसने वहाँ के भूमिपतियों और सरदारों पर अपना आधिपत्य सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया। पार्थिया के सम्राट् ने उसके दमन के लिए जो सेना भेजी वह पराजित हुई जिससे अर्दशीर का आतंक बहुत बढ़ गया। उत्साहित होकर उसने स्वयं पार्थियन राज्य पर आक्रमण किये और अन्ततोगत्वा पार्थियन राजा का वध कर डाला (२२४ ई०)। यद्यपि पार्थिया को रोम वालों और कुशाण राजा ने काफी सहायता दी किन्तु अर्दशीर ने उनको भी परास्त कर दिया। दस वर्ष के भीतर ही उसका साम्राज्य फरात नदी से मर्व और हेरात तक विस्तृत हो गया। अर्दशीर की प्रवुद्ध शक्ति से रोम के सम्राट् अलेक्ज़ेण्डर को घोर चिन्ता हुई। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि ईरान का पुराना साम्राज्य पुनः जाग उठा है और जो कार्य मकदूनिया के अलेक्ज़ेण्डर को करना पड़ा था वह अब उसको ही करना पड़ेगा। इस कल्पना के अनुसार उसने रोम की सेना का संगठन मकदूनिया के समान कर दिया। उसका विचार फारस पर तीन ओर से आक्रमण करने का था। सासानी भी जागरूक थे। दोनों ओर से बड़े पैमाने पर तैयारियाँ होने लगीं। अर्दशीर ने रोम की दो सेनाओं को नष्ट कर दिया, किन्तु तीसरी से भयंकर युद्ध हुआ जिसमें दोनों की बड़ी हानि हुई। दोनों को अपने-अपने दृष्टिकोण से सफलता रही। किन्तु सीमा का प्रश्न ज्यों-का-त्यों रहा। रोम की यह धारणा रही कि वह असफल होकर युद्ध से पराङ्मुख हो गया है। इस धारणा का परिणाम उसके विरुद्ध षड्-

यन्त्र हुआ। उसी जमाने में आलमनियों ने भी, जो जर्मनी की एक जाति थी, साम्राज्य की सीमा पर आक्रमण किया। उनको शान्त रखने के लिए रिश्वत देने का प्रस्ताव किया गया। रोम की सैनिक शक्ति की धाक शीघ्रता से बिगड़ती देखकर तथा अनुशासन की कठोरता तथा कायरता से क्रुद्ध होकर षड्यन्त्रकारियों ने अलेक्ज़ेण्डर का वध कर डाला। उसी के साथ उसकी नानी का भी निधन हुआ (२३५ ई०)।

अलेक्ज़ेण्डर का निधन होते ही रोम की सेनाओं में बड़ी अराजकता फैल गयी, जो लगभग पचास वर्ष तक चलती रही। सम्राट् बनने की लालसा से अनेक सेना-नायक स्वतन्त्र होकर तदर्थ प्रयत्नशील हो गये। रोम साम्राज्य का यह युग अन्धकार-ग्रस्त है। इतिहास भी अभी तक उस पर पूरा प्रकाश डालने में समर्थ नहीं हो सका। आगामी अर्धशती में सत्रह सम्राट् हुए जिनमें एक-दो को छोड़कर सबका वध हुआ।

सेना के निरंकुश होने का सबसे पहला बुरा फल यह हुआ कि डेन्यूब की सीमा कमजोर हो गयी जिससे 'गाथ' आदि बर्बर जातियाँ बल्कान में घुस पड़ीं। रोम का सम्राट् जो उनको हटाने गया युद्ध में मारा गया। आधिपत्य प्राप्त करने के लिये खास इटली में प्रतिद्वन्दी युद्ध करने लगे। डेन्यूब, और राइन नदी की निचली और मध्यकी सीमाएँ टूट गयीं जिससे फ्रांक लोग बहुत बड़ी संख्या में घुस पड़े (२५० ई०) और गॉल तथा स्पेन तक जा पहुँचे। उसी प्रकार आलमनी जाति के लोग राइन नदी पारकर इटली में प्रविष्ट हो गये।

अर्दशीर का पुत्र शापुर जो इस समय फारस के राजसिंहासन पर आसीन था अपने पिता के समान पराक्रमी निकला। उसने सीरिया पर आक्रमण किया और एण्टिआक तक आ पहुँचा। रोमन सम्राट् वेलेरिअन को छल-बल से उसने कैद कर लिया। वेलेरियन की मृत्यु कैद ही में बड़ी बेहुरमती से हुई (२५० ई०)। अपनी विजय से उत्साहित होकर शापुर आगे बढ़ा और एनातोलिया के पश्चिमी समुद्री तट तक पहुँच गया। उसका आधिपत्य जमने के पहले ही पालमैरा की रोमन सेना ने मेसोपटेमिया पर चढ़ाई कर दी। फलतः शापुर को लौटना पड़ा और मेसोपटेमिया को खाली कर देना पड़ा। इससे प्रसन्न होकर रोम के सम्राट् ने पालमाइरा के सेना-नायक ओडेनेथस को राजा की पदवी से विभूषित कर दिया। कुछ ही वर्षों में पाल-माइरा के राजा ने ऐसी शक्ति संचित कर ली और ऐसा व्यवहार किया जिससे रोम के सम्राट् को अनिष्ट की आशंका हो गई। पालमाइरा का शासन विधवा रानी जिनोबिया सेप्टेमिया के हाथ में आया (२६७ ई०)। उसे ग्रीक, सीरियन, मिस्री तथा लाटिन भाषाओं का ज्ञान था। विद्या-प्रेम के साथ ही साथ उसे मिस्र की

सुविख्यात रानी क्लिओपेट्रा के समान ऐश्वर्य और महत्व की प्रबल आकांक्षा भी थी। वह अपने को मिस्र के टोलेमी राजवंश की पुत्री कहती थी। पुरुषोचित व्यायाम और शिकार का उसे शौक था। तथापि उसका आचरण शिष्ट एवं शुद्ध था। उसने अपना आधिपत्य मिस्र देश पर भी जमा लिया और 'पूर्व की रानी' की उपाधि धारण कर बड़े ठाठ-बाट से शासन करने लगी। अपने पराक्रम और चतुरता से उसने मिस्र से एशियाई कोचक तथा बास्फोरस तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया जिससे रोम का महत्व एशियाई कोचक में अस्तप्राय होने लगा। विजयों से उत्साहित होकर उसने २७२ ई० में रोम के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यदि रोम का सम्राट् जर्मन आक्रमणों के रोकने में न फँस गया होता तो सम्भवतः विद्रोह करने का साहस रानी न करती।

विद्रोह का अवसर चुनने में जिनोबिया ने भूल की। उसने यह न सोचा कि गाथ लोगों के टीड़ी दल को २७० ई० में परास्त करने से रोमके सम्राट् की चिन्ता का एक भयंकर कारण दूर हो गया। इसके सिवा नये सम्राट् आरेलिअन ने भी गाथों के उस दल को जो इटली में घुस गया था, घोर युद्ध करके भगा दिया (२७१ ई०)। उधर से निश्चिन्त होकर आरेलिअन ने जिनोबिया को, जो पालमाइरा के जलस्रोत के सूखने से हताश होकर फारस भागी जाती थी, पकड़ लिया और रोम में कैदी बना कर रखा। कार्थेज की तरह पालमाइरा भी भस्मसात् कर दिया गया (२७२ ई०)। यद्यपि आरेलिअन योग्य सेनानायक और कुशल शासक था जिससे साम्राज्य को लाभ होने की आशा थी किन्तु वह केवल पाँच वर्ष ही राज्य कर पाया। इसी थोड़े समय में उसने रोम की आर्थिक स्थिति सँभालने तथा अनुशासन दृढ़ करने और लोकोपयोगी इमारतों, नदी के तटों तथा नगर की प्राचीरको सुदृढ़ करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने सिक्कों के सुधार का भी प्रयत्न किया। गरीबों को अनाज के बदले वह पकी-पकायी रोटियाँ, तेल, नमक और सुअर का गोश्त मुफ्त बँटवाता था। यद्यपि स्वयं वह सरल, कम खर्च और सादगी-पसन्द था तथापि रोबदाब तथा जनता को आकर्षित करने के लिये अनेक प्रभावोत्पादक विधि-विधान उसने प्रचलित किये। सम्राट् को ईश्वर अथवा सूर्यदेव का प्रतिरूप कहकर उसके प्रति भक्ति, श्रद्धा तथा अर्चा का आदेश दिया। अपनी नीति और आज्ञाओं में सेनेट को वह हस्त-क्षेप न करने देता था। सूर्य की पूजा को उसने राष्ट्र-धर्म घोषित कर दिया। उसके दृढ़ शासन तथा प्रबल नियन्त्रण से शासक वर्ग में व्याकुलता फैली। फैलसूफ अमीरों तथा शौकीन लोगों को सीधे-सादे रहन-सहन के प्रति उसका आग्रह असन्तोषजनक

हो गया। रिश्वतखोरों तथा अनाप-शनाप लाभ उठाने वाले व्यवसायियों में भय और रोष बढ़ा। सूर्य देवता के एक विशाल मन्दिर के निर्माण होने तथा उसे धर्म का प्रमुख केन्द्र बनाने के प्रयत्न से अन्य धर्माधिकारियों में ईर्षा-द्वेष के भाव जाग्रत हो गये। साधारण जनता पर पूंजी वालों ने जो अक्षय कर्ज लाद रखा था उसको उसने अनुचित और अन्यायपूर्ण घोषित करके अदा करने से मुक्त कर दिया। इससे सूदखोरों और गुलामों पर अत्याचार करने वालों में हलचल फैल गयी। इन सब जनोपयोगी कार्यों का यह फल हुआ कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र की भावना स्वार्थ-परायण समुदायों में बढ़ती गयी। अन्ततोगत्वा इरास नामक उसके सेक्रेटरी ने एक जाली पत्र बनाया जिसमें कई अफसरों को प्राणदण्ड देने का आदेश लिखा हुआ था। उत्तेजित होकर अफसरों ने सम्राट् को मार डाला (२७५ ई०)। हत्याकाण्ड का समाचार फैलते ही सैनिकों ने इरास तथा हत्यारे अफसरों का वध कर दिया।

फारस में शापुर के उत्तराधिकारियों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष छिड़ गया (२७२ ई०) जिसके कारण फारस से न तो जिनोबिया को सहायता मिली और न रोम वालों का विरोध हुआ। रोम वाले भी पालमाइरा की विजय से लाभ उठा कर फारस को हानि इसलिए न पहुँचा सके कि आरेलिअन के वध के पश्चात् जो सम्राट् हुए वे गाल पर जर्मनों के आक्रमणों में उलझे रहे या स्वच्छन्द सेनापतियों से लड़ते रहे। उनका शासनकाल भी अधिक स्थायी न रहा। यद्यपि सम्राट् केरस ने फारस के सम्राट् बहराम द्वितीय पर, जिसने आरमीनिया और मेसोपटेमिया पर अधिकार जमा लिया था, चढ़ाई की (२९२ ई०)। किन्तु उसका कोई परिणाम न निकला।

डायोक्लीशियन (२८५-३०५ ई०)

डायोक्लीशियन ने साम्राज्य की सीमाओं पर बारम्बार आक्रमणों को रोकने और शासनिक व्यवस्था स्थापित करने के लिये नवीन योजना बनायी। इस योजना के अनुसार दो आगस्टस एक स्वयं डायोक्लीशियन और दूसरा मेक्सिमिनिअस नियुक्त हुए। यद्यपि डायोक्लेशियन का स्थान प्रथम था तथापि दोनों के अधिकार समान निश्चित किये गये। डायोक्लीशियन ने निकोमीडिया में जो बाइजेण्टम से कुछ मील दूर था और मेक्सिमिनिअस ने मिलान में अपनी राजधानियाँ बनायीं। प्रत्येक आगस्टस को एक एक सीज़र चुनने का अधिकार दिया गया। आगस्टस से सीज़र का दर्जा कम था और उसके अधिकार भी कम थे। डायोक्लीशियन ने अपना सहयोगी गेलेरिअस को और मैक्सिमिनिअस ने कान्स्टेण्टिअस को चुना।

आगस्टसीय क्षेत्रों के अन्तर्गत एक भू-भाग का शासन सीज़रों को दे दिया गया और उनके शासन-केन्द्र निश्चित कर दिये गये। यही नहीं, आगस्टसों ने अपने-अपने सीज़रों का अपनी-अपनी पुत्री के साथ व्याह भी कर दिया।

योजना की दूसरी विशेषता यह थी कि प्रत्येक कानून अथवा आज्ञाएँ चारों पदाधिकारियों के नाम से प्रकाशित होती जिससे यह प्रतीत न हो कि साम्राज्य चार टुकड़ों में बाँट दिया गया। तीसरी विशेषता यह थी कि दोनों आगस्टसों ने यह निर्धारित किया कि बीस वर्ष के शासन के उपरान्त वे अपना स्थान अपने सहयोगी सीज़र को देकर हट जायेंगे। उनकी धारणा थी कि उपर्युक्त प्रथा से आगस्टस पद के लिए संघर्ष कम और साम्राज्य की चारों दिशाओं का प्रबन्ध सुदृढ़ और सन्तोषजनक हो सकेगा। इसके सिवा आगस्टस के पद पर पहुँचने के पहले सीज़र को शासन सम्बन्धी नीति और उसका व्यावहारिक ज्ञान एवं अनुभव भी अच्छा होगा और साम्राज्य की नीति में आमूल उलट-पुलट की सम्भावना भी कम होगी। सिद्धान्त के हिसाब से उपर्युक्त नीति अच्छी कही जा सकती थी किन्तु उससे चारों में संघर्ष की आशंका तो दूर न होती थी।

शासन में उत्तरदायित्व, गम्भीरता एवं शिष्टता के स्थापन के लिए डायोक्ली-शियन ने कुलीनों की मर्यादा और अधिकारों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। ऐरे-गैरे पंचकल्याणी लोगों के हाथ में शासन के चले जाने से रोम राज्य तथा साम्राज्य को कटु अनुभव होते रहे थे जिससे सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती थी। कुलीन श्रेणी का पुनर्निर्माण करने के लिए सम्राट् ने पदों को वंशानुगत कर दिया जिससे नौकरशाही स्थिर, गम्भीर तथा अधिक अनुभवी हो सके। सम्राट् की यह धारणा थी कि शान्ति एवं संरक्षित परिस्थिति में ही जनसत्ता का आनन्द उठाया जा सकता है, अन्यथा डिक्टेटरशिप उससे कहीं अधिक उपयोगी तथा बलदायक होती है। साम्राज्य की स्थिति के अनुसार उसी की आवश्यकता है।

डायोक्लीशियन ने आर्थिक दशा सुधारने के लिए काफी उत्साह दिखाया। सिक्कों की भ्रष्टता को, जो चाँदी की कमी के कारण हुई थी, यथासाध्य कम करके उसने नये और अच्छे सिक्के प्रचलित किये। प्राइवेट व्यापार को उत्तेजना दी। शासन के हाथ में कुछ गिने-चुने व्यापार आवश्यक समझकर रख दिये। लोहा, सोना, अनाज, शराब, नमक, दलाली तथा कीमती वस्त्र आदि का कण्ट्रोल शासन के हाथ में रखा। बेकारी दूर करने के लिए लोकोपयोगी अनेक निर्माण-कार्य चालू किये। खाने-पीने की आवश्यक चीजों की दर निर्धारित कर दी गयी और नीची

श्रेणी के कारीगरों तथा मज़दूरों का वेतन भी निश्चित किया गया (३०१ ई०)। गरीबों की स्थिति के अनुसार खाने की चीज़ें या तो आधे दाम पर या मुफ्त दी जाने लगीं। सरकारी कामों में सबसे अधिक नौकर तथा मज़दूर भरती किये गये।

सैनिक विभाग को साधारण विभाग से पृथक् कर देना डायोक्लीशियन के महत्वपूर्ण सुधारों में गिना जाता है। नौकरियों की संख्या भी खूब बढ़ायी गयी जिससे बेरोज़गारी कम हो सके। शासन को दृढ़ तथा नौकरियों की वृद्धि करने के लिए उसने सूबों तथा प्रान्तों की संख्या बढ़ा दी। प्रिटोरियन गार्डों की शक्ति तोड़ने के लिए उसने उन्हें सवारों और पदातियों के अध्यक्षों के सुपुर्द कर दिया। प्रिटोरियन नेताओं को जिन्सी कर वसूल करने तथा न्याय वितरण का काम दिया गया।

डायोक्लीशियन के समय में सम्भवतः गेलेरिअस के आग्रह से ईसाई धर्म का घोर दमन किया गया। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि धार्मिक मामलों में रोमनों की जो उदार नीति थी उसका पालन न करके ईसाई अपने मत को छोड़कर अन्य सभी मतों का खण्डन और विरोध करते थे। विभिन्न मतों या धर्मों के होते हुए भी रोमनों ने एक राष्ट्र-धर्म की आवश्यकता का अनुभव किया और उसका सक्रिय प्रचार किया। ईसाई उसका भी विरोध करते थे क्योंकि वह उनके विश्वासों के अनुसार कपोल-कल्पित और मिथ्या था। इसके सिवा यह भी कहा जाता है कि ईसाई डायोक्लीशियन के विनाश के लिए षड्यन्त्र करते थे। यह सच है कि वे सम्राट् को ईश्वर का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करने के लिए कदापि तैयार न हुए। दमन की नीति से ईसाई धर्म का सम्मान और प्रचार बढ़ने लगा। आखिरकार दमन को बन्द कर देना ही ठीक समझा गया।

बीस वर्ष तक सम्राट् रहने के पश्चात् डायोक्लीशियन ने अपना पद त्याग कर (१ मई ३०५ ई०) तटस्थ रूप से अपने जीवन के अन्तिम दस वर्ष व्यतीत किये (३१६ ई०)। मेक्सिमिनिअस ने भी अपना पद त्याग दिया।

डायोक्लीशियन की योजना के अनुसार दोनों नियुक्त सीज़रों को आगस्टस का स्थान मिलना चाहिए था। किन्तु वह आशा पूर्ण न हुई। प्रत्युत बहुत-से दावेदार उठ खड़े हुए। सन् ३१० ई० में ही पाँच आगस्टस बन बैठे। संघर्ष होने के पश्चात् कान्स्टेण्टाइन साम्राज्य का एकमात्र सम्राट् हो गया (३२४ ई०)।

कान्स्टेण्टाइन (३२४-३३७ ई०)

कान्स्टेण्टाइन सदाचारी, संयमी, हृष्ट-पुष्ट और तेजस्वी, उदार विचार तथा

विवेकशील और कार्यकुशल था। उसने ज्ञान और विज्ञान के संवर्द्धन तथा कलाओं को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। अपने साम्राज्य का दबदबा स्थापित करने के लिये और शान-शौकत में फारस के सम्राट् से भी आगे बढ़ने की स्पर्धा के कारण अपनी राजधानी, राजमहल, दरबार आदि पर इतना अधिक धन व्यय किया कि उसको कोष के पूर्ण करने की चिन्ता बढ़ी। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह लोभ-ग्रस्त हो गया। जो कुछ भी हो, उसकी नयी राजधानी बाइजेण्टिअम (कान्स्टेण्टिनोपल) इतनी श्री-सम्पन्न हो गयी कि रोम की शान भी उसके सामने फीकी जान पड़ने लगी। राजनीतिक और शासनिक केन्द्र हो जाने से उसका महत्व उसी अनुपात से बढ़ा जिससे रोम का कम हुआ। नयी राजधानी से फारस तथा उत्तरी और पूर्वीय बर्बरों की गति-विधि पर कड़ी नज़र रखी जा सकती थी और उनके दमन के लिए शीघ्रतापूर्वक प्रतिकार किया जा सकता था। इसके सिवा वहाँ खाने-पीने की चीज़ें सरलता से पर्याप्त मात्रा में मिल सकती थीं।

यद्यपि कान्स्टेण्टाइन ने ईसाई मत को विजयी करने का झण्डा उठाया था तथापि उसने अन्य धर्मावलम्बियों के देवालयों के निर्माण में कोई अड़चन न डाली और न ईसाई धर्म को राष्ट्र-धर्म घोषित किया। रोम की परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त हो जाने के कारण नयी राजधानी में ईसाई धर्म को उन्नति करने का अभूतपूर्व अवसर मिला और ईसाइयों को विशेष सम्मान प्राप्त हो गया। कान्स्टेण्टाइन की आंशिक समता सम्राट् अशोक से इसलिए की जाती है कि दोनों ने नवीन धर्मों का पोषण और प्रचार किया जिससे पहले उनकी उन्नति हुई और आगे चलकर अवनति हो गयी। उसके सिवा अशोक के अन्य गुण उसमें नहीं पाये जाते। कान्स्टेण्टाइन ने ईसाइयों के दो मुख्य सम्प्रदायों को मिलाकर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु यथेष्ट सफलता प्राप्त न हो सकी। ईसाई धर्म को उसने खुल्लमखुल्ला स्वीकृत नहीं किया। हाँ, मरने के करीब ईसाइयों का आरियन मत स्वीकार कर लिया।

एशिया के करीब राजधानी आने से एशियाई राज्यों के ठाठ-बाट और दरबारी शिष्टाचार का प्रभाव कान्स्टेण्टाइन के संगठनों और सुधारों पर पड़ा। सम्राट् का दर्शन साधारण जनता के लिए दुर्लभ हो गया। ईश्वर का प्रतिनिधि होने की हैसियत से सम्राट् के ऐश्वर्य की वृद्धि हुई, जिससे उसके दर्शन का सौभाग्य राज्य के बड़े पदाधिकारियों और दरबारियों को ही प्राप्त होता था। सम्राट् के परामर्श-दाताओं में राजभवन का मुख्य प्रबन्धक, नकदी करों और भेंटों आदि का सांग्रहिक

तथा सम्राट् का व्ययाध्यक्ष, न्यायाध्यक्ष आदि उल्लेखनीय हैं। सम्राट् के बाद क्लेरिसनी (महातेजस्वी) तथा 'प्रिफेक्ति-सिनी' (महानिपुण) के स्थान गिने जाते थे। सम्राट् के मन्त्रिमण्डल में बीस प्रमुख पदाधिकारी थे जो शासन तथा सेना के अध्यक्ष होते थे। केवल सम्राट् ही धूप-छाँह का विशिष्ट वस्त्र पहनने, सिर पर रत्न-जटित मुकुट धारण करने और गरुड़मुखी राजदण्ड रखने का अधिकारी था।

सारे राज्य के पदाधिकारियों का एक मुख्याध्यक्ष था जो जासूसों द्वारा उनकी गतिविधि का निरन्तर ज्ञान प्राप्त करता रहता था। प्रत्येक प्रान्त तथा नगर के शासन के लिए वहाँ का शासक और उसको परामर्श देनेवाली सभाएँ नियुक्त थीं।

साम्राज्य में सेना पर बहुत व्यय होता था। सैनिकों के साठ दल थे। उनके सिवा सहायक सेनाएँ, अश्वारोहियों के रिसाले तथा नौ-सेना थी। सीमाओं की संरक्षा के लिए उचित स्थानों पर सेनाएँ नियुक्त थीं जिनको भू-भाग दे दिये गये थे। उन पर साधारण शासन का नियन्त्रण न था। उस भू-भाग पर सैनिक खेती-बारी करते और आवश्यकता पड़ने पर लड़ने चले जाते थे। उनके सिवा दो लाख सुसज्जित और युद्धकला में दक्ष सेना थी, जिसके दल आवश्यकता पड़ने पर निश्चित स्थान पर शीघ्रतापूर्वक भेज दिये जाते थे। साढ़े तीन हजार चुने हुए सैनिक सम्राट् के खास संरक्षक-दल में तैनात रहते थे। पदातियों और अश्वारोहियों के अलग-अलग सेनाध्यक्ष थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्कालीन समाज को ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो मानव-शक्ति तथा शासन एवं अन्य साधनों की पूर्ति करने में समर्थ हो। इस उद्देश्य को सामने रखकर यह नीति निश्चित की गयी कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा विभाग में काम करनेवालों को वंशानुगत व्यवसाय में प्रतिष्ठित कर दिया जाय। शासक, व्यापारी, उद्योग-धन्धे वाले, कृषक, सैनिक आदि वृन्दों को अपने-अपने क्षेत्र में पुश्त-दर-पुश्त काम करना आवश्यक अतएव अनिवार्य कर दिया गया। इस विधान से अनेकानेक उपजातियाँ-सी संगठित हो गयीं। यद्यपि इस प्रबन्ध से आवश्यक साधनों में स्थिरता और दृढ़ता अवश्य आ गयी तथापि मनुष्य को अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता खो देनी पड़ी।

साम्राज्य के बढ़ते हुए खर्च के लिए अमीरों और जमींदारों पर अतिरिक्त कर लगाये गये। युद्धों तथा महामारी के कारण साम्राज्य की जनसंख्या घटती जाती थी अतः सेना में बर्बर जातियों के लोगों को भरना आवश्यक हो गया। सैनिक बल बढ़ाये बिना उतने बड़े साम्राज्य में शान्ति तथा सीमाओं की रक्षा असम्भव थी।

ऐसी स्थिति में साधारण मध्य श्रेणी के लोगों का लोप हो गया, कृषक भी कठिनाई से अपने कुटुम्ब का पालन कर पाते थे। सारांश यह कि साम्राज्य की आर्थिक दशा दिनों दिन बिगड़ती चली जाती थी।

चौथी शती का उत्तरार्द्ध रोम साम्राज्य के लिए प्रलयकारी सिद्ध हुआ। साम्राज्य के लिए तो युद्ध चलते रहे किन्तु मध्य एशिया के हूणों के पश्चिम की ओर प्रयाण तथा फारस के सासानियों के आघातों से रोम साम्राज्य की पूर्वी सीमाएँ टूटने लगीं। हूण दल चीन की कई जातियों के, जिनमें मंगोल, तुर्क और तुंगस मुख्य थीं, सम्मिश्रण से बना था। वे लोग खानाबदोश घुड़सवार थे यद्यपि उनके साथ बैल, ऊँट और भेड़ें भी रहती थीं। उनका भोजन मांस था और उनके वस्त्र पशुओं की खाल से बनाये जाते थे। बचपन से ही उनको युद्ध करने का अभ्यास होता था। कई शतियों तक वे चीन में उथल-पुथल करते रहे। यद्यपि हानवंशीय चीनी सम्राटों ने उन्हें कुछ समय के लिए शान्त रखा, किन्तु वे अदम्य थे और अवसर पाते ही उपद्रव करने लगते थे। चीनी सम्राटों के अथक परिश्रम से हूणों का प्रवाह पश्चिम की ओर मुड़ गया। मार्ग की बसी जातियों को ठेलते-ढकेलते हुए वे पूर्वी गाथ (आस्ट्रो-गाथ) के दलों पर टूट पड़े और उनको अस्त-व्यस्त करके रोमन साम्राज्य की पूर्व-यूरोपीय सीमाओं पर बसनेवाले पश्चिमी गाथ (विजी गाथ) लोगों पर, जो उस समय धार्मिक भेद के कारण आपस में लड़-भिड़ रहे थे, छा गये।

फारस के सासानियों पर चढ़ाई करने की कान्स्टेण्टाइन की उत्कट अभिलाषा थी किन्तु ३३७ ई० में उसकी मृत्यु हो जाने के कारण वह पूर्ण न हो सकी थी।

कान्स्टेण्टाइन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में भयंकर युद्ध होने लग, जिनमें मरसा का युद्ध (३५१ ई०) अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हुआ। कहा जाता है कि उस युद्ध में रोमन सेना के जितने बड़े-बड़े शूरवीर थे सभी काम आये। यह अव्यवस्थित दशा सन् ३६३ ई० तक चलती रही।

सेना ने उसके पुत्रों के सिवा किसी अन्य को सम्राट् बनाना स्वीकार न किया। कुछ समय तक उसके दोनों पुत्र संयुक्त होकर राज्य करते रहे। कान्स्टेन्स की मृत्यु के पश्चात् केवल उसका भाई कान्स्टेण्टिअस बचा।

कान्स्टेण्टिअस (३३७—३६० ई०) के कोई सन्तति न थी, इसलिए उसने अपने भतीजे जूलियन को सीज़र नियुक्त कर दिया। फारस के शापुर द्वितीय ने आरमीनिया और मेसोपटेमिया पर आक्रमण किया, जिसको निरस्त करने के लिए कान्स्टेण्टिअस को बहुत समय तक युद्ध करना पड़ा।

इसी समय कान्स्टेंटाइन वंश का यह उल्लेखनीय व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वियों के मुकाबले में विशेष प्रकाश में आया। इसको कान्स्टेण्टाइन ने अपने जीवनकाल में पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिए नियुक्त किया था। उसने अपनी योग्यता और कर्मण्यता का अच्छा प्रमाण दिया। अपनी सेना से कई गुना बड़ी, चुनी हुई जर्मन सेना को स्ट्रासबर्ग के युद्ध में नष्ट कर उसका दमन कर दिया। फ्रेंको लोगों से कलोन के युद्ध में उसने तोबा बुलवा ली। राइन के उस पार भी उसने जर्मनी पर आतंक जमाने के लिए तीन सफल आक्रमण किये और सन्धि की अपनी शर्तों को मानने के लिए उनको बाध्य किया। इतनी सफलता उस क्षेत्र में किसी रोम वाले को पहले कभी नहीं मिली थी। सेना पर उसका इतना गम्भीर तथा उत्साहवर्धक प्रभाव था कि बिना वेतन के भूखे-प्यासे रोमन सहर्ष उसका अनुगमन करते थे। जूलियन सुशिक्षित विचार का तथा विवेकशील शासक था। उसकी प्रशंसा और महत्त्व की वृद्धि से कान्स्टेण्टिअस के हृदय में ईर्ष्या और द्वेष की भावना जगी। उसने जूलियन को गाल से हटाकर फारस की सीमा पर जाने का आदेश दिया। उसका उलटा प्रभाव पड़ा। जूलियन के सेनानियों ने उसको जाने से रोककर सम्राट् घोषित कर दिया। कान्स्टेण्टिअस ने उसको दण्ड देने की तैयारी कर ली। पर युद्ध छिड़ने के कुछ पूर्व कान्स्टेण्टिअस की मृत्यु हो गयी। उसी के साथ जूलियन साम्राज्य का एकछत्र शासक बन गया।

जूलियन को न्याय, कर्तव्य और शिष्टता से प्रेम था। उसकी रुचि स्वाभाविकतया ईसाई धर्म के अनुकूल न थी। रोम के प्राचीन प्रतिष्ठित देवताओं के प्रति उसने श्रद्धा का प्रदर्शन किया, जिससे उनमें फिर एक बार कुछ जान आ गयी। निश्चिन्त होकर जूलियन ने फारस पर चढ़ाई की। किले और नगर विध्वंस करता हुआ वह फारस की राजधानी के करीब पहुँच गया। किन्तु आरमीनिया की शिथिलता के कारण उत्तरी ओर से आने वाली सेना समय पर न पहुँच सकी। फिर भी युद्ध ने भयंकर रूप धारण किया। उसी युद्ध में किसी अज्ञात सैनिक द्वारा आहत होकर जूलियन ने प्राण विसर्जन किया (३६३ ई०)। उसके निधन के साथ ही कान्स्टेण्टाइन वंश का अन्त हो गया। फारस के सम्राट् द्वितीय शापुर ने पुनः मेसोपटेमिया और आरमीनिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

३६४ ई० में साम्राज्य के इटली तथा पश्चिमी प्रदेशों पर वेलेण्टिनियन ने और पूर्वी भाग पर उसके भाई वेलेन्स ने आपसी समझौते के अनुसार अपना-अपना अधिकार

जमा लिया। गाथ के कबीले रोम साम्राज्य के भीतर शरण लेकर सम्राट् वेलेन्स की सहायता के प्रार्थी हुए। उनकी सहायता के लिए भेजे हुए रोमन सेनाध्यक्षों ने उनके साथ अच्छा बर्ताव न किया और न उनको अन्नादिक देने का उचित प्रबन्ध ही किया। उनसे ऊबकर गाथों ने विद्रोह कर दिया और रोम के सेनापति को परास्त कर साम्राज्य की राजधानी पर भी चढ़ाई कर दी। सम्राट् वेलेन्स भारी सेना लेकर उनका दमन करने गया किन्तु वह एड्रियानोपल के युद्ध में मारा गया (३७८ ई०)। गाथ थ्रेस में घुसकर जम गये। उपर्युक्त पराभव से रोम साम्राज्य की धाक बहुत घट गयी और आक्रमणकारियों का साहस, उत्साह तथा आतंक बढ़ गया। पूर्व में ही नहीं, पश्चिमी प्रान्तों में भी उनकी महिमा नष्ट हो रही थी।

सन् ३६४ से सन् ३९२ तक सम्राट् वेलेण्टिनियन और उसके भाई वेलेन्स ने राइन और डेन्यूब की सीमाओं की रक्षा के लिए असफल प्रयत्न किये। सुयोग्य सेनापति थिओडोसिअस को अफ्रीका और ब्रिटेन के आक्रमणकारियों से रक्षा करने के लिए नियुक्त किया गया। उपर्युक्त काल में ईसाइयों में साम्प्रदायिक भेद और संघर्ष बढ़ गया और हूण लोग अन्य बर्बर जातियों; आलान, पूर्वी गाथ, पश्चिमी गाथ आदि को अस्त-व्यस्त कर आगे बढ़ते आये। उनसे त्रस्त होकर बहुत संख्या में विजी (पश्चिमी) गाथ रोम राज्य के भीतर शरणार्थी बनकर आ बसे, किन्तु उपद्रव करते रहे। जैसा कि हम कह चुके हैं, वेलेन्स उनका दमन करने के प्रयत्न में मारा गया। रोमन सेना नष्ट करके विजी-गाथों ने बल्कान प्रान्त को लूट लिया। किन्तु कान्स्टेण्टिनोपल को लेने में वे असमर्थ रहे। अपने चाचा के निधन का समाचार पाकर सम्राट् ग्रेशियन ने थिओडोसिअस के पुत्र को अपना सहयोगी सम्राट् नियुक्त किया। थियोडोसिअस ने छल-बल से गाथों को शान्त करके उन्हें दक्षिणी डेन्यूब की रक्षा के लिए आसपास के प्रान्तों में बसा दिया। ये लोग आगे चलकर आस्तीन के साँप सिद्ध हुए, विशेषकर इसलिए कि गाथों का सैनिक दल उनके नेताओं के नेतृत्व में अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बनाये रहा और अपने जाति-बन्धुओं के साथ सहानुभूति रखता रहा। कुसमय आने पर उनका भरोसा भ्रम मात्र रह गया।

थियोडोसिअस ने ईसाई धर्म के उस सम्प्रदाय का समर्थन और पोषण किया जो पूर्वी प्रान्तों के आरियन सम्प्रदाय से भिन्न था। बहु देवताओं की पूजा बन्द करने के सिवा पुराने धर्मों को मानने वालों की जमीन छीन ली और सम्मानित पदों पर उनकी नियुक्ति बन्द कर दी। शासन को संगठित करने तथा राज-कर घटाने का भी उसने प्रयत्न किया।

थिओडोसिअस सारे रोम साम्राज्य का अन्तिम सम्राट् था। अपने जीवनकाल में ही उसने साम्राज्य को दो भागों में विभक्त कर अपने दोनों लड़कों में बाँट दिया। उस समय से वे पृथक्-पृथक् चले। यह पार्थक्य केवल भूमि और शासन तक ही सीमित न रहा। संस्कृति, आचार-विचार सभी क्षेत्रों में वह व्याप्त हो गया। इस पार्थक्य के दो स्पष्ट कारण थे। एक तो यह कि पूर्व तथा पश्चिम की समस्याएँ कम उलझने पाती थीं और प्रत्येक भाग अपनी पूरी शक्ति तथा ध्यान अन्यत्र लगा सकता था। दूसरा यह कि पूर्व की संस्कृति तथा सामाजिक संगठन पश्चिम वालों से भिन्न थे। अतएव उनकी समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न नीति एवं विधि-विधान आवश्यक थे।

सन् ३९५ से साम्राज्य पर पुनः भयंकर आक्रमण आरम्भ हुए। थिओडोसिअस की मृत्यु के कुछ समय बाद ही विजी गाथों के बर्बर कबीलों का नेता अलारिक ग्रीस में घुसकर लूट-मार करने लगा। साम्राज्य के पूर्वी भाग के सम्राट् आरकेडिअस ने उसे घूस देकर मिला लिया और एपिरस की सेना का सेनापति बना दिया। अनुकूल अवसर देखकर उसने अपने सैनिकों को अच्छे अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर दिया। यह स्थिति केवल विजी गाथों की ही नहीं थी, वाण्डाल, बर्बर तथा अन्य जर्मन उपजातियों के सैनिक और सेनापति एवं मन्त्री भी साम्राज्य की नौकरी में थे। वाण्डालों के स्टिलिको नामक एक सरदार ने तो थियोडोसिअस की भतीजी से विवाह भी कर लिया था। जब एलारिक ने साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर-आक्रमण किया तब स्टिलिको ने दो युद्धों में उसे परास्त कर लौट जाने पर मजबूर कर दिया। पश्चिमी भाग का सम्राट् होनोरिअस निकम्मा था। उसका मुख्य व्यसन मुर्गी पालना था। होनोरिअस के कान लोगों ने स्टिलिको के विरुद्ध इतने भरे कि उसने सेनापति का वध करवा दिया। उसके मरने से उत्साहित होकर एलारिक पुनः लौटा और रोम तक जा पहुँचा। बीमारी फैलने तथा भोज्य पदार्थों की कमी के कारण रोम वालों ने उसे भारी घूस देकर शान्त किया। दूसरे वर्ष वह फिर लौटा और उसने सम्राट् से कुछ प्रान्तों को माँगा जिसमें वह अपने कबीलों के लोगों को बसा दे। उसने होनो-रिअस को सिंहासनच्युत करके अपने निर्वाचित व्यक्ति को सम्राट् बना दिया। फिर भी झगड़ा तय न हुआ। आखिरकार सन् ४१० ई० में विजी गाथों ने रोम फतह कर नगर को लूट लिया। ऐसी घटना रोम के इतिहास में पहले कभी न हुई थी। रोम की जो कुछ बची-खुची धाक थी वह सब भी मिट्टी में मिल गयी। लोगों को यह प्रतीत हो चला कि रोम का तिरोभाव संसार के इतिहास के एक बहुत बड़े

अध्याय की अथवा यों समझिए कि प्राचीन संसार के एक महान् युग की समाप्ति में हो रहा है।

रोमनों की देन

पाश्चात्य देशों में से ग्रीस तथा रोम का इतिहास इसलिए विशेष महत्त्व का है कि उनकी सभ्यता की गहरी छाप ही यूरोप की संस्कृति और सभ्यता पर नहीं पड़ी; वरन् समग्र यूरोपीय सभ्यता का ही वह मूल स्रोत है। रोम ने भूमध्यसागर की, विशेषतः ग्रीस की, संस्कृति को पश्चिमी यूरोप में फैलाया। अव्यवस्थित देशों में रोम साम्राज्य ने दो सौ वर्ष तक शान्ति स्थापित रखी और उसके बाद दो सौ वर्ष तक उनकी रक्षा की। रोम का शासन-विधान, उसका कानून, विशेषतः उसका सार्वजनिक पक्ष अद्यावधि मनोरंजक और शिक्षाप्रद है। रोम ने राजसत्ता, कुलीन-सत्ता, जनसत्ता तथा उनके मिश्रण के विविध प्रयोग किये और रोमन अपने अनुभवों का इतिहास सभ्य संसार के लिए छोड़ गये। साम्राज्य काल में उन्होंने करीब पाँच-सौ म्यूनिसिपैलिटियों की स्थापना की और देश-काल के अनुसार उनके संगठन में हेर-फेर करते रहे, जो शिक्षाप्रद है। यातायात, यात्रा तथा सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्होंने बहुत-सी सड़कें और लगभग एक सहस्र पुल बनवाये। कला के क्षेत्र में स्थापत्य और मूर्तिकला की उन्होंने बड़ी उन्नति की जिसके प्रमाण आज तक मौजूद हैं। भवनों को एक केन्द्र से गर्म रखने का ढंग सम्भवतः उन्हीं ने सिखाया। व्यापार के लिए बंकों, धन-विनियोग आदि का बाकायदा उपयोग रोम साम्राज्य में हुआ। शिक्षा के संवर्धन तथा पाठ्यक्रम की व्यवस्था का उन्होंने प्रबन्ध किया। वनस्पति तथा जन्तु-जगत और कानून तथा चिकित्सा सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली की रचना की। भाषालंकार, प्रभावपूर्ण गद्य तथा इतिहास आदि की लेखन-कला में उन्होंने अच्छी उन्नति की। शासनव्यवस्था ऐसे ढंग की बनायी जिसका अनुकरण राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् ईसाइयों के धार्मिक संगठन में भी पूर्ण रूप से किया गया। उनके उत्सव, रीति-रिवाज, खेल-कूद तथा अन्यान्य मनोरंजन अभी तक पाश्चात्य देशों में चले आते हैं। सारांश यह कि रोमनों की सभ्यता से यूरोपीय सभ्यता आज तक उपकृत हो रही है।

रोम साम्राज्य के तिरोहित होने की समस्या पर शतियों से विचार होता चला आता है। सैकड़ों विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से उस पर विचार किया है और अपनी-अपनी रुचि तथा भावनाओं के अनुसार उसके कारण निर्धारित किये हैं।

कोई भी बड़ी सभ्यता और संस्कृति जब नवीन स्थिति में विलीन अथवा परिवर्तित होकर नया रूप धारण करती है तब उसका निदान प्रायः पेचीदा और कठिन होता है। ईसाई धर्म से प्रेरित लेखकों ने रोम के क्षय के कारण उसके मिथ्या धार्मिक विश्वास, भोग-विलास-प्रियता, नैतिकता की अवहेलना और स्वार्थपूर्ण क्रूरता बताये हैं। सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रवृत्ति के लेखकों के अनुसार पूँजी-पतियों और गरीबों तथा मजदूरों का संघर्ष अथवा कुलीन सत्ता एवं राजसत्ता का जनसत्ता से द्वन्द्व रोम साम्राज्य के विनाश का कारण है। आधुनिक तकनीकी दृष्टि-कोण के लोगों ने औद्योगिक साधनों की कमी को ही रोम के क्षय का मुख्य कारण निर्धारित किया है। हाल की गवेषणाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि नैतिकता की अवहेलना, मिथ्या धार्मिक विश्वास, सन्तति निरोध, अन्तर्जातीय, विशेषतः विभिन्न वर्ण या रंगों के लोगों में पारस्परिक विवाह या यौन सम्बन्ध और स्नायविक शैथिल्य आदि को रोमनों के विनाश का कारण बताना नितान्त भ्रमात्मक, अज्ञानमूलक और असत्य है। यह हो सकता है कि उपर्युक्त कारणों में सत्यता का कुछ लेश हो किन्तु जिस रूप में और जिस दृढ़ता के साथ उनको महत्त्व देने की चेष्टा की गयी है वह उपहासजनक है।

रोमनों के, पाँचवीं शती ईसवी तक के, इतिहास का विहंगावलोकन करने से कुछ साफ और कुछ धूमिल रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं, जिनसे उनकी उन्नति और अवनति की गतिविधि की कल्पना की जा सकती है। आरम्भ में रोमन लोग साधा-रण कर्मठ किसान थे। वे स्वतन्त्रता, सरल जीवन और स्वावलम्बन के प्रेमी थे। उनका समाज पारिवारिक और प्रजातांत्रिक विधानों पर आश्रित था। जब उन पर बाहरी अनुशासन आरोपित करने का प्रयत्न हुआ, तब अपनी सत्ता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वे लड़ गये। उनकी विजय ने उनको आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया, जिससे वे अपना राज्य बढ़ाने के प्रलोभनों में फँस गये। उनकी व्यापारिक तथा सैनिक आवश्यकता उनके कदमों को आगे बढ़ाती चली गयी। इटली पर आधि-पत्य जमाकर वे भूमध्यसागर पर आधिपत्य जमाने को प्रेरित हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका कार्यक्षेत्र स्पेन से पश्चिमी एशिया तक, भूमध्यसागर के दोनों तटों पर स्थित प्रदेशों तथा ब्रिटेन से डेन्यूब नदी तक फैल गया। विस्तार के साथ-साथ नयी परिस्थितियाँ और समस्याएँ पैदा होती गयीं जिनसे रोमनों की उलझनें बढ़ती चली गयीं। डेन्यूब नदी के पूर्वी भाग में और काले समुद्र के तटों तथा फरात-दजला नदियों के पार ऐसी युद्धजीवी जातियों, राज्यों से उनकी

मुठभेड़ें आरम्भ हो गयीं जो कई शतियों तक चलने पर भी शान्त न हो सकीं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रवाह के कारण रोमनों का कृषिमूलक सरल स्वाभाविक जीवन और समाज आमूल बदल गया। देश-विदेश की विजयों में लूटी हुई सम्पत्ति तथा गुलामों के दलों और वहाँ से प्राप्त करों की आमदनी के कारण रोमनों को कृषि छोड़कर व्यापार, सरल जीवन को छोड़कर अमीरों की चर्या और जनसत्तात्मक संगठन के बदले राजसत्तात्मक विधानों का आश्रय लेना पड़ा। ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार रोमनों के जीवन में जो परिवर्तन हुआ वह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। मानव-समाज के विकास में इस प्रकार के परिवर्तन होते आये एवं हो रहे हैं और सम्भवतः होते ही रहेंगे।

सांस्कृतिक पक्ष पर विचार करने से भी कमोबेश यही नतीजा निकलता है। रोमनों का ग्रीक, मिस्री तथा एशियाई सभ्यताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर उनके प्रभाव से अछूता रहना असम्भव-सा था। रोमन विचारों, रहन-सहन, व्यवहारों और विधानों में विविध प्रकार के विदेशी प्रभावों का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। रोम साम्राज्य जल और स्थल दोनों ही मार्गों से दूर-दूर तक सम्बद्ध था। इसलिए संकुचित अथवा सीमित रहने की नीति उसके लिए अव्यावहारिक और शायद अनुचित ही सिद्ध होती। इतिहास में ऐसे उदाहरणों का मिलना कठिन है जहाँ एक प्रगतिशील सत्ता सफलता के साथ आगे कदम बढ़ाकर आप-से-आप ही बिना किसी अनिवार्य कठिनाई के पीछे हटी हो। रोमनों ने जब अपनी शक्ति को, बाहरी परिस्थिति तथा अदम्य विरोध का अनुभव होने पर पीछे हटाना चाहा तब तक उनकी दशा बहुत कमजोर हो चुकी थी। यही क्या कम है कि वे लगभग एक सहस्र वर्ष तक ग्रीस में और सौ वर्ष तक पश्चिम में अपने पैर जमाये रह सके।

सेनापतियों के आन्तरिक युद्धों, उत्तरी एवं पूर्वी सीमाओं के बर्बरों अथवा सभ्य शक्तियों के आक्रमणों, प्लेग, मलेरिया की बीमारियों और सन्तति निरोध के प्रचलन के कारण साम्राज्य की जनसंख्या इतनी कम हो गयी कि सेना में प्रान्तीय लोगों को ही नहीं वरन् बर्बर आक्रमणकारियों को भी भरती करना साम्राज्य के लिए अनिवार्य हो गया। इन नये भरती किये गये भाड़े के सैनिकों से न तो रोम साम्राज्य के प्रति उतनी श्रद्धा की और न किसी प्रकार की जातीय भावना की आशा की जा सकती थी। कठिन परिस्थिति आने पर वे उसका सामना करने का उत्साह दिखाने के बदले पलायन ही किया करते थे।

यह आशा थी कि सारे साम्राज्य की प्रजा को रोमनों के समान अधिकार दे देने से उसमें अपनत्व की भावना जाग्रत होगी; किन्तु उसका स्थायी प्रभाव यह हुआ कि रोमनों की मान-मर्यादा भंग हो गयी और प्रान्तीय नेता रोम के राजनीतिक जीवन में घुस पड़े। वे रोम के उत्कर्ष की चिन्ता न करके स्वार्थ-साधन में ही संलग्न रहते थे। रोमनों की दृष्टि में उन्होंने स्वतन्त्रता का सदुपयोग करने के बदले उसका दुरुपयोग ही किया। सम्भव है कि किसी सीमा तक उन्होंने साम्राज्य का पशुबल बढ़ाया हो किन्तु प्राण-बल को क्षीण करने में काफी भाग लिया।

आर्थिक क्षेत्र में भी रोमनों की नीति उपयोगी सिद्ध न हुई। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि रोम का कृषक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। यहाँ तक नौबत पहुँची कि रोमनों को अफ्रीका के तटस्थ प्रदेशों से अन्न मँगाना आवश्यक हुआ। वहाँ से अनाज आने में कोई बाधा आते ही त्राहि-त्राहि का आर्तनाद गूंजने लगता था। जो कोई अनाज लाकर देता, रोम की जनता उसी का जय-जयकार करने लगती थी। रोमनों का व्यापार आरम्भ में अच्छा-खासा चलता था किन्तु साम्राज्य के बढ़ने और यातायात के यथेष्ट साधनों की कमी के कारण व्यापारी लोग प्रान्तों में जाकर उद्योग-धन्धे जमाने लगे। प्रान्तों से कारीगरों की माँग बढ़ी, जिससे रोम के कारीगर अधिक लाभ की आशा से वहाँ जा बसे। जब प्रान्तों में उद्योग-धन्धे चमक उठे तब रोम की बनी चीज़ों की माँग घट गयी और उसके व्यापार को ऐसा क्षय रोग लग गया जिससे वह उबर न सका। रोमनों के अमीरी रहन-सहन के कारण उनकी शौकीनी की चीज़ों की आवश्यकताएँ बढ़ीं। उनके पास न तो खाने-पीने और न किसी व्यापार की ऐसी सामग्री थी जिसे वे बाहर से आयी चीज़ों के बदले दे सकते। जब तक उनकी खानें सोना-चाँदी देती रहीं तबतक तो कोई खास कठिनाई न हुई, किन्तु जब चाँदी की कमी पड़ी तब उन्होंने मुद्रा का काल्पनिक मूल्य निर्धारित करना, अथवा यों कहिए कि उसको भ्रष्ट करना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बाहरी व्यापारियों ने स्वर्णमुद्रा में चीज़ों की कीमत लेने का आग्रह किया। अतः सोना-चाँदी की उत्तरोत्तर कमी होती गयी जिससे विविध क्षेत्रों पर अनिष्ट प्रभाव पड़ा। उसी प्रकार लकड़ी की माँग बढ़ने से अनेक निर्माण कार्यो तथा सैनिकों की आवश्यकताओं के लिए पेड़ों के जंगल काट डाले गये। फलतः अच्छी लकड़ी की भी कमी पड़ गयी। इन सब कठिनाइयों के साथ-साथ साम्राज्य की, विशेषतः इटली और रोम आदि नगरों की प्रजा में बेकारी और गरीबी उत्तरोत्तर बढ़ती चली गयी। जीवन-निर्वाह के लिए उनको रोटी, नमक, तेल देना आवश्यक हो गया। उसके

सिवा उनके मनोविनोद के लिए कोलीसियम, स्टेडियम आदि के खेल-तमाशों का करवाना भी आवश्यक समझा गया, जिसमें बहुत धन खर्च होता था और जिसके अभाव में उपद्रवों और अनेक प्रकार के जुर्मों के बढ़ने की सम्भावना थी। फलतः गरीबों और बेकारों तथा लुंगाड़ों को अनुदान देने, बेकारी रोकने तथा झूठे-मूठे निर्माणकार्यों को चलाने में भी बहुत रकम खर्च करनी पड़ती थी। उन कठिनाइयों से भी बढ़कर शासन तथा सेना की अनिवार्य वृद्धि के कारण खर्च में अपार वृद्धि होती चली जाती थी। ऐसी चिन्त्य दशा में करों, लगानों, टैक्सों आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण किसानों की तो दशा शोचनीय थी ही, व्यापारियों को भी अधिकाधिक बाधाओं का सामना करना पड़ा। सारांश यह कि कृषि, व्यापार, मुद्रा, साख, उद्योग-धन्धे आदि आर्थिक जीवन के सभी क्षेत्रों में अव्यवस्था, असन्तोष एवं क्षय के लक्षण भीषण होते चले गये।

कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि जिन-जिन क्षेत्रों में रोमनों ने कदम उठाया उनमें वे पराकाष्ठा तक पहुँच गये, जिससे आगे बढ़ना तभी सम्भव हो सकता था जब कोई नवीन दृष्टिकोण अथवा नयी चेतना जगती। तत्कालीन परिस्थिति में उसकी कोई सम्भावना दिखाई न पड़ी। स्थापत्य, मूर्तिकला और कुछ इंजीनियरी का विकास अवश्य हुआ, परन्तु विज्ञान अथवा कला के क्षेत्र में उन्होंने किसी विशिष्ट अथवा प्रगतिशील सिद्धान्त की कल्पना न की। दर्शन का ज्ञान उनको ग्रीस वालों से मिला किन्तु वह इतना परिपक्व था कि रोम वाले उससे आगे बढ़ने में नितान्त असमर्थ रहे। वस्तुतः रोमनों की प्रतिभा व्यावहारिक विषयों से सम्बद्ध रही, तत्त्वानुसन्धान की सामर्थ्य का उन्होंने कोई प्रमाण न दिया। साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने ग्रीकों का ही अनुसरण किया। काव्य, अलंकार, व्याख्यान कला और इतिहास तक ही उनको साहित्य में दिलचस्पी रही। सारांश यह कि उनकी प्रतिभा न तो बहुमुखी थी और न पारदर्शिनी ही। फलतः सांस्कृतिक क्षेत्र में वह एक सीमा तक पहुँचकर रुक गयी, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उसका कार्य समाप्त हो गया अर्थात् उस युग का अन्त हो गया। आगे के विकास के लिए नये विधान और दृष्टिकोण की आवश्यकता हो गयी। नगरों तथा नागरिक जीवन की शिथिलता के कारण बहुमुखी सभ्यता तथा संस्कृति का जीवनस्रोत सूख-सा गया। यह माना जाता है कि ईसाई मत तथा उत्तरी यूरोप के विधानों से नये युग का सन्देश प्राप्त हुआ, जिससे पाश्चात्य सभ्यता के दूसरे अंग का आरम्भ हो गया।

रोम का सामाजिक जीवन

ऐतिहासिक रोम के प्रथम सहस्र वर्षों में रोम का सामाजिक जीवन प्रगति अथवा परिवर्तनशील रहा, अतएव सुविधा के लिए उसका क्रमबद्ध वर्णन अनिवार्य है। प्रथम तीन शताब्दियों (६००—३०० ई० पू०) में सामाजिक जीवन कृषि तथा कुटुम्बमूलक था। पैतृक व्यवस्था के अनुसार पिता का कुटुम्ब पर एक प्रकार से अपरिमित प्रभुत्व रहता था। वह यदि चाहता तो अपनी पुत्री, पुत्र तथा स्त्री का वध तक कर सकता था। सारी सम्पत्ति पर उसका अधिकार था, वही सर्वेसर्वा था और सब लेन-देन करता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कुटुम्ब के प्राणियों को संगठित अनुशासन में रहने का अभ्यास हो गया और कौटुम्बिक जीवन दृढ़ तथा आत्मीय भावना से अनुप्राणित हो गया। आचार-विचार तथा व्यवहार में नियन्त्रण स्थापित हो गया। साधारणतः पिता अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करता था क्योंकि उसका मनुष्यत्व, रीति-रिवाज, जनमत, वंश के पंचों की सभा तथा प्रेटर का अनुशासन उसके व्यवहार पर एक प्रकार का सन्तुलन और प्रतिबन्ध बनाये रखते थे। पुरुष का अविवाहित रहना अनिष्टकारी माना जाता था, क्योंकि उससे कुटुम्ब की शक्ति के ह्रास, अनिवार्य विवाह के कानून के अतिक्रमण तथा आर्थिक हानि सहने के सिवा मरणोपरान्त आत्मा को अनेक यातनाओं का कष्ट भोगना पड़ता था। विवाह का विशिष्ट ध्येय पुत्र उत्पन्न करना माना जाता था। पैदा होने के आठ दिन के बाद बच्चे को संस्कार द्वारा कुटुम्ब में शामिल किया जाता था। रोमन माताएँ बच्चों को दाइयों या दासियों के भरोसे नहीं पालती थीं। वे उन्हें स्वयं स्तनपान करातीं और उनका पोषण करती थीं। माता का सन्तान के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता था। यद्यपि पत्नी के अधिकार कानून द्वारा रक्षित न थे और स्त्री होने के कारण उसको पिता, भ्राता अथवा पुत्र की रक्षा में रहना आवश्यक था, तथापि व्यवहार में उसका स्थान तथा प्रभाव अच्छा-खासा था। अपनी सम्पत्ति का वह स्वयं प्रबन्ध करती और लेन-देन भी करती थी। कुटुम्ब में उसका आदर-सम्मान था। वह परदे के भीतर बन्द नहीं रखी जाती थी। धार्मिक क्षेत्र में वह पुरोहितिन का पद ग्रहण कर सकती थी। गृहिणी अथवा पुरन्ध्री की हैसियत से वह नौकरों-चाकरों तथा खर्च का नियन्त्रण करती थी। बुनना, कातना, उसके साधारण काम थे। उसको ओछे कामों के करने की आवश्यकता इसलिए न पड़ती थी कि प्रायः उन कामों के लिए गुलाम रख लिये जाते थे।

विवाह के लिए पुरुषों की आयु चौदह से बीस वर्ष और कन्याओं की कम-से-

कम बारह वर्ष से १९ वर्ष तक की अच्छी समझी जाती थी। वैवाहिक सम्बन्ध वर-वधू के माता-पिता निश्चित करते थे। विवाह में रोमानी प्रेम के लिए कोई स्थान न था। प्रेम का प्रसंग विवाह के उपरान्त आरम्भ होता था। यद्यपि पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्य की कैद न थी और उनको स्वैरिता की काफी गुंजाइश थी, किन्तु विवाह के लिए कन्या का अछूता होना आवश्यक समझा जाता था, जिससे सन्तति की शुद्धता सुरक्षित रहे। लड़के वाले को स्त्री-धन (दहेज) देना पड़ता था। वर वधू की चौथी उँगली में लोहे की अँगूठी पहनाता और तृण तोड़कर अपने कर्तव्य पालन की प्रतिज्ञा करता था। विवाह पाँच या छः प्रकार के होते थे। उच्च कुल में विवाह धार्मिक संस्कारों के साथ किया जाता था और वह सबसे अच्छा माना जाता था। कन्या-हरण अथवा कन्या-क्रय बुरा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर नाच-गाना, भोज और धूम-धाम होती थी। यद्यपि विवाह-विच्छेद अवैध न था तथापि उसका प्रचलन नगण्य-सा था। तलाक के नियम भी कठोर थे। वन्ध्यत्व और प्रत्यक्ष व्यभिचार ही उसके मुख्य कारण हो सकते थे। केवल पुरुषों को तलाक देने का अधिकार था। साधारणतः पति-पत्नी प्रेम के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे। पुंश्चलियों का व्यापार प्राचीन रोम में ठण्डा न था यद्यपि ग्रीस के समान रोमनों में वेश्यागमन कोई जघन्य कार्य नहीं गिना जाता था।

कौटुम्बिक वातावरण के फलस्वरूप रोमनों में कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, संयम, उद्यमशीलता, रहन-सहन की सरलता, परम्परा का आदर, अनुशासन का सम्मान, व्यवहार-कुशलता आदि गुण प्रस्फुटित हो गये। यद्यपि रोम वालों को पैसा प्यारा था और दान-दक्षिणा देने से वे यथासाध्य बचते थे तथापि चोरी, बेईमानी और भ्रष्टाचार से दूर रहते थे। मित्रों तथा परिचित लोगों में बिना सूद के लेन-देन होता था। सज-धज, बनाव-शृंगार, चटक-मटक, ठाठ-बाट, टीम-टाम को वे अच्छे गुण नहीं मानते थे। उनकी पोशाक ग्रीस के लोगों की-सी थी। पुरुष अथवा स्त्री चादर ओढ़ते थे, जिसके किनारे रंगीन होते थे। समाज में उनका स्थान ज्ञात रहता था। घरों में पुरुष सादी कमीज और स्त्रियाँ लबादे पहनती थीं। तीसरी शती ई० पू० तक रोम वालों का भोजन रोटी, शहद, पनीर, जैतून का तेल, तरकारियाँ, फल और पीने के लिए हलकी मदिरा थी। श्री-सम्पन्न लोग ही मांस और मछली खाते थे। उत्सवों के अवसर पर दावतें देने और खाने का लोगों को शौक था।

उपर्युक्त गुणों के कारण रोमन लोग अपने प्रतियोगियों पर विजय पाते रहे। किन्तु ज्यों-ज्यों उनका राज्य तथा ग्रीक सभ्यता और आचार-विचार का प्रभाव

बढ़ता गया त्यों-त्यों उनके रक्त, स्वभाव और रहन-सहन में परिवर्तन होते गये। युद्धों के कारण उनमें निर्दयता तथा हिंसा के भाव भी बढ़ते गये। लूट-खसोट से प्राप्त सम्पत्ति और गुलामों की वृद्धि से उनके जीवन में कृत्रिमता, शान-शौकत, भ्रष्टाचार तथा ऐश-आराम और विलासिता बढ़ती गयी। सैनिक आवश्यकताओं के कारण अधिक समय तक घर-बार से दूर रहने से उनका कौटुम्बिक जीवन शिथिल और क्षीण होता चला गया। वे क्रूर, लालची, स्वेच्छाचारी, स्वार्थी तथा विलासी होते चले गये। कौटुम्बिक जीवन अस्त-व्यस्त होने से उनमें उच्छृंखलता तथा अनुशासन की अवहेलना बढ़ती गयी। उनके रहन-सहन और आचार-विचारों में अमीरों की चकाचौंध घर करती गयी। उपर्युक्त लक्षण ईसा के पूर्व तीसरी शती से उत्तरोत्तर बढ़ते गये, यहाँ तक कि रोम वालों के जीवन और समाज की काया ही पलट गयी। पुरुषों के ही नहीं वरन् स्त्रियों के भी संयम और आचरणों में दिनों दिन परिवर्तन होता गया। कौटुम्बिक जीवन की मर्यादाएँ टूटती चली गयीं और स्वार्थ, स्वैरिता तथा विलासिता का समा बँधता चला गया। बड़े नगरों के पुरुषों तथा स्त्रियों में व्यभिचार का प्रचलन हो गया। वेश्यागृह और भटियारखाने बढते चले गये। वेश्याओं और वेश्यालयों का रजिस्टर रखा जाने लगा। वेश्यागृह शहर के बाहर होते और केवल रात्रि में खुलते थे। वेश्याओं में एक ऐसा वर्ग भी था जो सुशिक्षित और काव्य, संगीत तथा नाट्य कला एवं बातचीत तथा शिष्ट व्यवहार में बड़ा निपुण था। पुरुषों का भी एक वर्ग था जो वैशिक वृत्ति करता था। लोग आर्थिक अथवा राजनीतिक लाभ के लिए विवाह करने लगे। यदि उन्हें आशा के अनुकूल लाभ न हुआ तो वह विवाह विच्छिन्न करने में उन्हें संकोच न होता। एक पुरुष से सन्तुष्ट हो जाने वाली स्त्रियों की संख्या उत्तरोत्तर न्यून होती चली गयी। स्त्रियाँ बनी-ठनी रहने, स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने-फिरने और विलास करने लगीं। पुरुषों की दशा उनसे भी बुरी थी। पुत्र जनने के कष्ट और गृहस्थी के झमेलों से लोग-लुगाई बचने लगे। वैवाहिक बन्धन में न फँसने वालों की संख्या में चिन्ताजनक वृद्धि हो गयी। यह स्थिति शिक्षित तथा उच्च श्रेणी के रोम वालों की थी किन्तु अन्यान्य प्रदेशों से लाये हुए गुलामों तथा आजीविका की तलाश में आये हुए लोगों की सन्तति बढ़ती चली जाती थी, जिससे रोमन समाज और संस्कृति दबती जाती और आर्थिक समस्या जटिल होती जाती थी। कानून द्वारा रक्त सम्मिश्रण रोकने, अविवाहितों पर टैक्स लगाने और व्यभिचार रोकने के प्रयत्न किये गये किन्तु वे निष्फल रहे। विरोधियों ने अविवाहित रहने का कारण यह बताया कि स्त्रियाँ स्वैरिणी और

अविश्वसनीय तथा खर्चीली हो गयी हैं। राज्यसभा ने बढ़ती हुई फैलसूफी को रोकने के लिए कानून बनाये किन्तु जब उसके सदस्य ही उनका उल्लंघन करते थे तो अन्य लोग उनकी क्यों परवाह करते। बंक, व्यापार, महल, कोठियाँ, विलासकुंज, हमाम, बाग-बगीचे आदि आमोद-प्रमोद के साधन तथा कामुकता के प्रसाधन पुरुषों में ही नहीं वरन् नारियों में भी बढ़ते चले गये। उपर्युक्त प्रवृत्तियों की पूर्ति में गुलामों की अभिवृद्धि ने खूब सहायता की। शहरों में भिखारियों, बदमाशों और लुंगाड़ों की, जिन्हें मुफ्त में अन्न मिलता था, संख्या बढ़ती चली गयी। यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त दोष प्रायः नगरों में पाये जाते थे। ग्रामों और छोटी बस्तियों में उन्होंने विकराल रूप धारण नहीं किया। वहाँ रोमनों के पूर्ववर्णित गुणों में उतना क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ।

यद्यपि पुरानी मर्यादाओं के उल्लंघन से स्त्रियों की नैतिक हानि हुई तथापि उनमें निरे दोष ही नहीं प्रकट हुए। उन्हें तलाक देने का अधिकार हो गया किन्तु वे उसका उपयोग यदाकदा ही करती थीं। व्यसन और विलासिता के साथ-ही-साथ उनमें ललित कलाओं और विद्या का अनुराग उत्पन्न हो चला। वे ग्रीक साहित्य, दर्शनशास्त्र, डाक्टरी, कानून आदि पढ़ने-पढ़ाने और विविध विषयों पर भाषण देने लगीं। काव्य, नृत्य, गान तो उनके लिए उपयुक्त थे ही, वे व्यापार और लेन-देन भी अच्छे-खासे पैमाने पर करने लगीं। पुरुषों की तरह वे खुलकर सामाजिक आमोद-प्रमोद में भाग लेने योग्य हो गयीं। पुरुषों की-सी स्वतन्त्रता और अधिकार की माँग स्त्रियों की भी होने लगी। इस आन्दोलन का प्रमुख प्रतिपादक मुसोनिया का रूफस था (६५ ई०)।

रोमनों में जात्यभिमान और कुलाभिमान अधिक था। आरम्भ में रोम के निवासियों में तीन वर्ग थे। एक तो 'पेट्रीशियन' उच्च वर्ग, दूसरा 'प्लीबियन' निम्न वर्ग। इन दोनों के बीच में 'एक्विटस' थे जिनका पेशा व्यापार था। पेट्रीशियनों के हाथ में राज्य-सभा और सैन्य-संचालन था। वे लोग व्यापार करना तुच्छ काम समझते थे। प्लीबियन प्रायः कारीगर, छोटे किसान अथवा स्वतन्त्र किये हुए विजित लोग थे। सबसे अधम श्रेणी गुलामों की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि रोम में क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा गुलाम चार वर्ग थे। चूंकि विद्या के प्रति न तो उस समय प्रेम ही था और न उसका प्रचार ही। अतएव वहाँ ब्राह्मणों की-सी कोई श्रेणी न थी। उसका प्रादुर्भाव ई० पू० तृतीय शती से हुआ और ग्रीक साहित्य से स्फूर्ति पाकर विद्यानुराग उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

आर्थिक व्यवस्था

आरम्भ में रोम तथा इटली के निवासी कृषक थे। पुरुष, स्त्रियाँ, लड़के-लड़कियाँ खेतों में काम करते और अपनी साधारण आवश्यकताओं की मितव्ययिता से पूर्ति करते थे। लोगों के पास दो-चार एकड़ अपनी जमीन होती थी जिससे वे अपना काम चलाते थे। युद्ध करके जीती हुई जमीन राज्य अथवा जनता की मानी जाती थी। अनाज के अलावा वे तरकारियाँ और फल-फूल भी पैदा करते थे। लोग प्रायः भेड़ और सुअर पालते और मुर्गियाँ रखते थे। संघर्ष तथा राज्य की वृद्धि के कारण किसानों को सेना में शामिल होना पड़ता था। सैनिक कार्य की अभिवृद्धि तथा युद्धों में कट-मर जाने से कृषक-समाज अव्यवस्थित होता गया। खेती-बारी स्वतन्त्र कृषक के बदले गुलामों के द्वारा करायी जाने लगी। खेतों की देख-भाल और उनके रक्षण में लापरवाही होने के कारण किसान खेतों को या तो बेचने लगे या अन्न के बदले फल आदि अधिक लाभप्रद पदार्थों की खेती करने लगे। बड़े जमींदारों का मुकाबला करने के साधनों के अभाव में छोटे कृषक जमीन बेचकर शहरों में रोजगार और धन्धे ढूँढ़ने लगे। अनाज की उपज उत्तरोत्तर कम होती गयी किन्तु उस कमी की पूर्ति के लिए कृषि-विकास पर ध्यान नहीं दिया गया। बहुत-सी खेती-योग्य जमीन भेड़ों के लिए चरने को छोड़ दी गयी अथवा अमीरों ने उस पर बाग या बगीचे लगवा लिये। भेड़, गाय, घोड़े और सुअर पैदा करने के लिए तथा अंगूर, सेब, अंजीर तथा जैतून की फसल से अधिक फायदा होता देखकर धनिकों ने बड़े-बड़े चरागाह और बाग बना लिये। खेती स्वतन्त्र किसानों के हाथ से गुलामों के हाथ में चली गयी और जमींदार गाँवों में न रहकर शहरों में बसते चले गये।

इटली में यद्यपि कुछ लोहा, ताँबा, टीन और जस्ता पाया जाता था किन्तु इतनी मात्रा में नहीं कि जिससे बड़े पैमाने पर व्यापार चलाया जा सकता। सोने का अत्यन्त अभाव था और चाँदी नगण्य-सी मिलती थी। खानों में गुलाम काम करते थे। धातु की चीज़ों में सबसे अधिक लाभप्रद औजार तथा अस्त्र-शस्त्र थे। इनके अलावा मिट्टी के बरतन, पाइप, टाइल, कुछ ऊनी और कुछ सूती कपड़ा भी बनता था। पेशों के अनुसार कारीगरों की संगठित श्रेणियाँ थीं। रोम के उद्योग-धन्धों का ह्रास होने के कई कारण हुए। एक तो यह था कि इटली से दूसरे प्रदेशों को माल भेजने में इतना खर्च लग जाता था कि वहाँ कीमत बढ़ने से खरीदार कम मिलते थे। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बड़े व्यापारियों ने प्रदेशों में कारखाने खोल दिये जिनमें इटली के कारीगर काम करते और सिखाते थे। उस नीति का परिणाम यह

हुआ कि इटली के बने माल का बाजार करीब-करीब जाता रहा। व्यापार घटने से इटली के कारीगर दूसरे प्रदेशों में जाकर बसने लगे और इटली में उनकी कमी पड़ गयी। दूसरी कठिनाई रोम के रईसों का शौक था। वे लोग बढ़िया से बढ़िया सामान अन्य देशों से मँगवाते थे, इटली के माल से उनको सन्तोष न होता था।

पहले मार्गों की व्यवस्था ठीक न होने से व्यापार में बड़ी अड़चनें पड़ती थीं। भूमध्यसागर पर अधिकार प्राप्त होने तथा सड़कें और पुल बन जाने से आगे चलकर सुविधाएँ तो प्राप्त हुईं किन्तु तब तक साम्राज्य तथा व्यापार का ऐसा नक़शा बदल गया कि आयात की अपार वृद्धि तथा निर्यात की शोचनीय कमी पड़ गयी। जब तक रोम को अपने अधीनस्थ प्रदेशों से लूट अथवा कर द्वारा धन मिलता गया तब तक तो गुलछर्रे उड़ते रहे, किन्तु जब उस प्रकार की आय से साम्राज्य का खर्च चलाना ही कठिन हो गया तब रोम की आर्थिक समस्या उत्तरोत्तर चिन्ताजनक होती चली गयी। इसके अलावा प्रदेशों में धनिकों और कारीगरों के चले जाने से वहाँ तो उद्योग बढ़ा किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि इटली की बनी चीज़ों की माँग घटती चली गयी और उसकी आर्थिक दशा दिनों दिन बिगड़ती गयी। बेकारों और गरीबों की संख्या में भयंकर वृद्धि होती रही।

ईसा के पूर्व चौथी शती तक रोम वालों में सिक्के का प्रचलन न था। आदान-प्रदान विनिमय द्वारा होता था। प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन पशुओं की उपयोगिता से किया जाता था। ई० पू० ३२८ से ताँबे के, २६९ से चाँदी और २१७ ई० पू० से सोने के सिक्कों का प्रचलन हुआ जिससे महाजनी और बैंकिंग की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी। आरम्भ में बंक मन्दिरों में स्थापित किये गये, क्योंकि पवित्र देवालय में चोरी या लूट की आशंका कम थी। सूद की दर साधारणतः बारह प्रतिशत थी किन्तु लोग उससे अधिक लेने का प्रयत्न करते रहते थे। सूदखोरी का रोग आगे चलकर इतना बढ़ा कि बहुत-से बंक और कोठियाँ मन्दिरों से निकलकर नगर में स्थापित हो गयीं।

शासन को कभी-कभी व्यापार के नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ जाती थी और वह निर्यात तथा आयात की मात्रा को घटा या बढ़ा देता था। साधारणतया उसकी नीति उदार थी। नगर में आनेवाली वस्तुओं पर चुंगी ढाई प्रतिशत लगायी जाती थी। साम्राज्य की आवश्यकता के अनुसार टैक्स घटते-बढ़ते रहते थे। किन्तु साम्राज्य के उत्तर काल में टैक्सों की इतनी वृद्धि होती चली गयी और टैक्स उगाहने वाले ठेकेदारों की क्रूरता इतनी बढ़ी कि प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गयी।

आमोद-प्रमोद

आरम्भ से ही रोमनों को गाने, नाचने, अभिनय तथा खेल-कूद का शौक था। उत्सवों, त्यौहारों, संस्कारों और छुट्टियों में घरों और मार्गों पर जहाँ अवसर मिला, रोमन चाहे अकेले या मित्र मण्डली बनाकर गाते-बजाते और खेल-तमाशे से मनोविनोद करते थे। बाँसुरी तथा वीणा उनके मुख्य बाजे थे किन्तु अनेक प्रकार के तन्त्रवाद्यों, पिपिहरी आदि का भी वे प्रयोग करते थे। पाँच प्रकार के गेंद के खेल प्रचलित थे, जिनमें एक या उससे अधिक व्यक्ति भाग लेते थे। घोड़े पर चढ़कर भी एक प्रकार से गेंद खेली जाती थी। सम्भवत: वह खेल पोलो के ढंग का रहा होगा। अखाड़ों में दौड़, कूद, फाँद के सिवा अनेक प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध होते थे। कैदी और गुलामों की वे ऐसी जोड़ें लड़वाते थे जिनमें कभी-कभी वे कट-मर जाते थे। तीसरी शती ई० पू० में बड़े पैमाने पर प्रतियोगिता तथा द्वन्द्वयुद्ध आदि के प्रदर्शन के लिए सबसे पहले प्रांगण (सर्कस) का निर्माण हुआ, जिसमें बिना टिकट के मुफ्त में खेल दिखाये जाते थे। धीरे-धीरे निर्दय तथा हत्यापूर्ण खेलों का लोगों में इतना शौक पैदा हुआ कि सेनापतियों, प्रशासकों आदि के लोकप्रिय होने के लिए सर्कस के खेलों का आयोजन करना अनिवार्य-सा हो गया। जनता के अनुरंजन द्वारा उसका बल प्राप्त करने के लिए नेताओं में लाग-डाट बढ़ती चली गयी। कई सर्कसों का निर्माण हुआ (८० ई०) जिनमें सबसे विशाल 'कोलिसियम' नामक था, जिसमें पचास हजार दर्शक बैठ सकते थे। उसमें अस्सी प्रवेशद्वार थे। उसके ध्वंसावशेष अद्यावधि विद्यमान हैं। वह रोमन स्थापत्यकला की विशालता का द्योतक है। सर्कसों में रथों, घोड़ों की दौड़ें, नटों के खेल, जादू के खेल, नक्कालों और भाँड़ों के प्रदर्शन, नौका-युद्ध, स्थल-युद्ध, पशुओं और मनुष्यों का युद्ध, तलवार, बर्छे-नेजों की प्रतियोगिताएँ, मुष्टिका-योद्धाओं के सच्चे और आमरण युद्ध आदि होने लगे। बड़ा खून-खराबा और लोमहर्षक वीभत्स दृश्य उन खेलों में होता था। उन हत्यापूर्ण और रक्त-रंजित प्रदर्शनों में कैदियों, गुलामों तथा कभी-कभी पेशेवरों का उपयोग किया जाता था। कभी-कभी ये प्रदर्शन १२० दिनों तक चलते थे। टाइटस के प्रदर्शन में पाँच सहस्र पशुओं का वध एक ही दिन में हो जाता था। उन खेलों ने रोमनों का हृदय कठोर, निर्दय और ज़ालिम बना दिया था।

रोमनों को अभिनय का भी शौक था। अभिनय के लिए रईसों ने बिना छत के विशाल भवन बनवाये थे। छत के बदले आवश्यकतानुसार चाँदनी फैला दी जाती थी। एक भवन तो इतना बड़ा था कि उसमें तीस सहस्र दर्शक बैठ सकते थे।

दर्शकों को किसी प्रकार की फीस नहीं देनी पड़ती थी। यद्यपि कभी-कभी रोमन व्यक्ति भी अभिनय करते किन्तु साधारणतः वे अभिनय करना अच्छा न समझते थे। अभिनेता प्रायः ग्रीक लोग होते थे। इन अभिनयों में यद्यपि चेहरे लगाकर प्राचीन नाटकों के अंशों का पाठ अथवा कथोपकथन होता था तथापि मूक प्रदर्शनों में जनता की अभिरुचि अधिक थी। कठपुतलियों के खेल, नाच, जादू के खेल, कन्दुक उछालने, कला-लाघव, अंगोपांगों का उद्घाटन तथा भाँड़ों की नकलों का, जो कभी-कभी स्पष्ट अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती थीं, प्रदर्शन होता था। रोमनों की रुचि का स्तर ग्रीक लोगों से कहीं अपरिष्कृत तथा नीचा था।

वर्ष में सौ दिन त्यौहार के लिए निश्चित थे। महीने का पहला, पाँचवाँ तथा नवाँ या पन्द्रहवाँ दिन त्यौहार के विशेष दिन माने जाते थे। प्रत्येक त्यौहार मनाने का निश्चित विधान और उसका अपना महत्त्व था। उनके त्यौहारों का अधिकतर सम्बन्ध कृषि या कृषक-जीवन के साथ था। पेरेन्टीलिया तथा फेरेलिया के उत्सव फरवरी मास में धूमधाम से मनाये जाते थे। उस अवसर पर दावतें होतीं, मद्यपान से लोग मत्त होकर मदनोत्सव मनाते थे, वे विधवाओं, विवाहिताओं, कुमारिकाओं तथा स्वतन्त्र बालकों पर हस्तक्षेप न करते थे। अप्रैल में फूलों का उत्सव मनाया जाता। दिसम्बर का मुख्य उत्सव सेटर्नालिया सत्रह से तेईस तारीख तक मनाया जाता था। उस अवसर पर पेट्रीशियन और प्लीबियन, स्वामी और दास का भेद भूल सब सम्मिलित होते और उत्सव मनाते थे। उस समय पर अश्लीलता के बन्धन और सदाचार के नियम शिथिल कर दिये जाते थे। इस उत्सव की समता भारत के होलिकोत्सव से की जा सकती है।

कलाएँ

आरम्भ में रोमनों के मकान पक्की ईटों के बनते थे जिनमें केवल एक ही कमरा होता था। उसी में उठना-बैठना, चूल्हा-चौका, खाना-पीना होता था। छत में एक गवाक्ष बना होता था जिससे धुंआँ बाहर निकलता रहे, किन्तु वर्षा में उसमें होकर जल भीतर घुस आता था। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ वास्तुकला की उन्नति होने लगी। यूट्रेस्कन लोग एशिया से महराब, गुम्बज तथा पक्की नालिका बनाने की कला सीख चुके थे। रोम वालों को ग्रीस के गृहस्तम्भों तथा छतों की पटाई का ज्ञान भी था। अतः वास्तुकला की उन्नति शीघ्रतापूर्वक होने लगी। सम्पन्न लोगों ने विशाल भवनों का निर्माण कराया जिनमें सुन्दर खम्भों वाले दालान,

कमरे, स्नानागार, हौज़, फव्वारे, हम्माम, पच्चीकारी के फर्श, जल आने-जाने की तथा कमरों को गर्म रखने की नालिकाएँ बनायी जाती थीं। मकानों की सजावट के लिए पत्थर एवं ताँबे की विभिन्न आकार तथा विविध प्रकार की मूर्तियाँ और कालीन, परदे, फर्नीचर आदि एकत्रित कर लिये जाते थे।

लोगों के मकान और महल समृद्धि के उतने द्योतक न थे जितने कि विशेषत: रोम तथा अन्य बड़े नगरों के देवालय, जातीय स्मारक, मेहराबदार फाटक, लोकोपयोगी स्नानागार, राजभवन, सर्कस और थियेटर आदि थे। यद्यपि यह सत्य है कि रोमनों की कलात्मक प्रतिभा ग्रीकों के समान न थी तथापि ग्रीस की कला ने और कुछ अंश में मिस्र की कला ने उन्हें अनुराग और स्फूर्ति ऐसी प्रदान की जिससे पूर्ण लाभ उठाकर और उस पर अपनी छाप लगाकर उन्होंने अपनी वास्तुकला की श्रीवृद्धि की। उनकी इमारतों में ठोसपन, दृढ़ता, विशदता, विशालता तथा महानता के गुण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनका अनुकरण शतियों तक यूरोप में होता रहा। उनकी कला के लिए 'रोमनेस्क' शब्द का प्रयोग किया जाता है। रोमनों ने पत्थर के अलावा पक्की ईंटों तथा कंक्रीट का जैसा उपयोग किया वैसा सम्भवत: उनसे पहले कहीं भी न हुआ था। पत्थर से हलकी होने के कारण कंक्रीट से बड़ी और चौड़ी मेहराबों, बड़े-बड़े गुम्बजों और धनुषाकार मेहराबदार छतों की रचना कर सकना सम्भव हो गया। विशाल इमारतों को सुसज्जित करने में भी उनको बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई। नदियों के मेहराबदार सुदृढ़ पुल जैसे रोमनों ने बनाये वैसे पहले कहीं भी न बने थे। रिमिनी का पुल (२२ ई०) उनकी कला का प्रत्यक्ष प्रमाण आज तक विद्यमान है। प्लेबियन वंश के बनाये कोलिसियम (८० ई०) के ध्वंसा-वशेष अद्यावधि दर्शकों को चकित कर रहे हैं। कारकेला का स्नानागार (हमाम) लोकोपयोगी स्थापत्य-कला के रत्नों में गिना जाता है। लोकोपयोगी विशाल भवन जैसे रोमनों ने बनाये वैसे पहले कभी किसी ने भी न बनाये थे। हेड्रिअन द्वारा निर्मित 'वीनस' का देवालय, कान्स्टेण्टाइन का 'बाजिल्का' गिरजाघर धार्मिक इमारतों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। उरु-सन्धि के सिद्धान्त पर मेहराबों के पारस्परिक संयोजन से विशाल प्रशालाओं और भीतरी छतों की शोभा में चमत्कार उत्पन्न किया जाता था। गुम्बज बनाने की कला में रोमनों ने अभूतपूर्व सफलता ही नहीं प्राप्त की, वरन् उसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। हेड्रिअन के 'पान्तिआँ' नामक सर्वदेव मन्दिर का गुम्बज आज तक अपने ढंग का संसार में सबसे बड़ा गुम्बज माना जाता है। सैकड़ों वर्ष तक उस कला में कोई वैसी उन्नति न कर सका। इमारतों

के बाहरी भाग को सुशोभित करने की कला का उन्होंने ऐसा विकास किया कि जिससे वे उसमें संसार के शिक्षक कहलाने के अधिकारी हो गये। रोमनों की बनवायी सैकड़ों मील लम्बी पक्की सड़कें, गढ़ तथा घाटियाँ, पानी बहा ले जाने वाले पक्के नल, पक्के पुल आदि उनके साम्राज्य की महत्ता तथा कौशल की साक्षी दे रहे हैं। टाइटस की निर्माण करायी इमारतों में स्मारक प्रवेश-द्वार की कला अपने पूर्ण यौवन पर दिखाई पड़ती है।

स्थापत्य के साथ ही साथ शिल्प तथा मूर्तिकला की भी श्रीवृद्धि होती रही। उनकी कृतियाँ यूरोप की अक्षय निधि मानी जाती हैं। टाइटस के उपर्युक्त प्रवेश-द्वार तथा ट्रेजन का विजय-स्तम्भ शिल्पकला के नवयुग का सन्देश देने वाले माने जाते हैं। उसकी छाप उन्नीसवीं और बीसवीं शती में भी स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्तिकला का प्रसार रोम में इसलिए अधिक हुआ कि वहाँ के नेताओं को अपनी प्रतिमूर्तियाँ निर्माण कराने तथा उन्हें प्रतिष्ठित कराने का बड़ा शौक था। सम्राट् का स्थान देवताओं के बराबर माना जाता था। फलतः उनकी कला में आदर्श तथा कल्पना का उतना प्रयास एवं प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता जितना कि ग्रीस की कला में मिलता है। किन्तु उसमें वास्तविकता और अनुरूप की यथार्थता की विशेषता है। कलापूर्ण अश्वारोही मूर्तियों का प्रचलन रोमनों ने विशेष रूप से किया जिसका अनुकरण अद्यावधि होता है। आवक्ष प्रतिमा बनाने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई।

चित्रकला में रोमनों ने हेलेनिस्टिक एवं अलेक्जेंड्रिया की कलाओं से स्फूर्ति प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी चित्रकला शिल्प तथा मूर्तिकला से विशेषतः प्रभावित हुई। उसने अपनी किसी स्वतंत्र परिपाटी का अवलम्बन अथवा विकास नहीं किया।

शिक्षा-दीक्षा

साधारण रोमन को माता-पिता से जो कुछ थोड़ी बहुत शिक्षा मिलती थी वह पर्याप्त मानी जाती थी। अध्यापकों द्वारा विधिपूर्वक अथवा पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करने का पहले रिवाज न था। शिक्षा का एक मात्र ध्येय व्यक्ति को उद्यमी, विनीत, साहसी, संयत, तत्पर, कर्त्तव्यपरायण, निर्भीक और व्यवहारकुशल बनाना था। ज्ञानसंवर्धन, बौद्धिक प्रखरता, गम्भीर एवं सूक्ष्म चिन्तन, साहित्य-विज्ञान-सर्जन आदि कार्य साधारणतया मनुष्यता अथवा पौरुष के लिए अनिवार्य या आवश्यक

नहीं समझे जाते थे। यही नहीं, लोग उनको क्षीणता, धूर्तता एवं छलना का प्रवर्तक समझकर उनसे झिझकते थे।

शिक्षा का सविधि प्रचलन विदेशी ग़ुलामों अथवा मुक्त दासों द्वारा आरम्भ हुआ। आरम्भ में केवल भाषा, कुछ साहित्य तथा गणित की ही शिक्षा दी जाती थी। ज्यों-ज्यों रोम राज्य का सम्बन्ध अन्य देशों से बढ़ता गया त्यों-त्यों रोमनों के शिक्षा सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन होता गया और उन्हें उसकी आवश्यकता तथा उपयोगिता का अनुभव होने लगा। ईसा के पूर्व तीसरी शती के उत्तर काल से शिक्षा एवं साहित्य को उत्तरोत्तर प्रोत्साहन मिला। ग्रीकों का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव दिनों दिन गहरा होता गया। होमर के महाकाव्य का लैटिन में अनुवाद हुआ और लोक-प्रदर्शन के लिए सुखान्त एवं दुखान्त नाटकों की रचना हुई। उपर्युक्त ग्रन्थों का रचयिता लिविअस् एन्डोन्टोनिकस एक ग्रीक था। विद्या की अधिष्ठात्री देवी मिनर्वा के मन्दिर में कवियों और नाटककारों की गोष्ठियाँ होने लगीं। साहित्य तथा संगीत को प्रोत्साहन देने के लिए सम्राट् डोमिटियन ने (८६ ई०) केपिटोलाइन के खेलों के साथ उनको भी प्रतियोगिता के लिए शामिल कर दिया।

रोमनों ने साहित्य एवं शिक्षा में ग्रीकों का यथासाध्य अनुकरण किया, यद्यपि उनमें ग्रीकों की सी प्रतिभा और कलात्मकता न थी। फलतः इतिहास, जीवन-वृत्त, वक्तृत्वकला, राजनीति, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र का गद्य के क्षेत्र में और महाकाव्य, नीतिकाव्य, नाटक, लोककाव्य का पद्यक्षेत्र में पठन, मनन एवं सर्जन हुआ। उनके अतिरिक्त रोमनों की भी अपनी कुछ देन है। कानून तथा विधान, विज्ञान एवं कला-सम्बन्धी साहित्य उनकी अपनी विशेषता है। उनके धार्मिक दृष्टिकोण की विशेषता भी उनके साहित्य पर अंकित है। उनके प्रहसनों और व्यंग्यों में भी वैशिष्ट्य का अभाव नहीं। सबसे बड़ी देन तो उनकी समृद्ध भाषा है जिसकी गंभीरता, गुरुता एवं संतुलित अभिव्यक्तिशीलता का लोहा पश्चिमी संसार आज तक मान रहा है। लैटिन भाषा का व्यापक प्रभाव आज दिन भी कानून, दर्शन, चिकित्सा, स्थापत्य, कृषि, वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित साहित्य में विद्यमान है। रोम के लैटिन इतिहास-लेखकों में ग्रीक पोलीबायस (२०४–१२२ ई० पू०), सालस्ट (८६–३४ ई० पू०), जूलिअस सीजर (१००–४४ ई० पू०), लिवी (५९–१७ ई० पू०), टेसिटस (५५–१२० ई०) के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। जीवनचरित्रों के प्रमुख लेखकों में वेरो (११६–२६ ई० पू०), ग्रीक प्लूटार्क (४६–१२६ ई०), ग्रीक फिलास्ट्रेटस (२५० ई०) सुप्रसिद्ध हैं। रोम के इतिहासज्ञों तथा जीवन-

वृत्त-लेखकों का मुख्य ध्येय कुनीति के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराना, महान् व्यक्तियों के जीवन से शिक्षा ग्रहण करना तथा उत्साह-संवर्धन मात्र था। उनकी वर्णनशैली आकर्षक तथा उत्तेजक है। केवल पोलीबायस ने इतिहास की तुलनात्मक आलोचना करने का प्रयास किया है।

काव्य

लैटिन भाषा का सबसे पहला उल्लेखनीय कवि क्विन्टस कूविअस (२३९ ई० पू०) हुआ जिसने विविध प्रकार के काव्यों तथा नाटकों की रचना की। उसके दुखान्त नाटक तथा ग्रीक प्लाटर्स (१५४–१८४ ई० पू०) के सुखान्त नाटक रोम वालों का मनोविनोद करते थे। टेरेन्स (१९५–१५९ ई० पू०) के नाटक प्लाटर्स के नाटकों से भी अधिक परिष्कृत माने जाते हैं। उनके नाटकों में ग्रीक नाटकों का अनुकरण है। वस्तुतः नाटक-रचना तथा नाट्य कला में रोमनों ने कोई विशेष स्मरणीय कार्य नहीं किया। ल्यूक्रेटिअस (९९–५५ ई० पू०) की दार्शनिक अनुभूति से गर्भित काव्य के विषय में कहा जाता है कि वह होमर और शेक्सपियर से कुछ ही मध्यम किन्तु शेली, कीट्स तथा वर्ड्स्वर्थ के सुकोमल स्पन्दनों से युक्त है। प्रकृति के सौन्दर्य को उसका हृदय तीव्रतापूर्वक अनुभव करता था। उसनें लैटिन पद्य की श्रीवृद्धि उसी प्रकार से की जैसी कि गद्य की सिसरो ने। यदि उसे रोमन साहित्य के स्वर्ण-युग (३० ई० पू०, १८ ई०) का प्रभात कहा जाय तो अनुचित न होगा। उससे प्रभावित होकर रोम के महाकवि वर्जिल ने 'ईनेईड' नामक महाकाव्य की रचना की जो अपनी अपार देशभक्ति, विशाल हृदय, मानवता की कल्पना और कान्त-पदावली से पाठकों को मुग्ध करता है। यद्यपि उसके काव्य में वह बल, तेज तथा गुरुता नहीं जो होमर में मिलती है, तथापि रोम के सुप्रसिद्ध कवि होरेस की दृष्टि में वह होमर की समकक्षता का अधिकारी है। रोम वाले उसे अपना राष्ट्रकवि मानते चले आते हैं। 'ईनेईड्' केवल रोम की ही नहीं वरन् मानव जगत् की भी काव्यात्मक वाणी कही जाती है। उसका समकालीन होरेस (६५–८ ई० पू०) एक मुक्त दास का पुत्र था। जीवन के उतार-चढ़ाव, रंग-बिरंगे साहित्य, रोमन समाज के भीतरी तथा बाहरी व्यापार, स्वयं अपने जीवन की समता-विषमता, आचार-अनाचार की उसने सहृदय मधुकर की भाँति अर्जन और विसर्जन द्वारा भावुक वृद्धि की। सारांश यह है कि उसने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का सम्यक् दरश-परस और व्यंग्यात्मक आलोचन भी किया। उसके गीति-काव्य ने

अपने युग में एक तहलका मचा दिया था। प्रशंसा तथा निन्दा की बौछार उस पर हो गयी थी। उसकी काव्य-परचियों ने रचना-कला तथा शिल्प पर महत्त्व-पूर्ण प्रकाश डाला। उसके विचारों में स्वातंत्र्य, गंभीरता तथा सहृदयता का मधुर मिश्रण है। जीवन का विलासमय तथा माधुर्यमय अनुभव करने वाले कवियों में ओविड का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। उसकी कविता वासना-वासित है। अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल उसने काम-कला पर ग्रन्थ लिखे (२ ई० पू०), जिनमें कुछ वात्स्यायनिकता के लक्षण मिलते हैं। उसकी असंयत तथा नैतिक उच्छृंखलता के कारण सम्राट् आगस्टस ने उसको देश से बहिष्कृत कर दिया था। प्रवास के विषाद तथा पूर्व स्मृतियों के क्रन्दन से प्रसूत उसकी कविताओं में अकृत्रिम वेदना प्रतिध्वनित है। उपर्युक्त कवि आगस्टन युग (स्वर्णयुग) के प्रमुख कवि थे। आगस्टन युग के साथ ही रोम के साहित्य पर भी पटाक्षेप हो जाता है।

साहित्य का दूसरा युग (१४–११७ ई०) 'रजत युग' कहलाता है। यह युग रोमानी था। इसका आरम्भ तो होरेस ने ही कर दिया था किन्तु उपन्यास-लेखन का आरम्भ पेट्रोनियस के शंखनाद से घोषित हुआ। यद्यपि भाषा की प्रौढ़ता तथा शैली का सौन्दर्य बाद तक विकसित होता रहा तथापि काव्यों और नाटकों के प्रसाद तथा साहित्यिक गौरव का क्षय सा तब तक हो गया। साहित्यकार छन्द, अलंकार, व्याकरण, शाब्दिक चमत्कार, यति-गति, लय आदि में उन्नति करते रहे। साहित्य-क्षेत्र में राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक दलबन्दियाँ होती रहीं। शुद्ध अकृत्रिम साहित्य छायाग्रस्त होता चला गया। कवियों में पोपनिअस, स्टाटियस ने 'थेबइड' महाकाव्य रचा। मर्टिआलिस जो निकम्मों का प्रमुख कवि प्रख्यात है तथा उसका समसामयिक जुवेनाल सामाजिक व्यंग्यों के लिए विशेषतः उल्लेखनीय हैं, परन्तु उनकी दृष्टि एकांगी थी। इसका कारण संभवतः यह था कि रोमनों का साहित्य उनकी अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व का प्रस्फुटन नहीं वरन् ग्रीकों की प्रतिच्छाया था। रोमन प्रतिभा व्यावहारिक थी, न कि कल्पनात्मक अथवा कलात्मक।

रोमन गद्य की अपनी विशेषता है। लैटिन गद्य की विशेषता एवं महत्ता का संकेत ऊपर हो चुका है। उसके प्रमुख लेखकों में सबसे पहला उल्लेखनीय नाम केटो (२३–१४ ई० पू०) का है। उसके लिखित भाषण, निबन्ध तथा 'ओरिजिनस' (उद्गम) नामक इतिहास-ग्रन्थ प्रौढ़ गद्य के पुष्ट प्रमाण हैं। रोमन गद्य का सबसे श्रेष्ठ लेखक सिसरो (१०६–४३ ई० पू०) माना जाता है। उसकी शब्द-कृति, भाषा की अप्रतिम प्रौढ़ता, विदग्धता एवं वाग्मिता की प्रशंसा साहित्य-संसार में

अद्यावधि होती है। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि उसका स्थान एथेन्स के प्रवक्ता डेमास्थनीज़ से भी ऊँचा है। दार्शनिकों तथा इतिहास एवं जीवन-वृत्त के लेखकों ने भी गद्य साहित्य की उन्नति में यथोचित भाग लिया। सूक्तियों, व्यंग्यों, कथानकों के द्वारा व्यौवहारिक भाषा की पुष्टि हुई और उसको साहित्यिकता का स्थान प्राप्त हो गया। उस युग के लेखकों में सेनेका, व्यंग्य-काव्य-रचयिता पर्सिअस तथा फासेलिया नामक वीरकाव्य का रचयिता लूकन उल्लेखनीय हैं।

ग्रीक भाषा में भी कुछ लोगों ने ग्रन्थ लिखे। सम्राट् मार्कस आरेलियस ने 'मेडीटेशन', आरियन ने 'महान अलेक्जैंडर', प्लूटार्क ने प्रसिद्ध 'ग्रीक और रोमन्स के चरित्र' और लूसियन ने व्यंग्यात्मक कथोपकथनों की, जो महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं, रचना की।

साहित्य और इतिहास के अलावा विशेष विषयों पर भी कुछ उल्लेखनीय रचनाएँ हुई। गेलन (जालीनूस) ने आयुर्वेद से सम्बन्धित कई ग्रन्थ रचे जिनका पठन-पाठन कई शतियों तक यूरोप और पश्चिमी एशिया में होता रहा और जिनका प्रभाव भारत के हकीमों तक पहुँचा। क्लाडिअस प्लीनी (१५० ई०) ने भूगोल और ज्योतिष पर ग्रन्थ लिखा जिसका पठन-पाठन भी शतियों तक होता रहा।

कानून

ईसा के पूर्व पाँचवीं शती के मध्य तक रोमनों के कानून अलिखित थे और केवल पेट्रीशियन कुलीनों को ही उनका ज्ञान तथा अनुमान था। वे अपने हित और प्लीबिअनों (निम्नश्रेणी) के दमन के लिए उनका प्रयोग करते थे। प्लीबिअनों ने आन्दोलन करना शुरू किया जिसका फल यह हुआ कि सिनेट ने एक कमेटी नियुक्त की और उसे दक्षिणी इटली के ग्रीकों के कानूनों का अध्ययन करने के लिए भेज दिया। उसके लौटने पर दस आदमी कानूनों को लिखने के लिए चुन लिये गये। सन् ४४९ (ई० पू०) में कानूनों का संग्रह लकड़ी की बारह पट्टियों पर लिखकर चौक में लटका दिया गया। तबसे वे बारह पट्टियों के कानून के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे कानून सीधे और सरल थे और उस समय की सामाजिक परिस्थिति से सम्बन्धित थे। उनमें पेट्रीशियन और प्लीबिअनों के आपसी ब्याह को गैरकानूनी धोषित किया गया, पिता का पुत्र के मार डालने तक का अधिकार माना गया और मृतक के शोक में स्त्रियों को अपने मुख के खरोचने की मनाही कर दी गयी। आन्दोलन जोर के साथ चलता रहा। चार वर्ष के बाद उपर्युक्त विवाह का कानून रद्द कर दिया गया। इस बीच में कबीलों

की सभा के निर्णयों को भी कानून का महत्त्व दे दिया गया। धीरे-धीरे प्लीबिअनों के अधिकार बढ़ते गये और उनकी कठिनाइयाँ दूर होती गयीं। उनकी श्रेणी से कॉन्सल, मजिस्ट्रेट, देवालयों के संरक्षक भी चुने जाने लगे। यही नहीं, कबीलों की सभा को कानून बनाने के स्वतंत्र अधिकार भी मिल गये (२८७ ई० पू०)। डेढ़ सौ वर्ष के सतत प्रयत्नों से प्लीबिअनों ने रोम के शासन में अपना स्थान बना लिया और उसे जनसत्ता का स्वरूप दे दिया। यद्यपि सिनेट की प्रधानता फिर भी कायम रही किन्तु उसका कारण उसके सदस्यों की योग्यता थी, न कि कोई विशिष्ट कानूनी व्यवस्था। वस्तुतः वे संविधान सम्बन्धी कानून को छोड़कर अन्य कानूनों के निर्माण से उदासीन हो गये। जूलिअस सीजर की प्रबल अभिलाषा थी कि वह न्याय तथा औचित्य के सिद्धान्तों के अनुकूल रोम के कानूनों का संग्रह तैयार कराये, किन्तु उसकी पूर्ति उसके जीवन-काल में न हो सकी। रोम के राजनीतिक अनुभव, साम्राज्य की नवीन समस्याएँ, पुराने कानूनों की पारस्परिक असंगति और रोमनों के मानसिक विकास ने उस कार्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और उसकी आवश्यकता प्रदर्शित की। आगस्टस ने कानून की शिक्षा और गवेषणा के लिए जब संस्था स्थापित की तब उसका विधिपूर्वक अध्ययन होने लगा। ग्रीस के कानूनों का भी तुलनात्मक विमर्श किया जाने लगा। कानूनों पर सैद्धान्तिक तथा तार्किक टीकाएँ और निबन्ध लिखे जाने लगे और तर्क-वितर्क होने लगे। रोमन कानून का सबसे महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्य १०० ई० पू० से ३०० ई० तक हुआ। कानून का अध्ययन आकर्षक हो गया और प्रत्येक शिक्षित रोमन को उसका कुछ न कुछ ज्ञान कराया जाता था। कानून के शास्त्री पहले उसका व्यवसाय नहीं करते थे अपितु बिना किसी प्रकार की फीस आदि लिये प्रश्न अथवा परामर्श करने वालों को राय दे दिया करते थे।

रोमन कानून मुख्यतः प्राचीन रोमन समाज के प्रचलित व्यवहारों पर अवलम्बित था। उनका समाज तीन वर्गों में विभक्त था—स्वतंत्र जन, मुक्त दास और दास। प्रत्येक कुटुम्ब एक संगठित इकाई था जिसमें व्यक्तियों के निश्चित स्थान और अधिकार थे। रोम वाले वैयक्तिक तथा कौटुम्बिक विधि और विधानों को उन कानूनों से पृथक् मानते थे जो सार्वजनिक (पब्लिक) श्रेणी के अन्तर्गत आते थे। अतएव दोनों के अपने अपने क्षेत्र थे जिनका तदनुकूल निर्वाह किया जाता था। दूसरी जानने योग्य आवश्यक बात यह है कि रोमन लोग कानून के लिखित और अलिखित दो विभिन्न अंग मानते थे। अलिखित कानून प्रचलित व्यवहारों पर आश्रित थे। किन्तु ज्यों-ज्यों उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता गया और अन्य समाजों से उनका सम्पर्क

बढ़ता गया तथा नयी समस्याएँ उपस्थित होती गयीं, त्यों त्यों व्यवहारों के सैद्धान्तिक पक्ष पर बल दिया जाने लगा और अन्य समाजों के व्यवहारों को भी महत्त्व प्राप्त होता गया। न्याय, संरक्षण एवं रोमन शासन के प्रति विश्वास दृढ़ करने के लिए तथा प्रगतिशील एवं व्यापक सामाजिक समस्याओं के समाधान के निमित्त लिखित कानून का क्षेत्र, महत्त्व और प्रयोग बढ़ता गया। अलिखित कानूनों की अपेक्षा लिखित कानून में अधिक लचीलापन एवं स्पष्टता होना स्वाभाविक था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि आगस्टस के समय तक कानून के प्रवर्तन का क्रम, दासता सम्बन्धी विधान, विवाह तथा उत्तराधिकार के कानून और संविधान अधिक व्यवस्थित एवं निश्चित हो गये।

कानून दो प्रकार के थे। जो कानून रोमनों पर लागू होते थे वे 'जुस सिविलिस' और जो विदेशियों तथा रोमनों पर समान रूप से लागू होते थे वे 'जुस जेन्टिअम्' कहलाते थे। किन्तु सम्पर्क ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों दोनों एक-दूसरे के सन्निकट आते गये और उनकी भिन्नता घटती गयी। जहाँ व्यापार, अनुबन्ध, करारनामा आदि के नियम विशेष करके समान से हो गये वहाँ कौटुम्बिक विषयों के कानून पृथक् रखे गये। मुकदमों की घटनाओं और वस्तुस्थिति की जाँच-पड़ताल 'प्रेटर' करते थे और न्याय न्यायाधीश (जज) करता था। यदि कानून के सम्बन्ध में कोई संशय उत्पन्न हो जाता तो 'धर्माधिकारी' की व्यवस्था (मत) मान्य होती थी। स्थानिक जजों के अलावा ऐसे जज भी नियुक्त किये जाते थे जो दौरा करते और न्याय द्वारा दूरस्थ जनता को लाभान्वित करते थे। उसी प्रकार दौरा करने वाले 'प्रेटर' भी नियुक्त कर दिये गये थे। धीरे-धीरे प्रेटर को मुकदमा करने के सिवा निर्णय देने का भी अधिकार दे दिया गया जिससे लोगों को सुविधा हो गयी। फैसलों का प्रवर्तन करने के लिए अफसर नियुक्त थे। 'प्रेटर' अपनी नीति की घोषणा करते थे, जिसका यथासम्भव सम्मान उनके परवर्ती भी करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके द्वारा घोषित कानूनों का भी एक विशाल संग्रह हो गया। उपर्युक्त घोषणाएँ प्राय: न्यायसम्मत होती थीं और उनको कानून-का-सा महत्त्व मिला हुआ था। उनको घटाने-बढ़ाने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार सम्राट तथा सिनेट को ही प्राप्त था।

उपर्युक्त कानूनों के अलावा ग्रीकों के दार्शनिक विचारों के आंशिक प्रभाव तथा उनके अनुभवों के कारण रोमन लोग 'प्राकृतिक नियमों' का भी अस्तित्व मानने लगे थे और उनको विश्वव्यापक समझते थे। फिर भी उनको वह महत्त्व न दिया

गया जो सुस्थिर विध्यात्मक कानूनों को मिला हुआ था। रोमन कानूनों का स्वर्ण-युग १०० ई० से २५० ई० तक था। उस युग में नाना प्रकार के विधान, कानून बने जिनसे उनका न्याय-सम्बन्धी साहित्य सम्पन्न एवं विस्तृत हो गया। संस्थाओं, श्रेणियों को कानून द्वारा व्यक्तित्व प्रदान करना रोमनों की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन माना जाता है। सम्पत्ति, व्यापार, करारनामा, अधिकार, कर्त्तव्य, नागरिक संस्थाओं से सम्बन्धित कानूनों की रचनाएँ हुईं। उनका सांगोपांग अध्ययन और विवेचन होने लगा जिससे व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों पक्षों की अभूतपूर्व उन्नति हुई। गायस, पेपीनिअन, पाल, अल्पियन आदि कानून के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। सन् ३०० ई० के लगभग कानूनों का प्रथम व्यवस्थित संग्रह रचा गया। किन्तु पाँचवीं शती का सम्राट् थियोडोसिअस द्वारा (४३८ ई०) रचाया गया और छठी शती का सम्राट् जस्टिनियन द्वारा तैयार कराया कानूनों का संग्रह (५२८–५३५ ई०) सुविख्यात हैं। प्रसिद्ध कानून-शास्त्री ड्राइबोनियस की अध्यक्षता में संगृहीत कानून का संकलन चार भागों में किया गया। पहले भाग में कानून के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया, दूसरे में कानून के प्रमुख विद्वानों के मतों का संक्षिप्त वर्णन था, तीसरे में सम्राटों की विज्ञप्तियाँ, आज्ञाएँ और निर्णय रखे गये और चौथे भाग में नये कानूनों को, जो कोड की रचना के बाद बने, स्थान दिया गया। वह संग्रह रोम के कानूनों का सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक संग्रह आज तक माना जाता है। रोम की कानूनी प्रतिभा और उसकी देन का वह सबसे आदरणीय उपहार है।

रोमन कानून के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उसका मुख्य आधार दैविक आज्ञाएँ न थीं वरन् मानुषिक अनुभव और विचार थे। यही उसके लचीलेपन का कारण है। उन्हें अन्य देशों के प्रचलित कानूनों से लाभ उठाने में अथवा स्व-निर्मित कानूनों से सुधार एवं आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने में कोई संकोच न था। इस प्रकार कानून के सम्बन्ध में तार्किक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जाने लगा। लोक-प्रचलित व्यवहार, सिनेट अथवा जनसभा द्वारा रचित कानून, सम्राटों की आज्ञाएँ तथा निर्णय, प्रेटरों की विज्ञप्तियाँ, कानूनशास्त्रियों की टीकाएँ तथा निबन्ध, दार्शनिकों की सैद्धान्तक मीमांसा आदि रोमन कानून के आधार थे।

धर्म और विश्वास

रोम के इतिहास को ईसाई इतिहास-लेखक दो भागों में विभक्त करते हैं। रोम

के आरम्भ से ईसा के समय तक पहला युग माना जाता है। उसमें इटली, मध्य सागर तथा ग्रीस और पश्चिमी एशिया का अधिक प्रभाव और महत्त्व रहा। दूसरे युग में ईसाई धर्म का उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ा, जिससे रोम के सांस्कृतिक जीवन की रूपरेखा बदलती चली गयी, यहाँ तक कि ईसाई धर्म ही साम्राज्य का एक मात्र धर्म हो गया। ईसाई धर्म भी यूरोप में एशिया से ही गया था, इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक मामलों में रोम ही नहीं वरन् यूरोप ने एशिया में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की। भेद इतना है कि पूर्व युग में अधिकतर आर्य प्रजाति का तथा मिस्र का और उत्तर युग में सेमेटिक प्रजाति का प्रभाव पड़ा।

यूट्रस्कन लोग बारह मुख्य देवता मानते थे। सबसे प्रथम और गौरवपूर्ण स्थान 'तिनिया' नामक देवता का था जिसका शस्त्र और तेज मेघ-गर्जन और वज्र के रूप में प्रकट किये जाते थे। उसी की इच्छाओं और अनुशासनों का अपने-अपने क्षेत्र में अन्य देवता प्रतिपालन करते थे। 'मन्तुस' और उसकी स्त्री 'मनिया' अपने पंखों वाले दानवों द्वारा पाताल से शासन करते थे। सर्प, असि, लेखनी, रोशनाई, हथौड़ा तथा कीलों से विभूषित भाग्य की देवी 'लस' अथवा 'मियान' अटल नियति निश्चित कर देती थी। प्रमुख देवताओं के बाद ग्राम तथा कुल-देवताओं का स्थान था जिनकी छोटी छोटी मूर्तियाँ घरों में प्रतिष्ठित की जाती थीं। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं और कभी-कभी मनुष्यों की भी बलि दी जाती थी। बलिदान के लिए अधिकतर युद्ध में पकड़े हुए कैदी उपयुक्त समझे जाते थे। लोगों का स्वर्ग और नरक में विश्वास था। अपने-अपने कर्मों के अनुसार मरणोपरान्त जीवों को पाताल का अधिपति दंड अथवा पुरस्कार देता था। नरक में पापियों को विविध प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। पुण्यात्मा जन देवलोक भेज दिये जाते थे जहाँ वे देवताओं के साथ आनन्दमय एवं समृद्धिपूर्ण जीवन का उपभोग करते थे। मृतक प्रायः कब्रों में आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं के साथ दफना दिये जाते थे। दफनाने के अलावा मृतकों को जला देने का भी चलन था। जलाने के पश्चात् मृतक के कुछ भस्मीभूत अवशेषों को एकत्रित करके पेटिका में रख लेते थे। उसके समाधि-भवन में उसकी आवश्यकताओं की चीजें रख दी जाती थीं जिससे उसे कष्ट न हो।

रोमनों का विश्वास था कि एक विश्वव्यापी शक्ति है जिससे देवता ही नहीं वरन् विशिष्ट मनुष्य भी अधिक अथवा लघु मात्रा में अनुप्राणित होते हैं। वह शुद्ध लिंगरहित शक्ति है। अधिक अंश में उसका प्रकाश तीन प्रमुख देवताओं में हुआ—

जुपिटर, मार्स, क्वीरिनस। जुपिटर आकाश एवं ऋतुओं का, मार्स कृषि तथा युद्ध का और क्वीरिनस उच्च नागरिक श्रेणी का देवता था। उनके सिवा 'जेनस' द्वार के बाहर का तथा कार्यारम्भ का, 'वोल्केनस' ज्वालामुखी पर्वतों तथा अग्नि का, जूनो स्त्रियों का तथा नेप्च्यून जल का देवता था। उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त अनेकानेक छोटे-मोटे देवता थे। रोमनों के विश्वास के अनुसार मनुष्य के यावत् व्यापारों का सम्बन्ध इस लोक और परलोक से है। इन दोनों लोकों का समन्वय उसके कुटुम्ब और कौटुम्बिक जीवन में होता है। ग्रीकों की भावना के विपरीत रोमनों के देवता शरीरधारी न थे। वे अशरीर किन्तु चैतन्य आत्मा थे। जगत् अथवा जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र हो जिसका देवता रोमनों ने कल्पित न किया हो। फलतः घर, द्वार, चूल्हा, चक्की, खेत-खत्ती, खलिहान, चरागाह, निद्रा, चलना-फिरना, संजनन, गर्भ, उत्पादन आदि के अगणित छोटे-बड़े देवता थे। रोम ने अन्य जातियों के देवताओं को भी अपनाया, उदाहरण के लिए हेरेक्लीज और वीनस जो उपवन तथा यौवन-प्रेम की देवी थी। ग्रीकों से अपोल , पोलस आदि, इटैलियनों से लाइबर पेटर (सुरा का देवता), ईरान से मिथ्र उन्होंने देवरूप में ग्रहण किये। इन देवताओं के सिवा रोम में देवियों की भी अर्चा होती थी। इटैलियन देवियों में से 'केरेस' की देवी, जिसकी तुलना ग्रीक देमेतर से की गयी है, 'लिबेरा' (सुरा के देवता की स्त्री) तथा मिनर्वा (संग्राम-कौशल और ज्ञान की देवी), एशियाई, देवियों में से देवों की माता आदि उनमें प्रमुख थीं। ग्रीस, एशिया, मिस्र, ईरान आदि देशों के देवी-देवताओं तथा उनके सम्बन्ध की अनुश्रुतियों, विश्वासों अथवा धारणाओं के आने से रागात्मक तथा भावात्मक अर्चाएँ, क्रियाएँ आदि प्रचलित हो गयीं। उदाहरण के लिए 'बआल' (सूर्य देवता), मिथ्र (योद्धाओं का देवता तथा प्रकाश का अधिष्ठाता), 'मा' एवं 'आइसिस' आदि देवी-देवता इस श्रेणी में गिने जा सकते हैं। इन सब परिवर्तनों का यह परिणाम हुआ कि रोमन उदारचेता तथा धर्मसहिष्णु हो गये। उनमें धार्मिक असहिष्णुता का दोष विकसित न हुआ। यद्यपि उनका धार्मिक व्यक्तित्व तथा वैशिष्ट्य क्षीण होता रहा तथापि उसका सर्वथा विनाश न हुआ, क्योंकि नगरों के बाहर ग्रामों में उनके विचारों का अधिक कायापलट न हो सका।

कुटुम्ब का स्वामी धार्मिक संस्थाओं का संरक्षण जिस प्रकार करता था उसी प्रकार राष्ट्रीय धर्म का सर्वोपरि संरक्षण सेण्टरियनों द्वारा निर्वाचित 'पाण्टिफेक्स मेक्सिमस' करता था। धर्माधिकारी के चुनाव में किसी वर्ग-विशेष का विचार

नहीं किया जाता था। चुनने वाले साधारण नागरिकों में से जिसको चाहते चुन सकते थे। प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय धर्माधिकारियों का भी उसी प्रकार चुनाव होता था, किन्तु वे सब 'पाण्टिफेक्स मेक्सिमस' की अध्यक्षता में रखे जाते थे। पुजारी प्रायः पुरुष होते थे। सार्वजनिक धार्मिक कृत्य धार्मिक समितियों द्वारा, जिनको 'कालेज' कहते थे, सम्पन्न किये जाते थे। उन कालेजों में विशेषतया उल्लेख करने योग्य 'वेस्टल वर्जिन्स' अर्थात् अग्निरक्षिका कुमारियों की समिति थी। छः से दस वर्ष तक की बालिकाएँ उस सेवा के लिए चुन ली जाती थीं। उनको तीस वर्ष तक सफेद वस्त्र धारण करने पड़ते थे तथा ब्रह्मचर्य पालन के संकल्प का निर्वाह करना आवश्यक था। यदि वे व्रतच्युत होतीं तो उन्हें शारीरिक दण्ड देकर जिन्दा गाड़ दिया जाता था। वेस्टल वर्जिन्स को लोग विशेष श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र मानते थे। सबसे प्रभावशाली भविष्यवक्ताओं की नौ व्यक्तियों की समिति मानी जाती थी, क्योंकि बिना उनकी सलाह के कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करना सर्वथा अनुचित और भयावह माना जाता था।

पूर्वीय देशों तथा अफ्रीका में राजाओं तथा सम्राटों को देवता के समान समझा जाता था। रोम में भी वह विचारधारा प्रचलित की गयी। सीज़र तथा आगस्टस ने और उनसे भी बहुत बढ़-चढ़कर डोमिटिअन ने देवत्व प्राप्त करने के लिए अपने पिता को, स्वयं अपने को, अपनी बहिनों और स्त्री को भी देवता घोषित किया तथा सबकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कर उनके लिए पूजनविधि निश्चित की और पुजारी भी नियुक्त कर दिये थे।

दर्शन

रोमनों का दृष्टिकोण मूलतः व्यावहारिक था। ऐहिक जीवन को सुखी, सम्मान-युक्त तथा गौरवपूर्ण बनाना वे अपना आदर्श समझते थे। जीवन के व्यापारों में सक्रिय, कुशल तथा सफल होना उनका ध्येय था। किसी काल्पनिक सिद्धान्त अथवा सुदूर भविष्य की चिन्ता उनको सताती न थी। जीवन-यापन में जब कोई समस्या उनके सामने उपस्थित हो जाती तो वे उसका व्यावहारिक समाधान निकालकर सन्तुष्ट हो जाते थे। वे स्वतन्त्रता के प्रेमी और शक्ति के पुजारी थे। जीवन से उन्हें इतनी अनुरक्ति थी कि विरक्ति की भावना में उनको कोई दिलचस्पी न हुई। अपनी मानसिक प्रवृत्ति के कारण उनकी प्रतिभा राजनीतिक, वैधानिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय विधान और न्याय के क्षेत्र में संलग्न रही। उसके

सिवा जिन स्थूल कलाओं को उन्होंने अपनाया उनको विशदता और विशालता प्रदान की।

स्टोइक मत

ईसा से १५५ वर्ष पूर्व एथेन्स से तीन दार्शनिक मत—स्टोइक, परिव्राजक, तत्त्वान्वेषक—रोम पहुँचे। सीपियों वंश के लोगों ने स्टोइक विचारधारा का विशेष स्वागत किया और उसके अध्ययन के लिए एक गोष्ठी स्थापित की। इस विचारधारा का आरम्भ करनेवाला पेनीटिअस था। किन्तु उसको व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय सीरिया के पोसिडोनिअस नामक ग्रीक को मिला। इस दिलचस्पी का कारण शायद यह होगा कि उस विचारधारा का रोमनों के विचारों से अच्छा मेल बैठता था। स्टोइकों का ध्येय मनुष्य को आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी, सरल, स्वाभाविक तथा प्रकृति के अनुकूल जीवन-निर्माण करनेवाला बनाना था। पुरातन संस्कृति की, जिसमें ये गुण थे, फिर से स्थापना करना उनका उद्देश्य था। उनकी धारणा के अनुसार मनुष्य मात्र का एक बृहत् कुटुम्ब है जिसके हित के लिए व्यक्ति को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए। व्यक्ति को वे विश्वव्यापी ज्वलन्त आत्मा का एक स्फुलिंग और दोनों में वे अंशांशी का गूढ़ सम्बन्ध होना मानते थे। उनके अनुसार उस सम्बन्ध का जीवन में निर्वाह करना मनुष्य का श्रेयस्कर धर्म था। मनुष्य-जीवन के उत्कर्ष के लिए केवल सदाचार को वे पर्याप्त समझते थे। उनके मतानुसार मानव-समाज के हित के लिए व्यक्ति को सर्वस्व दान करने से भी हिचकना न चाहिए, क्योंकि जीवन कोई खेल-तमाशा अथवा गीतिकाव्य नहीं; वह कठोर सत्य है। उसका मूलाधार इतिहास है, न कि कपोलकल्पना अथवा सुरीला राग। सदाचार द्वारा प्राप्त सन्तोष और कर्तव्यपरायणता से ही जीवन की सफलता होती है। अपने कर्तव्यों के पालन में यदि कष्ट, पीड़ा अथवा दुख हो तो भी उसे विषादरहित होकर झेल लेना उनके अनुसार मनुष्यता का प्रमाण था। कर्तव्य-पालन ही परम धर्म है अतः उसके सामने दया, करुणा, प्रेम आदि कोमल तरल भावनाएँ उनके लिए तुच्छ थीं। कर्तव्य से च्युत होना या पलायन करना वे सर्वथा अशोभन और निन्दनीय समझते थे।

उनका मत था कि सदाचार की दो कसौटियों में से एक पूर्वजों की स्थापित की हुई मर्यादाएँ हैं और दूसरी अन्तरात्मा। सिसरो अन्तरात्मा को ईश्वर से अनुप्राणित मानता था। उसके लिए वही विवेकात्मिका बुद्धि थी। उसके मतानुसार अन्तः-

करण की दो प्रवृत्तियाँ हैं—एक ऊर्ध्वसर्पिणी और दूसरी अधःसर्पिणी। पहली से स्वाभाविक शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है, अतः उसकी साधना में भौतिक हानि या कष्ट का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। कर्तव्य-पालन ही परमादर्श है, उसके लिए संयम तथा उत्सर्ग की आवश्यकता है। जीव अविनाशी है अतः मृत्यु का भय व्यर्थ है। कुछ स्टोइकों का मत था कि जितने देवी-देवता हैं वे परमात्मा की किसी-न-किसी विभूति के प्रतीक हैं, जिनसे परमेश्वर का ध्यान करने में सुविधा होती है। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह उनका सम्मान तथा अर्चन करे।

दूसरी विचारधारा एपिक्यूरिअन मतावलम्बियों की थी। उसका सबसे बड़ा पोषक ल्यूक्रेटिअस (९९—५५ ई० पू०) माना जाता है। एपिक्यूरिअन मत के अनुसार मनुष्य का देवी-देवताओं में विश्वास भय के कारण होता है। विधि अथवा विधाता का वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं। सृष्टि जैसे अणु-परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से हो गयी, वैसे ही संयोगवश प्राण का भी स्पन्दन हो उठता है। उनके मत में दर्शन का मुख्य आशय भ्रम तथा मिथ्या विश्वासों का निवारण है। मरणोपरान्त जीवन में विश्वास करना नितान्त मूढ़ता है। मृत्यु के पश्चात् नेकनामी की कामना विचारों की दुर्बलता का प्रमाण है। मनुष्य मात्र का अन्तिम ध्येय सुख की साधना है। उसकी जितनी चेष्टाएँ अथवा प्रयत्न हैं सब सुख-प्राप्ति के लिए हैं। अतएव शारीरिक तथा मानसिक कष्टों का निवारण तथा शान्ति-साधना ही श्रेयस्कर है। ल्यूक्रटिअस ग्रन्थ 'प्रकृति का स्वभाव' संसार के प्रमुख काव्यों में गिना जाता है। उसके अनुसार धर्म जीवन के लिए बहुत बुरा अभिशाप था।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्त्वदर्शन की ओर रोमनों की अधिक मनोवृत्ति न थी। वे कर्मठ थे और व्यावहारिक जीवन के विषयों में विशेष अभिरुचि रखते थे। इसी कारण उनके दार्शनिक ग्रन्थों में न तो उतनी सूक्ष्मता और न विशिष्ट मौलिकता पायी जाती है। उनके विचार ग्रीकों तथा पूर्व-देशियों से प्रसूत अथवा प्रभावित हैं।

ईसा का मत

महात्मा ईसा का जन्म १-२ वर्ष ई० पू० जेरुसलम से पाँच मील पर बेथेलहम में हुआ। उनकी माता का नाम मरियम था। ईसाइयों का विश्वास है कि उनकी कुमारी माता के गर्भ में ईश्वर स्वयं अवतरित हुआ। किन्तु अनुश्रुति के अनुसार उनके पिता का नाम यूसुफ (जोजेफ) था। उनके माता-पिता यहूदी थे। बाल्यकाल

से ही उन्हें प्राकृतिक सौन्दर्य से अपूर्व आनन्द का अनुभव होता था। उन पर अपनी मौसी के पुत्र जान के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। तपस्वी जान आडम्बर, अनाचार, पाखण्ड आदि का विरोधी था। उनके विचार बौद्धों के विचारों से कुछ मेल खाते थे। उनके उपदेशों का सारांश यह था कि न्याय की अन्तिम वेला (प्रलय) नज़दीक आ पहुँची है, अतएव पापियों को सजग होना चाहिए और ईश्वर के राज्य के स्वागत की तैयारी करनी चाहिए। ईसा ने उपर्युक्त सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करना अपना परम कर्तव्य निश्चित किया। यद्यपि उनकी शिक्षा के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता तथापि जो कुछ सामग्री मिलती है, उससे यह प्रतीत होता है कि वे उदारचरित, सूक्ष्मदृष्टि, संयमी, दृढ़व्रत, प्रतिभाशाली, दीनवत्सल और त्यागी पुरुष थे। उनके व्यक्तित्व तथा प्रवचनों में सरलता, स्पष्टता और आकर्षण था जिससे अपढ़ लोग भी लाभ उठा सकते थे। ईसा परम पिता परमेश्वर में अटल श्रद्धा रखते थे।

उनके सिद्धान्तों में एक विशेषता यह थी कि उनमें ईश्वर-राज्य के स्थापित होने तथा दुष्ट-राज्य और व्यक्तियों के शीघ्र विनाश हो जाने का सन्देश था। अनाचारियों तथा पापियों को भयंकर दुष्परिणामों और नरक यातनाओं से बचने का सुगम एवं सीधा मार्ग यह था कि मनुष्य अपने पापों को स्वीकार करके अपना आचार सुधारे और ईश्वर से शुद्धहृदय होकर क्षमा और दया की प्रार्थना करता रहे। कभी-कभी उन्होंने यह भी कहा कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे ही अन्तःकरण में है, उसको प्राप्त करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करो, जिससे परम पिता की दया तुम्हारी ओर प्रवाहित हो जाय। ईश्वर की दृष्टि और कृपा अबाध है। जातीय, श्रेणीय, देशी, विदेशी, धनी, निर्धन, काले-गोरे, दास और स्वामी सभी उसके पुत्र के समान और दया के पात्र हैं। दीन-दुखी तथा दलितों, निर्बलों और बालकों पर उसकी विशेष कृपा है। मन्दिरों और मूर्तियों में कोई महत्त्व नहीं। ईश्वर का निवास आत्मा और सत्य में है। न्याय, सहानुभूति, दया और सरल जीवन तथा सदाचार सर्वथा श्रेयस्कर है। काम, क्रोध, द्वेष, असत्य, लोभ आदि दोषों से बचना आवश्यक है।

बहुत दिनों तक लोग उन्हें यहूदी समझते रहे, किन्तु जब उन्होंने यह घोषणा की कि वह ईश्वर के प्रेरित पैगम्बर ही नहीं वरन् स्वयं पुत्र तथा मनुष्यों के उद्धारक हैं, तब यहूदियों ने उनका साथ छोड़ दिया और उनको बेगाना समझने लगे। किन्तु उनके अनुयायी उन्हें अपना राजा और इज्राईल का राजा कहने लगे। यह स्थिति

देखकर उन पर यह आरोप लगाया गया कि वे रोम-साम्राज्य के शत्रु हैं और गरीब जनता को उत्तेजित करके भयंकर क्रान्ति की योजना में लगे हुए हैं। उन पर राष्ट्र-धर्म तथा रोमन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोही होने का इल्जाम लगाकर रोम के गवर्नर ने उन्हें सूली पर चढ़ा दिया। यहूदियों को भी यह हत्या अनुचित प्रतीत न हुई। यह स्मरण रखना चाहिए कि ईसाई धर्म का विरोध शासन द्वारा उतना न हुआ जितना जनता द्वारा हुआ, क्योंकि उसके सिद्धान्त का प्रचार जनता के विश्वासों पर गहरा आघात करता था।

विदेशी व्यापारियों, गुलामों, सैनिकों तथा आजीविका के लिए आये हुए लोगों के द्वारा रोम में अनेक प्रकार के धर्म प्रचलित हो गये थे। रोमनों ने साधारणतः किसी धर्म अथवा धार्मिक उत्सव पर रोक-टोक नहीं लगायी। नवीनता से उनका कुतूहल और कमोबेश अनुराग ही बढ़ता था। धार्मिक विषय में उनकी नीति बहुत उदार तथा सहानुभूति-गर्भित थी। नवीन मत-मतान्तरों का प्रभाव कुछ-न-कुछ रोमनों के धार्मिक विश्वासों पर पड़ता गया। उनमें यह भावना उत्पन्न हुई कि चाहे जिस रूप में अथवा स्थान में पूजा की जाय, वह सब एक ईश्वर के प्रति हो जाती है। उसी एक सत्ता की अपने-अपने अनुकूल विविध देवताओं में लोगों ने कल्पनाएँ की हैं। उन सबमें एक प्रकार का गूढ़ साम्य है। यह भावना बहुत कुछ औपनिषदिक तथा भगवद्गीता के विचारों से मिलती है। किन्तु ईसाई मूर्ति-पूजा, सम्राट्-पूजा आदि के कट्टर विरोधी थे, अतः यह सहृदयता तथा उदारता का वातावरण ईसाई धर्म के आने से टूट गया। ईसाई मत विविध देवी-देवताओं के अस्तित्व को मानना तो दूर रहा, उन पर विश्वास अथवा उनका पूजन मूढ़ता और अधार्मिकता का निन्दनीय लक्षण मानता और उनका प्रतिवाद करना अपना विशिष्ट कर्तव्य समझता था। ईसाइयों के खण्डनात्मक और विरोधात्मक आन्दोलन ने रोम में ऐसी खलबली मचा दी जिससे वहाँ सामाजिक वैमनस्य तथा राजनीतिक समस्या जटिल रूप में उत्पन्न हो गयी। ईसाइयों के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का पूजन, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, अधर्म और आपत्तिजनक है। सम्राट् आदि को देवता का पद देना अत्यन्त निन्दनीय है। अतएव उसका विरोध करना तथा सच्चे अद्वितीय ईश्वर की पूजा प्रतिष्ठित करना ईसाइयों का परम कर्तव्य हो गया। उनका आन्दोलन राष्ट्रधर्म, राष्ट्रनीति तथा लोकप्रिय व्यसनों के विरुद्ध सिद्ध हुआ, अतएव उसके दमन करने की आवश्यकता हो गयी। किन्तु दमन की नीति मूलोच्छेदी तथा बेपनाह न होने के कारण सफल होने के बजाय विफल सिद्ध हुई। जो लोग धर्म के लिए अपनी

सम्पत्ति अथवा प्राण खो देते वे शहीदों में गिने जाते थे। उससे लोगों का उत्साह-वर्धन और उनके मत से सहानुभूति हुई तथा अनुयायियों की संख्या भी बढ़ती गयी। पूर्वी प्रान्तों में ईसाई मत का इतना प्राबल्य हो गया कि सम्राट् कान्स्टेण्टाइन ने बैजेण्टियम से उसको राष्ट्रधर्म बनाने की घोषणा कर दी। जब ईसाइयों को अवसर मिला तब उन्होंने अन्य मतों का इतना घोर और क्रूरतापूर्वक दमन किया कि उनके धर्म के सिवा किसी अन्य धर्म अथवा मत को चलाना असम्भव-सा हो गया। काला-न्तर में ईसाई धर्म के अनुयायियों में क्षेत्रीय, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण कई सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जो एक-दूसरे के विनाश में संलग्न हो गये। यह घातक संघर्ष कई शतियों तक विकराल रूप से चलता रहा। अन्ततोगत्वा छठी शती (ई०) में रोमन साम्राज्य में दो सम्प्रदाय मुख्य माने गये। पूर्वी ईसाई मत पर यूनानियों तथा पूर्वी प्रदेशों की संस्कृति का अधिक प्रभाव पड़ा। उसका केन्द्र कान्स्टेण्टिनोपल में रहा। किन्तु पाश्चात्य प्रान्तों के ईसाई मत पर उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी यूरोप का अधिक प्रभाव पड़ा। इस मत का केन्द्र रोम में रहा। धार्मिक असहिष्णुता तथा विचारों की स्वतन्त्रता के दमन का प्रदर्शन जैसा ईसाई मत ने किया वैसा शायद पहले कहीं नहीं हुआ। सारे यूरोप में एक मात्र ईसाई धर्म के प्रचलित होने का एक मुख्य कारण उनकी अदम्य दमन-नीति है। प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन की सम्मति में ईसाई मत ही रोम साम्राज्य तथा रोमन संस्कृति के नष्ट हो जाने का सबसे बड़ा कारण सिद्ध हुआ। वस्तुतः रोम के पतन के अनेक कारण हैं जिनमें से यह भी एक हो सकता है।

ग्रीस की विजय का रोमनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। ग्रीकों से उनके धार्मिक, नैतिक विश्वास तथा विचार, साहित्य, नाट्यकला तथा दर्शन रोम को प्राप्त हुए। राज्य तथा सम्पत्ति के बहुत बढ़ने से रोम की अपनी संस्कृति, विश्वासों और विचारों में भयंकर परिवर्तन होता चला गया। इस प्रकार ग्रीस ने अपनी पराजय का बदला चुकाया।

रोम का कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्व भाग आरम्भ से ईसा पूर्व द्वितीय शती तक है और उत्तर भाग का आरम्भ उसके उपरान्त होता है, जिसमें प्राच्य ग्रीस तथा मिस्र और पश्चिमी एशिया का वर्त-मान प्रभाव स्पष्टतया दिखाई देता है।

ईसा की प्रथम शती के विचारकों में दुर्बल गुलाम का पुत्र एपिक्टेटस हुआ। डेमितिअन ने उसे देश से निकाल दिया था किन्तु हेड्रिअन का वह कृपापात्र बना।

उसका सिद्धान्त था कि मनुष्य को सरल जीवन और स्वावलम्बन का आश्रय लेना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उसको बाहरी चीज़ों का भरोसा न करना चाहिए। सुख-दुख में एक समान भाव रखना, समत्व की वृत्ति में स्थिर रहना श्रेयस्कर है। मनुष्य को जीवन-संघर्ष से भागना, समाज और सामाजिक कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व से विमुख होना सर्वथा अनुचित है। शरीर चाहे जंज़ीरों से क्यों न जकड़ा हो किन्तु आत्मा स्वतन्त्र है। मृत्यु एक साधारण घटना है, उससे डरना भ्रम तथा कायरता है। प्रकृति और परमेश्वर को आत्मसमर्पण कर देना हितकर है। वस्तुत: मनुष्य की चेतना तथा बुद्धि एक सर्वव्यापी चेतना और बुद्धि का ही अंश है। विश्व की रचना का आधार नैतिकता, सुव्यवस्था, सौन्दर्य, ऊर्जत्व और मनोरम रहस्य है। एपिक्टेटस ने दासता तथा प्राणदण्ड की निन्दा की और मुजरिम को मानसिक रोगी समझकर तदनुकूल उसके उपचार करने का आग्रह किया। उसकी धारणा थी कि शरीर मलग्रस्त है, उसकी नाज़बरदारी करना व्यर्थ है। उसकी सम्मति में मनुष्य को सन्तोष रखना चाहिए। निकट अथवा दूर भविष्य की चिन्ता के चक्कर में उसे न पड़ना चाहिए।

स्कैप्टिक्स मत

ईसा की प्रथम शती में एनेसिडेमस नामक एक नैयायिक ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव निर्धारित किया। उस विचारधारा का विस्तारपूर्वक निरूपण दूसरी शती में सेक्सटस एम्पिरिकस ने किया। उसके अनुसार दर्शनशास्त्री प्रमादी और बकवादी हैं। दलीलों में कुछ तत्त्व नहीं, क्योंकि प्रत्येक धारणा का प्रतिवाद करनेवाली दलीलें उपस्थित की जा सकती हैं। जिन्हें लोग प्रमाण कहते हैं उनमें कोई भी अकाट्य नही और सब ही सन्दिग्ध हैं। कारण का कारण अन्धकार में द्रौपदी के चीर से भी अधिक बढ़ता जाता है। इसी लिए जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह अन्तिम सत्य नहीं बल्कि सामयिक धारणा मात्र है, जो बदलती रहती है। उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी विचार अनिश्चित और परिवर्तनशील हैं क्योंकि उनका आधार भी सामयिक है। अच्छे-बुरे की अन्तिम या शाश्वत परिभाषा भ्रम मात्र है। मनुष्यों के विश्वास और उनकी धारणाएँ उस परम्परा, व्यवहार, विधान तथा धर्म पर आश्रित हैं जिनमें उनका जन्म होता है। अतएव उस प्राकृतिक प्रवृत्ति का चुपचाप अनुसरण करना अनिवार्य-सा है। ज्ञात का निरादर कर अज्ञात को अन्धकार में टटोलते फिरना भयंकर भूल है। अपने समय तथा समाज की प्रवृत्ति के अनुकूल चलना ही सुगम और उचित भी है। झमेले खड़े करके उनमें फँसना सर्वथा प्रमाद है।

उपर्युक्त विचारधारा का निरूपण सबसे चमत्कारपूर्ण और कमनीय भाषा में एथेन्स के आचार्य किन्तु सीरिया के निवासी लूसियन ने किया (१६५ ई०)। उसने छिहत्तर लघु पुस्तिकाओं द्वारा संवाद-शैली में अपने विचार प्रकट किये। उन पुस्तिकाओं का नाम उसने 'मृतकों के संवाद', 'वारांगनाओं के संवाद' आदि रखे, जिससे लोगों का ध्यान शीघ्र ही आकर्षित हुआ, यद्यपि उनका विषय दूसरा ही था। उनमें उसने ग्रीस के देवताओं का खण्डन और उपहास किया। ग्रीस के प्रचलित धर्म के सिवा उसने दार्शनिकों तथा अलंकार-विभूषित भाषा के लेखकों तथा वक्ताओं की धज्जियाँ उड़ायीं। इस हद तक उसने कह डाला कि दार्शनिक पागल कुत्तों के समान भूँकनेवाले हैं, उनसे बचकर चलना चाहिए। मानव-जगत् अस्तव्यस्तता, पारस्परिक संघर्ष, आशा-निराशा, स्वार्थपरता, ठगी, क्रूरता, झूठ, रगड़-झगड़, राग-द्वेष एवं नियति के चक्कर में फँसा हुआ है। यह उत्थान-पतन, उलट-फेर, उतार-चढ़ाव उपहास्य तथा ग्लानिवर्धक हैं। अतएव मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह राग-द्वेष को छोड़कर अपने सामने जो काम आये उसे मुस्कराते हुए यथायोग्य करता रहे और वितण्डावाद तथा तत्त्वान्वेषण की मरु-मरीचिका से बचता रहे। दर्शन का एक मात्र लाभ उपर्युक्त सांसारिक प्रवृत्तियों का प्रदर्शन मात्र है, न कि समस्याओं का समाधान। संसारचक्र के सामने झुकने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है।

ग्रीक दार्शनिकों ने विविध दृष्टिकोणों से सांसारिक समस्याओं का अनुशीलन किया तथापि उनका अन्तिम समाधान न हो सका। अतएव साधारण लोग अपने परम्परागत ईश्वर तथा देवी-देवताओं के विश्वास पर चलते रहे। नयी बात इतनी अवश्य हुई कि पुनर्जन्म के प्रति उनकी आस्था पहले से बहुत बढ़ गयी, क्योंकि उसी ढंग से किसी अचिन्त्य भविष्य में संसार-चक्र के मुक्त होने की आशा सम्भव प्रतीत हुई।

प्लैटोनिक मत

ईसा की तीसरी शती (२०३—२७० ई०) में प्लैटिनस नामक एक रहस्यवादी दार्शनिक सन्त मिस्रियों के वंश में उत्पन्न हुआ। उसके मत को प्लैटोनिज्म कहते हैं। उसके मत की विशेषता यह है कि उसमें प्लेटो के दार्शनिक विचारों से रहस्यवादियों की धारणाओं का समन्वय है। उसका गहरा प्रभाव ईसाई धर्म पर ही नहीं वरन् पश्चिमी, मध्य तथा दक्षिणी एशिया पर भी पड़ा। प्लैटिनस ने सिपाही

की हैसियत से फारस तक की यात्रा की, वहाँ के धार्मिक तथा आचार-सम्बन्धी विचारों का अनुशीलन किया और अन्त में रोम में जा बसा। सम्राट् गैलिएनस पर उसका काफी प्रभाव पड़ा। उसका जीवन सरल, नम्र और सांसारिक विषयों तथा शारीरिक सुखों के प्रति विरक्त था। शरीर को वह लौह-पिंजर-सा समझता, जिसमें जीव बन्दी होकर फड़फड़ाया करता है। मांस, मदिरा, मैथुन को वह सर्वथा त्याज्य मानता था परन्तु उनका विरोध न करता था। वह उत्कट आदर्शवादी था। उसका विश्वास था कि परम-आत्मा के मानस में आत्मशक्ति से प्रेरित होकर प्रकृति-तत्त्व और जीव-तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः उनमें वही स्वयं विभिन्न रूपों और नामों से विद्यमान है। संसार के सभी व्यापार ओर स्थितियों पर आत्मा के मानस की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। मानसिक क्रियाओं का विवेकसहित नियन्त्रण करनेवाला बुद्धि-तत्त्व है जो मन, जीव तथा शरीर का अध्यक्ष है। देखने में जीव अनेक जान पड़ते हैं, किन्तु वे सब एक विश्वात्मा से ही प्रसूत हैं, जैसा कि परमात्मा से विश्वात्मा तथा प्रकृति का प्रादुर्भाव हुआ है। जीव का परम लक्ष्य पार्थिव बन्धन से मुक्त होकर विश्वात्मा में और वहाँ से परम-आत्मा में मिल जाना है। यह वैराग्य तथा अध्यात्म-चिन्तन से हो सकता है। मुक्त जीव को परम-आत्मा का आवेश और साक्षात्कार हो जाता है जो आनन्द की चरम सीमा है, क्योंकि वह सर्वसौन्दर्य, सर्वज्ञान और सर्वशक्तिमान् है। वह अनुभवगम्य है। जो बुद्धि की अवहेलना करते हैं वे जन्म-मरण तथा पुनर्जन्म के चक्कर में गोता खाया करते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य-योनि खोकर पशु-पक्षी आदि के शरीरों में फँस जाते हैं। वे ऊर्ध्वगामी न होकर कर्मानुसार अधोगामी हो जाते हैं। परमात्मा से मिलने के मुख्य साधन बुद्धि का सदुपयोग, सदाचार, प्रेमनिष्ठा, भक्ति और इष्टसाधना है। उसके विचारों में ग्रीस, फारस, भारत और मिस्र के धर्मों तथा विश्वासों का न्यूनाधिक प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

मिथ्र धर्म

ईसा की दूसरी और तीसरी शती में ईरानियों का मिथ्र धर्म यूरोप में उत्तरी इंग्लैण्ड तक फैल गया। लन्दन में उसका एक मन्दिर भी निकला है। मिथ्र ज्योतिर्मय आहुर मजदा का पुत्र ही नहीं वरन् अवतार के समान था। आत्मतत्त्व, प्रकाश, पवित्रता एवं सत्य का वह साक्षात् स्वरूप माना गया, जिसका उद्देश्य अन्धकार के प्रसारक अह्रिमन का विनाश कर मनुष्य को तमस् से निकालते हुए ज्योतिः-पूत करना था। उसके सिद्धान्त के अनुसार जीव को संघर्ष एवं प्रयत्न द्वारा पवित्रता तथा शुद्धता

प्राप्त करनी चाहिए, न कि पलायन द्वारा। उसे आत्मवान् होना चाहिए न कि आत्म-त्यागी। मिथ्र की अर्चा के लिए ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियाँ नियुक्त थीं। उसकी मूर्ति के आगे दिन-रात अग्नि-शिखा जलती रहती थी। अनुयायियों के लिए आचार-विचार के नियम जटिल थे। विश्वास यह था कि मरणोपरान्त कर्मानुसार मिथ्र जीवों को स्वर्ग अथवा नरक भेजता है। मिथ्र-धर्म रहस्यात्मक था और उसमें रक्त तथा प्रीति-भोज द्वारा जीव के प्रायश्चित्त अथवा पाप का प्रक्षालन करने का विधान प्रचलित था।

अध्याय ६

भारतवर्ष

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति की कुछ विचारणीय विशेषताएँ हैं। एशिया महाद्वीप के दक्षिणी भाग के मध्य में उसका स्थान होने के कारण पश्चिमी ईरान, मेसोपटेमिया तथा मिस्र जैसे सभ्य देशों से उसका जल और स्थल मार्ग से सम्पर्क आसानी से हो सका। पूर्वी देशों, जैसे बर्मा, इण्डोनेशिया, इण्डोचीन तथा जावा आदि टापुओं के समूह से भी आदान-प्रदान सम्भव हो गया। पूर्व की ओर चीन से भी कुछ सिलसिला चलता रहा। सारांश यह कि संस्कृति तथा व्यापार दोनों की दृष्टि से भारत की स्थिति सभ्य संसार के मध्य में मानी जा सकती है।

भारत भूमि की लम्बाई अठारह सौ मील और चौड़ाई भी उतनी ही है। उत्तर में हिमालय तथा पश्चिम और पूर्व में पर्वतमालाएँ उसकी रक्षा उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार बंगाल की खाड़ी, हिन्द महासागर और अरब सागर दक्षिणी भाग की करते हैं। भारत का क्षेत्रफल पन्द्रह लाख वर्गमील है, जिसमें अनेक प्रदेश हैं। उसका जलवायु, गरमी-सरदी तथा उपज विभिन्न प्रकार की है। इसी कारण यहाँ विभिन्न प्रकार के अन्न, फल, फूल, वृक्ष, लताएँ आदि उत्पन्न होते हैं जिनके प्रभाव से देश में अनेक प्रकार की वेषभूषा, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और बोलियाँ प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत भूमण्डल का लघुरूप अथवा सार अंश है।

ऐतिहासिक काल के आरम्भ में भारत की वह रूपरेखा बन चुकी थी जो आज दिखाई पड़ती है। भेद इतना अवश्य हुआ कि सिन्ध को पार करता हुआ रेगिस्तान राजपूताने में फैलकर उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा तक बढ़ आया है। कुछ नदियाँ या तो लुप्त हो गयीं अथवा अपने पुराने रास्ते से इधर-उधर हट गयीं। प्राचीन युगों में भारत में अनेक विशाल वन थे किन्तु जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होने तथा अन्य

अनेक आवश्यकताओं के कारण वन साफ कर दिये गये और बस्तियाँ वहाँ स्थापित होती रहीं तथा अब तक हो रही हैं।

भारत में प्रकृति ने नदियों का ऐसा जाल फैलाया है जिससे कृषि और कृषक दोनों को लाभ पहुँचा है। सिन्धु तथा पंजाब की पाँच नदियाँ, गंगा, यमुना, घाघरा, गोमती और उनकी सहायक नदियाँ, बिहार में गंगा, गण्डक और शोण, बंगाल में ब्रह्मपुत्र, उड़ीसा की महानदी, दक्षिण के उत्तरी छोर पर नर्मदा और ताप्ती, दक्षिण की गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, तुंगभद्रा, आदि प्रमुख नदियों के सिवा अनेक छोटी नदियाँ हैं जो भारत भूमि को कृषि-प्रधान देश बनाने में संलग्न रही हैं। अतः थोड़े ही परिश्रम से सिचाई हो सकी और देश की बढ़ती हुई जनसंख्या का काम चलता रहा। किन्तु बीसवी सदी से जनसंख्या इतने वेग से बढ़ने लगी जिससे पुराने विधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी। जल के नियन्त्रण और वितरण तथा उपज बढ़ाने की समस्या इस प्राचीन देश के लिए नवीन-सी है। प्राचीन काल में बन्दरगाहों की कठिनाई उतनी न थी जैसी कि आधुनिक युग में है। उस समय जहाज़ छोटे थे इसलिए समुद्रतट के पास बहुत गहराई की आवश्यकता न थी, जैसी कि बड़े-बड़े जहाजो के लिए अब हो गयी है। मौर्यकाल के पहले भरुकच्छ (भड़ौच), शूर्पारक (सोपारा) आदि बन्दरगाह (पोताश्रय) पश्चिम भारत मे थे। वंग देश में ताम्र-लिप्ति आदि बन्दरगाह उत्तर के प्रदेशों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। दक्षिण में भी विशेषतः पश्चिमी तट पर छोटे-बड़े अनेक बन्दरगाह थे। पूर्वी तट पर उनकी कमी न थी। प्राचीन युग की आर्थिक व्यवस्था को देखते हुए भारत को समुद्रमार्ग से पूर्वीय तथा पश्चिमी देशों से व्यापार करने में कोई विशेष कठिनाई न थी।

उत्तरी भाग की पर्वतमालाओं से देश के जलवायु को तो लाभ हुआ ही, उधर से आनेवाले आक्रमणकारियों को भी अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। दर्रों की संकीर्णता के कारण आक्रमणकारी अपार संख्या में एकाएक घुस न सकते थे। जब तक उन मार्गों पर भारतीयों का आधिपत्य रहा तब तक आक्रमण के दर-वाज़े बन्द-से रहे। जब वह उनके अधिकार से बाहर निकल गये तब से आक्रमण होते रहे। जब समुद्रमार्ग से आक्रमण होने लगे तब देश को अभूतपूर्व आपत्तियों का सामना करना पड़ा। नये प्रश्न और नयी समस्याएँ उपस्थित हो गयीं, जिनका भारत के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। फिर भी पर्वतों और सागरों के कारण ऐसी परिस्थिति न होने पायी जिससे देश का सांस्कृतिक जीवन आमूल

नष्ट-भ्रष्ट और उसका व्यक्तित्व सर्वथा विकृत हो जाता। सम्भवत: पर्वतों, नदियों तथा सागरों से उपकृत होने के कारण यहाँ के निवासी देवी-देवताओं की तरह उनका सम्मान करते आते हैं। उन सबने मिलकर देश को एक भौगोलिक इकाई और स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिसका प्रमाण हमारा सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन है। विविधता और एकता का इतना स्पष्ट प्रदर्शन संसार के शायद ही किसी अन्य देश में हुआ हो। विशाल देश होने के कारण यहाँ जो आया उसके लिए स्थान मिल गया। फलत: यहाँ आर्य भाषा, द्रविड़, शबर तथा किरात आदि भाषाओं के बोलनेवाली श्वेत, कृष्ण तथा पीत वर्ण की जातियाँ या उपजातियाँ पायी जाती हैं जिनमें वैयक्तिक विभिन्नता रहते हुए भी सांस्कृतिक एकता के अनेक लक्षण स्पष्टतया पाये जाते हैं। एकीकरण का प्रवाह पहाड़, वन और नदी-नदों को अतिक्रमण करता हुआ पुरातन काल से चलता आ रहा है। बहुत पुराने अवशेषों से यह जान पड़ता है कि भारत में भी मानव-सभ्यता का विकास प्राय: उसी क्रम से हुआ जैसा कि संसार के अन्य भू-भागों में। पहले यह माना जाता था कि दक्षिण भारत में ताम्र-युग नहीं हुआ, प्रस्तर युग के बाद ही वहाँ लौह-युग आरम्भ हो गया। किन्तु नवीन खोजों, विशेषकर रायचूर में प्राप्त पुरातन युग के अवशेषों से उपर्युक्त मत अब शिथिल और भ्रमात्मक-सा माना जाता है।

आदिम संगठित सभ्यता (सिन्धु सभ्यता युग, २७५०ईसा-पूर्व)

अनुमान किया जाता है कि ईसा के तीन हज़ार वर्ष पहले ईराक और ईरान के पठार की ओर से कुछ जनसमूहों ने आकर बिलोचिस्तान में कच्ची ईंटों और पत्थरों के घर बनाकर गाँव बसा लिये और वे शान्तिपूर्वक रहने लगे। वे लोग खेती और पशुपालन करते थे। सिंचाई के लिए नदियों के पानी को बाँध बनाकर रोक लेते थे, किन्तु धातुओं में उन्हें ताँबे का ही ज्ञान था। उनकी सभ्यता ने विकसित और पुष्ट होकर वह स्थिति और रूप धारण किया जिसके प्रमाण मोहन-जोदड़ो एवं हरप्पा आदि में आज भी दिखाई पड़ते हैं। हरप्पा अथवा सिन्धु घाटी की सभ्यता का प्रसार सतलज नदी, यमुना, ताप्ती और नर्मदा की तराई तक तो पाया ही जाता है, सम्भव है कि उससे भी अधिक हुआ हो।

नगर-निर्माण

मोहनजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता ग्रामीणता से बहुत ऊँची उठ चुकी थी।

उसे यदि हमारे देश की नागरिक सभ्यता का आदिम रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा। किसी-किसी अंश में, जैसे कि सड़कों के निर्माण व जल के निकास के लिए नालियों और सुन्दर स्नानागारों के निर्माण में उन्होंने अतुलनीय उन्नति कर ली थी। उस उन्नति तथा सम्पन्नता का कारण केवल कृषि नहीं बल्कि मुख्यत: अनाज, लकड़ी और व्यापार थे। मोहनजोदड़ो के मकान दो कोठरियों से लेकर उस बड़े महल तक थे जिसकी चौड़ाई-लम्बाई पचासी फुट और सत्तानवे फुट थी। मकान पक्की ईंटों के प्राय: दो-मंजिले होते थे। ईंटें साढ़े पाँच से बीस इंच तक लम्बी होती थीं। ईंटों की मजबूत जुड़ाई चूने से की जाती और दीवारों पर कच्चा या पक्का पलस्तर लगाया जाता था। मकानों के आँगन में कुएँ बनाने का रिवाज था। तब भी जनता के सुभीते के लिए नगर में जगत वाले अनेक पक्के कुएँ बने थे, जिनमें से कोई-कोई आज तक पानी दे रहे हैं। उसी तरह मकानों में यद्यपि नहाने के पक्के कमरे होते थे जिनमें पानी बाहर निकालने की नालियाँ बनी थीं, तथापि जनता के लिए एक स्नानागार ६० गज लम्बा और ३६ गज चौड़ा, ८ फुट ऊँची दीवार से घिरा हुआ बनवाया गया था। उस हाते में १३ गज लम्बा, साढ़े सात गज चौड़ा और आठ फुट गहरा स्नान का तालाब था जिसके चारों ओर बरामदे और कमरे बने हुए थे। पानी भरने के लिए तालाब के पास कुएँ बनाये गये थे और पानी निकालने के लिए बड़ी नाली निकाली गयी थी। कुण्ड के समीप ही सम्भवत: एक हम्माम भी था जिसमें गरम हवा से तापमान स्थिर रखा जाता होगा। धार्मिक अथवा सामाजिक अवसरों पर एकत्रित होने के लिए तीस गज की लम्बाई और उतनी ही चौड़ाई की विशाल बैठकें भी नगर में बनी थीं। नगर की रक्षा के लिए ऊँचे स्थान पर सुदृढ़ गढ़ी थी और अनाज जमा करने के लिए बड़ी खत्ती भी थी। कमरों में लकड़ी के पलंग, बिने हुए मूढ़े तथा कुरसियाँ रखी जाती थीं। रोशनी के लिए ताँबे, सीप और मिट्टी के चिराग या मोमबत्ती के शमादान होते थे। नगरों में पानी निकालनेवाली नालियों तथा सड़कों की व्यवस्था सुन्दर और सन्तोषप्रद थी। एक गज चौड़ी गलियों से ग्यारह गज तक चौड़ी सड़कें बड़े सुन्दर ढंग से चौपड़ की तरह बिछायी गयी थीं। तत्कालीन अपूर्व नगर-निर्माण-कला का प्रभाव पश्चिमी राजपूताना के नगरों में आज भी पाया जाता है। शहर का पानी निकालने के लिए दो इंच से डेढ़ फुट गहरी, पक्की, पलस्तर की हुई नालियाँ थीं। कूड़ा-कचरा डालने के लिए इधर-उधर गहरे गड्ढे बना दिये गये थे जिनमें से निकालकर कूड़ा शहर से बाहर फेंक दिया जाता था। प्राचीन काल में सड़कों और नालियों का ऐसा

सुन्दर प्रबन्ध कहीं न था। रोम और एथेन्स तो बड़े गन्दे और कीचड़ वाले नगर थे।

भोजन, छादन, व्यसन

सिन्धु घाटी के निवासी दूध पीते, गेहूँ, जौ, तिल, सम्भवतः चावल, फलियाँ, शाक-भाजी, तरबूज और खजूर आदि फल, भेड़, बकरी, गाय-बैल, सुअर, मुर्गा-मुर्गी, मछली, कछुआ और घड़ियाल का मांस खाते थे। शराब पीने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। मिट्टी के बरतनों का अधिक रिवाज था, किन्तु ताँबे और काँसे के भी बरतन थे। वे सूती और ऊनी चादरों और धोतियों से शरीर ढाँक लेते थे, जैसा कि उस युग के अन्य देशों में प्रचार था। स्त्रियों और पुरुषों को बालों के सँवारने और जूड़ा बाँधने का शौक था। पुरुष दाढ़ी रखते किन्तु ऊपरी ओंठ की मूँछों को या तो कतर कर या मूड़कर रखते थे, जैसा कि पश्चिमी एशिया में आज तक होता है। आभूषणों का स्त्रियों को बहुत-शौक था। ताबीज़, माला, कण्ठा, हँसली, कड़े, बाज़ूबन्द, करधनी, पाजेब, बालियाँ और अँगूठियाँ पहनी जाती थीं। अमीर लोग सोने-चाँदी, हाथीदाँत, पीतल और ताँबे के, और गरीब लोग मिट्टी, घोंघे आदि के आभूषण पहनते और बच्चों को भी पहनाते थे। आश्चर्य है कि अँगूठियाँ सोने की न होकर प्रायः ताँबे की होती थीं। उनके सिंगारदान में चिमटी, कान खोदने की सलाई, मोटी सूजी, सुगन्धित द्रव्य, सुरमा या काजल, ओठ रँगने के साधन तथा सौन्दर्य-वर्धक लेप आदि रहते थे। केशों के काढ़ने और सँवारने के अनेक फैशन थे। बढ़िया पालिशदार ताँबे का दर्पण आईने का काम देता था। कंघियाँ हाथी-दाँत या सींग की और विभिन्न ढंग के अस्तुरे ताँबे के बनाये जाते थे। मनोविनोद का सम्भवतः सबसे अधिक लोकप्रिय साधन पासे फेंकना या चौपड़ के मोहरे चलाना था। जुए का और नाच-गाने का उनको अवश्य शौक रहा होगा। गहरे जुआरी करीब साढे-छः से सवा बारह रुपये सूद पर कर्ज लेकर जुआ खेलते थे।

उद्योगधन्धे

उन लोगों का आर्थिक जीवन कृषि, पशुपालन तथा व्यापार पर आश्रित था। कपास, गेहूँ, जौ, सन की खेती बड़े पैमाने पर होती थी। जानवरों में कूबड़ वाले बैल, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता, सुअर, ऊँट और हाथी पाले जाते थे। शेर से भी वे परिचित थे। घोड़ों के होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कारीगरों में कुम्हार,

बढ़ई, सोनार, लोहार, संगतराश, सूती और ऊनी कपड़ा बुननेवाले, खिलौने और मोहरें बनानेवाले, हाथीदाँत का काम करनेवाले गिने जा सकते हैं। उनका व्यापार मेसोपटेमिया से पंजाब और उत्तर प्रदेश तक और पश्चिम में राजपूताना, गुजरात, खानदेश तक फैला हुआ था। सम्भव है कि पश्चिमी राज्यों की राजनीतिक परिस्थितियों के कारण मिस्र और क्रीट से उनका सम्बन्ध नाम मात्र के लिए ही रहा हो। आवागमन के लिए नावों, बैलगाड़ियों और पशुओं आदि से काम लिया जाता था। उनके पास घोड़ों तथा जहाजों के होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। व्यापार विनिमय द्वारा होता होगा क्योंकि वहाँ सिक्कों का प्रचलन न था। तोलने के बाट ठीक-ठीक नपे-तुले थे। छोटी नाप द्विगुण तथा आभारी नाप दशमलव सिद्धान्त पर थी। अधिकतर छोटे और बड़े में १ और १६ का अनुपात रहता था। बाहर से धान तथा कीमती पत्थर मँगवाये जाते थे।

धर्म

सिन्धु घाटी के निवासी जो लिपि लिखते थे वह अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी। इसी लिए उनके धर्म और विश्वासों का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया। कुछ मुद्राओं पर बने चित्रों, मिट्टी की मूर्तियों, वेदियों और स्तम्भों के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अनुमान लगाये हैं। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि वे लोग छोटे-छोटे मन्दिर बनाते थे जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करते थे। यह सम्भव है, क्योंकि उस युग में पश्चिमी एशिया और मिस्र आदि देशों में मूर्तिपूजा बड़े पैमाने पर होती थी। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि वहाँ की सबसे प्रमुख आराध्य देवी धरती माता अथवा शक्ति होगी। किन्तु इस मत के विरुद्ध गम्भीर प्रमाणों द्वारा यह भी कहा जा सकता है कि उनका प्रमुख देवता पुरुषरूपी था जो पीपल के वृक्ष में रहता था और उसके हाथ कानखजूरे जैसे थे। उसकी सेवा सात गौण देवता करते थे जिनके पंख थे और पैर चिड़ियों जैसे थे। उसकी सेवा में एक शृंग वाला गेंडा भी उसका प्रतीक रहता था। दूसरा देवता वह था जिसे लोग त्रिमूर्त शिव मानते थे। अब वह एक काल्पनिक भैंसे के मुखवाला, भयंकर जीवों, जैसे साँप, बिच्छू, कानखजूरा आदि का मिश्रित रूप कहा जाता है। वह न तो किसी चौकी पर बैठा है और न ऊर्ध्वलिंगी है, जो दिखाई देता है वह सर्प की पूँछ का निचला भाग है। यह कल्पना शिव की नहीं। सम्भव है कि उसका रूप शिव अथवा महिषासुर से मेल खाता हो। यद्यपि वह रुद्र के समान पशुपति था तथापि उसकी योगासन-मुद्रा एवं उसका बाघम्बर तथा हाथी की खाल

के वस्त्र शिव की स्मृति दिलाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे लोग लिंग और योनि का भी पूजन करते थे। उनमें स्वस्तिक के चिह्न का भी महत्त्व था। इनके सिवा वे जलचरों में मगर, पशुओं में बैल, भैंसे, पक्षियों में मोर और गरुड़ तथा आधे पशु और आधे मनुष्य की मिश्रित आकृति वाले जीवों और वृक्षों, जैसे अश्वत्थ (पीपल), नीम, बरगद आदि की पूजा करते थे। उनका गण्डों और ताबीजों में भी विश्वास था। वे अपने मृतकों को जलाते या पशु-पक्षियों के खाने के लिए छोड़ देते थे, किन्तु कूल्हों की हड्डियों और कभी पूरे पंजर को वे हाँडी में भरकर रख लेते थे।

संगठन

नगर की रचना, सफाई, सड़कों की बनावट आदि को देखकर यह जान पड़ता है कि उस समय इस प्रबन्ध के लिए सुलझे विधान और कार्यकर्ताओं के संगठन की अनिवार्य आवश्यकता होती होगी। पर शासन तथा प्रबन्ध-विधान पर प्रकाश डालनेवाले कोई साधन अभी प्राप्त नहीं हुए हैं। सम्भव है कि जब तत्कालीन लिपि पढ़ी जा सके तब उस संस्कृति का अधिक ज्ञान प्राप्त हो। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वहाँ का शासन धर्माधिकारी तथा सामन्तों द्वारा होता था।

पतन के कारण

सिन्धु घाटी के लोग व्यापार-कुशल किन्तु शान्तिप्रिय थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने युद्धकला अथवा रणकौशल को उन्नत रखने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। रक्षा के लिए नगर के भीतर शायद उन्होंने छोटी गढ़ी या कोठी बना ली थी किन्तु वह दुर्भेद्य न थी। उनके पास न तो घोड़े थे और न लोहा। इसी लिए उनके अस्त्र-शस्त्र कम उपयोगी और सैन्य-संचालन शिथिल रहा होगा। यह भी सम्भव है कि सिन्धु घाटी के नगर किसी बाहरी शक्ति द्वारा शासित हों जिसके नष्ट हो जाने से उनका भी विनाश हो गया हो। इसके सिवा सम्भव है टिड्डियों के आक्रमण तथा सिन्धु नद अथवा अन्य नदियों के पूर से नगर और बस्तियाँ नष्ट हो गयी हों। मोहनजोदड़ो बार-बार बसा और बिगड़ा। उसके ऊपर बस्तियों के नौ स्तर निकले हैं, जिनसे अनुमान किया जाता है कि सबसे नीचे वाली इमारतें आज से कोई साढ़े-पाँच हजार वर्ष पहले और सबसे ऊपर वाली पौने-पाँच हजार वर्ष पुरानी होंगी। कुछ लोगों की धारणा है कि हरप्पा की सभ्यता के पहले सिन्धु की घाटी में अमरी और उसके बाद झूकर और झंगर की सभ्यता फैली थी, किन्तु उनके सम्बन्ध में बहुत

कम पता चलता है। सिन्धु घाटी के निवासियों के अलावा भारत में अनेक जनसमूहों और जातियों के लोग बसे हुए थे, जिनकी सभ्यता के स्तर एक-से न थे; कोई वन-चर, कोई असभ्य, कोई अर्ध-सभ्य थे। उनके विषय में किसी स्पष्ट ज्ञान के अभाव में अनुभूतियों, मानवशास्त्र अथवा पुरातत्त्व का सहारा लेकर कल्पित चित्र बनाने का प्रयत्न किया गया है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में जो लोग बसे हुए हैं, उनका निरीक्षण करके यह अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरी भारत के अधिकतर भाग में आदिम, आग्नेयवंशी, जिनमें मुण्डा, कोल, भील, सन्थाल, शबर, निषाद आदि गिने जाते हैं, बसे थे। आज भी उनके अवशेष पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा मद्रास तक पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की राय में सम्भवतः वे ही भारत के आदिम निवासी थे। उनके सिवा हब्शी, पूर्वी द्वीपों के निषाद, मंगोल जाति के लोग भी पूर्वी प्रान्तों में बसे थे। प्राचीनतर लोग धनुष-बाण का प्रयोग करते, समूहों में शिकार खेलते, वृक्षों को देवता समझकर उनका पूजन करते, गाँवों में बसते और बिरादरी द्वारा सामाजिक नियन्त्रण रखते थे। वैदिक एवं पौराणिक अनुश्रुतियों ने उनको असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, निषाद, शबर, किरात, वानर, ऋक्ष आदि नाम दिये हैं। आर्यों ने उन सबको दस्यु संज्ञा दी। उन्हीं में प्राचीन द्रविड़ भी गिने जाते हैं। आर्यों का उन लोगों से सैकड़ों वर्ष तक संघर्ष चलता रहा।

आर्यों के विषय में भी अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वे उत्तर भारत के सप्त-सिन्धव प्रान्त में, जो सिन्धु नद से सरस्वती नदी की घाटी तक था, रहते थे। वहीं से वे एशिया और यूरोप तक फैल गये। उनका आदिम निवास-स्थान कोई लोग उत्तरी ध्रुव के समीप, कोई दक्षिणी रूस या हंगरी देश में तो कोई मध्य एशिया में मानते हैं। इस समय तक मताधिक्य इस ओर है कि वे काकेशिया और मध्य एशिया की ओर से पशुओं के चारे और खाद्य पदार्थों की खोज करते हुए उधर तो यूरोप में जा पहुँचे और इधर एशियामाइनर, ईरान, अफगानिस्तान तथा भारतवर्ष में आ निकले।

आर्य पहले तो संचरणशील होंगे किन्तु भारतवर्ष के ऐतिहासिक मंच पर जब वे आते हैं तब हम उनको कृषि में संलग्न पाते हैं। पशुपालन तथा कृषि के सिवा उन्हें कपड़ा बुनना, रथ तथा नावें बनाना, चमड़े की चीज़ें बनाना आदि आता था। वे रथों तथा घोड़ों पर युद्ध करते और धनुष-बाण, बर्छों, फरसों, तलवारों आदि का भी प्रयोग करते थे। वे अनेक दलों में आते और बसते गये। यहाँ के पुराने निवासियों ने उनको रोकने के लिए घोर प्रयत्न किया और जी-तोड़ कर लड़े, किन्तु सम्भवतः

कवच, तलवार तथा घोड़ों का उपयोग न जानने के कारण वे असफल रहे। आर्यों ने उनके पुरों तथा किलों को भी तोड़-ताड़ कर उनको परास्त कर दिया। पंजाब में आर्यों का शासन जम गया। सम्भव है कि सिन्धु घाटी वालों की शक्ति के विनाश का एक कारण आर्यों का आक्रमण भी रहा हो।

अनार्यों को परास्त कर आर्यों के प्रमुख वंशों के दल आधिपत्य के लिए परस्पर युद्ध करने लगे। परुष्णी (रावी) नदी के तट पर दस वंशों की संयुक्त सेना से भरत वंश के राजा सुदास का घोर युद्ध हुआ। सुदास के राज्य पर पूर्व की ओर से भी आक्रमण हुआ। यमुना नदी के तट पर पुनः सुदास की विजय हुई। पराजित लोग या तो इधर-उधर अस्त-व्यस्त हो गये अथवा शान्त होकर नीचे की श्रेणी की प्रजा में परिणत हो गये।

उपर्युक्त ऐतिहासिक द्वन्द्व के सिवा पूर्व-वैदिक आर्यों के राजनीतिक इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। किन्तु यह अनुमान किया जाता है कि आर्यवंशों के आपस में संघर्ष होते रहे। अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन आर्यों के प्रमुख वंश मानव (सूर्य-वंश), ऐल (चन्द्र-वंश) गिने जाते थे। कालान्तर में वे अनेक शाखाओं में फैल गये। वंशों के नेता अपनी शक्ति तथा राज्य के संवर्धन के लिए प्रयत्न करते रहे। कुरुक्षेत्र से बढ़ते-बढ़ते वे मगध और अंग (बिहार) तक पूर्व में तथा विदर्भ (बरार) तक दक्षिण में फैल गये। हिमालय तथा विन्ध्याचल के मध्य का प्रदेश आर्यावर्त कहा जाने लगा। पुरु वंश तथा भरत वंश मिलकर कौरव नाम से प्रख्यात हुए। उसी प्रकार पाँच वंश मिलकर पचाल के नाम से प्रसिद्ध हुए। कुछ वंश लुप्त-से हो गये और इधर-उधर बिखर गये। कुरु तथा पंचाल संयुक्त रूप से सबसे अधिक प्रबल तथा प्रमुख माने गये। कौरवों की राजधानी पहले हस्तिनापुर में थी किन्तु बाद में कौशाम्बी हो गयी। पचालों की राजधानी काम्पिल्य थी।

कौरवों के आपसी द्वेष तथा ईर्ष्या के कारण कहा जाता है कि महाभारत का भयंकर युद्ध हुआ। फलतः इनकी शक्ति क्षीण हो गयी। पूर्व में कोसल, काशी तथा मिथिला के आर्य वंश उन्नति करते रहे। इसी प्रकार तक्षशिला से मिथिला तक अनेक राज्य स्थापित हो गये।

ईसा-पूर्व छठी शती या सातवीं शती तक हिमालय से गोदावरी तक क्रम से सोलह बड़े राज्य स्थापित हो गये थे। पश्चिम से पूर्व की ओर गन्धार, कम्बोज, उत्तरी कश्मीर, कुरु, शूरसेन, पंचाल, चेदि के वंश या वत्स, काशी, मल्ल, वज्जी, मगध और अंग देश थे। मत्स्य, अवन्ति, उत्तर राजपूताना प्रदेश तथा आस्सका,

गोदावरी या मालवा भी प्रमुख थे। उस समय यद्यपि अधिकांश राज्य राजसत्तात्मक थे तथापि उनके अतिरिक्त शायद आठ-दस गणसत्तात्मक राज्य भी थे, जिनमें शाक्य (कपिलवस्तु), मल्ल (पावा तथा कुशीनारा), विदेह (मिथिला), लिच्छवि (वैशाली) आदि के गणतन्त्र समुदाय थे। सम्भवतः राजा गण उनको तब तक किसी कारण विजय न कर सके थे।

इतने राज्य भला कब तक शान्ति के साथ रह सकते थे। राज्यों में साम्राज्य स्थापित करने की भावना अनेक आर्थिक एवं राजनीतिक कारणों से उत्पन्न हो ही जाती है। इस संघर्ष से चार प्रबल साम्राज्यों का उदय हुआ, जिनके नाम थे अवन्ति (मालवा), वत्स (कौशाम्बी—प्रयाग), कोसल तथा मगध। उन चारों में पहले काशी तथा कौशाम्बी का और फिर कोसल का ह्रास हो गया। पहले तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अवन्ति राज्य उस समस्त भूमि-भाग को, जो आजकल गंगा-यमुना गोमती की घाटियों तथा बिहार में है, जीतकर विशाल साम्राज्य स्थापित कर लेगा, किन्तु परिस्थिति कुछ ऐसी बदली कि मगध राज्य को ही वह सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मगध साम्राज्य

छठी शती ई० पू० के अन्तिम भाग में गिरिव्रज (राजगृह) में हयकिंकुल (नाग वंश) का राजा बिम्बसार राज्य करता था। उसने अन्य राजाओं तथा वंशों से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़कर अपना महत्त्व तथा बल बढ़ाना आरम्भ किया। पर्याप्त शक्ति बढ़ने पर उसने अंग राज्य को हड़प लिया। उसके उत्तराधिकारी पुत्र अजातशत्रु ने उसे कैद में डालकर राज्य छीन लिया। इसी कारण लिच्छवियों तथा कोसल के राज्यों से उसका युद्ध ठना, किन्तु छल-बल से उसने उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके उत्तराधिकारी पुत्र उदयी ने पाटलिपुत्र में साम्राज्य की राजधानी बनायी। राजाओं की अयोग्यता के कारण सम्भवतः उसी वंश के शिशुनाग नामक एक मन्त्री ने साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। उसने अवन्ती के राजा को भी परास्त करके मगध साम्राज्य को मालवा तक बढ़ा दिया। उसके वंशज बहुत दिन राज्य करते रहे।

चौथी शती (ई० पू०) में पतनोन्मुख शिशुनाग वंश को हटाकर निम्न श्रेणी का महापद्मनन्द साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा। उसी ने नन्दवंश के साम्राज्य की स्थापना की। महापद्मनन्द ऐसा पराक्रमी निकला कि उसका प्रभुत्व पूर्वी पंजाब से गोदावरी तक बढ़ा और उसने ऐतिहासिक काल का प्रथम सुविशाल साम्राज्य

स्थापित किया। उसी का एक वंशज धननन्द सम्राट् था, जब मकदूनिया के सिकन्दर ने ईरान विजय कर पंजाब पर आक्रमण किया (३२६ ई० पू०)। पश्चिमी पंजाब में और सिन्ध में चौबीस-पचीस छोटे-मोटे राज्य थे। इसी कारण ईरान के सम्राट् को उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर मिल गया। सिकन्दर महान् ईरान के सम्राट् दारा को परास्त कर तक्षशिला तक आ पहुँचा। वहाँ से उसने झेलम और चिनाब के बीच के प्रदेश में पौरव राजा को अपनी अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजा। पौरव राजा के इन्कार करने पर उसने पौरव राज्य पर चढ़ाई कर दी। अज्ञान, प्रमाद अथवा अदूरदर्शिता के कारण धननन्द ने पंजाब के पौरव राजा की सहायता न की। यदि उसने सहायता न भी माँगी होती अथवा अपने राज्य में मगध की सेना बुलाना अनुचित समझा होता तो भी धननन्द को चाहिए था कि वह सिकन्दर को पंजाब पर आक्रमण करने से येनकेन प्रकारेण रोकता। किन्तु ऐसा न होने से पौरव राजा असफल रहा और पंजाब में यूनानियों की धाक बँध गयी। सम्भव है, इसी कारण चन्द्रगुप्त मौर्य की, जो पहले नन्द साम्राज्य में एक सेनापति था और जिसे किसी कारण असन्तुष्ट होकर सम्राट् ने निर्वासित कर दिया था, पंजाबवासियों ने सम्राट् के विरुद्ध सहायता की हो। धननन्द के आर्थिक शोषण तथा त्रास और क्षत्रिय-द्रोही होने के कारण प्रजा भी उससे क्रुद्ध हो गयी। परिणाम यह हुआ कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने धननन्द को सिंहासन-च्युत करके साम्राज्य छीन लिया (३२१ से ३१३ ई० पू०)। फिर उसने यूनानियों को पंजाब से बाहर निकाल दिया।

ईरान का आर्य राज्य नष्ट होने के पश्चात्, इसमें सन्देह नहीं कि मध्य तथा दक्षिण एशिया का सबसे विशाल एवं प्रबल साम्राज्य मौर्यों का था। चन्द्रगुप्त मौर्य के विरुद्ध सिकन्दर के एक सुप्रसिद्ध सेनापति सेल्यूकस ने पंजाब पर चढ़ाई की (३०५ ई० पू०)। चन्द्रगुप्त के प्रबल बल को देख तथा पश्चिमी एशिया में अपने यूनानी प्रतिद्वन्द्वी सेनापति एण्टीगोनस से सशंकित होने के कारण उसका साहस छूट गया। चन्द्रगुप्त के आतंक में आकर उसने उसको हेरात, काबुल, कन्धार तथा बलूचिस्तान के प्रान्त देकर उससे मित्रता कर ली। मैत्री को पुष्ट करने के लिए चन्द्रगुप्त ने एक यूनानी राजकुमारी से विवाह कर लिया और अपने दरबार में मेगेस्थनीज़ नामक एक यूनानी दूत रखना स्वीकार कर लिया। मगध सम्राट् ने सेल्यूकस को ५०० युद्धशील हाथी देकर उसकी सैनिक सहायता की (३०५ ई० पू०)। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य हिन्दूकुश तक पहुँच गया। पश्चिम में काठियावाड़ और सम्भव है

कि दक्षिण में मैसूर तक चन्द्रगुप्त का प्रभुत्व जम गया। प्राचीन भारतवर्ष का वह सबसे बड़ा साम्राज्य था। चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसके पौत्र सम्राट् अशोक ने कलिंग विजय (२७३ ई० पू०) कर बंगाल की खाड़ी तक साम्राज्य को चौरस कर लिया। मौर्य साम्राज्य का-सा सुविस्तृत एवं सुसंगठित साम्राज्य फिर भारतवर्ष में मुगलों के समय तक न बन सका। प्रायः समस्त भारतवर्ष को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधने का यह प्रथम तथा महत्त्वपूर्ण एवं सफल प्रयास था। इसका श्रेय मौर्य वंश को है।

विशाल साम्राज्य के निर्माता होने तथा यूनानियों को भारतवर्ष से हटा देने की हैसियत से चन्द्रगुप्त मौर्य का स्थान बहुत ऊँचा है। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार भी पराक्रमी सम्राट् था। कहा जाता है कि उसने बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के बीच का भाग विजय कर मौर्य साम्राज्य की सीमा मैसूर तक पहुँचा दी। पश्चिम में भी उसकी धाक पूर्ववत् कायम रही। बिन्दुसार की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में युद्ध हुआ जिसमें अशोक की विजय हुई (२७२ ई० पू०)। अशोक ने जो ख्याति प्राप्त की वह सम्भवतः संसार के किसी भी सम्राट् को ऐतिहासिक काल में न मिल सकी। इसका कारण यह था कि कलिंग विजय के हत्याकाण्ड से उसको ऐसी ग्लानि हुई कि उसे युद्ध करके राज्य बढ़ाने से घृणा हो गयी। वह शान्ति एवं अहिंसा का उपासक हो गया। बौद्ध धर्म के सत्य एवं अहिंसात्मक सिद्धान्तों की ओर आकर्षित होकर उसने अपना आचरण तथा व्यवहार बदल दिया। तदनुसार उसने गुफाओं में, शिलाओं पर तथा स्तम्भों पर अपने धर्म-लेख खुदवा दिये जो उत्तर तथा दक्षिण प्रान्तों में आज तक मिलते हैं। उनमें उसने किसी विशेष दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रचार न करके जीवन तथा आचरण में दया, सत्य, विनय, मैत्री, उदारता, माता-पिता की सेवा, सौजन्य आदि सर्वसम्मत गुणों के पालन पर ही ज़ोर दिया है। उनके प्रचार करने के लिए उसने चारों ओर देश में ही नहीं, वरन् सीरिया, मिस्र तथा यूनान तक उपदेशक भेजे। राज्य में महामात्रों को नियुक्त कर यह आदेश दिया गया कि वे उन आदेशों तथा आचरणों के अनुसार प्रजा से व्यवहार करायें। पश्चिमी संसार तथा मध्य एशिया में ऐसे प्रचार की बड़ी आवश्यकता थी। संसार के इतिहास में किसी भी देश के शासक या शासन द्वारा न तो वैसे राजनीतिक आदर्शों का प्रसार ही हुआ था न उनके लिए ऐसे वैधानिक प्रयत्नों का प्रदर्शन। भेरि-घोष (हत्यात्मक युद्ध) के स्थान पर उसने 'धर्म-घोष' को महत्त्व दिया।

अशोक की मृत्यु (२३२ ई० पू०) के पश्चात् साम्राज्य निर्बल होने लगा।

उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता, प्रान्तों के शासकों की स्वच्छन्दता तथा अनाचार, वैदिक धर्मावलम्बियों की उदासीनता अथवा उनके द्रोह तथा सण्टिओकस तृतीय के भारत की सीमा पर आक्रमण करने के कारण मौर्य वंश से लोगों का विश्वास उठ गया। १८४ ई० पू० में सेनापति पुष्यमित्र ने मगध का सिंहासन बृहद्रथ से छीनकर अपने शुंगवंश का प्रभुत्व स्थापित किया। किन्तु उसके साम्राज्य से पश्चिमी पंजाब तथा महानदी से गोदावरी तक का कलिंग प्रान्त और दक्षिण भारत निकल गये। वैक्ट्रिआ के यूनानियों ने भारत में हो रहे विप्लव से लाभ उठाकर अपनी सेना अयोध्या और पाटलिपुत्र तक बढ़ा दी, किन्तु पुष्यमित्र तथा उसके पुत्र अग्निमित्र और पौत्र नाममित्र ने उनको पीछे भगा दिया। उस विजय के उपलक्ष्य में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। उसके वंश ने लगभग सौ वर्ष तक राज्य किया। उसके सामने सबसे कठिन समस्या पश्चिमोत्तर प्रान्तों की ओर से यवनों द्वारा आक्रमणों की थी। पहले दो सम्राट् तो उनको पश्चिमी पंजाब से आगे बढ़ने से रोके रहे किन्तु बाद को वे भी असफल रहे। शुंगवंश का बचा-खुचा प्रभाव ७३ ई० पू० में नष्ट हो गया और वसुदेव ने कण्व वंश का आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु वह पैंतालीस वर्ष भी न चल सका। मगध का दबदबा बिगड़ जाने से पूर्वी पंजाब, मध्य भारत, राजस्थान, मालवा, गुजरात और सिन्ध में अनेक स्वतन्त्र गणराज्य उत्पन्न हो गये।

प्रथम शती ई० पू० में दो नये बड़े राज्यों की स्थापना हुई। महाराष्ट्र में शातवाहन (आन्ध्र) वंश का उत्थान हुआ और कलिंग में चैत्रवंश का, जिसमें खारवेल नामक राजा ने अच्छी ख्याति प्राप्त की। कलिंग राज्य तो शीघ्र ही अस्त हो गया, किन्तु आन्ध्रों ने पहले तो मालवा, फिर गुजरात तथा सौराष्ट्र में भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। सुदूर दक्षिण में द्रविड़ों के कई राज्य थे। उत्तरी भारत में भी कई राज्यों का होना सम्भव है। मध्यदेश तथा मगध में राज्य जीर्ण-शीर्ण दशा में चलता रहा।

यूनानियों ने द्वितीय शती ई० पू० में पंजाब में अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। झेलम नदी के पूर्व में एक राज्य बना और पश्चिम में अफगानिस्तान तक दूसरा। सौ वर्ष तक यूनानियों का प्रभुत्व रहा। किन्तु प्रथम शती के प्रथम चरण में शकों और पह्लवों (पार्थियन) ने सीस्तान और कन्धार की ओर से आक्रमण करके यूनानियों के राज्य को नष्ट कर दिया और उनके प्रसिद्ध राजा गोंडोफरनीज़ (गोंडोफर) ने पश्चिमी पंजाब पर अधिकार प्राप्त किया। तदनन्तर उन्होंने अपना प्रभुत्व मथुरा तक स्थापित कर लिया। दक्षिण की ओर वे काठियावाड़ तक पहुँच

गये। जब मालवा पर उनका आक्रमण हुआ तब आन्ध्रों ने उनके वेग को रोका।

चीन की ओर से हूणों द्वारा भगाये हुए तुर्क यूचियों के कुशान नामक नेता ने अफगानिस्तान पर आक्रमण करके यूनानी राज्य पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसी के पुत्र विम ने शकों की शक्ति को उत्तरी भारत में नष्ट कर दिया। कश्मीर, पंजाब, सिन्धु और उत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा तक उसने अधिकार स्थापित कर लिया। कुशान वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क था (७८--१०१ ई०)। उसका राज्य मध्य एशिया, अफगानिस्तान, कश्मीर, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, सिन्धु, गुजरात, काठियावाड़ और मालवा तक फैल गया। उसकी राजधानी पेशावर में थी। अशोक के बाद बौद्ध धर्म का प्रमुख प्रचारक सम्राट् कनिष्क हुआ किन्तु उन दोनों के स्वभाव, आचरणों तथा अहिंसा सिद्धान्त के निर्वाह में बड़ा भेद है। उसके पृष्ठपोषण से बौद्ध धर्म चीन आदि में फैला और बौद्ध धर्म का नवीन संस्कार हुआ जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। गान्धार शैली की तक्षण शिल्पकला का पूर्ण विकास भी इसी के समय में हुआ। कुशान शक्ति का नाश तृतीय शती में हुआ। पश्चिम में फारस के सासानी वंश के शापुर प्रथम के और पूर्व में नाग तथा अन्य वंशों के राजाओं के आघातों से वह नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

कलिंग

प्रथम शती ई० पू० में कलिग (उड़ीसा) के चैत्रवंशी खारवेल ने, जो जैन मत का पोषक था, राज्य का विस्तार किया। उत्तर में राजगृह तक और पश्चिम में बरार तक, दक्षिण में मसुलीपट्टम तक का प्रदेश उसने विजय कर लिया। तदनन्तर उसने मगध पर चढ़ाई की और अंग तथा मगध को लूट लिया। दक्षिण के पाण्ड्य राजा को भी उसने परास्त किया। पराक्रमी होने के साथ ही वह गानविद्या में पारंगत और नृत्यकला का पोषक था। उसने प्रजा के विनोद के लिए उत्सवों का आयोजन किया। स्थापत्य तथा मूर्ति कला की भी उसके संरक्षण में अच्छी उन्नति हुई, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण खेडगिरि की गुफा में द्रष्टव्य है। उसने नगरों तथा महाप्रासादों का निर्माण और उद्यानों का आरोपण करवाया और एक प्राचीन नहर का उद्धार किया। बहुत सम्भव है कि उसने समुद्रपार की 'स्वर्ण-भूमि' (पूर्वीयद्वीपों) के साथ व्यापार और संस्कृति के आदान-प्रदान को उत्तेजना प्रदान की हो। यह नहीं पता चलता कि ऐसे होनहार साम्राज्य का उसके मरणोपरान्त कैसे इतना शीघ्र पतन हुआ।

खारवेल के समसामयिक दक्षिणापथ के आन्ध्र शातवाहनों ने भी अपना साम्राज्य स्थापित किया। अनुमान किया जाता है कि विन्ध्याचल की पहाड़ियों से हटकर वे पैठन (प्रतिष्ठानपुर) की ओर गये और दक्षिण के पश्चिमोत्तर भाग में रह गये। अनुश्रुति के अनुसार उन्हीं के सिमुक अथवा सिसुक नामक राजा ने कण्व वंश को उच्छिन्न कर मालवा पर आधिपत्य स्थापित किया। उसी वंश के शातकर्णि नामक राजा के समय में आन्ध्र साम्राज्य काठियावाड़, कोंकन, मालवा से कृष्णा नदी के दहाने तक फैल गया। शकों के आक्रमणों से आन्ध्रों को काठियावाड़ और मालवा से पीछे हटना पड़ा, किन्तु गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि ने उन सबों का दमन किया। उसका साम्राज्य काठियावाड़, मालवा से बरार के अस्मक तथा तिलिंग प्रदेश तक फैल गया। साम्राज्य की राजधानी प्रतिष्ठानपुर (पैठन) थी। शुग, कण्व वंशों के समान शातवाहन भी ब्राह्मण वर्ण के थे। गौतमीपुत्र की घोषणा के अनुसार उसका आधिपत्य अरावली पहाड़ से पूर्वी और पश्चिमी घाट और त्रिवांकुर (ट्रावन्कोर) तक स्थापित था। तृतीय शती में यह साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर कई स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया।

तृतीय शती तक आन्ध्रों का राज्य भी नष्ट हो गया। इन सब परिवर्तनों के कारण भारतवर्ष में अनेक राज्य बन गये। उस युग के इतिहास पर अभी तक सन्तोषजनक प्रकाश नही पड़ पाया है। केवल इतना कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत में नाग तथा वाकाटक और दक्षिणी भारत में पल्लव वंशों ने बड़े राज्य स्थापित कर लिये थे। नागों ने कुशानों को हटाने के लिए किसी अंश तक सफल प्रयत्न भी किया था। चतुर्थ शती में गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ इतिहास पर अधिक आलोक पड़ने लगा।

बिहार प्रान्त के एक साधारण छोटे राज्य में गुप्त वंश के महाराज श्रीगुप्त राज्य करते थे। उसी वंश में चन्द्रगुप्त नामक राजकुमार ने लिच्छवि वंश में विवाह करके उस वंश की सहायता से अपनी शक्ति बढ़ायी, राज्य भी प्रयाग तक फैलाया और महाराजाधिराज की पदवी ग्रहण कर ली (३२० ई०)। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने दिग्विजय करके पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तक, दक्षिण में नर्मदा तथा कृष्णा नदी या उससे भी आगे तक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने (३७५-–४१४) शकों से मालवा, गुजरात और काठियावाड़ जीते। सम्भव है कि उसने बचे-खुचे कुशानों को भी पंजाब से भगा दिया हो। इस प्रकार पाँचवी शती के आरम्भ में गुप्तों ने आर्यावर्त में एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। गुप्त साम्राज्यकाल

में भारतीय साहित्य, दर्शन, स्थापत्य, भित्ति-चित्रण, मूर्तिकला आदि की इतनी उन्नति हुई कि इतिहास में उसका समय स्वर्ण-युग के नाम से प्रख्यात हो गया। गुप्तों के समान दक्षिण में मालवा से नीचे की ओर वाकाटकों ने एक बड़े राज्य की स्थापना की जो पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक और दक्षिण में कृष्णा नदी तक विस्तृत था। उस राज्य से नीचे सुदूर दक्षिण के पुराने पाण्ड्य, चेर आदि राज्य थे। साधारणतः स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में पाँचवीं शती में एक विशाल साम्राज्य उत्तर में और दूसरा दक्षिण में था।

ईरानियों ने जब से पश्चिमी पंजाब में पदार्पण किया तब से भारत को आक्रमण-कारियों से छुट्टी न मिल सकी। मौर्य वंश ने अवश्य सीमा-वृद्धि की किन्तु उसके बाद वह रुकी रह गयी। पाँचवीं शती के मध्य में गुप्त साम्राज्य का भयंकर ह्रास आरम्भ हुआ। नर्मदा-तटस्थ पुष्यमित्रों का विद्रोह तथा राज्य के लिए गृह-युद्ध हुआ। उधर पश्चिम की ओर से हूणों का आक्रमण हुआ। ये चीनी लोग वे ही थे जिन्होंने कुशानों को मध्य एशिया से पंजाब की ओर भगाया था। वे पंजाब की ओर बढ़कर फैलने का प्रयत्न करते रहे। उनके प्रसिद्ध नेता तोरमाण ने गुप्तों से मध्य भारत तथा मालवा के प्रान्त छीन लिये। उधर सौराष्ट्र प्रान्त भी उनके आतंक में आ गया। फिर भी भारतीय युद्ध करते रहे। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल को उत्तर प्रदेश से नृसिहगुप्त बालादित्य ने निकाल दिया और ५३० ई० में मन्दसौर के राजा यशोधर्मा ने उसे ऐसा परास्त किया कि कश्मीर में उसे शरण लेनी पड़ी। यद्यपि हूणों का दमन किया गया तथापि उनके आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य जर्जरित होकर छिन्न-भिन्न हो गया (५५० ई०)। इसके सिवा राजपूताने के पुराने राजवंश अथवा राज्य भी हत-प्रभ हो गये।

आर्यों का सामाजिक जीवन

भारत के प्राचीन आर्यों के विषय में वैदिक साहित्य से पता चलता है कि उनके सामाजिक जीवन का मूल आधार पैतृक विधान का परिवार था। उनका रंग प्रायः गोरा था और वे तन तथा मन की स्वच्छता का बड़ा ध्यान रखते थे। आचरणों की शुद्धता तथा शिष्टता, विचारों की गम्भीरता, उदारता, आतिथ्य-सत्कार, सच्चरित्रता तथा आत्मसम्मान का वे यथासाध्य पालन करते थे। खाने-पीने तथा विनोद का उनको शौक था। रोटी, दाल, चावल, शाक, फल, दूध, दही, माखन तथा मांस का भी वे सेवन करते थे। गन्ने के रस के बड़े प्रेमी थे। जौ की सुरा तथा सोमरस का पान

करते थे। उनको संगीत, नृत्य तथा गान से प्रेम और शिकार, रथों की दौड़ तथा मुष्टियुद्ध का भी शौक था। यदा-कदा जुआ भी खेला करते। वे ग्रामों में रहते थे और उनके मकान लकड़ी या बांसों के बने होते थे। ग्रामीण जीवन से वे सन्तुष्ट रहते थे। कपड़ों का उन्हें अधिक शौक न था। धोती और चादर उनके लिए काफी थी। यद्यपि पुरुषों के अधिकार प्रधान थे तथापि स्त्रियों की मान-मर्यादा का वे आदर करते थे। स्त्रियों में परदा न था। वे आभूषणों से सजी-धजी रहतीं और विद्याध्ययन तथा धार्मिक यज्ञादि करती रहती थीं। लड़कियों का विवाह युवती होने पर किया जाता था। उनके आचरण पवित्र थे। विधवा-विवाह बुरा न माना जाता था और न उस समय सती की प्रथा ही थी। गृहस्थ जीवन सुखमय था।

यद्यपि आर्यों में व्यवसायानुसार चार वर्णों, ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र की कल्पना थी तथापि वे सब आपस में मिलते-जुलते, खाते-पीते और विवाह भी करते थे। रोटी-बेटी का कोई खास विचार न था। हाँ, अनार्यों से, जिनका वर्ण श्याम था, वे बचते और उन्हें नीची दृष्टि से देखते थे और कड़ा व्यवहार भी करते थे।

वैदिक काल के उत्तर भाग में सामाजिक परिवर्तन होने लगा, क्योंकि सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने की आवश्यकता लोग अनुभव करने लगे थे। निरन्तर युद्धों में फँसे रहने के कारण उन्हें जीवन के अन्य आवश्यक अंगों की उपेक्षा का डर हुआ। यद्यपि रक्षा के लिए सबको आवश्यक रूप से युद्ध करने का विधान था, तथापि आपत्तिकाल के दूर हो जाने के बाद ज्ञान-विज्ञान, कृषि-वाणिज्य तथा मजदूरी आदि के संवर्धन में नियन्त्रण की आवश्यकता भी रहती थी। अतः निरन्तर पारस्परिक सहयोग के साथ अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य करते रहने के कारण सामाजिक सहयोग उनका आदर्श बन गया। अनार्यों के साथ उत्तरोत्तर बढ़ते सम्पर्क को नियन्त्रित करना भी उनके लिए अनिवार्य-सा इसलिए हो गया कि आर्य जाति अधिक दूषित अथवा अनार्य-सागर में विलुप्त न हो जाय। इन दोनों समस्याओं को उन्होंने वर्ण और कर्म-व्यवस्था द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मणों के मुख्य कर्तव्य विद्या-अध्ययन, दान-ग्रहण, यजन-याजन; क्षत्रियों के विद्याध्ययन, संरक्षण, युद्धादि; वैश्यों के कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य और शूद्रों के सेवा और मजदूरी निश्चित कर दिये गये। उस समय समाज-रक्षा का वही एक मात्र उपाय समझा गया। उस विधान से एक लाभ यह हुआ कि सारा समाज युद्ध अथवा राजनीति अथवा व्यापार में संलग्न होने से बच गया। जीवन के किसी व्यापार का अनुचित प्राधान्य अथवा अवहेलना न हुई। शास्त्र, शस्त्र तथा अर्थ की मर्यादाएँ स्थापित हो जाने से राष्ट्र का विकास एक

मखी और आदर्श संकीर्ण न हो पाया। दूसरा लाभ यह हुआ कि वंशानुगत शिक्षा-दीक्षा होने से प्रत्येक क्षेत्र में कार्य-कुशलता, उत्तरदायित्व तथा लाघव की वृद्धि हुई। तीसरा लाभ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार मिल सका। रोजगार के लिए संघर्ष अथवा बेरोजगारी की वह यातना, जो प्रायः अनियन्त्रित विधानों में पायी जाती है, बहुत समय तक रुकी रही। यद्यपि जनसंख्या की वृद्धि हो जाने से उक्त विधान डगमगा उठा और वर्ण-धर्म का प्रतिपालन दुःसाध्य होता गया, तथापि प्राचीन आदर्श का सर्वथा लोप इस देश में होने न पाया। राजनीतिक, सैनिक अथवा धन-बल के ऐश्वर्य की वह उपासना, जो अन्यत्र देखी जाती है, भारतीय समाज में विकराल रूप धारण न कर सकी। गरीबी और अमीरी का वैषम्य उसमें वह उग्र रूप धारण न कर सका जिसके कारण मनुष्य आत्म-सम्मान एवं आत्मोन्नति की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता। एक ऐसा समय अवश्य आया जब समाज में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए ब्रह्म-बल और क्षात्र-बल में संघर्ष हुआ। कुछ उलट-पलट होने के पश्चात् यही निश्चित हुआ कि ब्रह्मबल, क्षात्र-बल से अधिक महत्व-पूर्ण एवं श्रेयस्कर है। वैश्य इस झगड़े में न फँसे यद्यपि उनका झुकाव ब्रह्म-बल की ओर प्रतीत होता था। यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वी प्रदेशों के क्षत्रियों ने जब समाज में प्रमुख स्थान प्राप्त करना चाहा तब उन्होंने शस्त्र अथवा राजनीति का आश्रय न लेकर दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक ज्ञान का आश्रय लिया, जिसका सर्व-व्यापक निर्वाह उनके साधारण वातावरण में दुःसाध्य-सा था। उसके विपरीत ब्राह्मणों के सरल और जातिगत कर्तव्यों के वातावरण में वह उतना कठिन न था। फल यह हुआ कि अन्ततोगत्वा क्षत्रियों ने संघर्ष छोड़ दिया और वैदिक आदर्श को स्वीकृत-सा कर लिया। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना अच्छा होगा कि समाज-संरक्षण का विषय व्यावहारिक है तथा ऐहिक एवं लौकिक जीवन से सम्बद्ध है। इसके विप-रीत दर्शन और आध्यात्मिकता का क्षेत्र-सम्बन्ध वैयक्तिक, अलौकिक एवं पारलौकिक है। दोनों का अपना-अपना स्थान है। उन दोनों का संघर्ष काल्पनिक भले ही न हो किन्तु थ तथ्यता से शून्य। भारतीय आर्यों के सामाजिक और आध्यात्मिक विचारों की अपनी विशेषता थी। उस व्यवस्था में गुणों के साथ कुछ दोष भी थे। समाज का शूद्रों और विशेष कर अन्त्यजों के साथ व्यवहार असन्तोषजनक था। शूद्र का धन आपत्तिकाल में स्वामी ले सकता था। उसका सारा जीवन स्वामी की सेवा में व्यतीत होता था। शूद्र के जीवन का मूल्य पशुओं से अधिक न समझा जाता था। उसको न तो वैदिक शिक्षा दी जाती थी और न अध्यापन का कार्य ही दिया जाता था।

उच्च वर्णों का अपमान करने पर शूद्र को कठोर शारीरिक दण्ड दिया जाता था। यदि ब्राह्मण शूद्र का अपमान करता तो उसे कुछ जुरमाना-मात्र देना पड़ता था। द्वितीय शती ई० पू० से शूद्रों के प्रति उदारता का व्यवहार होने लगा। उनको पशु-पालन, शिल्पकार्य, वाणिज्य ही नहीं वरन् शासन-कार्य का भी अधिकार मिल गया। उनको भी संस्कार कराने की आज्ञा मिल गयी। शास्त्रों में उल्लिखित सुविधाओं से भी अधिक उदारता उनके प्रति दिखायी जाने लगी। उपर्युक्त परिवर्तन के सम्भावित कारणों में भारत पर विभिन्न विदेशी जातियों का आक्रमण करके यहाँ बस जाना तथा बौद्ध, जैन आदि धर्मों के सर्वोदयात्मक उदार विचारों का प्रचार और वर्णाश्रम धर्म की जटिलता में शिथिलता हो जाना आदि थे।

आर्यों के समाज में ज्यों-ज्यों अध्ययन-अध्यापन की, औद्योगिक, व्यावसायिक, राजनीतिक अथवा शासनिक वृद्धि होती गयी, त्यों-त्यों विषय-विशेष, कार्य-विशेष तथा उद्योग और व्यापार-विशेष की छोटी-बड़ी संस्थाएँ बनती गयीं, जिनमें वंशानुगत पद्धति होने के कारण कौशल की वृद्धि के साथ रहन-सहन, आचार-विचार की विशिष्टता बढ़ी। कालान्तर में प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत अनेक श्रेणियाँ उत्पन्न हो गयीं जिनमें नये प्रकार की बन्धुत्व-भावना जाग्रत हुई। अपनी श्रेणी के भीतर ही वे वैवाहिक और खानपान का सम्बन्ध करने लगे और स्वानुकूल नियम तथा उपनियम बनाने लगे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह के कारण नयी-नयी जातियाँ बनती चली गयी। इन प्रवृत्तियों के सिवा देश, प्रदेश एवं प्रान्तीयता का भी उनके आचार-विचार पर प्रभाव पड़ता रहा। श्रेणिक तथा भौगोलिक कारणों से एक ही वर्ण के अन्तर्गत अनेक विभेद हो गये, जिससे जात-पाँत का भाव बढ़ता चला गया, यहाँ तक कि उसने समाज में नयी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं।

छठी शती ई० पू० तक वर्ण-व्यवस्था काफी अव्यवस्थित-सी हो गयी। ब्राह्मणों की आर्थिक दशा खराब हो जाने के कारण तथा यज्ञों के प्रति उदासीनता बढ़ जाने से ब्राह्मणों को भिक्षा का आश्रय लेना पड़ा। जो उसको पसन्द न करते थे उनको विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, चिकित्सा, ज्योतिष, राज्य की नौकरी, रथ संचालन, हरकारी, सिपहगरी, पशुपालन, कृषि, व्यापार, गाना-बजाना आदि का आश्रय लेना पड़ा। ऐसी दशा में लोगों की नज़र में उनका महत्त्व घट गया। केवल जन्मजात स्वाभिमान की भावना का भरोसा बाकी रहा। इसके विपरीत, राज्यों के विस्तार के कारण क्षत्रियों की आर्थिक दशा उन्नत हो गयी जिससे उनमें अहम्मन्यता की अभिवृद्धि हुई। विद्वान् और स्व-वर्णानुसार सदाचारी ब्राह्मणों का आदर-सम्मान किया

जाता था। कर्तव्यच्युत किन्तु जन्मजात अभिमान का खुल्लमखुल्ला उपहास और तिरस्कार किया जाने लगा। जन्मना-जाति माननेवाले रक्त की शुद्धता और वंशानुगत आचार-विचार के संरक्षण को महत्त्व देते रहे। बौद्ध तथा जैन आदि धर्मों के प्रचारकों ने जन्मना-जाति के महत्त्व का विरोध किया। उस समय तक वर्ण और जाति-व्यवस्था की जड़ इतनी दृढ़ हो गयी थी कि उसका समाज से उन्मूलन दुःसाध्य-सा था। उनका विरोध सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक हो सकता था किन्तु वह व्यावहारिक रूप में अधिक सफलता प्राप्त न कर सका। गुण, कर्म और स्वभाव की कसौटी सच्ची होते हुए भी विशाल एवं विस्तृत समाज में सार्वलौकिक अथवा सार्वभौमिक व्यवहार के लिए अधिक उपयोगी न हो सकी। जाति की जन्मना व्यवस्था सरल और अनुपाततः व्यावहारिक प्रतीत हुई। बौद्धों ने स्वयं सवर्ण विवाह के औचित्य का समर्थन किया। सम्भवतः जैन भी सम-जाति विवाह के पक्षपाती थे। भगवद्गीता में चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति दैविक मानी गयी है। जान पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था का समाज के ऊपर आरोपण नहीं किया गया, अपितु प्रस्तुत सामाजिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उसका स्वाभाविक विकास हुआ और शास्त्रकारों ने उसको व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया तथा उसकी मनोवैज्ञानिक तथा समाज-वैज्ञानिक व्याख्या करने की चेष्टाएँ कीं।

प्राचीन आर्यो के आश्रम-सिद्धान्त भी विचारणीय हैं। मनुष्य की आयु को सौ वर्ष की मानकर उन्होंने उसे चार बराबर भागों में विभक्त कर दिया था। प्रथम भाग विद्याध्ययन, शरीर-संगठन तथा विनय एवं आचार के अभ्यास के लिए निर्धारित किया गया। द्वितीय में गृहस्थ धर्म का पालन तथा अर्थ संचय रखा गया, तृतीय में गृहस्थी के टण्टों से हटकर धर्म चिन्तन तथा संयम का संवर्धन शामिल हुआ। चतुर्थ में सब प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्मज्ञान का साधन और ब्रह्मानुभूति का प्रयत्न करते हुए ऐहिक लीला की समाप्ति रखी गयी। आदर्श की दृष्टि से आश्रम धर्म में अनेक गुण हैं किन्तु व्यावहारिक जगत् में उसका कहाँ तक प्रतिपालन हो सका होगा यह कहना कठिन है। फिर भी उस आदर्श को सामने रखकर यथासाध्य तदनुसार आचरण करना भी कुछ-न-कुछ मंगलप्रद रहा होगा। वैदिक युग के बीतने पर संन्यास का विधान केवल ब्राह्मणों के लिए रह गया। आगे चलकर वह भी टूट गया। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरे आश्रम का प्रतिपालन भी यथेष्ट रूप से न हो सका।

छठी शती ई० पू० में आश्रम के सम्बन्ध में बड़ी आलोचना और प्रत्यालोचना

हुई। उपनिषद्-काल में आश्रम-धर्म का पर्याप्त विकास हुआ, किन्तु सूत्र-काल में और भी दृढ़ हो गया। ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रमों के विषय में अधिक भेद न था किन्तु गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में गहरा मतभेद हुआ। वैदिक मतानुयायी, गृहस्थ धर्म को समाज का मेरुदण्ड अथवा आधारशिला मानते थे। वे लोक-संग्रह नैतिक जीवन तथा अर्थ, धर्म एवं काम के स्वाभाविक साधन की उसे सर्वग्राह्य, सरल और सुगम संस्था समझते थे। उनकी यह धारणा थी कि गृहस्थ-धर्म का उल्लंघन होने से साधारण जनों की अतृप्त वासनाएँ समाज के लिए अहितकर होंगी, इसके विपरीत बौद्ध धारणा के अनुसार गृहस्थ जीवन आध्यात्मिक साधना का बाधक ही नहीं, वरन् घातक समझा गया। वैदिक मत के लोग गृहस्थ जीवन के योगक्षेम को साधक, न कि बाधक मानते थे। उसी के द्वारा वे पितृ-ऋण अथवा समाज के प्रति अपने वंशानुगत कर्तव्य की पूर्ति मानते थे। उन कर्तव्यों को छोड़कर मनुष्यों अथवा स्त्रियों को समाज से लाभ उठाने की चेष्टा अनुचित ही नहीं वरन् निन्दनीय समझी जाती थी। आध्यात्मिक जीवन की बौद्ध अथवा जैन कल्पना तथा व्याख्या को वे यदि भ्रमात्मक नहीं तो एकांगी अवश्य कहते थे। स्वाभाविक और लोकोपयोगी होने के कारण यद्यपि गृहस्थ जीवन को कोई विशेष हानि न होने पायी, तथापि समाज में यतियों, मुनियों, भिक्षुकों, भिक्षुणियों के संघ बनते चले गये, जिससे वैदिक सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक एवं नैतिक पक्ष को थोड़ी-बहुत हानि होती रही, जिसने आगे चलकर अवांछनीय रूप धारण कर लिया।

यद्यपि वैदिक काल में भी पुत्री का स्थान पुत्र की अपेक्षा निम्न था तथापि वह सर्वथा अवांछनीय नहीं समझी जाती थी। वैदिक युग में पुत्र और पुत्री के धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों में कोई भारी भेद न था। शिक्षा तथा धार्मिक कृत्यों में दोनों के समान अधिकार थे। वह स्वयंवर भी कर सकती थी। पुत्र के अभाव में पुत्री को राज्याधिकार भी प्राप्त हो सकता था। उसे दो हजार चाँदी के पणों तक अपना धन रखने का अधिकार था। उसे वह अपनी पुत्री को दे सकती थी, पुत्र को नहीं। बाल-विवाह का उस युग में शायद ही कहीं कोई उदाहरण मिल सके, क्योंकि साधारणतः यौवन आने पर ही विवाह होता था। बौद्ध और जैन सिद्धान्त से वैवाहिक जीवन, विशेषकर स्त्री, आध्यात्मिकता के लिए भंयकर बाधा है। उनके इन विचारों से स्त्रियों के महत्त्व को आघात पहुँचा होगा, यद्यपि उनकी साधारण स्थिति तथा अधिकारों को कोई विशेष हानि नहीं हुई। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा कमोबेश चलती रही। वैदिक वाङमय को छोड़कर वे अन्य विषयों का अध्ययन कर

सकती थीं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कार्यक्षेत्र गृहप्रबन्ध की ओर अधिक उन्मुख होने लगा था।

ईसा की प्रथम शती तक स्त्रियों की शिक्षा का विधान काफी शिथिल हो गया और बाल-विवाह का प्रचलन हो चला, जिससे बारह वर्ष से भी कम अवस्था में बालिकाओं का विवाह होने लगा। उनका उपनयन संस्कार बन्द हो गया। विवाह के उपरान्त उनके मुख्य कर्तव्य गृहिणी के हो गये। सपिंड, सप्रवर और सगोत्र में, जिससे तात्पर्य कुटुम्ब का एक संस्थापक होता है, जिसमें ममेरी, फुफेरी, चचेरी कन्याएँ गिनी जाती थीं, विवाह वर्जित था। आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। प्रथम था ब्राह्म विवाह जिसमें कन्या का पिता दहेज के साथ कन्यादान करता है। दूसरे विवाह में पिता यज्ञादि कृत्य कराने के उपलक्ष्य में पुरोहितों को कन्यादान करता था, तीसरे आर्ष विवाह में पिता गाय या बैल लेकर कन्या दान देता था। प्राजापत्य नामक चौथे प्रकार के विवाह में बिना किसी प्रकार के लेन-देन के कन्या-दान दिया जाता था। उपर्युक्त चार विवाहों के सिवा गान्धर्व नामक पाँचवें प्रकार के विवाह में युवती और युवक चाहे लुक-छिपकर अथवा स्वयंवर विधान से ब्याह कर लेते थे। आगे चलकर स्वयंवर में भी सजातीयता का ध्यान रखा जाने लगा। आसुर, जिसमें कन्या खरीद ली जाती थी, विवाह का छठा प्रकार था। सातवाँ राक्षस विवाह था जिसमें कन्या बलपूर्वक ब्याह ली जाती थी। आठवाँ था पिशाच जिसमें मादक द्रव्यों से उन्मत, बेहोश अथवा सोती हुई असहाय कन्या को बलात् छीन लिया जाता था। उपर्युक्त विवाहों में अन्तिम तीन अच्छे नहीं माने जाते थे। फिर भी क्षत्रियों में राक्षस विवाह कभी-कभी होते ही थे और अनुपाततः उतने घृणित न समझे जाते थे। सूत्र-काल तक अन्तर्जातीय विवाह होते रहे किन्तु सवर्ण विवाह के पक्ष में मत बढ़ना आरम्भ हो गया था, जो आगे चलकर सर्वमान्य हो गया। अन्तर्जातीय विवाह की सन्तति का स्थान निम्न श्रेणी का माना जाता था।

यद्यपि वैदिक काल से ही एक पत्नीव्रत होना अच्छा समझा जाता था, और संभवतः साधारण लोगों में उसी का प्रचलन रहा तथापि उच्च श्रेणी और विशेषतः क्षत्रियों में बहु-विवाह में कोई बुराई नहीं समझी जाती थी, सिवा इसके कि बहुपत्नीक घर में ईर्ष्या, द्वेष एवं अशान्ति होने की आशंका रहती थी। वैदिक काल में सती-प्रथा न थी। ईसा के पूर्व छठी शती में क्षत्रियों और अन्य युद्धशील समूहों में सती-प्रथा का प्रचलन सिंध पंजाब तथा राजपूताने में मिलता है। महाभारत में उसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। साधारणतः विधवा की स्थिति उतनी

खराब न थी जितनी कि बाद को हो गयी। विधवा का विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था, फिर भी उसे इस बात की स्वतंत्रता थी कि यदि वह चाहे तो पुनर्विवाह कर ले अथवा संतान के अभाव में तीस-बत्तीस वर्ष की विधवा गुरुजनों की अनुमति लेकर सजातीय उच्चश्रेणी के उपयुक्त पुरुष से नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कर ले। यह प्रथा धीरे-धीरे (६०० ई० पू० के बाद) बन्द हो गयी। मनु भी उसके विरोधी थे। इसके विपरीत पुनर्विवाह का पक्ष प्रबल हो गया। कौटिल्य ने पति-पत्नी के भावों तथा विचारों के वैषम्य में न्यायविभाग से अनुमति लेकर अन्य विवाह कर लेने का मत प्रकट किया है। मनु ने किसी-किसी दशा में पति के जीवित रहने पर भी दूसरा विवाह कर लेने की अनुमति दी है। उन स्थितियों में स्त्री को छोड़कर चला जाना, नपुंसकत्व तथा पतित हो जाना विशेषतः विचारणीय हैं। व्यभिचार का दोष स्थापित होने पर भी पुनर्विवाह की आज्ञा का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त मत का विरोध भी आरम्भ ही से होता रहा। उसको वैध मानते हुए भी उसके विरुद्ध मत बढ़ता गया, यहां तक कि ईसा की द्वितीय शती तक पुनर्विवाह का निषेध हो गया। एक पत्नी तथा एक-पतिव्रतत्व ही सर्वथा उचित और श्रेयस्कर मान लिया गया। वैदिक काल में भी रोमानी गुप्त प्रेम तथा उसके अवाञ्छित परिणामों का उल्लेख मिलता है। आचार-भ्रष्टता के उदाहरण पाये जाते हैं फिर भी उसका प्राबल्य नहीं प्रतीत होता। किन्तु नगरों, व्यवसायों तथा सम्पत्ति के वर्धन के साथ एक-पत्नीव्रत की व्यवस्था के कारण विवाहेतर सम्बन्ध की वृद्धि होने लगी। यह दोष प्रायः नगर के सम्पन्न समाज अथवा कलाकारों के समुदाय में ही अधिकतर सीमित रहा। साधारण अथवा मध्य श्रेणी के लोगों में उसका विशेष प्रभाव न पड़ा।

परदा

वैदिक तथा सूत्रकाल तक स्त्रियों के लिए परदे का प्रचलन न था; विनय, मर्यादा तथा शील की रक्षा करते हुए वे पुरुषों के समाज में बिना मुँह ढँके केवल आ-जा ही नहीं, वरन् गम्भीर विषयों पर विचार-विनिमय तथा शास्त्रार्थ करतीं और न्यायालयों में अपने अधिकारों के लिए लड़ती भी थीं। बौद्ध जैन तथा महाकाव्य-काल में उच्च श्रेणी के लोगों में कहीं-कहीं कुछ परदे का आरम्भ हुआ, तथापि विवाह, यज्ञ, स्वयंवर अथवा संकटापन्न स्थिति में स्त्रियाँ बिना मुखावरण के आती-जाती थीं। वैदिक और सूत्र युग की तरह स्त्रियों को पुरुषों से मिलने-जुलने की स्वतंत्रता अभिजात कुलों में कम होती जाती थी। सर्वसाधारण समाज में रोकटोक नगण्य-सी

रही। फिर भी स्त्रियों के सम्पर्क से आध्यात्मिक और धार्मिक विकास में भयंकर बाधा पड़ने का विचार निवृत्तिमार्गीय सम्प्रदायों में इतना बढ़ा कि उन्होंने लोगों को उनसे बचने और पृथक् रहने का आन्दोलन-सा खड़ा कर दिया। संभव है कि वह धारणा नागरिक वातावरण की प्रतिक्रिया हो। जो कुछ भी हो, अभिजात वर्गों की इस नयी प्रवृत्ति तथा उपर्युक्त विचारों के फैलने का प्रभाव पुरुषों और स्त्रियों के समाज को धीरे-धीरे पृथक् करने लगा। विदेशियों के आक्रमणों से उस प्रवृत्ति को अधिक वेग प्राप्त हुआ होगा, जो आगे चलकर परदा-प्रथा के रूप में दृढ़ हो गयी।

वैदिक युग के उत्तरकाल में संस्कारों की भली-भाँति व्यवस्था कर दी गयी। आर्यों के रिवाजों तथा आदर्शों के अनुकूल षोडश संस्कारों का विधान निश्चित कर दिया गया। बच्चे के गर्भ में आते ही पहला संस्कार आरम्भ हो जाता, और मरने पर अन्त्येष्टि संस्कार होता था। १६ मुख्य संस्कारों में से विद्यारम्भ या यज्ञोपवीत तथा विवाह-संस्कार बड़े महत्त्व के माने जाते थे। बहु-विवाह का भी प्रचलन शुरू हो गया था। विवाह की आयु भी कम होती गयी, यहाँ तक कि आठ वर्ष की अवस्था में भी विवाह कर देना अनुचित न रहा। विधवा-विवाह बुरा माना जाने लगा, यहाँ तक कि गुप्तों के युग में उच्च वर्ण के लोगों से उसका चलन उठ ही गया। स्त्री के अधिकारों तथा शिक्षा की उन्नति के बदले अवनति होती चली गयी। बड़े लोग तो लड़कियों को कुछ पढ़ा-लिखा और संगीत का ज्ञान करा देते थे, किन्तु साधारण लोगों में बाल-विवाह की वृद्धि के साथ लड़कियों की शिक्षा का ह्रास होता चला गया। स्वयं बुद्ध भगवान् स्त्रियों का संघ में शामिल होना अनुचित समझते थे। मौर्य काल में कुछ जातियों में सती-प्रथा अधिक प्रचलित थी। किन्तु गुप्त काल में सती हो जाना बड़े महत्त्व, पुण्य और यश का काम माना जाने लगा।

वेष-भूषा

आर्यों को ग्रीकों तथा रोमनों की तरह बहुत कपड़े पहनने का शौक न था। साधारणतः वे धोती पहनते और शरीर के ऊपरी भाग को चादर से आवश्यकता पड़ने पर, ढक लेते थे। कभी विशेष अवसर पर काम की हुई सदरी पहन लेते थे और सिर पर पगड़ी बाँध लेते थे। स्त्रियों की भी वैसी ही पोशाक थी। सदरी के स्थान पर वे चोली पहनती थीं। उनके कपड़े ऊनी, रेशमी और सूती होते थे। कोई-कोई चमड़े का, विशेषकर मृग अथवा व्याघ्र-चर्म का भी प्रयोग करते थे। कुछ लोग

अस्तुरे से बाल कटवाते, कुछ दाढ़ी और लम्बे बाल रखते थे। बालों की सफाई और सजावट का शौक पुरुषों और विशेषतः स्त्रियों को था। आभूषण, मोतियों एवं रत्नों के, दोनों को ही प्रिय थे। वे कानों में कुंडल या बाली, गले में कंठा या हार, हाथों में जोशन या बाजूबन्द, कलाई पर कड़े या कंगन, वक्षस्थल पर सोने या मोतियों के हार तथा उँगलियों में अँगूठी पहनते थे। यही वेषभूषा थोड़े से हेर-फेर के साथ गुप्त युग तक चलती रही, यद्यपि कुषाण काल में ईरानी ढंग के पायजामों, लबादों आदि का राजाओं में प्रचलन होने लगा।

आमोद-प्रमोद

पूर्ववैदिक युग में आर्यों को घुड़दौड़, रथदौड़, संगीत, नृत्य, गाने-बजाने और जुआ खेलने का शौक था। ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति तथा सम्पत्ति की वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों उनके आमोद-प्रमोद के साधन भी बढ़े। तरह तरह के अभिनय नटों तथा बहुरूपियों द्वारा दिखाये जाने लगे। वीरों की कृतियों का मनोरंजक वर्णन, अनेक प्रकार की बोलियों की नकल, भाट एवं चारणों द्वारा स्वामी के यशगान, मदारियों के खेल, हाथियों और साँड़ों के युद्ध, मल्लयुद्ध, मुष्टियुद्ध, गदायुद्ध, असियुद्ध, भार फेंकना, धनुर्धरों की प्रतिद्वंद्विता आदि का प्रदर्शन होता था। शिकार का शौक तीव्रतर हो गया। द्यूत क्रीड़ा का व्यसन इतना बढ़ा कि उसके लिए छोटे-बड़े द्यूतगृह शहरों में बनाये गये, जिनका नियंत्रण शासन को अपने हाथ में लेना पड़ा। उससे राज्य को आमदनी भी होती थी। वन-विहार, यात्राएँ, उत्सव, मेले अनेक प्रकार और बड़े पैमाने के होने लगे। तेल-फुलेल, सुगन्धित पदार्थों तथा खाने-पीने की चीजों का भी शौक बढ़ गया। नागरिकों को हिरन, गोह, सुअर, मोर, कबूतर और मुर्ग आदि तथा मछली का मांस खाने और शराब पीने का चसका लग गया, जिसमें औरों की कौन कहे, भिक्षु, ब्राह्मण और श्रमण तक शामिल हो गये। भोज-नालयों तथा दूकानों की, जहां हर प्रकार का कच्चा-पक्का तैयार खाना, मिठाइयां आदि बिकती थीं, भरमार होती चली जाती थी। कई प्रकार की शराब बिकती थी और भट्ठियां खुली थी जिनका नियंत्रण करना शासन ने आवश्यक समझा। गणिकाओं और वेश्याओं की संख्या और उनका व्यापार भी इतना बढ़ा कि शासन को उन पर निगरानी रखने और उनसे सरकारी कर लेने के लिए एक अध्यक्ष नियुक्त करना पड़ा। गणिकाओं का स्तर काफी ऊँचा था। वे प्रायः शिक्षित, संगीत चित्र आदि विविध कलाओं में प्रवीण होती थीं। उनकी गोष्ठी में कलाकार और

विद्वान भी जाते और साहित्यिक, दार्शनिक तथा कला-सम्बन्धी विचार का वहाँ विनिमय करते थे। बाज-बाज ऐसी गणिकाएँ होती थीं जो एक-पुरुषव्रता रहतीं थीं। गणिकायें और वेश्याएं जासूसी करने, संदिग्ध व्यक्तियों को बहकाकर पथभ्रष्ट अथवा विनष्ट करने तथा राजों-रईसों और बड़े पदाधिकारियों की सेवा-सुश्रूषादि करने के लिए नौकर रख ली जाती थीं। अपनी स्थिति और साधनों के अनुसार कम अथवा अधिक संख्या में लोग उन्हें नियुक्त कर लेते थे। उनकी यहां तक आवश्यकता समझी जाती थी कि वे पड़ाव, सेना, और युद्ध तक में उपस्थित रहती थीं। बाज-बाज गणिकाएँ अपने व्यापार में इतनी सफल हुई कि उनकी गिनती धनाढ्यों में की जाती थी। उनकी सेवा में पांच-सौ दासियों तक का उल्लेख मिलता है। उनकी कला-प्रियता सर्वमान्य थी। उन्हीं की प्रेरणा से कामशास्त्र का गम्भीर एवं उच्चतम अध्ययन और निरूपण हुआ जिसकी समता रोम वाले भी न कर सके।

नगरों के विलासमय जीवन का शास्त्रकारों तथा स्मृतियों के रचयिताओं ने काफी विरोध किया, जुआ, वेश्या-कर्म और वेश्या-गमन का तो घोर विरोध किया ही। ग्रामवासी भी नागरिक जीवन को कुत्सित और घृणित समझते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि मध्ययुग के आरम्भ के पूर्व अर्थात् प्राचीन-काल में मंदिरों में, विशेषतः देवालयों में, देव-दासियों का प्रवेश नहीं हुआ था।

शिक्षा-दीक्षा

आर्यो में वैदिक काल से ही विद्या तथा विनय की ओर विशेष अनुराग था। विद्वान्, सदाचारी तथा गुणी का वे बड़ा सम्मान करते थे। शिक्षित समुदाय या वर्ग का विशेष आदर होता था। विद्या को ही वह अमृतत्व का साधन मानते थे। प्रथम तीन वर्णो को अपने अपने वर्णानुसार शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अनुशासन था और उसके लिए आवश्यक साधन भी प्रस्तुत थे। विशेषज्ञ आचार्य अपने अपने आश्रमों तथा आरामों में शिक्षा देते थे। गुरुकुलों में यम-नियम तथा सरल जीवन-चर्या के साथ बारह से अठारह वर्षो तक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा समाप्त होने पर लोग अपने वर्णोचित कार्यो में लग जाते थे। काशी, प्रतिष्ठान, पाटलिपुत्र तथा तक्षशिला आदि में उच्चतम शिक्षा मिल सकती थी। स्त्रियों को भी शिक्षा प्राप्त करने में कोई असुविधा न थी। वे भी विश्वंभरा, अपाला और घोषा के समान धुरंधर विदुषी हो सकती थीं। भारतीय जन वेदों को अपौरुषेय और समस्त ज्ञान-विज्ञान का भंडार मानते थे। वेदों के सिवा वेदांगों का भी शिक्षण होता था।

उनके अन्तर्गत व्याकरण शिक्षा (उच्चारण), कल्प (कर्मकाण्ड) निरुक्त, निघण्टु छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र धनुर्वेद आदि थे। साधारणतः इन सभी विषयों की उस समय तक आर्यावर्त में जैसी उन्नति हुई वैसी शायद ही कहीं हुई होगी। उपर्युक्त विषयों के सिवा शिल्प-कौशल तथा अन्य कलाओं का भी शिक्षण होता था। उत्तर वैदिक काल से दर्शन तथा आध्यात्म विद्या का प्रचार बढ़ा। सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, आदि षट्दर्शनों के सिवा बौद्ध, जैन आदि के भी अनेक दर्शन रचे गये। इसके सिवा मौर्यकाल से गणित, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा कामशास्त्र पर शास्त्रीय विचार होने लगा। साहित्य के क्षेत्र में भी मौर्य-कुषाण काल से जो उन्नति आरम्भ हुई वह गुप्त काल तक उच्चतर शिखर पर पहुँचती गयी। काव्य, कथा, साहित्य, नाटक, पुराण, की अभूतपूर्व उन्नति हुई। रामायण, महाभारत, पुराण अपने ढंग के संसार के साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। मौर्यकाल के बाद आन्ध्र राजाओं ने संस्कृत और प्राकृत का संवर्धन किया। हाल नामक राजा ने प्राकृत में गाथा सप्तशती नामक श्रृंगार रस के सुन्दर सुप्रसिद्ध काव्य की रचना की। उसकी सभा के राज्य-पंडित गुणाढ्य ने वृहत्कथा नामक ग्रन्थ में बड़े सुन्दर ढंग से कथायें लिखीं जिनका अनुकरण बहुत दिनों तक किया गया। ज्योतिष पर यूनानियों का काफी प्रभाव पड़ा। होडा-चक्र, रोमन सिद्धान्त और पौलिथ सिद्धान्तों का उद्गम उन्हीं से हुआ। कनिष्क के समकालीन अश्वघोष का 'सारिपुत्र-प्रकरण' नौ अंकों का नाटक सबसे पहला संस्कृत नाटक माना जाता है। अश्वघोष का प्रभाव कालिदास पर भी पड़ा। भास ने अनेक नाटक रचे। भास का समादर कालिदास ने भी किया, गुप्त काल में संस्कृत भाषा और साहित्य ने बहुत उन्नति की। उस समय कालिदास ने अद्वितीय प्रतिभा तथा कला का प्रदर्शन अपने सुप्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल तथा मेघदूत, कुमार संभव, रघुवंश नामक काव्य ग्रन्थों में किया। दूसरे प्रसिद्ध नाटककार शूद्रक हुए जिनका मृच्छकटिक नामक नाटक प्रख्यात है। सुबन्धु की वासवदत्ता प्रसिद्ध ग्रन्थ है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, अपने युग का एक मौलिक एवं अद्वितीय राजनीतिक नाटक है, सांख्य दर्शनशास्त्र पर ईश्वर कृष्ण की 'सांख्यकारिका' युग-प्रवर्तक ग्रन्थ माना जाता है। उसके सिवा दिङ्नाग, वात्स्यायन, प्रशस्तपाद, शवर आदि अनेकों दर्शनों के भाष्यकार अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। बौद्धों में असंग, वसुबन्धु, और जैनों में चन्द्रमणि तथा सिद्धसेन आदि प्रतिभाशाली विद्वान् ग्रन्थ लेखक हुए। कथा-साहित्य में भारतवर्ष को यदि जगत्गुरु भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। भाष्य एवं टीकाकार भी उसके समान तत्कालीन

इतिहास में मिलना कठिन है। संस्कृत भाषा तथा साहित्य की जैसी उन्नति हमारे देश में हुई वैसी यूनान को छोड़ कर शायद कहीं नहीं हुई। इतिहास की ओर से हमारे पूर्वज उदासीन रहे। उनकी प्रवृति पुराणों की ओर झुकी रही। उसके सिवा जन-साधारण की भाषाओं, जैसे पाली में भी बौद्धों एवं जैनों ने विशाल साहित्य की रचना की। जातकमाला साहित्य का एक अद्वितीय रत्न है। राजनीति में चाणक्य का अर्थशास्त्र, वैद्यक में चरक एवं सुश्रुत आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सुश्रुत में एक सौ इक्कीस औजारों का उल्लेख है जिनका प्रयोग शल्य चिकित्सा में होता था। फूली, हर्निया, गर्भ में मरे शिशुओं को निकालने के लिए आपरेशन होता था।

कला-कौशल

स्थापत्य तथा शिल्पकला की उन्नति भी मौर्यकालीन भारत में अच्छी थी। कुछ लोगों का कहना है कि ईरानियों तथा यूनानियों का उसके विकास पर विशेष प्रभाव पड़ा। सांची तथा भरहुत की शिल्प रचना, गुफाओं के मन्दिर और चैत्य, उड़ीसा से पश्चिमी भारत तक इधर-उधर बिखरे अब तक दर्शकों को आश्चर्यान्वित एवं कुतूहली बनाते हैं। अजन्ता की गुफाओं के भित्ति-चित्रों की प्रशंसा आज भी हो रही है। एलोरा और वाघ की गुफाओं की रचनाएँ, देवगढ़ के मन्दिर, बोध गया का महाबोधि मंदिर, तत्कालीन स्थापत्य कला के सुन्दर प्रमाण हैं। अशोक के स्तम्भों की सफाई, पालिश तथा उनके शीर्ष पर बनी पशुओं की मूर्त्तियाँ फारस तथा पश्चिमी एशिया की कला को भी लज्जित करनेवाली है। मूर्त्तिकला में यूनानी शैली, जिसे गान्धार शैली भी कहते हैं, के अनुसार बनाई गयी भव्यमूर्तियों के सिवा अमरावती तथा मथुरा की भारतीय शैली की मूर्तियां एशिया के अन्य देशों की कलाओं से उत्तम गिनी जाती है। भाव-प्रदशन तथा अंगभंगिमा में वे यूनान एवं रोम की कला से भी किसी-किसी अंश में आगे बढ़ी हुई है। अलौकिक कल्पनाओं को उत्कीर्ण करने की जिस योग्यता का प्रदर्शन भारत में हुआ वैसा शायद ही कहीं हुआ हो। ताँबे तथा लोहे का भी स्तुत्य काम यहाँ होता था। दिल्ली का लोहे का स्तम्भ उसके बाद भी कई शतियों तक संसार में कहीं भी न बन सका। एक प्रमुख विद्वान का कथन है कि कला के क्षेत्रों में जिस वैचित्र्य तथा प्रतिभा का प्रदर्शन भारत में हुआ वैसा उन युगों में भू-मंडल पर अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ। भारत की कलाओं तथा धर्म एवं दर्शनशास्त्र का प्रभाव फारस से लेकर चीन, जापान तथा सीलोन प्रायद्वीप और कांबोज तक शतियों

तक बढ़ता गया। बोरोबुदूर तथा अंगकोरवाट के विश्वविख्यात मंदिर भारतीय कला के ही प्रसाद हैं।

धर्म

भारतीय आर्य लोग आरम्भ से ही धर्मप्राण थे। वेद, पाश्चात्य मतानुसार, मुख्यतः स्तुतियों के संग्रह हैं। ये स्तुतियां प्रायः यज्ञों तथा अन्य शुभ अवसरों पर पढ़ी या गायी जाती थीं। ईरान वालों की तरह वैदिक काल में आर्य लोग न तो मन्दिर बनाते थे और न संभवतः मूर्तिपूजन ही करते थे। वे अलक्ष्य दैवी शक्ति अथवा प्राकृतिक शक्तियों को अनुप्राणित समझते थे और उनको तुष्ट करने के लिए यज्ञ एवं स्तुतियां करते थे। उनका विश्वास था कि देवताओं अथवा देवियों को प्रसन्न कर लेने से ऐहिक तथा पारलौकिक कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। उनके असन्तुष्ट होने से अनेक बाधाएं पड़ती हैं और सफलता दुष्प्राप्य हो जाती है। उनके प्रमुख देवता इन्द्र, अग्नि सविता, प्रजापति, रुद्र तथा विष्णु आदि थे, देवियाँ थीं पृथ्वी, अदिति, ऊषा सरस्वती आदि। साथ ही उनकी यह भी धारणा थी कि समस्त शक्तियों को अनुप्राणित तथा संचालित करनेवाली एक महान् शक्ति है जो अनादि, अनंत, तथा अवर्ण्य है। प्रत्येक कार्यसिद्धि के लिए यज्ञ की अवश्यकता है चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा। साधारण गृहस्थ को पांच महायज्ञ करने का आदेश था। वे थे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूत यज्ञ तथा अतिथि यज्ञबड़े यज्ञ कभी कभी महीनों तक चलते रहते थे जिनमें अपार सामग्री, द्रव्य, धन, समय और आयोजन की आवश्यकता पड़ती थी। श्रौत यज्ञ में राजा और सामन्त सोमपान करते थे। मनोरथ विशेष के लिए, जैसे दीर्घायु, पुत्र-कामना, वर्षा अथवा आधिपत्य आदिके लिए भी यज्ञ किये जाते थे। आधिपत्य और स्वराज्य के लिए वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध यज्ञ का विधान था। उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आर्य लोगों के यज्ञ केवल व्यक्ति के लिए ही नहीं वरन् पितरों, मनुष्यों, विश्व, राज्य, साम्राज्य के हितों के निमित्त भी किये जाते थे। कुछ यज्ञों में पशुबध भी बाद में होने लगा था। वैदिक काल के बाद यज्ञों की ओर से कुछ लोगों का जी ऊबने लगा। यज्ञों द्वारा सिद्धि, सुख-शान्ति तथा अमरत्व को प्राप्त करना उनको भ्रममूलक जान पड़ने लगा। कुछ ने यज्ञों को प्रतीकात्मक मान कर उसके गूढ़ तात्पर्य को समझाने की चेष्टा की। कुछ ने उनको निःसंकोच होकर व्यर्थ घोषित कर दिया। यज्ञों के बदले उन्होंने मन, बुद्धि तथा काया की शुद्धि को ही दुःख-निवृत्ति और मुक्ति का साधन निश्चित

किया। उनके द्वारा सर्वभूतात्मा का साक्षात्कार नहीं तो अनुभव प्राप्त करना ही अन्तिम ध्येय और अमरत्वप्रद बताया गया। उनके अनुसार जीव, आत्मा, ब्रह्म, इत्यादि का ज्ञान होते ही मोक्ष हो जाता है। इन्हीं विषयों पर उपनिषदों में गंभीर विचार पाया जाता है।

१. जैनधर्म के सुप्रसिद्ध 'जिन' वर्धमान का जन्म जात्रिक कुल के प्रधान सिद्धार्थ की लिच्छवी कुल की त्रिशलीदेवी के गर्भ से हुआ (५४० ई० पू०)। विवाह हो जाने और एक पुत्र को जन्म देने पर उनका चित्त सांसारिक वैभव-विलास में न लगा। अन्ततोगत्वा उन्होंने तीस वर्ष की आयु में वैराग्य लेकर निर्ग्रन्थ मत ग्रहण कर लिया और जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। वैराग्य लेने के तेरह वर्ष अनंतर वे अर्हन्त एवं जिन की सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। अनुमानतः पावा नगर में उनका देहावसान (४६८ ई० पू०) हुआ।

२. हिमालय की तराई में शाक्यों का एक छोटा सा गण राज्य था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहां के गणमुख्य राजा शुद्धोधन की महारानी महामाया ने लुम्बिनी में एक बालक को जन्म दिया, जिसका नामकरण सिद्धार्थ हुआ (४८६ ई० पू०) और जिसका पालन मौसी गौतमी द्वारा होने के कारण गौतम उपनाम निर्धारित हुआ। बाल्यकाल से ही उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी। यद्यपि उनका विवाह राजकुमारी यशोधरा से हुआ था और उससे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ, तथापि उनका चित्त निवृतिमार्ग से न हटा। अन्ततोगत्वा उन्होंने गृह त्याग (महाभिनिष्क्रमण) कर विरक्त रूप से सत्य की खोज की। पैंतीस वर्ष की आयु में बोधिवृक्ष के नीचे उनचास दिनों के अनवरत ध्यान तथा संधान से उनको सत्य सिद्धान्त प्राप्त हुआ। तदनंतर वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। उनका विशिष्ट कार्यक्षेत्र पूर्वी उत्तरप्रदेश, तथा मगध रहा। अस्सी वर्ष की आयु में पावा में उनका परिनिर्वाण हो गया। उनके बाद उनकी स्थापित भिक्षु संस्था, 'संघ', उनका कार्य करती रही।

३. श्री महाबीर स्वामी के गोसाल मस्करी-पुत्र नामक एक सहयोगी ने मत-विभिन्नता के कारण उनका साथ छोड़ कर "आजीविक" नामक अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया। उसका देहावसान ४८४ ई० पू० में हुआ। गौतमबुद्ध तथा महाबीरजिन राजवंशी थे। किन्तु गोसाल का जन्म साधारण वर्ग में हुआ था।

यह विचारणीय है कि उपर्युक्त तीनों मतों के प्रचारकों का अभ्युदय एवं कार्य-

क्षेत्र पूर्वी उत्तरप्रदेश, मगध और संभवतः आगे भी रहा हो। संभव है कि उन क्षत्रों में ऐसे आर्येतर लोगों का प्राधान्य हो जिन पर वैदिक धर्म का उस समय तक अधिक प्रभाव न रहा हो।

बौद्धधर्म

बौद्ध धर्म का सिद्धान्त अध्यात्ममूलक न होकर मनोवैज्ञानिकता पर आश्रित था। मानुषिक जीवन को वह मूलतः दुखमय मान कर चलता है। असंतोष, वेदना, दुःख और तज्जनित यातानाएँ सर्वव्यापक और जीवन से सम्बद्ध हैं। उन सब का मूल कारण तृष्णा है जो अहन्ता अथवा भ्रमात्मक आत्मा या जीव की सत्ता में विश्वास करने से उत्पन्न होती है। आत्मा की असत्यता समझ लेने से तृष्णा का श्रोत बन्द हो जाता है और तृष्णा के अभाव में दुःख छिन्न-भिन्न होकर सत्ताहीन हो जाता है। वस्तुतः आत्मा की कोई सत्ता नहीं, वह केवल कपोल-कल्पना है। इसी कारण बौद्ध मत को अनात्मवाद कहा गया हैं। उपर्युक्त ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् चिन्तन अथवा समाधि का अवलम्बन किया जाय। अज्ञान अथवा सत्य ज्ञान के अभाव में कल्पना, निजत्व, नाम, रूप, छः ऐन्द्रिक तत्व, स्पर्श-भावना, तृष्णा, बन्धन, व्यक्तित्व, पुनर्जन्म और दुःख-जाल क्रमशः प्रकट होते रहते हैं। संसार दुखमय और अनित्य एवं क्षणिक है। न जीवात्मा और न विश्वात्मा अथवा परमात्मा की कोई सत्ता है, संसृति के प्रवाह से निवृत्त हो जाना ही निर्वाण अथवा मोक्ष है जिसकी प्राप्ति जीवन काल में भी हो सकती है। मृत्यु के उपरान्त वह परिनिर्वाण हो जाता है।

जैन धर्म

जैन सिद्धान्त के अनुसार जगत अनादि और अनन्त है। उसका स्रष्टा कोई नहीं। संसार-चक्र नित्य चलता रहता है यद्यपि उसमें उन्नति (उत्सर्पण) तथा अवनति (अवसर्पण) होती रहती है। संसार का व्यापार जीव और अजीव में आकाश, काल, गति, (धर्म), अगति (अधर्म), और भूतद्रव्य (पुद्गल) प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहता है। किन्तु भौतिक आवरणों से ढक जाने के कारण उस पर मलीनता आ जाती है। यह दशा कर्मों के फल के अनुसार होती है। इसी कारण जीव कर्मानुसार पुनर्जन्म अथवा आवागमन के चक्कर में फंसा रहता है। उससे छुटकारा तब मिल

सकता है जब जन्म तथा कर्मों का क्षय कर दिया जाय। फिर जीव उसके बन्धन में नहीं पड़ता। संयम, तप द्वारा कर्मों के आवरणों से मुक्त होने पर जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर, संसार से ऊपर उठकर उच्चतम स्वर्ग का भी अतिक्रमण कर अक्षय आनंद में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसी स्थिति को 'निर्वाण' कहते हैं। वहीं ईश्वरत्व और सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

आजीवकों के मत

उनके सिद्धान्त के अनुसार "नियति" के विधान से ही संसार चक्र चल रहा है। उसकी गति अनिवार्य और अटल है। नियति अमूर्त किन्तु अनादि एवं सर्वग्राही तत्व है जिसके व्यापार को रोकना दुसाध्य ही नहीं बरन् नितान्त असंभव है। मनुष्य ही नहीं, सारा विश्व ही उसका खिलौना है। जप, तप, आचार, विचार, यम, नियम आदि नियति की गति में कोई फेर-फार नहीं कर सकते। मनुष्य जो कुछ अच्छा या बुरा करता है वह सब नियति की प्रेरणा से ही। यह प्रेरणा ही सब को कठ-पुतली की तरह नचाती है। अतः पुरुषार्थ अथवा शुभाशुभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और नियति के प्रवाह को सन्तोषपूर्वक सहन करने के सिवा कोई अन्य उपाय नहीं।

कुछ विचारक तो यहां तक कहने लगे कि वेद ही नहीं वरन् स्वर्ग, जीव, आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, कर्म, आचार, शास्त्र, मोक्ष, निर्वाण आदि की कल्पनाएँ व्यर्थ, भ्रमात्मक और सर्वथा असत्य हैं। सत्य तो यह है कि जब तक जीवन रहे तब तक विधि-निषेध का चक्कर छोड़ कर, जिस प्रकार बन पड़े सुख और मौज तथा आनन्द उठाने में चूकना न चाहिए। ऐन्द्रिक, मानसिक, सब प्रकार के सुख सत्य हैं और जीवन की सफलता उनके अधिकाधिक उपभोग में ही समझनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत की भारतवासियों ने अवहेलना की और उसे उपहासपूर्वक उड़ा दिया।

उपर्युक्त मतों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि छठी और पाँचवीं शती (ई० पू०) में प्राचीन धारणाओं और रूढ़ियों के प्रति असन्तोष ही नहीं, वरन् अविश्वास सा हो चला था। संभव है कि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परि-स्थितियों का वातावरण लोगों में ऐहिक और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता एवं असंतोष का संवर्धन कर रहा हो। सरल और स्वाभाविक ग्रामीण जीवन, छोटे-छोटे राज्यों की स्वतंत्रता, नगरों की स्वार्थपरायणता, अनाचार और विलासिता, ब्राह्मणों और क्षत्रियों के पतन, अनार्यों और शूद्रों के अभ्युदय, करों की वृद्धि, आदि ने लोगों

को जीवन के प्रति उदासीन कर दिया हो। संभव है उन्हीं कारणों से बुद्ध, महावीर तथा अधिकांश अन्य चिन्तक नगरों में विशेषतया उपदेश देते और संस्थायें स्थापित करते फिरते थे। इसके सिवा नवीन आन्दोलनों का विशेष कार्यक्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश, मगध आदि में ही साधारणतः सीमित-सा रहा। नवीन आन्दोलनों की क्षमता तथा तीव्रता को सोच कर शैशुनाग, मौर्य तथा नन्द वंश के उदीयमान साम्राज्य स्थापकों ने बौद्ध और जैन मतों को अपने लालन-पालन तथा संरक्षण में लेना उचित समझा हो। उस नीति से उनको एक लाभ तो यह हो सका कि उनको ऐसे समुदाय की सहायता प्राप्त हुई जो वैदिक युग के राजाओं को ब्राह्मणों से मिला करती थी। दूसरा लाभ यह हुआ कि नए मतों का प्रचार करने वाले नये साम्राज्य अथवा राज्यों के विरुद्ध आन्दोलन न उठाते थे अपितु उनको आशीर्वाद देते रहते थे। तीसरा लाभ यह हुआ कि आर्यों की दुर्दमनीय जातिवादिता के निराकरण के साथ ही साथ उनमें प्रचलित यज्ञादि पर जो राज्य का धन व्यय होता था उससे छुटकारा मिल गया। संभव है कि चतुर नीतिज्ञ यह भी जानते हों कि नये धर्मों के सिद्धान्त ऐसे हैं जो सर्वसाधारण में श्रद्धा भले ही उत्पन्न करें किन्तु मानवीय दुर्बलताओं के कारण व्यवहार में सक्रिय रूप में न आ सकेंगे। लोगों का ध्यान ऐहिक समस्याओं से हटाकर पारलौकिक चिन्तन की ओर झुका देने की क्षमता उन क्रान्तिकारी मतों में पाई गयी जिसका लाभ राजनीतिक और व्यापारिक समुदाय को अनायास मिल सकता था।

औपनिषदिक, जैन तथा बौद्ध मतों में अनेक समानताएँ हैं। उदाहरणार्थ तीनों त्याग, कर्मफल, मुक्ति, मन वचन और कर्म की सत्यता, आचार-विचार की शुद्धता, यम नियम तथा न्यूनाधिक अहिंसा में विश्‍वास रखते हैं। किन्तु उनकी परिभाषाओं तथा विषयों के महत्त्व-वितरण में थोड़ा बहुत भेद है। उदाहरण के लिए जैन त्याग, तप, ज्ञान तथा अहिंसा पर अत्यधिक जोर देते हैं। बौद्ध धर्म मध्य मार्ग का अवलम्बन करता है। अनेक समानताओं के साथ-साथ उनमें कुछ बातों में बहुत बड़ा मतभेद है। औपनिषदिक सिद्धान्त जीवात्मा को मानता है। जैन भी जीव को मानते हैं किन्तु बौद्ध उसको नहीं मानते। उपनिषद ब्रह्म अथवा ईश्‍वर की सच्चिदानन्दात्मक सत्ता जीवों से पृथक मानते हैं। जैन सृष्टि का कोई कर्त्ता धर्ता और संहर्ता तो नहीं मानते किन्तु जीव की पूर्ण उन्नति हो जाने पर उसी में सच्चिदानन्दात्मक ईश्‍वरत्व की स्थिति होना वे मानते हैं। किन्तु प्राचीन बौद्ध धर्म न तो आत्मा का न जीव का पुनर्जन्म, न ईश्‍वर का ईश्‍वरत्व मानता है। बौद्धों

के अनुसार तृष्णा के निरोध होने पर तथा कर्मों के क्षय हो जाने पर व्यक्तित्व की चेतना जाती रहती है। वे उसी को दुःख से परम निवृत्ति अथवा निर्वाण कहते हैं। वैदिक मतानुकूल दर्शनशास्त्रों की रचना हुई। सांख्य, वेदान्त और मीमांसा, योग, न्याय और वैशेषिक षड्दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार आगे चल कर बौद्धों तथा जैनों ने अपने अपने दर्शन शास्त्रों की रचनायें कीं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से एक तो यह बात स्पष्ट है कि उस युग से ही विचारों तथा मतों की स्वतंत्रता हमारे देश में थी। दूसरी बात यह कि आचार-विचार की शुद्धता, त्याग, अहिंसा, अक्षय शान्ति का जितना समादर हमारे देश में हुआ वैसा शायद ही कहीं हुआ हो। उन्हीं के कारण हिंसात्मक यज्ञों का विधान बदल गया और निरामिष भोजन का प्रचार बढ़ गया। भारतवासियों की उनमें श्रद्धा तथा विश्वास तब से निरंतर अब तक चला आता है और वे आदर्श हमें सांस्कृतिक व्यक्ति देते चले आ रहे हैं।

संभव है कि उपर्युक्त धारणायें सब एक साथ ही उत्पन्न न हुई हों और विभिन्न व्यक्तियों को उनका आंशिक रूप ही सुझाई पड़ा हो। शैशुनाग, नन्द और मौर्यवंश में अशोक को छोड़ कर कोई ऐसा सम्राट् नहीं दिखायी पड़ता जिसकी नीति और जीवन-वृत्त से यह अनुमान किया जा सके कि वह भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचारों और विचारों पर चलने के लिए लालायित अथवा सन्नद्ध हो। उनके राज्यकाल में राजनीति, अर्थनीति और दण्डनीति वैसी ही वक्र गति से चलती रही जैसी कि अन्यत्र दिखाई पड़ती है। जो कुछ भी हो, साधारण श्रद्धालु जनों में प्रचलित तत्कालीन धार्मिक विचारों द्वारा धर्म का सम्मान, अधर्म, के प्रति ग्लानि, आचार और विचार की शुद्धता, कर्तव्य के प्रति ध्यान आदि की भावनाओं का संरक्षण होता रहा। भारतवासियों की धर्मप्रियता की पुष्टि हुई तथा विचारों की स्वतंत्रता की रक्षा होती रही।

यद्यपि मूर्तिपूजा और सम्भवतः देवालयों की प्रतिष्ठा सिन्धु घाटी की सभ्यता में भी पायी जाती है तथापि यह कहा जा सकता है कि ईरानियों की तरह वैदिक आर्यो ने उनको स्वीकृत नहीं किया। बौद्धों तथा जैनों ने पवित्र स्थानों तथा महात्माओं के पार्थिव अवशेषों का श्रद्धापूर्वक समादर करने की परिपाटी का आरम्भ किया जो उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। वही आगे चलकर मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, देवालयों की प्रतिष्ठा के रूप में विकसित होकर सारे देश में फैल गयी। इन बातों में कालान्तर में हमारा देश सबसे आगे बढ़ गया। इन प्रवृत्तियों में यदि कुछ दोष थे तो कुछ गुण भी

थे। उन्हीं के कारण स्थापत्य कला, शिल्प कला तथा किसी अंश तक चित्र कला में भी अपूर्व उन्नति हुई। तीर्थ-स्थान, मठ तथा मन्दिर बहुत काल तक इस देश में विद्या तथा संयमित जीवन के केन्द्र-से रहे। इन स्थानों की यात्रा अनुभव तथा शिक्षा प्राप्त करने की आकर्षक साधन बनी। वे विचार-विनिमय के ही नहीं वरन् व्यापार एवं कला-कौशल के आदान-प्रदान के भी माध्यम हुए। एक-सी सांस्कृतिक एकता और देश-बन्धुत्व की भावना को जाग्रत एवं स्थिर रखने के लिये तीर्थयात्रा अच्छा व्यावहारिक उपाय सिद्ध हुआ। इन संस्थाओं द्वारा भारत की सांस्कृतिक देनों तथा आदर्शों का बहुत कुछ संरक्षण एवं पोषण होता रहा। इसी के साथ यह भी कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक उत्साह, श्रद्धा तथा भावों की क्षीणता होने पर ये संस्थाएँ निर्जीव होकर आदर्शों, आचार-विचारों से पतित होकर दोषात्मक हो गयीं। उनमें वे ही अवगुण आ गये जो पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की वैसी संस्थाओं में प्रचलित हो गये थे।

जैन तथा बौद्ध धर्मों को मौर्यों, कुषाणों तथा अन्य राज्यों से बड़ी सहायता मिली थी। किन्तु शुंग, शातवाहन, वाकाटक तथा गुप्तवंशियों ने वेदोपनिषद्, मन्त्रादि-शास्त्रों, षट्दर्शनों का पोषण और संवर्धन किया। हीनयान को छोडकर बौद्ध मत की विचारधारा महायान की ओर झुकी। बुद्ध को उसने ब्रह्म और ईश्वर से जा मिलाया और भक्ति, करुणा, दया और कृपा का महत्व स्थापित किया। उधर वेद-धर्मानुयायियों ने भी हिंसात्मक तथा लम्बे-चौड़े यज्ञों से विमुख होकर उन्हीं भावों एवं विचारों को घटा-बढ़ा कर प्रचलित करना शुरू किया। बुद्ध को भी उन्होंने राम-कृष्ण की तरह का एक अवतार मान लिया और महायान की तरह ही मूर्तिपूजा एवं तत् समान अर्चा तथा उत्सव उन्होंने भी प्रचलित कर दिये। परिणाम यह हुआ कि दोनों का भेद दिनोदिन मिटता चला गया और अन्त में दोनों ने नवीन पौराणिक धर्म का तथा शंकराचार्य जी के ब्रह्म-मायावाद का दार्शनिक रूप धारण कर लिया। बौद्ध धर्म का व्यक्तित्व नये हिन्दू धर्म में विलीन हो गया। जैन धर्म ने अपना अस्तित्व भारत में कायम रखा किन्तु भारत से बाहर उसका प्रचार न हो सका।

पौराणिक हिन्दू धर्म

पौराणिक धर्म की पहली विशेषता तो यह है कि वह अनेक मतों का संयोजन तथा समन्वय करके एक ऐसा सिद्धान्त स्थापित करने की चेष्टा करता है जो अधिका-

धिक लोगों को सुगम तथा लोकप्रिय हो। उसमें नीचे स्तर के थोथे मतों से लेकर अत्यन्त सूक्ष्म तथा सुसंस्कृत सिद्धान्तों तक को स्थान दिया गया है जिससे अशिक्षित समुदाय से लेकर प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक तक लाभ उठा सकें। उनमें समन्वय स्थापित करने का भी यथासंभव प्रयत्न किया गया। धर्म, कर्म, जीव, काम, अर्थ, मोक्ष, ईश्वर, भक्ति, अहिंसा, सत्य, ज्ञान, तीर्थ, अर्चा आदि सभी विषयों का समावेश तथा समन्वय किया गया है। उसमें अवतार वाद, मूर्ति पूजा, व्रत-उपवास, भक्ति, तीर्थ-महात्म्य आदि को विशेष महत्व दिया गया है। वर्णाश्रम धर्म की महिमा मानते हुए भी उसको भक्ति, दया औदार्यादि के सहारे मृदुल बनाने का प्रयत्न वेदोपनिषद मतावलम्बियों ने किया है। वैदिक श्रद्धा के साथ ईश्वर-विश्वास, ऐहिक तथा स्वर्गिक सुख की कामना के सम्मिश्रण से भक्ति-मार्ग का उद्‌भव हुआ। धर्म की प्रतिष्ठा और अधर्म का नाश करने के लिए ईश्वर आवश्यकतानुसार समय-समय पर उपयुक्त रूप धारण कर लेता है। वह स्वाभाविक करुणा, दया, वत्सलता के कारण ही यह अवतार लेता है। हिन्दू दश अवतार मुख्य मानते हैं। जिनमें श्रीराम और श्रीकृष्ण विशिष्ट हैं। कुछ ऐसी ही प्रवृति अस्पष्ट रूप में बौद्धों और जैनियों में प्रतिभासित है। तीर्थंकरों तथा बोधि सत्वों में भी अवतारों के-से तत्व कमोबेश पाये जाते हैं। उनमें भी हिन्दुओं की-सी भक्ति भावना जाग्रत हो गयी। यह भक्ति-आन्दोलन गुप्तकाल तक पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया। पुराणों में अठारह पुराण मुख्य माने जाते हैं। गुप्तकाल तक उनका वह रूप बन गया जिसमें वे आजकल मिलते है। जैनों के भी पुराण हैं। गुप्त काल के बाद भी समय समय पर बहुत से अंश पुराणों में जोड़ दिये गये। कुछ पुराण शैव कुछ वैष्णव, कुछ शक्ति अथवा अन्य अनेक दृष्टिकोणों से रचे गये है। अतएव उनमें साम्प्रदायिकता दिखायी पड़ती है। किन्तु उनमें न्यूनाधिक रूप से उपर्युक्त विषयों तथा भूगोल, इतिहास, अनुश्रुतियों गाथाओं, लोक प्रथाओं एवं संस्थाओं आदि का वर्णन मिलता है। उनका प्रभाव जनता पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यहां तक कि सारे हिन्दू समाज का धर्म उन्हीं पर अवलम्बित हो गया।

राजनीतिक विधान

वैदिक समाज तथा राजनीति-संगठन का मूलाधार गृह था। गृह का संगठन सुव्यवस्थित रूप से किया गया था। गृहपति तथा गृहिणी का पूर्ण सम्मान और उनके अनुशासनों का पालन होता था। समान कुल-शील वाले गृहों के समूह के

लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ ग्रामों को मिलाकर एक 'विश' बनता था और कुछ विश एक 'जन' में संगठित कर दिये जाते थे। उपर्युक्त विशेष शब्द पहले सामाजिक संगठन के अर्थ में प्रयुक्त होते थे किन्तु कालान्तर में उनका प्रयोग दूसरे अर्थों में होने लगा। इनमें से प्रत्येक अंग का एक प्रमुख अधिकारी होता था, जैसे गृहपति, ग्रामणी, विशांपति, गणाधिपति तथा जनाधिपति। जनाधिपति ही राजा कहलाता था। वह राजकुल का होता और पैतृक उत्तराधिकार के अनुसार राजत्व प्राप्त करता था। किसी-किसी दशा में विशांपति मिल कर राजपुत्रों में से सबसे उपयुक्त व्यक्ति को राजा चुन लेते थे। युद्ध, न्याय-वितरण तथा जातीय यज्ञादि में प्रायः राजा ही नेता होता था। धर्मानुसार शासन करना तथा प्रजा का पालन-पोषण करना उसका कर्तव्य था। राजा की सहायता करनेवाले अधिकारियों में से पुरोहित, सेनानी तथा ग्रामणी प्रमुख समझे जाते थे। उसको परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी। जिसके सदस्य प्रायः योग्य ब्राह्मण तथा श्रेष्ठ लोग होते थे जो आमन्त्रित किये जाने पर राजा को सम्मति देते थे। उनकी सम्मति का राजा बड़ा सम्मान करता था। राजा के चुनाव के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण परिस्थिति आने पर सार्वजनिक समिति का अधिवेशन किया जाता था। समिति के निर्णय को अनुशासन मान कर राजा शिरोधार्य करता था। उपर्युक्त बन्धनों के सिवा राजा पर धर्म का भी प्रतिबन्ध रहता था। धर्म का उल्लंघन करना उसके लिए सर्वथा अनिष्टकारी समझा जाता था। राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा का संरक्षण और शत्रुओं का दमन था।

उत्तरवैदिक काल में राजा के वैभव, उसकी शक्ति तथा राज्य-विस्तार से उसके कर्तव्यों की सीमा में भी वृद्धि हुई। वह पुरों के विशाल भवन में अधिक ठाठ-बाट के साथ रहने लगा। उसके रहन-सहन में नागरिकता का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ने लगा। उसके कर्तव्यों में विद्वानों, विद्यार्थियों और निःशक्त लोगों की सहायता करना आवश्यक समझा जाने लगा। प्रजा की रक्षा के लिए यह विधान बना कि यदि डाका अथवा चोरी से किसी की हानि हुई हो तो स्थानिक कर्मचारियों का कर्तव्य होगा कि वह उसकी पूर्ति करें। राजा तथा शासन के बढ़ते हुए खर्च के लिए कृषकों को दशमांश से षष्ठमांश तक 'कर' देना पड़ता था। व्यापार, धातुओं, पशुओं, फलफूलों, वनस्पतियों, मांस, घास, और लकड़ी तक पर कुछ-न-कुछ कर लग गये थे। महीने में कम-से-कम एक दिन बेगार भी ली जाने लगी। राजा की सम्पत्ति, वैभव, बल तथा साधनों के बढ़ने से उसमें स्वच्छन्दता की अभि-

लाषा बढ़ने लगी। सभा शायद साधारण मुकद्दमे करती थी और समिति विधि-विधान पर विचार करने लगी। पुराने ढंग की सभा एवं समिति का महत्व कम होने लगा। राजा ने अपने मन्त्रियों की संख्या बढ़ा कर, उनकी राय लेकर अपनी नीति स्वयं निर्धारित करना शुरू कर दिया। राजा में देवत्व की कल्पना होने लगी जो उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। चन्द्रगुप्त की सभा में बारह मन्त्री थे। शासन का क्षेत्र एवं कार्य बढ़ जाने से मन्त्रियों की सख्या का बढ़ना आवश्यक ही था। राजा की सभा में सूत (पौराणिक), कोषाध्यक्ष, राजकर मन्त्री तथा जुआ, शिकार-विभाग के अध्यक्ष भी शामिल किये गये। रानियों को भी शायद मन्त्रिसभा में स्थान दिया गया। राज्य की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए शासन का भी अधिक संगठन करना पड़ा। ग्रामों में तो ग्रामणी पहले था ही; उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम भाग तक दश ग्राम, विंशति ग्राम, शत ग्राम तथा सहस्र ग्रामों के अधिकारी नियुक्त किये जाने लगे। प्रत्येक क्षेत्र के अधिकारी को अपनी-अपनी परिधि में कर उगाहने, अपराधी को दण्ड देने, शान्ति रखने तथा न्याय-रक्षा का अधिकार दे दिया गया। ग्रामों की स्वतन्त्रता में अधिक हस्तक्षेप न किया जाता था तथापि शासन में नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) की-सी झलक दिखाई पड़ने लगी।

यों तो आरम्भ से ही आर्यों के दल आपस में लड़ते-भिड़ते थे, किन्तु सम्पत्ति, वैभव, बल की वृद्धि के साथ राज्य बढ़ाने की लालसा भी स्वभावतः बढ़ती गयी। छोटे-छोटे राज्यों का युग बदल कर बड़े राज्यों का जमाना आ गया। राज्य-सत्तात्मक राज्यों के सिवा गण (वंश) राज्यों का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः एक वंश के सजातीय लोगों के इतस्ततः राज्य थे, जिनका शासन गणों अथवा अल्पतन्त्र द्वारा होता होगा। स्पष्ट प्रमाण के अभाव में यह प्रतीत होता है कि कुलों के मुख्य नेताओं की सभा शासन का नियन्त्रण करती होगी। कभी-कभी कई वंशों के लोग मिल कर संयुक्त शासन करते थे। छठी शती ई० पू० के आरम्भ तक उत्तरी भारत में कई बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो गये। उनमें आठ दस गण-राज्य भी थे। उनमें आपस में प्रभुत्व के लिए भयंकर संघर्ष होते थे। राज्यतन्त्र के सुसंगठित बल तथा तत्परता के आगे प्रजातन्त्र राज्य छिन्न-भिन्न होने लगे। बुद्ध भगवान् के समय तक यह नौबत आयी कि मालवा से मगध तक केवल चार बल-शाली राज्य रह गये। उनमें भी संघर्ष होता रहा। अन्ततोगत्वा मगध के राज्य ने सबको परास्त कर एक साम्राज्य स्थापित किया जो मालवा से पूर्वी बिहार तक

विस्तृत था। सम्भवतः साम्राज्य विस्तार से उत्पन्न शत्रु-बाहुल्य के कारण ही सम्राट् को अपनी अंग-रक्षा के लिए महलों के भीतर भी सशस्त्र स्त्री-रक्षकों की आवश्यकता पड़ने लगी थी बाहर का तो कहना ही क्या। मगध के सम्राट् धन-नन्द के समय में सिकन्दर के आक्रमण के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब भी मगध साम्राज्य में शामिल कर लिया। मौर्यो के समय में मैसूर तक दक्षिण में तथा हिन्दु-कुश तक पश्चिम में और उड़ीसा तक पूर्व में मौर्य साम्राज्य बढ़ गया। साम्राज्य-स्थापन के बाद भी पश्चिमी प्रान्तों में साम्राज्य के अन्तर्गत गणतन्त्र चलते रहे होंगे।

इतने बड़े साम्राज्य का शासन करने के लिए कुछ नवीन विधानों की आवश्यकता पड़ गयी। पहली आवश्यकता तो थी विजित राज्यों तथा प्रान्तों के निरीक्षण करने की और दूसरी थी बड़े नगरों में व्यवस्थित शासन स्थापित करने की। साम्राज्य के यथेष्ट प्रबन्ध के लिए ईरानी परिपाटी के अनुसार उसे प्रान्तों में विभक्त कर दिया गया। कुछ राज्यों को आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर यथापूर्व चलते रहने की स्वतन्त्रता दे दी गयी। प्रान्तों की अध्यक्षता राजवंश के कुमारों को प्रायः दी जाती थी। चार प्रान्तों, तक्षशिला, तोषाली, उज्जैन तथा सुवर्णगिरि का उल्लेख मिलता है।

साम्राज्य के बढ़ते हुए कार्यो को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजमन्त्रियों की संख्या सम्भवतः अठारह तक बढ़ा दी गयी थी। इनके लिए तीर्थ शब्द का भी प्रयोग होता था। ये मन्त्री थे पुरोहित एवं प्रधानमन्त्री, समाहर्ता (राजस्वमन्त्री), सुनिधाता (कोषाध्यक्ष), युवराज, प्रदेश न्यायाध्यक्ष, व्यावहारिक, नायक सेना-ध्यक्ष, कर्मान्तिक (उद्योगमन्त्री), मन्त्रि परिषद् अध्यक्ष, दण्डपाल, अन्तपाल, दुर्गपाल, पौरनगराध्यक्ष, प्रशास्ता, दौवारिक, (द्वारपाल), आटविक (वनं विभाग का अध्यक्ष)। यद्यपि मन्त्रि परिषद् में योग्य और अनुभवी व्यक्ति रहते थे तथापि सम्राट् को उनके निर्णय या सम्मति को मानने या न मानने का अधिकार था। सभा केवल परामर्श देने के लिए थी। प्रान्तों के विषय में जानकारी रखने के लिए ईरानी विधान के अनुसार जासूस तथा सम्वाददाता नियुक्त किये जाते थे। इस कार्य में संन्यासियों तथा स्त्रियों से भी काम लिया जाता था। शीघ्रातिशीघ्र समा-चार ले जाने के लिए सिखाये हुए कबूतरों का उपयोग किया जाता था। अशोक को धर्म प्रचार का शौक था। अतः उसने प्रान्तों में धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की थी जिनका काम सम्राट् के अनुमोदित धर्म का प्रचार, सहायता तथा उसकी

मर्यादा का रक्षण करना था। बहुत-से अंशों में प्रान्तों का शासन राजधानी के शासन के अनुसार होता था। न्याय के लिए भी महामात्रों की नियुक्ति होती थी।

इतने बड़े साम्राज्य की रक्षा के लिए ऐसी भारी सेना की, जो जल तथा स्थल पर काम कर सके, आवश्यकता हुई। मौर्य सेना में छः लाख पैदल, तीस हजार सवार, नौ हजार हाथी, तथा आठ हजार रथ थे। चारों अंगों की संख्या में समय-समय पर रद्दोबदल होता रहता था। उसका समुचित प्रबन्ध करने के लिए छः विभाग थे। चार तो उपर्युक्त चतुरंगिणी सेना के प्रत्येक अंग के लिए, पाँचवाँ जल सेना तथा छठा रसद आदि के लिए था। सम्भवतः प्रत्येक विभाग में पाँच मुख्य प्रबन्धक होते थे। सेना-परिवहण तथा व्यापार के लिए लम्बी सड़कें बनवा दी गयीं। बड़े नगरों का शासन कमोबेश राजधानी पाटलिपुत्र के शासन के अनुसार रहा होगा। पाटलिपुत्र के शासन के लिए भी तीस सदस्यों का बोर्ड था। वे छः विभागों में बँटे हुए थे। एक विभाग कलाकौशल का, दूसरा विदेशियों का, तीसरा जन्म-मृत्यु का, चौथा व्यापारादि का, पाँचवाँ माल बनाने और बेचने का तथा छठवाँ बिक्री के माल पर कर वसूल करने का प्रबन्ध एवं निरीक्षण करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय नगर के शासन का न्यूनाधिक प्रबन्ध उन्हीं सिद्धान्तों पर किया जाता था जिन पर आधुनिक म्यूनिसिपैल्टियों का होता है।

साम्राज्य का दण्ड-विधान भी कठोर कर दिया गया था। साधारणतया तो जुर्माना किया जाता था किन्तु बहुत-से जुर्मों के लिए कारागार, अंग-विच्छेद, शारीरिक पीड़न, निर्वासन अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। उदाहरण के लिए बिक्री पर कर न देने अथवा चोरी के लिए भी प्राणदण्ड का विधान था।

राज-वैभव, भारी सेना एवं विशाल शासन यन्त्र के रख-रखाव के लिए धन की अधिक आवश्यकता थी। राज्य की आय के मुख्य साधन थे किलों तथा नगरों से प्राप्त आय, भूमिकर, खानों से कर, पशुओं पर कर, फल, शाक तथा औषधि का कर, जंगलों पर कर, चरागाहों पर कर, व्यापार के यातायात पर कर, शस्त्रों के निर्माण पर कर, मुद्रा, नशीली चीजों, जुआ, वेश्याओं पर लगे कर आदि। सिचाई, घाटों, रोजगारों, घरों, पगडण्डियों और चक्कियों पर भी कर लगा हुआ था। भूमि की उपज पर चतुर्थांश कर लिया जाता था। चुंगी की दर भी उत्तरोत्तर बढ़ाने की तरकीबें निकाली गयी थीं। राज्य के खर्च के मुख्य विभाग थे राजपरिवार,

सेना, शासन, दौत्य, धार्मिक कृत्य, इमारतें, दान, शिक्षा, मार्ग-निर्माण तथा संरक्षण आदि।

बौद्ध, जैन तथा भागवत मतों के अहिंसा तथा दया के सिद्धान्तों का प्रभाव कानून पर भी पड़ा। उसी के कारण गुप्त काल में प्राणदण्ड का विधान बन्द हो गया किन्तु बड़े भयंकर अपराधों के लिए अंग-विच्छेद का दण्ड चलता रहा। साधारण अपराधों के लिए न्यूनाधिक जुर्माना कर दिया जाता था। कानून की कठोरता कम हो ज़ाने पर भी चोरी डकैती की कोई वृद्धि न हुई। देश में शान्ति और अच्छी व्यवस्था कायम रही। यदि चीनी यात्री फाहियान का कथन ठीक माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि मौर्यकालीन शासन के मुकाबले में गुप्त-कालीन शासन नरम था और कर भी कम लेता था।

शासनयन्त्र में यद्यपि नये पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन होता गया तथापि वह मौर्यकालीन सिद्धान्तों पर ही चलता था। साम्राज्य कई भुक्तियों (सूबों) में विभक्त था। प्रत्येक भुक्ति का प्रमुख शासक (गवर्नर) उपरिक, महाराज अथवा गोप्ता प्रायः राजवंश का होता था। भुक्ति कई विशों में विभक्त होती थी। प्रत्येक का अधिष्ठाता विशांपति उच्च राज्य अधिकारियों में से चुना जाता था। अधिकारियों के सिवा शासन को सहायता और परामर्श देने के लिए समितियाँ थीं, जिनके सदस्य प्रमुख अनुभवी तथा प्रभावशाली व्यक्ति नियुक्त होते थे। कुछ ऐसा ही प्रबन्ध स्थली और गाँव के लिए भी था। गाँव के पंच ही वहाँ के महत्तर को चुनते थे।

गुप्तकाल तक आर्यावर्त में जनसत्तात्मक राज्यों का अन्त हो गया था। राजसत्ता में समितियों द्वारा जनता जहाँ तक अपने भाव अथवा विचार प्रकट कर सकती थी उतने ही से उसे सन्तोष करना अनिवार्य था। छठी शती ई० पू० से पाँचवीं शती ई० तक लगभग एक हजार वर्ष में आर्यावर्त में गणतन्त्र का लोप और राजसत्ता का प्राबल्य हो गया। इसका एक कारण शायद भारतवर्ष पर विदेशियों का आक्रमण रहा हो जिसकी प्रतिरक्षा के लिए भारी सेना रखना तथा व्यवस्थित संगठन और अधिक आर्थिक साधन जुटाना आवश्यक था। धन एवं बल की सहायता से साम्राज्यों ने गणतन्त्र राज्यों को तो नष्ट कर ही दिया पर विदेशियों की भी बहुत दिनों तक रोकथाम की। किन्तु उनकी शक्ति भी शनैः-शनैः क्षीण होती गयी। यद्यपि दक्षिणी भारत में विदेशियों के आक्रमण का भय न था तथापि वहाँ भी साम्राज्य स्थापित करने की प्रवृत्ति विश्वव्यापी साधारण कारणों से बढ़ती गयी।

आर्थिक जीवन

अनार्यों से निरन्तर युद्ध होने के काल से ही आर्यों के युग का भारत जंगलों से भरा हुआ था। इस जंगल को काट-काट कर अपना रास्ता निकालने और बस्तियाँ बसाने की कठिन समस्या उनके सामने थी। साहस और धैर्य से वे उसे सुलझाते गये। कृषि, पशुपालन और थोड़े-बहुत व्यापार पर उनका आर्थिक जीवन निर्भर था। कृषकों की संख्या अन्य जातियों से अधिक थी, इसीलिए गाँवों या छोटी बस्तियों में वे रहते थे। उनका रहन-सहन सीधा-सादा था। उनकी सम्पत्ति विशेषतः भूमि और पशु ही थे। पशुपालन वे कृषि से भी अच्छा काम मानते थे। हल चलाने के लिए कभी छः से बारह बैल तक जोतते थे। यव (जौ) की खेती, बड़े पैमाने पर होती थी। उसके अतिरिक्त सम्भवतः गेहूँ, चना, तिल, ईख, कपास, तथा कुछ अन्य प्रकार के अनाज भी बोते थे। सिंचाई अधिकतर वर्षा के जल से, कुओं के जल से, अथवा झीलों, तलाबों और नहरों के पानी से होती थी। वे शायद कुओं पर रहट चला कर चरसे या बरवों से भी पानी लेते थे। घोड़ों से खेती न कराके उन्हें वे चढ़ने और रथ खीचने के काम में लाते थे। बढ़िया घोड़े और बैलों की बड़ी कदर की जाती थी। पशुओं की संख्या से आदमी की हैसियत मानी जाती थी। पाणिनि के समय तक तीन श्रेणी के कृषक थे। प्रथम, जिनके पास हल न था। दूसरे, वे जिनके पास अच्छा हल होता था और तीसरे खराब हल वाले। ऋग्वेद के युग से ही खेत बांसों से नापे जाते थे। नापने वाले की ऋभु संज्ञा थी। खेत अर्थात् क्षेत्र का मालिक क्षेत्रपति होता था। क्षेत्रपति अपनी इच्छा के अनुसार अपनी भूमि को बेच अथवा दान भी कर सकता था। किन्तु यह निश्चित नहीं कि गोचारण भूमि पर सामूहिक अथवा वैयक्तिक अधिकार था या नहीं। सम्भवतः उस पर पशु चराने की कोई रोक-टोक न थी।

तत्कालीन सादे जीवन के अनुसार उनके उद्योग-धन्धे भी थे। बढ़ई, लोहार, कुम्हार, सोनार, चर्मकार, रथकार, कपड़ा बुनने वाले, रंगसाज, धोबी, चटाई बिनने और छप्पर बनाने वाले, धनुष-बाण बनाने वाले, वैद्य तथा सुरा बनाने वाले कारीगर आर्यों की साधारण दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे। वैदिक युग के आरम्भ में आर्य सोने से परिचित थे, किन्तु उत्तरवैदिक काल में सीसा, टीन, चाँदी और ताँबा मिलने लगा जिससे वे हथियारों के सिवा बरतन आदि भी बनाने लगे। फलतः नये उद्योग-धन्धे और रोजगार खड़े होने लगे। आरम्भ में आर्य कामचलाऊ कैम्प की तरह के छप्पर के मकान जिनकी दीवारें चटाई की

रहतीं, बना लेते थे। अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थिति के कारण बड़े और पक्के मकान शायद ही कोई बनवाता हो। गाँवों में निवास तथा कृच्छ्र जीवनचर्या उनके स्वभाव का अंग बन गयी थी।

प्रारम्भ में चीजों का मूल्य बछड़ों और बैलों से निश्चित होता था पर उस युग में व्यापार विनिमय के द्वारा होने लगा। सम्भवतः सिक्के का ज्ञान ही उन्हें न था इसलिए उससे उत्पन्न मोह का कोई प्रश्न न था। आगे चल कर सोने-चाँदी के टुकड़ों का प्रयोग होने लगा जिनका मूल्य उनके वज़न पर निर्धारित होता था। निष्क तथा मन्स का वजन निश्चित-सा माना जाता था। कौटिल्य के समय तक सोने के निष्क राज्य द्वारा संचालित किए जाते थे। व्यापार स्थल और जल मार्ग दोनों से होता था। बैल गाड़ी या घोड़ा गाड़ी, डाँडी या पतवार से चलायी जाने वाली नावें और पोत उनके यातायात के साधन थे। सम्भवतः फ़ारस और मेसो-पोटामिया आदि पश्चिमी देशों से उनका व्यापार होता होगा। बाज़ चीजों का दाम बहुत अधिक था। इन्द्र की एक प्रतिकृति का मूल्य दस गाय था। व्यापार ने आर्यों को भी लालची और सूदखोर बना दिया। व्यापारी वणिक (पणि) श्रेणी की अध्यक्षता के लिए प्रयत्न करता था। लिखा-पढ़ी से लेन-देन करता था। सवा छः से करीब सत्रह प्रतिशत तक वह सूद खाता था। पता नहीं कि सब पणी आर्य ही थे अथवा आर्येतर लोग भी उनमें शामिल थे। यदि कोई अभागा कर्ज अदा न कर सकता तो उसके लिए शारीरिक दण्ड और गुलामी के सिवा कोई चारा न था।

श्रमजीवी लोग अपनी सेवाओं के लिए यदि स्वतन्त्र होते तो वेतन पाते और यदि दास (गुलाम) होते तो वे स्वामी की कृपा के भरोसे रहते थे। कृषक भूमि पर खेती करने के लिए राजा द्वारा नियुक्त "ग्राम-योजक" को भूमि-कर देते थे। उपज के एक बटे बारह से लेकर एक बटे छः,और आवश्यकता पड़ने पर एक बटे चार तक भाग भूमि-कर के लिए निर्धारित था। सम्भव है कि उक्त विभिन्न दरें स्थानिक विशेषताओं अथवा विविध प्रकार की भूमियों की उपज के आधार पर रही हों। द्रोण मापक द्रोण की तौल से फसल जोखता था। यदि राजा चाहता तो किसी भूमि को कर से मुक्त कर देता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय तक बहुत-सी भूमि पर राजा का अधिकार हो गया था। वह या तो अपने सेवकों द्वारा खेती, बागवानी आदि करवाता था अथवा उसे लगान (बलि) पर उठा देता था। यदि राजा स्वनिर्मित साधनों द्वारा कृषकों को जल-प्रदान करता तो उनसे उपज

का एक बटा छः से एक बटा चार तक कर लेता था। राजकीय कार्यों के सम्पादन के लिए पाँच या दश ग्रामों पर 'गोपों' की, जनपद के चतुर्थ भाग पर 'स्थानिकों' की और सम्पूर्ण जनपद के लिए 'समाहतों' की नियुक्ति कर दी गयी थी। मौर्य काल तक भूमि-कर बढ़ा दिया गया था किन्तु साधारणतया उपज का एक बटा चार कर में लिया जाता था। जो भूमि दान में अथवा वेतन के बदले ब्राह्मणों, स्त्रियों, बच्चों तथा धार्मिक संस्थाओं अथवा सैनिकों को दी जाती, वह प्रायः करमुक्त होती थी।

शिल्पजीवी अपने-अपने परम्परागत व्यवसायों में लगे रहते थे। उनका कार्यक्षेत्र ग्रामों से अधिक नगरों में था। शिल्पविशेषों के लोग 'पूग' अथवा 'श्रेणी' में प्रायः संगठित हो गये थे। ऐसे पूगों की संख्या अठारह से अधिक ही रही होगी। शिल्पी ही नहीं वरन् तत्कालीन विधान के अनुसार शस्त्रजीवी भी संघों में संगठित थे। धार्मिक संस्थाओं ने भी अपने-अपने संघ अथवा पूग बना लिए थे। ब्राह्मणों ने भी अपने गणों का निर्माण कर लिया था। प्रत्येक वर्ग के लोग जहाँ तक सम्भव हो सकता ग्रामों विशेषतः नगरों में अपने-अपने मुहल्ला में रहना पसन्द करते थे। एक जगह जमा होने तथा समान व्यवसाय करने के कारण उनमें सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ता गया जिसका परिणाम शायद यह हुआ कि उत्तरोत्तर नयी स्थानिक उप जातियाँ-सी बनती चली गयीं जो अपनी-अपनी विशिष्टता के संरक्षण में सतर्क रहने लगीं। प्रत्येक उद्योग-समूह का एक नेता होता था। विभिन्न पारिभाषिक शब्दों से वह अभिहित होता था—जैसे, ज्येष्ठक, प्रधान, सेट्ठि आदि। यह प्रथा इतनी प्रचलित हो गयी थी कि चोरों के समूह के भी ज्येष्ठक होते थे।

वैदिक युग में लोग ग्रामों में रहते थे। व्यापार अथवा नीतिक आवश्यकताओं से नगरों का निर्माण हुआ और वहाँ नागरिक जीवन का उदय हुआ। आर्य लोग उस प्रवृत्ति को अवनतिकारिणी कहते थे। किन्तु धीरे-धीरे नगरों का आकर्षण बढ़ता गया। दास-दासियों की माँग बढ़ने लगी। ब्राह्मण, क्षत्री भी व्यापार करने लगे। सोने, चाँदी, ताँबे के सिक्कों का प्रयोग बढ़ गया और उनकी बहुमुखी वृद्धि होती गयी, यहाँ तक कि नगरवासी ग्रामीण लोगों को अपने से कम सभ्य और असंस्कृत-सा समझने लगे। नागरिक जीवन ने इतनी वृद्धि कर ली कि शासन को उसके प्रबन्ध और नियन्त्रण का भार अपने हाथ में लेना आवश्यक हो गया। बिना राजाज्ञा के कोई व्यक्ति न तो नया व्यापार प्रचलित कर सकता था न व्यापारी

काम ही कर सकता था। वस्तुओं के प्रमापन, मूल्य-निर्धारण, क्रय-विक्रय के निरीक्षण अथवा नियन्त्रण, शुल्क, चुंगी, तौल, नाप और व्यापारियों के झगड़े निपटाने आदि कार्यों के लिए पण्याध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, अन्तपाल, पोताध्यक्ष आदि नियुक्त किये जाते थे। खाने-पीने की चीजों की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखा जाता था। नगरों की उन्नति के साथ पूंजीपतियों की वृद्धि होने लगी, बड़े-बड़े व्यापारी काफिले आने-जाने लगे, जल और स्थल मार्गों का प्रबन्ध होने लगा। यद्यपि बैंक न थे तथापि धन जमा करने के लिए नगर के निकाय अथवा विश्वस्त साहूकार काफी समझे जाते थे। सारांश यह कि प्राचीन वैदिक युग का सरल तथा साधारण संगठन दिनोंदिन पेचीदा होता चला गया। बेईमानी, सूदखोरी, भोगोपभोग के नये-नये साधन एकत्रित होते गये। नयी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ उठती रहीं। यूनानियों के प्रभाव से भारत में सुन्दर मुद्रा का प्रचलन हुआ। मौर्य-युग में व्यापार के मार्गों में प्रथम कलकत्ता के समीप ताम्रलिप्ति से प्रारम्भ होकर पाटलिपुत्र. वाराणसी, कौशाम्बी, मथुरा, सियालकोट होकर तक्षशिला तक, दूसरा मथुरा से राजपूताना होता हुआ पैठन तक, तीसरा कौशाम्बी से उज्जैन होकर भड़ौंच तक और चौथा पैठन से कान्ची और मदुराई तक जाता था। इन बड़े मार्गों से सवन्धित अनेक छोटे मार्ग थे। मार्गो के किनारे-किनारे छायादार वृक्ष जगह-जगह पर विश्रामगृह और जल के लिए कुएँ बने थे। व्यापार में कुछ बाधाएँ भी पड़ती थीं। लुटेरों का भय सदा बना रहता था। उनसे रक्षा करने के लिए शस्त्र-जीवियों को रखना पड़ता था। दूसरे यातायात के साधन ऐसे थे जिनसे व्यापार की गति मन्द रहती थी। उदाहरण के लिये पहले मिस्र तक जाने के लिए एक वर्ष लगता था किन्तु बाद में ईसा की प्रथम शती तक भी तीन महीने लग जाते थे। चीन के दक्षिणी कोने तक जाने में भी एक वर्ष लगता था। रास्ते में शायद अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे। इसके सिवा जब तक काफिला पूरा न हो तब तक यात्रा आरम्भ न की जा सकती थी। काफिलों में पाँच सौ गाड़ियों तक का वर्णन मिलता है। समुद्र मार्ग से छोटे जहाज़ द्वारा यात्राएँ होती थीं। कभी-कभी जहाज़ डूब भी जाते थे।

अनेक कष्ट तथा बाधाओं के रहते हुए भी भारतवर्ष का व्यापार बहुत उन्नत था। पूर्व में चीन, बर्मा, कम्बोडिया, स्याम, मलय आदि तक पश्चिम में मेसोपटेमिया, फारस, मिस्र एवं रोम तक, पश्चिमोत्तर एवं उत्तर में खोतान, तुर्फान, काशगर, यारकन्द तक भारत से नाना प्रकार के सूती-रेशमी कपड़े, रत्न, मोती, आभूषण,

मसाले, सुगन्धित द्रव्य, चीनी, चावल, घी, मोरपंख, हाथी दाँत, रंग, लोहा, शेर, बाघ, भैंसे, हाथी, बन्दर, पक्षी आदि भेजे जाते थे, जिससे करोड़ों का सोना, चाँदी देश में आता रहता था। यहाँ के माल का इतना सम्मान होता था कि कभी-कभी तो सौगुनी कीमत पर वह बिक जाता था। सम्भवतः उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत को व्यापार करने तथा लाभ उठाने का अवसर अधिक प्राप्त था। अन्य देशों से भारत भी सोना, चाँदी, धातु या धातु से बनी चीज़ें, शीशे का सामान, कपूर, रेशमी व ऊनी कपड़े, घोड़े, ऊँट, हथियार आदि मँगवाता था। किन्तु आयात से निर्यात की मात्रा बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, जिससे भारत उत्तरोत्तर समृद्धिशाली होता चला जाता था। इसीलिए कर्मभूमि के साथ-साथ भारत स्वर्णभूमि भी बन रहा था।

बृहत्तर भारत

भारतवासियों का अन्य देशों से केवल सम्पर्क ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध भी प्राचीन काल से चला आता है। सिन्धु घाटी के लोगों का व्यापार और सम्भवतः सांस्कृतिक आदान-प्रदान पश्चिमी एशिया से था। वैदिक आर्यों का ईरानियों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध के अलावा राजनीतिक सम्बन्ध भी था। भारत की पश्चिमी सीमा पर भारत तथा ईरानियों का संगम हुआ। यह स्मरण रखने योग्य है कि भारत का सबसे प्रमुख और उच्चतम शिक्षा केन्द्र तक्षशिला में था। जहाँ से भारतीयों और ईरानियों तथा मध्य एशिया के अन्य लोगों का सांस्कृतिक ज्ञान-विज्ञान-विनिमय चलता रहा। अलेक्ज़ेण्डर के आक्रमण से ग्रीकों तथा यूनानियों का भी भारत के साथ विभिन्न स्तरों पर आदान-प्रदान होता रहा। मौर्यकालीन भारत में पश्चिमी एशिया और मध्य एशिया से आना-जाना, व्यापार तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध और भी बढ़ गया। गुजरात, सिन्ध तथा दक्षिणी भारत के निवासियों का मेसोपटेमिया, मिस्र तथा दक्षिणी एशिया और हिन्दसागर के टापुओं और प्रदेशों से उत्तरोत्तर सम्बन्ध बढ़ता गया। कुषाणकाल से चीनियों का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध भारत से बढ़ता गया। तब से गुप्त काल तक उत्तरी भारत से भी लोग व्यापार और धर्म प्रचार के लिए स्वर्णभूमि, मलय, इण्डोनेशिया, कम्बोडिया आदि देशों में जाने लगे। युन्नान (इण्डोचीन) तथा कम्बोडिया में हिन्दुओं ने प्रथम शती में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। वहाँ से वे चीन के साथ व्यापार करते रहे। राजा जयवर्मा ने चीन को अपने दूत पाँचवीं

शती में भेजे। चौथी और पाँचवीं शती ई० में मलय में हिन्दुओं ने अपना राज्य भी स्थापित कर लिया। वहाँ व्यापार के साथ-साथ बौद्ध, शैव तथा वैष्णव धर्मों का खूब प्रचार होता रहा और देवालयों की बड़े पैमाने पर स्थापना होती रही। चम्पा में तृतीय शती ई० का एक संस्कृत का लेख मिलता है। सारांश यह कि भारतीयों का एशिया के प्रायः सभी सभ्य देशों से आदान-प्रदान होता रहा जिससे भारतीय संस्कृति का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता रहा।

द्वितीय खंड

अध्याय ७

क्रीट टापू

मध्य सागर के पूर्वीय भाग का एक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व है, उसके उत्तरी तट पर ग्रीस, दक्षिणी तट पर मिस्र और एशियाई तट पर एनाटोलिया (एशियाई कोचक), पेलेस्टाइन आदि प्रदेश हैं जिनमें अपनी निजी संस्कृति के अलावा बेबीलोनियन, मिस्री तथा अरबी संस्कृतियों का प्रभाव देखा जाता है। उसके समुद्री क्रोड़ में क्रीट, साइप्रस तथा ईजिअन अंचल के अनेक छोटे-छोटे टापू हैं जिनका अपना-अपना इतिहास है। यह निश्चित है कि ग्रीकों की प्रसिद्ध सभ्यता और संस्कृति के उदय होने के पहले एशियाई तट तथा क्रीट आदि टापुओं में उल्लेखनीय सांस्कृतिक उन्नति हो चुकी थी, जिसका प्रभाव ग्रीस की सभ्यता पर पड़ा।

टापुओं में सम्भवतः सबसे महत्व का स्थान क्रीट को प्राप्त हुआ था। पुरातत्व-शास्त्रियों ने वहाँ के ताम्रयुग की सभ्यता के सुन्दर अवशेष ढूंढ़ निकाले हैं, जिनसे पता चलता है कि ईसा से ढाई हजार वर्ष पहले से लगभग ग्यारह सौ वर्ष तक वहाँ के निवासी उन्नति करते रहे और उन्होंने ऐसी सभ्यता की स्थापना की जिसमें मिस्र तथा एशिया की संस्कृतियों के साथ-साथ उनका अपना भी योग है। यद्यपि कुछ विद्वान् क्रीट वालों का सेमेटिक लोगों से सम्बन्ध होना असम्भव नहीं समझते तथापि अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि वे लोग न तो अरब के सेमेटिक और न अफ्रीका के हेमेटिक थे। अनुमानतः वे एनाटोलिया की ओर से आए होंगे। वे लम्बे, सुडौल, छरहरे, पतली कमर और सुन्दर आँख-नाक वाले लोग थे। मर्द तो कमर में घुटने तक कपड़ा लपेटे रहते, किन्तु स्त्रियाँ पूरे आस्तीन का झोलदार साया पहनतीं जो टखनों तक को ढाके रखता था; जैसा पहनावा तीस-चालीस वर्ष पहले यूरोप में प्रचलित था।

ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व उनको ताँबे और टीन को मिलाकर एक नया योग बनाने की क्रिया का रहस्य ज्ञात हो गया था जिससे उन्हें अच्छा लाभ हुआ। क्रीट टापू में करीब सौ नगरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं जिनमें नोसस के अवशेष सबसे

अच्छी दशा में हैं। नगरों की रचना से ऐसा जान पड़ता है कि वे लोग समृद्धिशाली व्यापारी थे, जो शतियों तक शान्तिपूर्वक फूले-फले। उन्होंने शायद यह न सोचा कि उनके नगरों पर आक्रमण भी कभी हो सकेगा। फलतः नगर की रक्षा के लिए वहाँ किसी प्रकार का प्रबन्ध नहीं किया गया था। उनकी उस धारणा का क्या कारण था यह अभी तक ज्ञात नहीं। सम्भव है कि उस समय समुद्र और नौ-शक्ति को ही रक्षा के लिए काफी समझा गया हो। या तो उनका कोई प्रतिद्वन्दी न था या तत्कालीन राज्यों ने उसको सर्वोपयोगी व्यापार का स्टेशन समझकर वहाँ युद्धक्षेत्र न बनाने का समझौता कर लिया हो। जो कुछ भी हो, नगर की, जहाँ एक लाख जनसंख्या थी, रक्षा का प्रबन्ध न करना उनकी भूल थी, जिसके लिए उन्हें बहुत पछताना पड़ा होगा।

नोसस के माइनास वंश के राजाओं का भवन पहाड़ी के ढालू भाग पर छः एकड़ जमीन पर बना है। सौ फुट लम्बे और ८५ फुट चौड़े खुले हाते के चारों ओर इमारतें बनी हुई हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे एक साथ किसी खास नकशे के अनुसार नहीं बनायी गयीं। कुछ भाग तो कायदे से बने हैं,शेष समय-समय पर आवश्यकतानुसार बढ़ा लिये गये होंगे। भूकम्प से इमारतों को भारी हानि पहुँची, किन्तु १६०० ई० पू० में उनका जीर्णोद्धार करा कर नयी इमारतें बढ़ा दी गयीं। इससे राजभवन एक गाँव के समान हो गया। इमारतें ईंटों की हैं जिनकी छतें लकड़ी की धरनियों पर पटी हैं। कोई-कोई इमारत कई मंजिलों की है। दरबार के कमरे के पश्चिमी भाग के पास देवी का आलय बना है, दरबार के पीछे भाण्डार है, जिसमें बड़े-बड़े मटकों में जैतून का तेल, शराब और अनाज भरा हुआ है। पूर्वी भाग में राजा और उसके परिवार के रहने के कमरे, रनिवास, स्नानागार, शौचागार, तैलगृह, बरतनों का कोठा, पहरेदारों की कोठरियाँ, शस्त्रागार, दो बड़े-बड़े हाल, बरामदे आदि सब इमारतें एक-दूसरे से सटी हुई हैं। बड़े बरामदे की दीवालों के पलस्तर पर बड़े सुन्दर सुरुचि-पूर्ण चित्र बने हैं जिनसे उन लोगों की प्रकृति-सौन्दर्याभिरुचि का अच्छा अनुमान लगाया जा सकता है। वृक्ष, पशु-पक्षी, सफेद लिली एवं गुलाब के फूल बड़ी सजीवता और यथार्थता तथा गतिशीलता से बने हैं। उन कलात्मक चित्रों के सौन्दर्य को देख कर दर्शक चकित और मुग्ध हो जाता है। मनुष्य और उसके समूहों के चित्रण में भी उन्होंने लाघव और निपुणता का प्रमाण दिया है। मनुष्यों को काले और लाल रंगों में, और स्त्रियों को सफेद रंग में चित्रित करने की परिपाटी थी। दोनों की शरीर-रचना और आकृति का कलात्मक प्रदर्शन हुआ है।

वहाँ मिट्टी के सुन्दर रंगीन बरतन बड़ी कारीगरी से बनाये जाते थे क्योंकि उनकी अन्य देशों में अच्छी कद्र होती थी। वे उन पर तरह-तरह के चित्र-विचित्र फूल-पत्तियों और जन्तुओं की सुन्दर डिजाइनें बनाते थे। मिट्टी के बरतनों के अलावा वे जैतून का तेल, शराब तथा धातु की चीज़ें भी बाहर भेजते थे।

नगरों का शासन सम्भवतः सन्तोषजनक रहा होगा क्योंकि वहाँ की सड़कें पक्की हैं और पक्के पुल और कुल्याएँ बनी हैं। ईसा से १६०० वर्ष पहले वे घोड़ों, बैलों और रथों से काम लेते थे। उन्हें लिखने-पढ़ने और गणित का व्यावहारिक ज्ञान था। उनका जीवन निश्चिन्त और विनोदपूर्ण प्रतीत होता है। सबसे अच्छी बात तो यह थी कि उनके समाज में श्रेणीगत असमानता न थी। आर्थिक व्यवस्था इस ढंग की थी कि समाज का कोई अंग दलित या बहुत गरीब न था। किसान, कारीगर और व्यापारी का स्थान मध्य श्रेणी का-सा था। मिस्र तथा मेसोपटेमिया की तरह भयंकर असमानता न थी। फलतः लोग सुखी थे। खेल-कूद, नाच-गाना, व्यायाम, मल्ल-युद्ध, असि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, साँड़ फँसाने, साँड़ों और कुत्तों की लड़ाई, आदि के वे शौकीन थे। वहाँ बड़े मन्दिर न थे। लोग अपने घरों में पूजा-गृह अथवा पहाड़ियों पर या गुफाओं में देवालय बनाते थे। वे लोग भगवती महामाता देवी की, जिसका प्रतीक दोधारा फरसा था, आराधना करते थे। उसके सिवा नागिन का पूजन होता था। कहा जाता है कि सर्पिणियाँ भी संयम और संजनन की सौभाग्यदायिनी देवियाँ मानी जाती थीं। कहा जाता है कि सर्पिणी जीव की प्रतीक समझी जाती थी जिसका मरणोपरान्त स्थान पाताल लोक है।

उस सुख, शान्ति और सम्पन्न जीवन का ईसा से चौदह शती पहले आक्रमण-कारियों ने नाश कर दिया जिससे उनकी सभ्यता उत्तरोत्तर क्षीण होती गयी। उनके ह्रास के साथ माइसीन (यूरोप के उस भू-भाग की सभ्यता जो आगे चलकर ग्रीकों की कर्मभूमि बनी) की सभ्यता का उदय हुआ। क्रीट के कटु अनुभवों से शिक्षा ग्रहण कर माइसेनी तथा ट्राय के नगरों ने मजबूत किलाबन्दी करना आरम्भ कर दिया। क्रीट की सभ्यता का प्रभाव माइसेनी तथा ग्रीस की सभ्यता और संस्कृति पर पाया जाता है।

अध्याय ८

ग्रीस

भौगोलिक स्थिति

यूरोप के दक्षिणी पूर्व कोने का कटा-फटा और छोटे-छोटे टापुओं से जड़ा भू-भाग ग्रीस कहलाता है। यह एशियाई कोचक के ठीक सामने है। दोनों के बीच में मध्य-सागर की एक शाखा है जो बासफोरस और डार्डनेल की जल कड़ियों के लगाव द्वारा काले समुद्र से मिल जाती है। ये समुद्र तथा जल ग्रीवाएँ एशिया को यूरोप से पृथक् करती हैं। किन्तु सुगम होने के कारण आने-जाने तथा आदान-प्रदान में कोई विशेष बाधा नहीं डालतीं।

ग्रीस के तीन ओर समुद्र और उत्तर की ओर असीमित पहाड़ियाँ तथा जंगल थे। समुद्र के जल ने भीतर घुस-घुस कर ग्रीस को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। उत्तरी भाग में थेसेली और एपिरस, मध्य में एटिका और थेबीज़ आदि और दक्षिणी में लेकोनिया (स्पार्टा) तथा कोरिन्थ आदि थे। ग्रीस एक पहाड़ी प्रदेश है जिसमें इधर-उधर छोटी-बड़ी उपत्यकाएँ हैं। वहाँ कोई ऐसी नदी नहीं जो व्यापार के काम की हो, किन्तु नालों और झरनों का अभाव नहीं। वहाँ की झीलें भी नगण्य-सी हैं। अतएव वहाँ कृषि बहुत सीमित हो सकती थी। इस कमी की पूर्ति जैतून तथा फलों की बागबानी से न्यूनाधिक होती थी। ग्रीस में यद्यपि कुछ चाँदी, लोहा और ताँबा मिलता था तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि वहाँ की धातु सम्पत्ति भी ऐसी वैसी ही थी। आर्थिक सम्पन्नता के साधनों की कमी चिन्त्य थी, किन्तु वहाँ का जलवायु, विमल आकाश, वातावरण तथा प्राकृतिक सौन्दर्य उसकी अपूर्व सम्पत्ति थी। उसी की बदौलत उसने उन गुणों, कर्मों एवं स्वभाव का प्रदर्शन किया जिनसे उसका नाम संसार में अमर हो गया।

ग्रीस प्रदेश गरीब था, किन्तु समुद्र वहाँ के निवासियों को देश से बाहर निकल कर कीर्ति एवं सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए तीन ओर से आमन्त्रित करता था। एशिया और कुछ अंश में अफ्रीका के मार्ग को सुगमतर बनाने के लिए प्रकृति ने वहाँ अनेक

टापू बिछा दिये हैं। उत्साही एवं पुरुषार्थी ग्रीकों ने उनसे पूरा लाभ उठाया। फलतः एशिया तथा मिस्र की सभ्यता, संस्कृति तथा व्यापार से ग्रीस निवासियों का बड़ा उपकार हुआ।

जिस समय मिस्र तथा क्रीट की सभ्यता अपने उत्कर्ष पर थी उस समय यूरोप अन्धकार में ग्रस्त था। क्रीट के कुछ उद्यमी लोग ग्रीस के समुद्री तट पर इधर-उधर बस गये थे। अपनी बस्तियों को अर्द्धसभ्य अथवा असभ्य खानाबदोशों से बचाने के लिए उन्होंने बस्तियों के चारों ओर शहरपनाह, पत्थरों की दीवार बना ली थी। १५०० ई० पू० तक वे लोग स्वयं सभ्यता के प्रशस्त मार्ग पर पहुँच गये थे जैसा कि उनके रहन-सहन, पोशाक, घर-द्वार, कला-कौशल से अनुमान किया जाता है। किन्तु माइसीन और तीरइन्स नगरों से सहस्र वर्ष पूर्व ईजिअन समुद्र तट पर अन्य समृद्धिशाली नगर बसे हुए थे जिनमें ट्राय नामक नगर प्रभूत धनधान्यवान् और बलशाली माना जाता था। ईजिअन सभ्यता पर इण्डो आर्य जाति के खानाबदोश बलकान पहाड़ियों के पीछे से प्रलयंकारी घटा के समान चढ़ आये (२००० से ५०० ई० पू०)। उन्हीं असभ्य या अर्द्धसभ्य लोगों में वे दल भी सम्मिलित थे जिन्होंने आगे चल कर ग्रीस में अपूतभूर्व ख्याति प्राप्त की और सभ्यता के स्तर को अत्युच्च बनाकर यूरोप निवासियों को नये, विशद और सुसम्पन्न जीवन का पथ प्रदर्शन कराया।

ग्रीक लोग सब एक जाति या वंश के नहीं थे। ग्रीस में सबसे पहले आर्केडियन, फिर क्रमशः एकियन, आयोनियन, डोरियन और इओलियन आये। सम्भवतः ये आर्य जाति की ही शाखाएँ थीं। इन लोगों की भाषा आर्यभाषा थी तथा उनके धार्मिक विचारों में बहुत कुछ समानता थी। अतएव वे दोनों उन कबीलों को एकता के सूत्र में किसी प्रकार बाँधे हुए थे। उनके आने के पहले ग्रीस में ईजियन सभ्यता प्रचलित थी, किन्तु उसका अभी तक यथोचित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु यह कहा जाता है कि वे भी माइसीयन और क्रीटन सभ्यता के प्रचारक थे। ईजियन संस्कृति वालों को हटाकर डोरिअन कबीले के लोगों ने ग्रीस के दक्षिणी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया (१५ या १४ शती ई० पू०)। डोरिअनों का प्रताप एकिअन कबीलों के थेसली आ जाने के कारण क्षीण हो गया (१००० वर्ष ई० पू०)। एकिअन लोगों ने उस सभ्यता का निर्माण किया जिसका दिग्दर्शन ग्रीस के महाकवि होमरने अपने अमर काव्य में कराया है।

एकिअन लोग सुसज्जित मकानों में रहते थे। मकान का एक भाग पुरुषों और दूसरा स्त्रियों के लिए था। उन लोगों को शिकार, व्यायाम, द्वन्द्व-युद्ध, संगीत और

नृत्य कला का शौक था। वे शराब पीते और मांस तथा रोटी डटकर खाते थे। यद्यपि स्त्रियों और पुरुषों के कार्य क्षेत्र और अधिकार समान न थे, तथापि स्त्रियों, वृद्धों और अतिथियों के प्रति उनका व्यवहार शिष्ट था।

उनके समाज में पुरुषों की दो ही श्रेणियाँ थीं। एक तो राजन्यों की जिनके कन्धों पर रक्षा का भार था और दूसरी कृषि-वाणिज्य करने वालों की। राजा स्वतन्त्र और बलशाली लोगों की राय से राजकाज, सन्धि-विग्रह आदि करता था। वह सेना तथा जातीय धार्मिक कृत्यों में अग्रणी का काम करता था। उन लोगों का विश्वास था कि दैविक विधान से कुछ गिने-चुने वंशों के ही लोग रक्षा तथा शासन का कार्य करने की क्षमता रखते हैं। अतः वे काम उन्हीं के सुपुर्द रहने चाहिए।

ग्रीस के लोग शान्तिप्रिय न थे। उनका स्वभाव अव्यवस्थित, चंचल और उद्दण्ड था। लड़ने-झगड़ने, युद्ध करने का व्यसन राजाओं में ही नहीं, किन्तु साधारण जनता में भी था। व्यापार और अर्थ-संग्रह में उनकी बड़ी रुचि थी, परन्तु वे ईमानदारी को कोई महत्त्व न देते थे। फारस का सम्राट् कहा करता था कि यदि किसी को यह देखने का शौक हो कि एक व्यक्ति दूसरे के प्रति कितना विश्वासघात कर सकता है और शपथ लेने पर भी स्वार्थ के लिए निस्संकोच एक-दूसरे का गला काट सकता है, तो वह ग्रीस के बाजारों में जाकर देख ले। वे लोग न तो चैन से रहते और न रहने देते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि उनके इतिहास में विरोधात्मक प्रवृत्तियों का विलक्षण प्रदर्शन पाया जाता है। देशभक्ति, देशद्रोह, वीरता, कायरता, वफादारी, दग़ाबाजी, उदारता, निर्दयता, बुद्धिमत्ता और मूर्खता एक साथ ही समरस से फूलती-फलती दिखायी पड़ती हैं।

उस युग में एशियाई कोचक के उत्तरी पश्चिम कोने पर 'ट्राय' नाम का एक समृद्धिशाली नगर था। वहाँ फ्रीजिअन, आरमीनिअन आदि मिश्रित कबीलों के लोग बसे थे जिनको ग्रीस वाले 'ट्रोजन' कहते थे। वहाँ की संस्कृति भी एशिया और ग्रीक संस्कृतियों के मिश्रण से बनी थी। एशिया और ग्रीस के व्यापार से उनको बड़ा लाभ हुआ जिससे उनकी शक्ति तथा साधन खूब बढ़े-चढ़े गये थे।

उस युग का विशद वर्णन होमर के काव्य में मिलता है। अनुश्रुति के अनुसार ट्राय का एक राजकुमार स्पार्टा आया और वहाँ के राजा की भावज, हेलन को फुसलाकर निकाल ले गया। अपमान से क्रुद्ध होकर एकिअन वंश के सब राजाओं ने ट्राय पर आक्रमण करके नगर का विध्वंस कर डाला। वह संग्राम दस वर्ष तक होता रहा,

किन्तु वे हेलन को वापस ले ही आये। ट्राय में अन्तिम विध्वंस ११८४ ई० पू० हुआ। अब वहाँ एक धुसमाटीला है जिसको 'हिसारलिक' कहते हैं।

स्वतन्त्र ग्रीकों के सिवा ग्रीस में दासों की बहुत बड़ी संख्या थी। ग्रीक लोगों ने पराजित लोगों को दासता की शृंखला से सदा के लिए जकड़ दिया था। शायद ही कोई ऐसा ग्रीक हो जिसके यहाँ कम-से-कम एक दर्जन गुलाम न रहते हों। एथेन्स में तो खेती करना गुलामी का काम समझा जाता था। भलेमानुस केवल जमींदारी करते थे। ग्रीस के बड़े-से-बड़े विद्वान्, दार्शनिक तथा राजनीतिज्ञ की सम्मति में ग्रीकों के सिवा अन्य सब लोग असभ्य और निकम्मे थे। वे पशुओं के समान माने जाते और उनसे हर प्रकार की सेवाएँ ली जाती थीं। वस्तुतः दासता की नींव पर ही ग्रीक सभ्यता का प्रासाद निर्मित किया गया था। यह उसकी बड़ी नैतिक कमजोरी थी।

नगर

घाटियों के पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण पृथक्-पृथक् अनेक बस्तियाँ बन गयी थीं। ये ही नगर के रूप में विकसित हो गयीं। सातवीं या आठवीं शती ई० पू० तक ग्रीस में ही नहीं, वरन् मध्य सागर के तटों पर एवं टापुओं में अनेकानेक नगरों की स्थापना हो गयी थी। ग्रीक सभ्यता में 'नगर' का विशेष स्थान है। प्रत्येक नगर स्वतन्त्र था और शासन तथा सभ्यता का केन्द्र भी। वस्तुतः नगर ही राज्य या राष्ट्र था। किसी-किसी नगर का आधिपत्य आसपास के कुछ गाँवों पर भी था, किन्तु उनसे उसके संगठन पर विशेष प्रभाव न पड़ता था। प्रत्येक नगर में प्रायः एक जाति या वंश के ही कुटुम्बी रहते थे जिससे उनमें बन्धुत्व तथा आत्मीयता का भाव जाग्रत रहता था। नगर अपने निवासियों का प्राण, विकास का साधन एवं प्रतीक था और उनकी आशाओं, आदर्शों, सफलताओं तथा विफलताओं को प्रतिबिम्बित करता था। उसके लिए जीना या मरना उनका परम धर्म और अन्तिम ध्येय था। इसी से प्रत्येक नगर-राज्य के निवासियों पर आत्म-गौरव, स्वाभिमान, और राज्य-भक्ति का नशा-सा छाया रहता था।

कोई नगर किसी दूसरे नगर की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न था। ऐसा करना अपमान और लज्जा का कारण समझा जाता था। इस भाव के रहते हुए वहाँ बड़े राज्यों का निर्माण हो ही नहीं सकता था, साम्राज्य का तो कहना ही क्या। तथापि भाषा-साम्य, धार्मिक विश्वास एवं विचारों और सहजातीयता के

संस्मरण के अतिरिक्त ग्रीस में कुछ ऐसी संस्थाएँ थीं जिनके द्वारा उनमें ऐसा आपसी सम्पर्क रहता था जिससे सभी ग्रीक लोगों को आत्म-दर्शन, अपने महत्त्व तथा सामूहिक व्यक्तित्व का अनुभव करने का अवसर मिल जाता था। उनमें अधिक महत्त्व के कुछ देवस्थान थे जैसे ओलिम्पिआ, जहाँ देवताओं एवं देवियों की सभा जुटती थी। वहाँ विभिन्न नगरों से यात्री आते और उत्सव मनाते थे, विचारों का आदान-प्रदान क्रय-विक्रय, लाग-डाँट के खेलों, साहित्यिक कृतियों तथा कला-कौशल, खेल-कूद और व्यायाम आदि का अच्छा प्रदर्शन भी वहाँ होता था। उन अवसरों पर ख्याति प्राप्त करना व्यक्तियों और नगरों का विशेष ध्येय समझा जाता था। ओलिम्पिआ का समारोह हर चौथे वर्ष होता था। उसके सिवा देवी-देवताओं के उपलक्ष में अन्य त्योहार कमोबेश उसी ढंग पर अन्य स्थानों में भी मनाये जाते थे। उन उत्सवों का ग्रीस की सभ्यता, समाज, आचार-विचार एवं संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

राजाओं का शासन-काल ईसा के पूर्व सातवीं शती तक चलता रहा, किन्तु उनके अत्याचारों से पीड़ित होकर सरदारों ने जनता की सहायता से या तो राज-शासन का अन्त कर दिया या विविध विधानों से उनकी शक्ति को नियन्त्रित कर दिया।

आठवीं से छठी शती (७५०—५५० ई० पू०) तक ग्रीस वालों ने बहुत-से उपनिवेश स्थापित कर लिये। यात्रा के पहले डेल्फी के अपोलो नामक देवता से आज्ञा माँगी जाती थी। उस अवसर पर आसपास के मित्र-नगरों के लोगों को भी आमन्त्रित किया जाता था। प्रवासियों के नेता को प्रमाण अथवा अधिकार पत्र दिया जाता था जिसमें नेता का नाम, उपनिवेश स्थान, राज्य से सम्बन्ध की शर्तें आदि आवश्यक बातें लिख दी जाती थीं। उपनिवेश, ईजियन सागर, काला सागर, उत्तरी अफ्रीका, सिसली, इटली, दक्षिणी फ्रांस, स्पेनों में बसाये गये थे। उपनिवेश स्थापित करने के मुख्य कारण थे व्यापार की वृद्धि एवं राज्यों की बढ़ती हुई जनसंख्या को स्थानान्तरित करना। सतर्क रहने पर भी अनेक उपनिवेशों में स्वतन्त्र हो जाने की लालसा अथवा आवश्यकता बढ़ती गयी। उपनिवेशों में सिसली तथा सेराक्यज़ जहाँ कारिन्थ नगर के डोरियन लोग बस गये थे सबसे महत्त्वपूर्ण थे। (७३४ ई० पू०)। सिसली पर ग्रीकों की बढ़ती हुई शक्ति का कार्थेज के नगर-राज्य से संघर्ष अनिवार्य हो गया। कार्थेज का व्यापार-जीवी नगर भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग पर दूसरे का आना-जाना अपने लिए घातक समझता था। फिर भी दक्षिणी फ्रांस

में मस्सिलिन (मारसेई) में ग्रीकों ने उपनिवेश बना ही लिया। जिबराल्टर के आगे ग्रीक लश्कर कार्थेज के विरोध के कारण न बढ़ सके। काले समुद्र के किनारे उपनिवेश असीम संख्या में स्थापित किये गये।

ग्रीस के प्रत्येक नगर की अपनी सभ्यता और अपना इतिहास था। यद्यपि ग्रीस का इतिहास वस्तुतः नगर राज्यों का ही इतिहास है तथापि पाँच स्थान विशेष रूप से महत्त्व रखते थे। वे थे—स्पार्टा, कोरिन्थ, एथेन्स, थेबीज़ और मेसीडोनिया (मकदूनिया)। उनके दिग्दर्शन से ग्रीस के इतिहास और सभ्यता का इसलिए ज्ञान हो जाता है कि अन्य नगरों की प्रगति न्यूनाधिक उन-जैसी ही हुई थी।

स्पार्टा

ग्रीस का दक्षिणी भू-भाग पेलोपोनेसस कहलाता था। एक प्रकार से वह टापू-सा माना जा सकता है क्योंकि समुद्र की भुजाओं ने उसे अन्य प्रान्तों से करीब-करीब पृथक् कर दिया था। उसमें कई राज्य थे जिनमें स्पार्टा का सबसे अधिक महत्त्व था। स्पार्टा की उर्वरा भूमि चारों ओर से दुर्गम पहाड़ियों से घिरी हुई थी। वह डोरिअन ग्रीकों के अधिकार में थी। राजपूतों या जापानी सिमूरिओं की तरह स्पार्टा वाले स्वतन्त्रता, वीरता और युद्धकला के अनन्य सेवक थे। शारीरिक संगठन, मल्लयुद्ध, व्यायाम तथा अस्त्र-शस्त्र संचालन के सिवा वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति, स्त्री और पुरुष तथा समाज का अन्य कोई ध्येय न था। कला-कौशल, विद्या-व्यापार, ठाठ-बाट, ऐश-आराम आदि से उनको कोई वास्ता न था। पढ़ना-लिखना, मानसिक उधेड़बुन, शौकीनी, लज़ीज़ खान-पान, साहित्य-पटुता विशेषकर वाक-चतुरता और व्याख्यान-कला को वे अनावश्यक ही नहीं वरन्, निन्दनीय भी मानते थे। यदि उनमें किसी प्रकार की कविता का मान था तो वह था जुझावट के कड़खों या वीरों के गुणगान का। उनकी विचारधारा, उनका दैनिक जीवन इसलिए सम्भव हो सका कि उन्होंने विजित लोगों को बड़ी संख्या में गुलाम बना रखा था। गुलामों (हेलटों) की संख्या स्वतन्त्र लोगों से दस गुनी थी। वे ही खेती-बाड़ी, उद्योग-धन्धे, सेवा-शुश्रूषा तथा डोरियन विजेताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। वे सेना में भी भर्ती किये जाते थे। युद्ध में जो असाधारण वीरता दिखाते थे उन्हें स्वतन्त्र कर दिया जाता था। शुद्ध स्पार्टनों और हेलटों के बीच एक समुदाय मिश्रित जाति के लोगों का था। वे लोग स्वतन्त्र थे किन्तु नगर के आसपास की बस्तियों में बसा दिये गये थे। व्यापार उन्हीं लोगों के हाथ में था।

स्पार्टा के ग्रीक अपना रक्त विशुद्ध रखना आवश्यक समझते थे। उनका यह प्रयत्न रहता था कि उनकी सन्तान निर्बल और क्षीण न हो। इसलिए वे कुमारियों के स्वास्थ्य और बल की रक्षा और संवर्द्धन प्रायः उसी प्रकार करते थे जैसी कि अपने बालकों के स्वास्थ्य की। कुमारियों को भी दौड़ने, कूदने, मल्ल युद्ध करने, बर्छी चलाने आदि की प्रेरणा दी जाती थी और उनके शरीर को भी हृष्ट-पुष्ट और सुसंगठित बनाने के प्रयत्न किये जाते थे। निर्भीकता और स्वावलम्बन के साथ लैंगिक चेतना के प्रति आनुपातिक उदासीनता उनको सिखायी जाती थी। झिझक दूर करने के लिए कुमारों की तरह कुमारियाँ भी विशेष अवसरों पर नग्न होकर जुलूसों और व्यायाम-शालाओं में आती-जाती थीं। वैसे अवसरों पर यदि उन्हें कुदृष्टि से कोई देखता या अशिष्ट शब्द कहता था तो उसकी दुर्दशा की जाती थी। शुद्ध भाव और आचरण वालों का गुणगान और व्यभिचारियों की घोर निन्दा की जाती थी। नग्न शरीर प्रदर्शन एवं पुरुषों से मिलने-जुलने ने स्पार्टा को दुराचारी नहीं बनाया। वहाँ की स्त्रियों में शील और सदाचार की कमी न थी। लुच्चापन, छिछोरपन, स्त्रैणता, दुर्व्यसन और वारविलासिता के लिए उनके समाज में स्थान न था। स्त्री, पुरुष, सभी सीधे-सादे थे। उनमें विषयी व्यक्तियों की भावनाएँ नहीं पायी जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ के लोगों की दुनिया ही दूसरी तथा अद्वितीय थी। स्पार्टा के पुरुष और स्त्रियाँ अपनी जातीयता, राष्ट्र-प्रेम और मर्यादा-पालन के लिए विख्यात थीं।

स्पार्टा में विवाह प्रेम का परिणाम न था। प्रेम के लिए विवाह करना मूर्खता समझी जाती थी। स्पार्टा वालों के विचार के अनुसार सच्चा प्रेम प्रायः पुरुषों में परस्पर हो सकता है। अन्य गुणों के साथ उनमें कामुकता के दोष की सम्भावना थी, किन्तु अविवाहित युवकों में वह क्षम्य सा माना जाता था। विवाह के लिए पुरुष की उम्र कम-से-कम तीस और वधू की बीस होना आवश्यक था। उत्सवों और खेलों के अवसर पर कन्या पुरुष को और पुरुष कन्या को विवाह के लिए स्वयं चुन लेते थे। विवाह हो जाने पर स्त्रियों के केश कटवा दिये जाते थे। पति और पत्नी बड़े संयम से रहते थे। पति-पत्नी सन्तान होने पर भी प्रकाश में एक-दूसरे से मिलने न पाते थे। लुक-छिपकर रात्रि में किसी अँधेरे स्थान में थोड़े समय के लिए मिलने पाते थे। सबसे विचित्र प्रथा तो यह थी कि विवाहिता स्त्री भी अपने पति के परामर्श और सम्मति से प्रतिभाशाली, बलवान् और पराक्रमी पुरुष से गर्भाधान करा लेती जिससे उसके भी उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न हो। उसी प्रकार स्त्री की अनुमति

लेकर कोई उत्तम पुरुष भी सुन्दरी और शुभगुण-कर्म-विभूषिता स्त्री में उत्कृष्ट सन्तान प्राप्त करने की कामना से गर्भाधान कर सकता था। इस व्यवस्था में कोई अपमान नहीं, वरन् सम्मान समझा जाता था, क्योंकि व्यक्तियों और समाज का ध्येय हृष्ट-पुष्ट, शूरवीर तेजस्वी सन्तान प्राप्त करना था। अविवाहित पुरुष को लोग नीची नज़र से देखते थे। अविवाहित रहना जुर्म समझा जाता था। ऐसे व्यक्ति को नागरिक के अधिकार नहीं दिये जाते थे। ग्रीस के राज्यों में पिता को अधिकार था कि वह चाहे तो अपने शिशु का पालन-पोषण करे अथवा मार डाले। स्पार्टा का व्यवहार इससे भिन्न था। सन्तान की उत्पत्ति होने पर शिशु को पानी के बदले शराब से साफ किया जाता था जिससे उसकी सहन शक्ति बढ़े। बच्चे को वे किसी पहाड़ी पर छोड़ आते थे। यदि तीन दिन बीतने पर वह जीता-जागता रहा तो उसको वापस लाकर बड़ी सतर्कता के साथ उसका पालन-पोषण और राष्ट्र के आदर्श के अनुकूल उसका शारीरिक एवं मानसिक संवर्द्धन किया जाता था। सात वर्ष की अवस्था आने पर वह माता-पिता से ले लिया जाता था। उस पर माता-पिता का नहीं, वरन् समाज और राष्ट्र का अधिकार हो जाता था और उसका पालन और संवर्द्धन कर्तव्य।

स्पार्टा में स्त्रियों का स्थान ग्रीस के दूसरे राज्यों से अच्छा था। उनमें स्वाभिमान, स्वावलम्बन, विचार-स्वातन्त्र्य की भावनाएँ रहती थीं और बेधड़क अपने विचारों को कह देने का उन्हें अभ्यास था। वे अपने को पुरुषों से कम न समझतीं और पति से सगौरव व्यवहार करती थीं। पुरुष तो साठ वर्ष की उम्र तक सामाजिक भोजनालय में जो कुछ मिलता उसी से प्रायः सन्तुष्ट रहते, किन्तु उनकी किफायत से खर्च करने वाली पत्नियाँ मनोनुकूल अच्छा भोजन करतीं और अच्छे वस्त्र पहनती थीं। वे अपनी सम्पत्ति जमाकर सकतीं और स्वयं उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकती थीं। ऐयाशी करने के लिए न तो पुरुष को, न स्त्री को ही कोई प्रेरणा या अवसर मिलता था। शराबखोरी और मस्ती से ऊधम मचाने का व्यसन उन लोगों में कभी प्रचलित न हो सका। इसीलिए वहाँ मोटे, भद्दे और आलसी नर-नारियों का अभाव-सा था। स्थूल शरीर वालों का उपहास ही नहीं होता था, वरन् उनको डाँट-डपट सुननी पड़ती थी।

स्पार्टा में अमीर और समृद्धिशाली के लिए कोई स्थान न था। स्पार्टन अपने राज्य में सोना-चाँदी न आने देते थे। उनके नगर में लोहे के सिक्के चलते थे। अतएव सम्पत्ति के अभाव में जायदाद के झगड़े न होते थे। वहाँ के ग्रीक लोग गरीबी से भी परिचित न थे। सरल और साधारण जीवन के निर्वाह के लिए सबको प्रायः

एक-से साधन प्राप्त थे। वे उतने से ही सन्तुष्ट थे। अन्य लोगों के कुत्सित प्रभाव से दूषित होने की सम्भावना के भय से वे अपने नागरिकों के विदेशों में जाने अथवा विदेशियों से सम्पर्क बढ़ाने के विरोधी थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि यद्यपि स्पार्टा में कठोर व्रती, वीर, निर्भीक, आन पर मर मिटने वाले तथा यशस्वी योद्धाओं का निर्माण होता था और एक प्रकार का संयमित एवं आदर्श-प्रेरित समाज था, परन्तु वहाँ विद्वान्, विचारशील, तत्त्वदर्शी, साहित्यिक, सौन्दर्योपासक, दयावान् तथा कला-कुशल व्यक्ति के लिए कोई स्थान न था। वहाँ के निवासियों का जीवन इतना नियन्त्रित तथा संकुचित था कि उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मविकास की गुंजाइश न थी। फलतः स्पार्टा की संस्कृति चर्खी की तरह अपनी संकीर्ण परिधि में घूमती रह गयी। संसार की सभ्यता, बौद्धिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति में उसने कोई स्थायी काम न किया। वहाँ की सभ्यता प्रगतिशील न होने के कारण जड़ रह गयी। उसका संगठन और आर्थिक जीवन 'हेलट' लोगों (दासों) की गुलामी पर अवलम्बित था। उन्हीं के पसीने और परिश्रम से स्पार्टा का निर्वाह होता था। उनको दबाये रहने में ही स्पार्टा के समाज का कल्याण था और उसी में उनका विनाश निहित था।

स्पार्टा के नैतिक विधान की रचना लाइकर्गस (६०० ई० पू०) ने की थी। उसके अनुसार वहाँ राजवंश से चुने दो राजा होते थे, जिनको परामर्श देने के लिए अट्ठाईस सदस्यों की, जो साठ वर्ष की आयु से कम के न होते, एक सिनेट (जेरुज़िआ) थी। सन्धि, विग्रह आदि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न साधारण असेम्बली में, जिसके सदस्य तीस वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति न होते थे, निश्चित किये जाते थे। असेम्बली में वे ही लोग अपने विचार प्रकट करने पाते थे जिनसे प्रार्थना की जाती थी। साधारणतया असेम्बली सेनेट के भेजे प्रस्तावों को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती थी, पर उन पर विवाद न उठा सकती थी। केवल युद्ध और सन्धि के प्रश्नों पर पूछ-ताछ या विचार प्रकट करने का सदस्यों को अवसर दिया जाता था।

स्पार्टा ने पहले अपनी शक्ति का प्रयोग टेगारा नगर के दमन के लिए किया (छठी शताब्दी ई० पू०)। तदुपरान्त उसने पेलोपोनेशियन लीग का संगठन किया। स्पार्टा के शत्रु अरगोलिस को छोड़कर उसमें पेलोपोनेसस के सभी राज्य शामिल हो गये। उसका नेतृत्व स्पार्टा ने अपने ही हाथों में रखा। लीग की एक असेम्बली थी जो स्पार्टा या कोरिन्थ में आमन्त्रित की जाती थी। ईरानी साम्राज्य से संघर्ष होने के पहले लीग संगठित हो चुकी थी।

स्पार्टा के राजनीतिक आदर्श सीमित और संकीर्ण थे। लचीले और प्रगतिशील विचार न होने के कारण वह नवीन समस्याओं के समझने और समयानूकूल व्यवस्था करने में असमर्थ रहा। उसके नेतृत्व में एथेन्स की सी स्वार्थपरायणता और महत्त्वाकांक्षा के लक्षण देखकर उसके साथी नगरों की श्रद्धा घटने और उदासीनता बढ़ने लगी। एथेन्स यद्यपि क्षत-विक्षत हो गया था तथापि वह अपनी परिस्थिति सँभालने का प्रयत्न करता रहा। संयोग से स्पार्टा ने एशियाई कोचक की ग्रीक रियासतों को फारस के आधिपत्य से छुड़ाने के लिए उस पर चढ़ाई कर दी। स्पार्टा के राजा और उसकी चुनी हुई सेना के एशिया में उलझ जाने से ग्रीस ने थेबीज़, कोरिन्थ आदि नगरों को उसके आधिपत्य से मुक्त हो जाने का अवसर प्रस्तुत कर दिया। एथेन्स और आरगस भी उन नगरों के साथ हो गये। स्पार्टा ने यद्यपि कई युद्ध जीते तथापि परिस्थिति प्रतिकूल ही रही। अन्ततोगत्वा फारस के सम्राट् से सन्धि करके स्पार्टा ने उससे सहायता माँगी। स्पार्टा ने एशिया से अपनी सेना हटा ली और वहाँ के ग्रीकों को उनके भाग्य पर छोड़ दिया। उधर से छुट्टी पाकर स्पार्टा ने फिर ग्रीस के राज्यों का विद्रोह दमन किया। अपनी शक्ति को और भी सुदृढ़ करने के लिए उसने सिसली और इटली के ग्रीकों से भी मैत्री का सम्बन्ध जोड़ लिया। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि स्पार्टा के नेतृत्व में ग्रीस का ऐसा संयोजन और एकीकरण हुआ जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था (३९५ से ३७० ई० पू०)। स्पार्टा में ग्रीस तथा इटली, सिसली, मेसिडोन के सब राज्यों के प्रतिनिधि एकत्रित हुए। फारस के सम्राट् का दूत भी उसमें दर्शक के रूप में आमन्त्रित किया गया। सम्भवतः यह विराट् सम्मेलन संसार के इतिहास का सबसे पहला अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन था, जिसका ध्येय सार्वदेशिक शान्ति की स्थापना था। उसमें यह निश्चय हुआ कि जितने ग्रीस के राज्य हैं वे सब स्वयं निरस्त्र हों। ध्येय तो सर्वथा प्रशंसनीय था, किन्तु वह सफल न हो सका। कारण यह हुआ कि थेबीज़ कई राज्यों की ओर से सन्धि पर हस्ताक्षर करना चाहता था। स्पार्टा वाले उसे किसी अन्य का प्रतिनिधि मानने को तैयार न हुए। फलतः दोनों में झगड़ा हुआ और युद्ध छिड़ गया। थेबीज़ का नेता एपामिनाण्डस सुशील राजभक्त, चतुर नीतिज्ञ, सुशिक्षित विचारक, प्रतिभाशाली और यशस्वी सेनानायक था। सैनिक संगठन और सेना-परिचालन में उसने नवीन विधान प्रचलित कि- । ल्यूक्ट्रा के मैदान में उसने स्पार्टा की सेना को परास्त कर दिया (३७१ ई० पू०)। इस घटना से स्पार्टा की शान किरकिरी हो गयी। नेतृत्व उसके हाथ से निकलकर थेबीज़ राज्य को मिल गया। स्पार्टा ने एथेन्स के साथ

मिलकर थेबीज़ पर फिर आक्रमण किया। संयुक्त सेना को एपामिनाण्डस ने मेण्टीनिआ के मैदान में करीब-करीब हरा दिया था, किन्तु दैवयोग से उसका निधन हो गया (३६२ ई० पू०)। यद्यपि विजय किसी दल को न मिली, तथापि थेबीज़ की शक्ति का ह्रास हो गया। उसी के साथ स्पार्टा का महत्त्व भी नष्ट हो गया।

एथेन्स को परास्त करके स्पार्टा ने ग्रीस का नेतृत्व (४०४ से ३७१ ई० पू०) किया। उसका एक मात्र ध्येय एथेन्स के प्रभुत्व से ग्रीस के नगर-राज्यों को मुक्त कराना था। पर उसमें भी वही लालसा जाग उठी जो एथेन्स में थी। उसने भी अन्य राज्यों पर पंजा कसना शुरू कर दिया। स्पार्टा एवं थेबीज़ को युद्ध करना तो आता था, किन्तु इसके सिवा उनमें कोई योग्यता या ऐसी विशेषता न थी जिसके आधार पर वे अपना महत्त्व इतिहास में बनाये रखते। यही नहीं, वे अपने लाभ के लिए ग्रीस के शत्रु फारस से मिलकर एक दूसरे के विनाश में संलग्न हो जाते थे।

कोरिन्थ

एथेन्स के उत्थान से पहले डोरिअन कबीले के कोरिन्थ नगर को अधिक धन, वैभव और संस्कृति के प्रभुत्व की ख्याति प्राप्त हो गयी थी। वह नगर उसी नाम के डमरूमध्य की पहाड़ी पर स्थापित होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता था। उसे यदि पिलोपेनेसस का संयोजक अथवा विभाजक स्थान कहा जाय तो युक्तिसंगत होगा। वहाँ से ग्रीस के भीतर अथवा समुद्र द्वारा व्यापार करने का बड़ा सुभीता था। उसने प्रबल जहाजी बेड़ा निर्माण कर (८वीं शती ई० पू०) यहाँ-वहाँ अपने उपनिवेश स्थापित कर दिये, जिनसे अच्छा व्यापार चलने लगा। सिसली का सुप्रसिद्ध, सुदृढ़ और समृद्धिशाली सेराक्यूज़ नगर कोरिन्थ वालों ने ही बसाया था।

कोरिन्थ के निवासी शक्ति के उपासक थे। जूनो नाम की देवी स्त्रियों के अहिवात, दाम्पत्य जीवन और सन्तान की रक्षिका मानी जाती थी। 'वीनस' नाम की दूसरी देवी लौकिक प्रेम एवं सौन्दर्य की प्रतीक और संरक्षिका गिनी जाती थी। व्यापार द्वारा कोरिन्थ नगर समृद्ध और धनवान् होता गया। अतएव वहाँ मोद-प्रमोद और भोग-विलास के साधन प्रचुर मात्रा में उपस्थित हो गये। मंगलामुखियों तथा गणिकाओं, विशेषकर मन्दिरों की सेविकाओं और देव-दासियों, का वहाँ जमघट था। समाज में उनका अच्छा सम्मान भी था। यूरोप और एशिया के धनी व्यापारी वहाँ भोग-विलास के लिए आते और पर्याप्त धन लुटा जाते थे। जब कभी कोई भयंकर विपत्ति आ जाती थी, तब मंगलामुखियों और गणिकाओं द्वारा वीनस देवी प्रसन्न की

जाती थी। इससे उनका महत्त्व और दल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उनकी कलाओं से नगर में बाहर से धन आता रहता था। शासकों को दूसरा लाभ यह भी हुआ कि नगर की जनता भोग-विलास और नाचरंग में फँसे रहने के कारण राजनीतिक उखाड़-पछाड़ से विरक्त होकर चैन की वंशी बजाती और विघ्नकारी आन्दोलनों का द्व.र बन्द किये रहती थी।

कोरिन्थ के नेताओं में पेरिएनडर नामक एक क्रूर व्यक्ति ने (६२५ से ५८५ ई० पू०) शासन में कुछ सुधार किये। उसके शासन-काल में कोरिन्थ के औपनिवेशिक विस्तार, व्यापार, कला और साहित्य ने अच्छी उन्नति की। व्यापार पर कर कम कर दिया गया और शासन की ओर से सिक्कों का प्रचलन हुआ। बड़े व्यापारियों और पूंजीपतियों से छोटे व्यापारियों का रक्षण तथा पोषण हुआ। इन सब गुणों के रहते भी उसका शासन क्रूरतापूर्ण रहा। छठी शती ई० पू० में कोरिन्थ में ग्रीकों के अन्तर्जातीय उत्सव और कला-कौशल प्रदर्शन का एक केन्द्र स्थापित हुआ जिससे उसका महत्त्व, आकर्षण तथा व्यापार और भी बढ़ गया।

व्यापारिक ईर्ष्या, औपनिवेशिक नीति तथा व्यापारियों और जमींदारों के पारस्परिक संघर्ष आदि कारणों से कोरिन्थ अन्य ग्रीक राज्यों के साथ समय-समय पर सन्धि, विग्रह तथा युद्ध करता रहा। एथेन्स, स्पार्टा तथा थेबीज़ राज्यों से कभी युद्ध और कभी मेल होता रहा। इन युद्धों से कोरिन्थ की लूट-खसोट होती रही जिससे वह उत्तरोत्तर हतश्री होता चला गया। चतुर्थ शती (३९५ ई० पू०) में तो यहाँ तक स्थिति बिगड़ी कि कोरिन्थ एक प्रकार से आरगस राज्य का अनुचर सा हो गया। अलेक्जेण्डर के पिता फिलिप ने कोरिन्थ में अपनी सेना स्थापित की (३३८ ई० पू०) और अलेक्जेंडर ने उसे ग्रीस के अनुशासन का केन्द्र बना दिया। यद्यपि कोरिन्थ का राजनीतिक ह्रास हो गया तथापि उसका व्यापार बहुत कुछ चलता रहा। रोम के साथ जब ग्रीस के राज्यों का संघर्ष हुआ तब कोरिन्थ भी उसमें फँस गया। परिणाम यह हुआ कि एक रोमन सेनानायक ने नगर को लूट मार कर जला दिया (१४६ ई० पू०)।

एथेन्स

ग्रीस में अनेक नगरों का अपना-अपना अलग महत्त्व था, किन्तु एथेन्स नगर की सभ्यता और संस्कृति ने जो ख्याति प्राप्त की वह किसी को न मिली। उसका महत्त्व केवल ग्रीस के ही नहीं, वरन् संसार के तथा संस्कृति के इतिहास में सदा के

लिए प्रतिष्ठित हो गया। उसका सांस्कृतिक प्रभाव आजतक न्यूनाधिक मात्रा में चल रहा है। वहां के कलाकारों, राजनीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विचारकों का आज भी सारे संसार में स्वागत हो रहा है। एक सहस्र फुट लम्बी और पांच सौ फुट चौड़ी चट्टान पर बसा हुआ एथेन्स नगर सैकड़ों नहीं, वरन् सहस्रों वर्षों तक सभ्य संसार के सम्मान का पात्र हो गया, इसका रहस्य वहां के निवासियों की स्वातंत्र्य-प्रियता और प्रगतिशीलता में है जिसको वहाँ के प्राकृतिक सुंदर वातावरण और विचित्र समुद्रतट के आकर्षण ने पुष्ट और समृद्ध किया। वहां के निवासी न तो स्पार्टा वालों के समान कछुए की तरह अपने आवरण में संकुचित रहे, न कोरिन्थ वालों की तरह निश्चिन्तता के साथ अपनी शक्ति का क्षय करते रहे। एथेन्स नगर ग्रीस के 'एटिका' नामक प्रान्त में था जिसका क्षेत्रफल एक सहस्र वर्ग मील से शायद ही कुछ अधिक था। उस प्रान्त के निवासी अपने को एथीनियन कहना पसन्द करते थे, न कि एटिकन।

एथेन्स के ग्रीक आयोनिअन शाखा के थे। उनका विश्वास था कि वे कहीं बाहर से नही आये थे, वहीं के मूल निवासी थे। डोरियन आक्रमण के मार्ग में न पड़ने के कारण वे उसके भयंकर परिणामों से बच गये और उनका विकास अपने स्वतंत्र मार्ग पर चलता रहा। एथेन्स के निवासियों के तीन वर्ग थे। सब से धनी और सम्पन्न लोग मैदानी भूमि के जमींदार थे। मध्म श्रेणी के, विशेषतः व्यापारी और उद्योगों में लगे लोग समुद्र तट पर बस गये थे। गरीब लोग पहाड़ों पर बसे हुए थे। इन तीनों वर्गों में पारस्परिक स्पर्धा और द्वेष रहता था।

अन्य नगर-राज्यों के समान वहाँ भी पहले क्रमशः राजतंत्र, फिर कुलीन तंत्र और बाद में जनतंत्र स्थापित हुए। राजतंत्र युग के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नगण्य सा है, किन्तु इतना ज्ञात है कि राजा के स्वेच्छाचार के नियंत्रण के लिए वहाँ नौ प्रभावशाली व्यक्तियों की एक समिति ईसा के पूर्व सातवीं शती में स्थापित हो गयी थी। सदस्यों का चुनाव प्रति वर्ष होता था। समिति को एरिओपेगिटास नाम दिया गया था। उसमें मुख्य न्यायाधीश सेनाध्यक्ष आदि थे। नौ अरकानों के सिवा भूतपूर्व अरकानों की सभा थी जिसका कर्त्तव्य कानूनों का प्रतिपालन कराना और कानून भंग करने वालों को दंड देना था। इसके सिवा आयोनियन लोगों के चार मुख्य कबीले थे जिनकी तीन-चार सौ शाखाएँ थीं जिनका सामाजिक संगठन, रहन-सहन, धार्मिक विचार एवं जीवन के आदर्श प्रायः समान थे। वे ही लोग सैनिक समझे जाते और उन्हीं को अरकानों के चुनने का भी अधिकार था। साधारण जनता के

अधिकार अनिश्चित एवं नगण्य-से थे। वास्तविक अधिकार कुलीनों के हाथ में था जो प्राय: जमींदार अथवा सफल व्यापारी होते थे। कृषक वर्ग कर्ज में डूबा जाता था। ऋण न चुका सकने के कारण स्वतंत्र यूनानी या तो अपनी बहनों, बेटियों या बच्चों को बेचकर गुलामी से मुक्त होते थे अथवा देश छोड़कर विदेश भाग जाते थे।

एथेन्स में कुलीनों का समुदाय पहले से ही प्रबल था। व्यापार से धनिकों का उदय हुआ। उनका भी दल बन गया। कुलीनों का महत्त्व कम हो जाने के दो कारण थे। पहला कारण था नये ढंग की पैदल सेना (होपलाइट) का संगठन जिससे घोड़सवारों की महिमा कम हो गयी। दूसरा कारण सिक्कों का प्रचलन हुआ जिससे उद्यमी अकुलीन भी अमीर और प्रभावशाली होने लगे। जमींदारों और व्यापारियों के अनाचार और साधारण जनता की आर्थिक अवनति के कारण असन्तोष बढ़ता गया जिससे विद्रोह की भयंकर आग भड़क उठने की आशंका हो गयी। उसे शान्त करने के लिए पहला प्रयत्न ड्रेको (६२१ ई० पू०) ने यह किया कि एथेन्स के कानून लिपिबद्ध कर दिये, किन्तु उससे उनकी कठोरता और क्रूरता में कोई कमी न हुई। साधारण जनता ऋण और गरीबी के बोझ से दबती ही रही और आर्थिक समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

अनाचारी, बलात्कारी शासकों का युग ६०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक रहा। अनाचारी वे कहे जाते थे जो अवैध ढंग से शासन पर आधिपत्य जमाये रखते थे। असन्तोष के कारण जनता में उत्पन्न क्रान्तिकारी भावों से अनाचारियों को बल प्राप्त होता था। वे उससे लाभ उठाते थे। अनाचारियों के सुधारों से जनसत्ता का संवर्धन होता था। अनाचारी शासन का आरम्भ लीडिया से हुआ। अन्य नगरों में भी वह फैलता गया। छठी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में (५९४ ई० पू०) एथेन्सवासियों ने कानूनों के सुधार करने के लिए सोलन (६०० ई० पू०) नामक एक उदारचेता, राष्ट्र-भक्त तथा विद्वान् का चुनाव किया। सोलन की शिक्षा मिस्र में भी हुई थी। ग्रीस की गतिविधि से वह पूरी तरह परिचित था। उसने प्रजा का सब प्रकार का कर्ज ही नहीं माफ करा दिया, वरन् उसके कारण उनकी जो सम्पत्ति अथवा स्वतंत्रता छिन गयी थी वह भी उनको वापस करा के ऐसा कानून बनाया कि जिससे कर्ज़ के लिए उन्हें फिर उसे खोना न पड़े। भोज्य पदार्थों का भाव कम करने के लिए उसने फलों और अनाज का बाहर ले जाना रोक दिया। व्यापार एवं कला-कौशल की उन्नति के लिए बाहर से कारीगरों को बुलाकर उसने नगर में बसा लिया। व्यापार की उन्नति के लिए उसने सिक्कों, नाप-तोल तथा यातायात में सुधार किये,

किन्तु सब से महत्त्व का कार्य जो उसने किया वह सार्वजनिक सभा में सब नागरिकों को भाग लेने का तथा न्यायाधीश को चुनने का अधिकार प्रदान करना था। यही नहीं, उसने एक जूरी सभा को, जिसमें तीस वर्ष से अधिक उम्र के लोग थे, यह अधिकार दिया कि मजिस्ट्रेटों की वार्षिक अवधि के समाप्त होने पर यदि वह चाहें तो अनाचार के लिए उन पर अभियोग कायम कर दें। यद्यपि सोलन के सुधारों ने एथेन्स को प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया तथापि अधिकार-प्रदान में उसने धनिकों को उनकी हैसियत से कहीं अधिक महत्व दिया।

सोलन के सुधारों से रुष्ट होकर कुलीन अधिकारी वर्ग ने उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। कुछ उद्दण्ड, अत्याचारी लोगों ने शासन को बलपूर्वक अपने कब्जे में करना शुरू कर दिया। किन्तु जनता के विरोध तथा अधिकारी वर्ग की पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष के कारण उद्दण्डता के पोषक एक-एक करके या तो मार डाले गये या देश से भगा दिये गये। स्वयं अधिकारी वर्ग के असन्तुष्ट अथवा उदारचेता व्यक्ति जनता के नेता बनने लगे। सोलन की नीति से ज़मींदार असन्तुष्ट रहे। उनके सिवा पहाड़ों पर रहने वाले पशुचारियों को कोई विशेष लाभ न होने से उनमें भी असन्तोष रहा। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर पिसिस्ट्रेटस नगर का नेता हो गया (५६०. ५२७ ई० पू०)। उसने गरीबों को कृषि के योग्य जमीन, बीज और जोतने के लिए पशु आदि दिलवाये। न्याय-वितरण के लिए जजों के घूम-घूम कर गाँवों में अदालत करने की परिपाटी चलायी। जनता को प्रसन्न करने के लिए सड़कों, सुन्दर देवालयों तथा धार्मिक उत्सवों की स्थापना की तथा कवियों और कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। व्यापार, विशेषतः निर्यात व्यापार, बढ़ाने के उसने प्रयत्न किये। उसके शासनकाल में एथेन्स ने काफी उन्नति की। वंशानुगत महत्त्व प्राप्त कुलीनों की शक्ति घटाने के लिए क्लीस्थनीज़ (५०७ ई० पू०) ने एथेन्स को दस भागों में विभक्त कर दिया। इस नीति से कुलीनों की सामूहिक शक्ति निर्बल हो गयी और प्रभुत्व-प्राप्त घराने इधर उधर बँट गये। विभक्त हो जाने से वे विभिन्न क्षेत्रों में अल्पसंख्यक हो गये। सेना में विशिष्ट कुलों के साथ ही अन्य श्रेणियों के लोग भी भरती किये जाने लगे, यहाँ तक कि सेना में कुलीनों का महत्त्व क्षीण हो गया। प्रत्येक नागरिक को व्यावहारिक अनुभव तथा शासन का ज्ञान उपार्जन करने और कुलीनों तथा जटिल रूढ़िग्रस्त विचारकों से मुक्त करने के लिए उसने अधिकाधिक संख्या में निश्चित अवधि के लिए अफसरों के चुनाव की परिपाटी स्थापित की। प्रत्येक कबीले से पचास व्यक्ति प्रति वर्ष चुने जाते जो छत्तीस दिनों तक शासन करते थे।

प्रतिदिन उन्हीं में से एक व्यक्ति सभापति चुन लिया जाता था। इस सुधार का यह परिणाम हुआ कि राज्य सभा (बूली) में पाँच सौ सदस्य हो गये जिनकी सदस्यता का परिवर्तन चक्र के समान होता रहता था। राज्य-सभा सन्धि, विग्रह, तथा उन विषयों पर जिन्हें वह सभा में भेजना चाहती विचार-विमर्श करती थी। एथेन्स का प्रत्येक नागरिक साधारण 'जनसभा' का (एक्लीसिआ) सदस्य होता था। जनसभा हर दसवें दिन बैठती और राजसभा के प्रस्तावों के अनकूल कानून बना देती थी। उपर्युक्त सुधारों से प्रजातंत्र शासन पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। किन्तु उसको यथेष्ट सफलता इसलिए प्राप्त न हो सकी कि लोगों में शासन का रोब, दबदबा और महत्त्व क्षीण हो गया। नये शासकों में वंशानुगत स्वाभिमान एवं कर्त्तव्यपरायणता का भी ह्रास हो गया। ईरानियों से मिलजुल कर चलने की क्लीस्थनीज़ की नीति जिसका स्पार्टा ने प्रबल विरोध किया, आगे चलकर उसके तथा एथेन्स के लिए अहितकर सिद्ध हुई। क्लीस्थनीज़ ने गरीब जनता के भी अधिकार बढ़ा दिये और देश-निष्कासन का कानून ऐसा बना दिया जिससे प्रतिवर्ष सन्देह मात्र पर जनता जिसे चाहे देश से दस वर्ष के लिए बहिष्कृत कर दे सकती थी। यद्यपि इस कानून का दुरुपयोग हुआ तथापि जनता की शक्ति की ऐसी धाक बँध गयी कि ग्रीस के अन्य नगरों में सनसनी मच गयी। एथेन्स में साधारण जनता की बढ़ती शक्ति से घबरा कर स्पार्टा ने खुल्लमखुल्ला उसका विरोध किया।

पाँचवीं शती ई० पू० में ईरान तथा ग्रीस का भयंकर संघर्ष हुआ जिसके प्रभाव से ग्रीस में अपूर्व स्फूर्ति और उन्नति हुई। पिछले अध्याय में यह वर्णन किया गया है कि ईरानी सम्राट् कुरुश के समय से ईरान का साम्राज्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। सेलिटस नगर को छोड़कर एशियाई तट पर स्थित यूनानियों के सब नगरों को लीडिया वालों ने अपने राज्यों में मिला लिया। मध्यसागर के पश्चिमी तट पर स्थित यूनानी नगरों को एक-एक करके लीडिया वालों ने हड़प लिया जिससे वे बड़े बली, वैभवशाली हो गये। लीडिया वालों का राज्य नष्ट करके साइरस नाम के फारस के सम्राट् ने उनकी राजधानी सारडेस को तथा उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। फलतः एशियाई तट के नगरों पर फारस का प्रभुत्व स्थापित हो गया, किन्तु यूनानी नगर पुनः स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए आन्दोलन और प्रयत्न करते रहे। ग्रीस वाले उनकी सहायता करते थे। यूनानियों की चिन्ता उनके रोष एवं विरोध के साथ बढ़ती गयी। ग्रीस वालों और विशेषतः एथेन्स ने कुछ सहायता भी दी, किन्तु वह ईरानी शक्ति की वृद्धि को न रोक सकी और उसका परिणाम यह हुआ कि

ईरान का ग्रीस यूनान से वैमनस्य इतना बढ़ गया कि दारा ने उस पर चढ़ाई कर दी।

डेरिअस प्रथम (दारा) का पहला आक्रमण (४९२ ई० पू०) जल और स्थल दोनों मार्गों से हुआ, किन्तु थ्रेस की बर्बर जातियों के विरोध तथा तूफान की भयंकरता से वह विफल हुआ। दो वर्ष बाद दारा ने लगभग बीस सहस्र सेना से दूसरा आक्रमण किया। एथेन्स के पास माराथान के मैदान में एथेन्स की दस सहस्र सेना ने ऐसा घोर युद्ध किया जिससे ईरानी सेना को पीछे लौटना पड़ा (४९० ई० पू०)। एथेन्स ने अपनी ही नहीं, वरन् ग्रीस की भी रक्षा की और उसके आत्म-विश्वास तथा महत्ता को अभूतपूर्व उत्तेजना प्रदान की। दारा के पुत्र ज़ेरेक्सीज़ (क्षयार्ष) ने सम्राट् होने के चार-पांच वर्ष के बाद ही ४८० ई० पू० में बड़ी सेना लेकर ग्रीस पर भयंकर आक्रमण कर दिया। उसके साथ लगभग छः लाख सैनिक थे। थर्मोपली के दर्रे पर स्पार्टा के राजा लिआनिडस ने तीन सौ चुने सैनिकों के साथ ईरानी दल को रोकने की चेष्टा की। दर्रा बहुत संकीर्ण था इसलिए यह साहसिक प्रयत्न संभव हो सकता था, किन्तु ग्रीक जाति के द्रोहियों द्वारा दिखाये हुए दूसरे मार्ग से ईरानी सैनिकों ने स्पार्टा के सैनिकों को घेर लिया और वे लड़कर कट मरे। यह घटना ग्रीस के इतिहास में राजपूताने की हल्दीघाटी वाली घटना से भी बहुत अधिक महत्त्व रखती है। इसने सारे ग्रीस में नया जीवन एवं उत्साह फूँक दिया जिसका बहुत गहरा प्रभाव जनता पर पड़ा।

ईरानी सेना ने एथेन्स को घेर लिया। वहां के निवासी हताश से होकर नावों पर चढ़ कर भाग निकले। एथेन्स तथा अन्य कुछ नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये अथवा जला दिये गये। किन्तु जब भुलावे में आकर ईरानी जल-सेना ने ग्रीस के जहाजी बेड़े पर 'सेलेमिस' में आक्रमण किया तब वह परास्त हो गयी (४८० ई० पू०)। उसका कारण यह था कि स्थान की संकीर्णता के कारण अपने भारी जहाजी बेड़े का अच्छी तरह संचालन फारस वाले न कर सके। इसके सिवा स्थल-सेना को आवश्यक रसद पहुँचाना भी बंद हो गया। फिर भी फारस की स्थल-सेना लगभग एक वर्ष तक ग्रीस में जमी रही। खिन्न होकर क्षयार्ष सेना का नेतृत्व मर्दोनिअस को देकर लौट गया। दूसरे वर्ष प्लाटी के मैदान में मर्दोनिअस के निधन से त्रस्त होकर ईरानी सेना के पैर उखड़ गये। विजयश्री ग्रीस वालों के पक्ष में चली गयी। उसी के साथ अपार धन, अस्त्र, शस्त्र, साज-समान ग्रीकों के हाथ लगा। ग्रीस का आतंक और महत्त्व बहुत बढ़ गया।

ईरानी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए ग्रीस को संयुक्त शक्ति की आवश्यकता पड़ी तथा उससे स्पष्टतया लाभान्वित करने के लिए किसी न किसी प्रकार का संघ स्थापित करने की प्रेरणा भी उन्हें हुई। संघ की इसलिए भी आवश्यकता थी कि बिना उसके न तो ईरानी शक्ति का अवरोध हो सकता था, न ईरानियों द्वारा जीते हुए मध्यसागर के तट के ग्रीक नगर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने की आशा कर सकते थे। एथेन्स के नेतृत्व में एक संघ का निर्माण हुआ जिसका नाम 'डीलियन लीग' इसलिए रखा गया कि उसका केन्द्र डिलास में था। संघ की वार्षिक बैठक होना तथा उसका कोष डिलास में रखना निश्चित हुआ। संघ की सब से बड़ी कमजोरी यह थी कि उसमें 'पेलेपोनेसस' के राज्य जिनका नेतृत्व स्पार्टा करता था, सम्मिलित न किये जा सके। पेलेपोनेसस वालों ने अपनी लीग बना ली जो पेलेपोनेसिअन लीग कहलायी। इस प्रकार ग्रीस के राज्य एकता स्थापित न करके दो बड़े संघों में विभक्त हो गये जिनकी नीति और ध्येय विभिन्न होने के कारण भविष्य में पारस्परिक संघर्ष के बीज पनपते रहे। स्पार्टा की नीति राज्याधिकारों को विशिष्ट वर्ग में सीमित रखने की थी। एथेन्स जनता को प्रभुत्व देना चाहता था। स्पार्टा का ध्येय, यथापूर्व संरक्षणात्मक था, किन्तु डीलियन लीग का आक्रामक। स्पार्टा की नीति स्थल पर ही प्रभुत्व सीमित रखने की थी किन्तु डीलियन लीग समुद्र पर आधिपत्य स्थापित करना चाहती थी।

प्रारम्भ में तो यह निश्चित किया गया था कि डीलियन संघ के बड़े राज्य नौकाएँ तथा निश्चित परिमाण में आर्थिक सहायता भेजा करेंगे, किन्तु बाद को अधिकांश राज्यों ने केवल धन से सहायता करना ही सुविधाजनक समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि एथेन्स ने लीग के धन से नौकाएँ बनवा कर अपनी नौशक्ति को प्रबल कर लिया। एथेन्स की बढ़ती शक्ति से त्रस्त होकर तथा ईरान की ओर से चिन्ता-मुक्त होने के कारण जिन नगरों ने अपना भाग देने में उदासीनता या हिचकिचाहट दिखायी उनका एथेन्स ने बलपूर्वक दमन किया और उनको दंड दिया। फारस के विशाल साम्राज्य की प्रबल शक्ति से ग्रीस की रक्षा करने के लिए शायद यह आवश्यक था कि ग्रीस का सांघिक संगठन सुरक्षित रहे। यदि कोई राज्य संघ की अवहेलना करता दिखाई पड़ता तो एथेन्स उसको दबाने का प्रयत्न करता था। धीरे-धीरे तीन-चार राज्यों के सिवा कोई भी राज्य स्वतंत्र न रह गया। यही नहीं, एथेन्स ने संघ के कोष को डिलास से हटा कर अपने यहाँ रख लिया। इसके सिवा राज्यों के झगड़ों को सुलझाने के लिए एथेन्स में एक अदालत भी स्थापित कर दी। इस प्रकार

शक्ति एवं सम्पत्ति बढ़ने तथा कोष पर अधिकार तथा आर्थिक आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर एथेन्स को स्वार्थ और आत्मोत्कर्ष की लालसा ने दबा लिया।

फारस के सम्राट् पर विजय पाने से एथेन्स की राजनीति में अभूतपूर्व स्फूर्ति पैदा हो गयी। उस समय के नेता बड़े उत्साही और योग्य थे। थेमिस्टाक्लीज़ (५२३-४५८ ई० पू०) ने एथेन्स के जहाज़ी बेड़े का संगठन ही नहीं किया, वरन् उसका इस ढंग से संचालन किया कि फारस का जहाजी बेड़ा सेलेमिस में असफल और प्रणष्ट हो गया। दूसरा उल्लेखनीय नेता मेराथौन की विजय प्राप्त करने वाले मिलीटडीज़ का पुत्र 'सिमान' था (५०७--४४९ ई० पू०)। वह डीलियन लीग की नौ-सेना का प्रधान सेनापति था। उसने फारस की संयुक्त जल और थल सेना को यूरीमेडान में परास्त किया (४६९ ई० पू०)। ग्रीस के इतिहास का सम्भवत: सबसे प्रसिद्ध नेता पेरीक्लीज़ (४९०--४२९ ई० पू०) था जो युगप्रवर्तक की उपाधि से विभूषित हुआ। उसका पिता जलसेना का नायक और प्रेरी के युद्ध का विजेता था।

डीलियन लीग तथा एथेन्स की नीति के विषय में उपर्युक्त नेताओं का मत एक न था। थेमिस्टाक्लीज़ का मत था कि एथेन्स को स्पार्टा का साथ छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसकी नीति संकीर्ण तथा रूढ़िग्रस्त है। एथेन्स को फारस से मैत्री कर लेना चाहिए, प्रगतिशील जनतंत्रात्मक विधान को आगे बढ़ाना चाहिए और एथेन्स के बन्दरगाह को यथाशक्ति सुदृढ़ बनाना चाहिए। इसके विपरीत 'सिमान' का मत था कि एथेन्स का हित इसी में है कि वह अपने ग्रीक बन्धु स्पार्टा से मैत्री कायम रखे क्योंकि फारस पर भरोसा करना भयंकर भूल होगी। फारस और ग्रीस की मैत्री धोखे की होगी। उधर पेरिक्लीज़ की राय थेमिस्टाक्लीज़ से मिलती थी। वह एथेन्स के राजनीतिक प्रभुत्व के साथ ही साथ सांस्कृतिक नेतृत्व और जनतंत्र के प्रबल विधान के आदर्श की ओर प्रयत्न करना चाहता था।

थेमिस्टाक्लीज़ का मत जन-सभा को अच्छा न लगा। उसने सिमान के कहने सुनने पर उसको गुलामों (हेलेट) के दमन करने के लिए स्पार्टा को सहायता करने की अनुमति दे दी और थेमिस्टाक्लीज़ को देश से बहिष्कृत कर दिया। सिमान स्पार्टा को सहायता देने गया, किन्तु स्पार्टा वालों ने उसको वापस लौटा दिया। उन्हें एथेन्स की सहायता की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। वह अपना-सा मुँह लेकर लौट आया। एथेन्स वालों ने उसकी नीति से अपनी मानहानि समझकर उसे भी देश से निकाल दिया (४६१ ई० पू०)। यही नहीं, एथेन्स की जनता में कुलीनों के प्रति अश्रद्धा और अविश्वास भी बढ़ गया जिससे जनतंत्रवादियों का बोलबाला

हो गया और शासन-विधान में तदनुकूल संशोधन कर दिये गये। सिमान के पतन के पश्चात् पेरिक्लीज़ को नेतृत्व प्राप्त हुआ।

पेरीक्लीज़ का युग (४९० से ४२९ ई० पू०)

पेरीक्लीज़ एक सुप्रसिद्ध नौसेना नायक तथा एक प्रतिष्ठित क्ली वंश की कुलस्त्री का पुत्र था। उसकी माता क्लीस्थनीज़ की भतीजी थी। सुशिक्षित लोगों से मिलने-जुलने तथा अनेक्क्षा गौरस नाम के प्रसिद्ध दार्शनिक के संसर्ग से उसकी अच्छी शिक्षा-दीक्षा हुई जिससे उसको यह विश्वास हो गया कि मनस्तत्त्व ही पुरुष की महानिधि है और अन्ततोगत्वा वही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। वह गंभीर और आत्म-स्थित था। उसे न तो साधारण लोगों से मिलने-जुलने का शौक था और न लोकप्रिय होने की वासना। किन्तु उसके विचार क्रान्तिकारी थे। प्रगतिशील दल से उसकी सहानभूति थी। उस दल का ध्येय स्पार्टा के प्रभाव से मुक्त रह कर ऐसी नीति को प्रतिष्ठित करना था जिससे जनसत्ता का बोलबाला रहे। प्रभावशाली तथा सफल नौ-सेनापति 'सिमान' की नीति उस नीति के विपरीत थी। प्रगतिवादी दल का प्रभुत्व बढ़ा जिसकी तरंगमाला से प्रेरित होकर पेरिक्लीज़ को प्रभुत्वधारी नेता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसने सिमान की नीति का साग्रह विरोध किया। एथेन्स और स्पार्टा की विरोधात्मक नीति के कारण विनाशकारी युद्ध ठन गया। इस युद्ध से एथेन्स की पहले तो राज्य-वृद्धि हुई। समुद्री क्षेत्र में उसका साम्राज्य-सा स्थापित हो गया और ईरान साम्राज्य से उसकी मान सहित संधि भी चलती रही।

पेरिक्लीज़ ने ४५० से ४४३ ई० पू० तक अपनी प्रजातांत्रिक नीति को कार्यान्वित कर दिया। सिमान के दामाद थ्यूसीडाइडीज़ के प्रबल विरोध करने पर भी पेरिक्लीज़ ने प्रस्तावों को एसेम्बली से स्वीकृत करवा लिया। पेरिक्लीज़ की नीति थी कि एथेन्स का अखंड और पूरा प्राधान्य ग्रीस में हो जिसमें स्पार्टा या किसी अन्य राज्य का साझा न होने पाये। प्रजातंत्र का पूरा विकास होने के लिए यह आवश्यक माना गया कि राज्यसेवा करने वालों को आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता दी जाय। एथेन्स की राष्ट्रनीति को विशुद्ध रखने के लिए उन्हीं को नागरिक अधिकार दिया जाय जिनका पैतृक एवं मातृक परिवार एथेन्स के आयोनियनों का हो। राज-काज में लगे लोगों को सेवा के अनुसार वेतन दिया जाय। जिन लोगों के पास जमीन न हो उनको अन्य राज्यों से ली हुई भूमि पर बसाया जाय जिससे उनमें भूमिरक्षा का उत्साह बढ़े और उनका भरण-पोषण भी हो। उपर्युक्त सुधारों का खर्च आवश्यकता-

नुसार अन्तर्राष्ट्रीय कोष से पूरा किया जाय। उसी कोष से एथेन्स की शोभा बढ़ाने का भी खर्च निकाला जाय। ईरान से युद्ध शान्त हो जाने के बाद कोष के धन को व्यर्थ पड़ा न रखकर उसका सदुपयोग होना चाहिए। तदनुसार 'पारथेनान' का विश्वप्रसिद्ध मंदिर तथा स्थापत्य कला की भव्यता की द्योतक राष्ट्रदेवी एथेना की हाथी दाँत और स्वर्ण से बनी विशाल प्रतिमा, नृत्यशाला, व्यायामशाला, स्नानागार आदि का निर्माण हुआ। उपर्युक्त नीति से एथेन्स की श्रीवृद्धि के साथ बेकार लोगों तथा कारीगरों को काम मिल गया। कुछ राज्यों ने उस धन के उपर्युक्त उपयोग का विरोध किया, किन्तु वह चल न सका। एथेन्स समृद्धिशाली होता गया, परन्तु लीग के अन्य राज्यों में उसके प्रति श्रद्धा घटने और असन्तोष बढने लगा।

पेरिक्लीज़ का युग सर्वसम्मति से ग्रीस का स्वर्ण युग माना जाता है। उसके युग में एथेन्स ने कलाकौशल, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान में ऐसी अद्भुत उन्नति एवं चमत्कृति दिखायी कि उसका नाम संसार के इतिहास में अमर तथा यूरोप के इतिहास में सर्वोपरि हो गया, यद्यपि तत्कालीन व्यक्ति उस युग को व्यर्थ वैभव और पतनोन्मुख प्रवृत्तियों का युग समझते थे। यही नहीं, उस युग में लीग या यों कहिए एथेन्स की नौशक्ति का मध्यसागर में अबाधित प्राधान्य स्थापित हो गया था। एथेन्स, नगर-राज्य न रहकर, उस काल में एक समुद्री साम्राज्य बन गया। ग्रीस के नगरों का नेता बन कर वह उनका शास्ता भी बन बैठा। दुःख है कि ग्रीस के इतिहास और संस्कृति की परंपराओं का उल्लंघन कर वह साम्राज्यीय ऐश्वर्य के प्रलोभनों में फँस गया। जिस ईरानी साम्राज्य की नीति का विरोध करना ग्रीस अपना कर्त्तव्य समझता था, वही अब उसका आदर्श बन गयी। ईरानी साम्राज्य का दमन करते-करते एथेन्स स्वयं साम्राज्य में परिवर्तित हो गया।

पेलोपनेसियन युद्ध (४३१ से ४०४ ई० पूर्व तक)

पेलोपनेसियन संघ स्पार्टा के नेतृत्व में पुरानी नीति पर आरूढ़ था। एथेन्स की नीति और उसके उत्कर्ष को स्पार्टा बहुत समय तक सहन न कर सका। स्पार्टा की नीति ग्रीस के भीतर ही रहकर स्थल-शक्ति संगठित करने की थी, किन्तु एथेन्स की नीति ग्रीस में ही नहीं, वरन् ग्रीस से बाहर निकलकर साम्राज्य स्थापित करने की थी। एथेन्स ने अपने प्रभुत्व के द्वारा समुद्री व्यापार भी अपने हाथ में ले लिया। इससे दूसरे व्यापारिक नगरों की हानि होने लगी। फलतः वैमनस्य और भी बढ़ गया। जब कोरिन्थ नगर ने एथेन्स के अनाचार तथा अनियंत्रित आधिपत्य से रक्षा

करने के लिए स्पार्टा से प्रार्थना की तब उसने प्रसन्नतापूर्वक निमंत्रण स्वीकार कर लिया। युद्ध छिड़ गया। युद्ध में आसपास की बस्तियाँ उजाड़ डाली गयीं। एथेन्स का अवरोध हुआ। यद्यपि प्राचीरों के पीछे एथेन्सवासियों ने छिपकर आत्मरक्षा तो कर ली, किन्तु नगर में अग्नि देवता का तांडव नृत्य होता रहा। यदि एथेन्स के सौभाग्य से आक्रमणकारियों को रसद की कमी हो जाने से वापस न जाना पड़ता तो शायद एथेन्स नेस्तनाबूद हो जाता।

दूसरे वर्ष फिर एथेन्स पर आक्रमण हुआ। वहाँ प्लेग का प्रकोप भी हुआ जिससे क्रीस्थनीज़ की मृत्यु हो गयी (४२९ ई०पू०)। नगर के तिहाई निवासी प्लेग से मर गये। एथेन्स में त्राहि-त्राहि मच गयी। एथेन्स का आर्थिक विनाश हो गया। अत्याचारी और उद्दण्ड लोग नेता बन बैठे। ऐसी विषम परिस्थिति होते हुए भी न्यूनाधिक तीव्रता के साथ पेलोपनेसियन युद्ध सत्ताईस वर्ष तक चलता रहा।

इस समय एथेन्स के सम्मोहक एवं भड़कीले, किन्तु अदूरदर्शी नेता 'एलसीबायडीज़' का वहाँ की जनता पर ऐसा जादू चल रहा था कि वह उसकी उंगलियों और इशारों पर नाचती थी। उसकी प्रेरणा से सिसली के प्रसिद्ध डांरियन उपनिवेश, सेराक्यूज़ पर एथेन्स के जहाजी वेड़े ने आक्रमण किया (४१४ ई० पू०)। किन्तु वह निष्फल ही नहीं वरन् विनाशक सिद्ध हुआ। एथेन्स की नौशक्ति का आतंक नष्ट हो गया और इस नौशक्ति के परास्त होने से स्पार्टा को उस पर आक्रमण करने की पुनः उत्तेजना हुई (४१३ ई० पू०)। उसका जहाजी बेड़ा भी ईरान की सहायता से स्पार्टा के जलसेना नायक लाइसेण्डर ने पकड़ लिया (४०५ ई० पू०)। एथेन्स जल और स्थल दोनों ओर से घेर लिया गया। अन्ततोगत्वा एथेन्स का पतन हो गया (४०४ ई० पू०)। उसकी प्राचीरें तोड़ दी गयीं, जहाज छीन लिये गये और स्पार्टा का अनुचर बने रहने का उसे वचन देना पड़ा। स्पार्टा भी शिथिल हो गया। एथेन्स का उत्थान और पतन सत्तर वर्ष के भीतर ही हो गया। एथेन्स के पतन के साथ युद्ध के कारण क्षत-विक्षत, भ्रान्त तथा आदर्श-च्युत ग्रीस गिरता ही चला गया। कुछ विद्वानों का विचार है कि उच्छृंखल एवं अमर्यादित जनसत्ता की क्षुद्रता, अयोग्यता और स्वार्थान्धता के कारण ही एथेन्स का विनाश हुआ।

एथेन्स की अभूतपूर्व सांस्कृतिक उन्नति उसके पतन को क्यों न रोक सकी, इसके मुख्य कारण तो वहाँ की जनता की अमर्यादित एवं भयंकर दलबन्दियाँ थीं। कुलीनों के युग में साधारण जनता के साथ जो अनाचार हुआ था उससे जनता में प्रतिहिंसा के भाव ने उग्र रूप धारण कर लिया। बदला लेने में उसने कोई कोर-कसर न उठा रखी।

वर्गों-वर्गों, कुलीनों और अकुलीनों, धनियों और गरीबों के आपसी संघर्ष तीव्रतर होते गये। बहुत-से लोग देश-निष्कासित होने पर एथेन्स के शत्रुओं के साथ मिल कर षड्यंत्र करने लगे। शासन की बागडोर हाथ में आ जाने से धन का अनापशनाप अपव्यय करना उन्होंने शुरू कर दिया। बढ़ते हुए खर्च के लिए विविध प्रकार के टैक्स लगा दिये गये। जान-बूझकर ही नहीं 'कभी-कभी झूठे इल्जाम लगाकर जुर्माने की रकमें जमा की गयीं और येनकेन प्रकारेण लोगों पर मुकदमे चलाकर पैसे वालों का शोषण किया गया। जुर्माना और टैक्स वसूल न होने पर लोगों की बची-खुची सम्पत्ति नीलाम कर दी जाने लगी। बहुत-सा कर देने वालों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गयी जिससे राजस्व क्षीण होता चला गया। लगान तथा टैक्स वसूल करने के लिए ठेका और इजारा बिकने और बँटने लगा। लाचार होकर देवमंदिरों मे संचित धन से कर्ज लेना शुरू हुआ, पर उसके अदा करने का कोई प्रबन्ध न बन पड़ा। युद्धों के कारण सेना बढ़ती गयी और उसी के साथ खर्च भी बढ़ता चला गया। अफसरों, विविध सभाओं के सदस्यों, जजों, और जूरियों की संख्या और वेतन में दिनोदिन वृद्धि होती गयी। कोष की क्षीणता के कारण सेना में असंतोष बढ़ता रहा जिससे विजय की संभावना कम होती चली गयी। सारांश यह कि एथेन्स का आर्थिक दिवाला निकल गया। कृषकों की दुर्दशा के कारण उन्हें अपनी जमीन बेच डालनी पड़ी। खेती की जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दी गयी। फलतः खेती| अधिकाधिक गुलामों द्वारा करायी जाने लगी। बहुत-से स्वतंत्र ग्रीक देश छोड़कर विदेशों में सिपहगिरी, कारीगरी आदि का पेशा करने चले गये। पेशावरों के चले जाने तथा अन्य देशों में और स्थानों में ग्रीस के से उद्योग-धंधे स्थापित हो जाने से एथेन्स आदि का व्यापार गिरता चला गया और उसकी आर्थिक दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती ही चली गयी। सब से चिन्त्य शासकों की मनोवृत्ति हो गयी। राज्य सेवा में विशेष लाभ और अर्थसिद्धि न होते देख तथा उसकी अस्थिरता एवं भयंकरता से ऊबकर लोग उससे विमुख होते और निजी व्यापार तथा उद्योग-धन्धों में दत्तचित्त होते गये। लोगों में समाजसेवा और राष्ट्रसेवा के भाव घटते और स्वार्थपरायणता के भाव बढ़ते गये। अव्यवस्थित-चित्त, चंचल, भावुकताप्रधान किन्तु विवेकशून्य जनता, चलते पुरजों, बातें बनानेवालों तथा सब्जबाग दिखाने वालों के वाक्जाल में फँसकर अपनी नवीन शक्ति का दुरुपयोग करती चली गयी। एथेन्स के जनतन्त्र युग में स्वार्थ, रिश्वत, क़त्ल, हिंसा, प्रतिहिंसा का ताण्डव नृत्य होता रहा, यहाँ तक कि मदान्ध जनता आखिर अपने साथ राष्ट्र को भी ले डूबी। इस प्रकार एथेन्स का इतिहास जनसत्ता

की आंशिक सफलता और पूर्ण विफलता का देदीप्यमान प्रमाण बन कर रह गया।

किन्तु दुर्दिन आने पर भी एथेन्स की सांस्कृतिक और मानसिक प्रगति सर्वथा नष्ट न हुई। इसका प्रमाण वहाँ के प्रसिद्ध दार्शनिक सात्रिटीज़ (सुकरात), तथा प्लेटो (अफलातून) हैं। यूनान के राज्यों में पारस्परिक युद्ध होने के कारण सभी राज्य निर्बल हो गये। उनको पुनः संयुक्त करनेवाला कोई न रह गया। राजा का शासन केवल स्पार्टा, मकदूनिया और एपिरस में रह गया। अन्य राज्यों की दशा बहुत अव्यवस्थित हो गयी। कहीं अत्याचारियों का, कहीं जनता का और कहीं आभिजात्यों का आधिपत्य स्थापित हो गया। ऐसा कोई राज्य न रहा जिसमें लोग भयंकर दलबन्दियों से आपस में लड़ते-झगड़ते न हों। वैमनस्य की इतनी प्रचण्ड अग्नि भड़की कि मित्र, पुत्र, पिता, भ्राता किसी का किसी को विश्वास न रहा। ऐसे अव्यवस्थित राज्यों का अधिक काल तक कायम रहना असम्भव था। फारस के साम्राज्य ने ग्रीस के राज्यों की आपस की लड़ाई को उत्तेजना देकर उन पर अपना ऐसा प्रभाव जमाना शुरू कर दिया कि ग्रीस में शान्ति और अशान्ति स्थापित करने की कुंजी उसके हाथ में चली गयी।

मेसीडोनिआ का उत्थान

उपर्युक्त परिस्थिति ने मेसीडोनिआ (मकदूनिया) के राजा फिलिप को ग्रीस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अच्छा अवसर दिया। मकदूनिया के निवासी यद्यपि उसी वंश के थे जिसके कि यूनानी, किन्तु उनमें सामाजिक अथवा सांस्कृतिक उन्नति अधिक नहीं हुई जिसके कारण ग्रीस वाले उनको अपने से पृथक् समझते थे। वे लोग युद्ध-प्रिय और उद्दण्ड स्वभाव के घुड़सवार सिपाही थे। कृषि उनका मुख्य व्यवसाय था। वहाँ के राजाओं पर ग्रीस के से वैधानिक नियन्त्रण न थे और न जनसत्ता के प्रति लोगों का विशेष अनुराग था। यह स्मरण रखना चाहिए कि मेसीडोनिआ वाले अपने को एक राज्य और एक बिरादरी का मानते थे, न कि किसी नगर विशेष के नागरिक जैसा कि ग्रीस में था। कहा जाता है कि यूरोप के इतिहास में सबसे पहले राष्ट्रीयता की चेतना सम्भवतः मेसीडोनिआ में ही मिलती है। सम्भव है कि व्यवसाय और व्यापार के अभाव के कारण राजसत्ता को नियन्त्रित करने की चेतना का विकास वहाँ न हुआ हो। राजा के प्रति प्रजा की अनुरक्ति थी। यद्यपि राज-दरबार में कवियों और कलाकारों को बुलाया और

उनका मान किया जाता था, किन्तु उनका अनुकरण करने की कोई रुचि वहाँ उत्पन्न नहीं हुई। कभी-कभी ग्रीस वाले उनसे छेड़-छाड़ करते थे और वहाँ के राजघराने के झगड़ों में हस्तक्षेप भी।

मेसिडोनिया (मकदूनिया) का राज्य जब फिलिप द्वितीय को मिला (३५९ ई० पू०) तब वहाँ नये युग का आरम्भ हुआ। कुमारावस्था में फिलिप को थेबीज़ राज्य में ओल बन कर रहना पड़ा था। वहाँ उसने ग्रीस की युद्धकला, शासन-व्यवस्था और राजनीतिक परिस्थिति का तथा शिक्षा-दीक्षा का ज्ञान प्राप्त किया था। तेईस वर्ष की अवस्था में राजसिंहासन पर बैठने के उपरान्त उसने अपनी धूर्तता, क्रूरता, प्रतिभा, कार्यकुशलता और उद्यमशीलता का अच्छा प्रदर्शन किया (३६० ई० पू०)। ग्रीस में अपना शासन स्थापित करने का उसने संकल्प कर लिया। उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सेना का संगठन किया और नवीन युद्ध-कौशल का आरम्भ किया जो स्पार्टा और थेबीज़ में प्रचलित युद्ध-शैली से श्रेष्ठतर था। उसके देश में घोड़े बहुत थे जिससे घुड़सवार सेना का अच्छा संगठन सम्भव हो सका। रथों के उपयोग की उसने आवश्यकता न समझी। सम्पूर्ण सेना शस्त्र-जीवी सैनिकों की थी। पैदल सेना के दल को उसने गहनतर बनाया और अधिक लम्बे भालों का प्रयोग सिखा दिया। सवारों और पैदल सेना के संयुक्त परिचालन के विधान ने उसकी सैनिक शक्ति को अतीव दृढ़ता प्रदान की। स्वयं परम प्रधान सेनापति होने के कारण सेना के विधिपूर्वक संचालन में उसे कोई कठिनाई पड़ने की आशंका न थी।

ग्रीस के राज्यों से जब उसका संघर्ष आरम्भ हुआ तब वहाँ दो मत पाये गये। एक मत था उसके आधिपत्य के स्वीकार कर लेने के पक्ष में। उस विचारधारा का सबसे प्रसिद्ध पोषक कुशल राजनीतिज्ञ आइसोक्रटीज़ था। दूसरे मत का प्रतिपादक संसार का सुप्रसिद्ध व्याख्यान-वाचस्पति डेमास्थिनीज़ था जो ग्रीस के नगर राज्यों पर किसी का भी आधिपत्य सहन नहीं कर सकता था और उनको फिलिप का भयंकर विरोध करने एवं अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए उत्त-जित करता रहता था। उसकी अद्भुत वाक्शक्ति के प्रभाव से प्रेरित होकर एथेन्स ने फिलिप का विरोध किया जिसमें अन्य राज्यों ने भी उसका साथ दिया। किन्तु ग्रीस वालों को फिलिप ने केरोनिया में इतनी गहरी पराजय दी कि उनको उसका आधिपत्य स्वीकार करना ही पड़ा (३३८ ई० पू०)। राजा फिलिप का आधिपत्य मानने में एथेन्स वालों को विशेष आपत्ति इसलिए नही हुई कि लोगों में

यह विश्वास फैल गया था कि ग्रीस की व्यवस्था बिना राजसत्ता की स्थापना के सम्भव न हो सकेगी। दूसरी धारणा यह भी फैल गयी थी कि ग्रीस वाले तब तक आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे तब तक उनकी सामूहिक शक्ति किसी प्रबल शत्रु-राज्य या साम्राज्य से टक्कर में न आ जाय। केवल स्पार्टा ही एक ऐसा राज्य बचा जिस पर फिलिप का अधिकार न हुआ। यदि फिलिप का ध्यान स्पार्टा के अधीन हुए एशियाई कोचक के नगरों को स्वतन्त्र करने में न लग जाता तो सम्भवत: स्पार्टा भी उसके हाथ आ जाता। फिलिप का ध्येय था कि वह अपने नेतृत्व में ग्रीस की संयुक्त शक्ति का संगठन करके फारस पर आक्रमण करे। फिलिप ने अपनी रानी ओलिम्पिया को तलाक दे दिया। वह अपने पुत्र अलेक्ज़ेण्डर को लेकर अलाहदा रहने लगी। फिलिप को अपनी पुत्री के विवाहोत्सव में एक सरदार ने मार डाला। अलेक्ज़ेण्डर ने अपनी माता का पक्ष लिया।

फिलिप के निधन के बाद उसका पुत्र अलेक्ज़ेण्डर (सिकन्दर) जिसके रिसाले ने केरोनिया में ग्रीस वालों की शक्ति तोड़ दी थी, सिंहासनारूढ़ हुआ। उस समय उसकी उम्र बाईस वर्ष की थी। अपने शारीरिक सौन्दर्य, आकर्षक व्यक्तित्व, उत्कट शौर्य, अप्रतिम पराक्रम के कारण वह सैनिकों का आराध्य-सा हो गया था। दैव-योग से उसको कई सुयोग्य और पराक्रमी सेनानायकों की सेवाएँ भी प्राप्त हो गयीं।

पिता की नीति का अनुसरण करते हुए अलेक्ज़ेण्डर ने फारस के साम्राज्य पर आक्रमण करना शुरू किया। उसका पहला बड़े मार्के का युद्ध फारस की सेना से जिसमें यूनानी भी अच्छी संख्या में थे, हुआ। गानिकस नदी के किनारे अले-क्ज़ेण्डर ने बड़ी चतुरता और शीघ्रता से उसको अस्त-व्यस्त कर दिया (३३४ ई० पू०)।

फरात (यूफ्रेटीज़) नदी **मँझाकर** अलेक्ज़ेण्डर फारस की सेना से युद्ध करने के लिए आगे बढ़ा। बहुत बड़ी संख्या में फारस की सेना को एकत्रित करके सम्राट् दारा तृतीय ईसस की खाड़ी के तट पर उसे रोकने के लिए जमा हुआ था। अपने घुड़सवारों के रिसाले से अलेक्ज़ेण्डर ने इतने वेग और आवेश से आक्रमण किया कि फारसी सेना का एक पार्श्व टूट गया। वहाँ से घूमकर वह मध्यस्थित सेना पर टूट पड़ा। यद्यपि फारस के दाहिने पार्श्व की सेना वीरता से लड़ रही थी तथापि दारा घबराकर रणक्षेत्र से भाग गया, जिससे फारसी सेना के पैर उखड़ गये। लगभग ९० लाख रुपयों के सिक्के, दारा की एक रानी, दो लड़कियाँ और एक

नन्हा-सा लड़का विजेताओं के हाथ लगे। दारा ने सन्धि का प्रस्ताव भेजा और फरात नदी तक के प्रदेश देने को राज़ी हो गया। यद्यपि अनुभवी और कुशल सेना-नायकों ने सन्धि कर लेने के लाभ समझाने का प्रयत्न किया तथापि अलेक्ज़ेण्डर ने उनकी सम्मति स्वीकृत न की। वह अपने को एकिलीज़ का उत्तराधिकारी समझता था और उसे यह विश्वास था कि ट्रोजन युद्ध के ध्येय तथा अनुष्ठान की पूर्ति करने के श्रेय का वह भागी है। विश्वविजयी होने की अक्षम्य आकांक्षा उसके मन में जाग उठी थी और जवानी का जोश उसको उत्तरोत्तर उत्तेजित कर रहा था (३३३ ई० पू०)। उसने सन्धि करने से इनकार कर दिया।

अलेक्ज़ेण्डर ने फारस की ओर न बढ़कर मध्य सागर के तट पर स्थित नगरों को अपने अधीन करना आवश्यक समझा। कारण यह था कि उनको ले लेने से मध्य सागर से फारस के जहाज़ी बेड़े की शक्ति क्षीण हो जाती और ग्रीस पर उसके आक्रमण से अलेक्ज़ेण्डर के एशिया-विजय के मन्सूबों में विघ्न उपस्थित होने की आशंका न रहती। तदनुसार उसने लीडिया के समृद्धिशाली और सुरक्षित नगर 'टायर' को बलपूर्वक जीत लिया। उसी प्रकार गाज़ाँ नगर भी उसने छीन लिया। उन विजयों से प्रभावित और उत्साहित होकर मिस्र वालों ने, जो फारस की साम्राज्य नीति से असन्तुष्ट और पीड़ित थे, अलेक्ज़ेण्डर को अपना सम्राट् बनाने का निश्चय कर प्राचीन संस्कार विधि से उसे 'फेरो' की उच्चतम उपाधि से विभूषित कर दिया। उसे देवत्व (सूर्य पुत्र की पदवी) प्राप्त हो गयी। ज्योस का पुत्र तो वह अपने को पहले से ही समझता था। मिस्रियों के निश्चय के परिणामस्वरूप उसे लोग ज्योस-एमोन का पुत्र कहने लगे। अलेक्ज़ेण्डर ने प्रत्येक नगर को यह आज्ञा भेजी कि वह उसको देवता मान कर तद्वत् अभिनन्दन भी किया करें। कहा जाता है कि उसी ने यूरोप में राजाओं के दैवी अधिकार का सूत्रपात किया। किन्तु मेसीडोनिया वाले उसकी नीति से असन्तुष्ट हो गये। उत्तरी अफ्रीका के तट के कुछ प्रसिद्ध नगरों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर अलेक्ज़ेण्डर का साम्राज्य कार्थेज राज्य की सीमा से जा मिला। नील नदी और मध्य सागर के संगम के पास उसने अलेक्ज़ेण्ड्रिया नाम का एक नया नगर स्थापित किया ताकि फोनेशिया का व्यापार उधर खिंचकर चला आये।

पश्चिमी एशिया और मिस्र से निश्चिन्त होकर तथा फारस के जहाज़ी बेड़े को अस्त-व्यस्त करके अलेक्ज़ेण्डर फिर फारस की ओर बढ़ा। मेसोपटामिया की दजला नदी को **मँझाकर** वह 'अरबेला' की ओर चला जहाँ ससैन्य दारा उसकी

प्रतीक्षा में खड़ा था। फारस की सेना में वीर-धीर सैनिकों की कमी न थी। यही नहीं, फारस की सेना में हजारों ग्रीक सैनिक भी थे; किन्तु उनका युद्ध-कौशल पुराने ढंग का था। अलेक्ज़ेण्डर की सेना नये विधान से संगठित थी और उसका संचालन भी नवीन ढंग से होता था। फलतः फारस की सेना की पराजय हो गयी, जिससे त्रस्त होकर दारा को भागना पड़ा (३३१ ई० पू०)। अरबेला का युद्ध संसार के इतिहास में बड़ा महत्त्व इसलिए रखता है कि उसके अनन्तर फारस का महान् साम्राज्य नष्ट हो गया और ग्रीस वालों के लिए तथा उनकी सभ्यता, संस्कृति एवं व्यापार के लिए भी मध्य एशिया और भारतवर्ष तक का एक नया रास्ता निकल आया जिसका यूरोप और एशिया दोनों पर अतुलनीय प्रभाव पड़ा।

कहा जाता है कि विजय प्राप्त कर अलेक्ज़ेण्डर ने फारस की राजधानी पर्सिपोलिस के राजभवनों को एक साधारण वेश्या की सनक से प्रभावित होकर नशे की झोंक में नष्ट-भ्रष्ट कर भस्मसात करवा डाला। वेश्या का नाम थेइस था। नशे की मस्ती में उसने वारुणी-प्रमत्त सिकन्दर को, फारस वालों द्वारा हुए यूनान के नगरों के विध्वंस का बदला चुकाने के लिए पर्सिपोलिस जला देने के लिए उत्तेजित किया। कुछ लोगों का विचार है कि यह कल्पना मात्र है। आग तो संयोग-वश लगी थी जो यथाशीघ्र बुझा दी गयी। कोई यह कहते हैं कि फारस साम्राज्य पुराने युग का प्रमुख प्रतीक था। उसको भस्मसात् करने से उस युग की अन्तिम आहुति देकर नवीन युग-प्रवेश की जाज्वल्यमान घोषणा की गयी अथवा फारसी साम्राज्य के नाश को रोमांचकारी अग्रिम आहुति के प्रतीक रूप बनाया गया। पर्सिपोलिस जैसे समृद्धिशाली, वैभव, शोभा, कला से युक्त तथा कौशलपूर्ण नगर को जिस बर्बरता से अलेक्ज़ेण्डर ने ध्वस्त किया उसके लिए होश आने पर उसे स्वयं लज्जित और खिन्न होना पड़ा। छः-सात महीने वहाँ रहकर वह 'एकबताना' की ओर जहाँ दारा तृतीय जाकर रुक गया था, बढ़ा। यह समाचार पाकर दारा वहाँ से भी भागा। दारा की कापुरुषता तथा उद्यमहीनता से उसका आदर-सम्मान मिट्टी में मिल गया और सीस्तान, बल्ख, तथा अफगानिस्तान के तत्कालीन राज्य-पालों ने षड्यन्त्र कर उसे कैद कर लिया और लोहे के पिंजरे में बन्दी करके साथ ले चले। अलेक्जेण्डर के धावे का समाचार सुनकर उससे उन्होंने घोड़े पर बैठकर भाग चलने का आग्रह किया। उसने जब इनकार किया तब उन्होंने उसे बर्छे से घायल कर मरने के लिए छोड़ दिया (३३० ई० पू०)। अलेक्ज़ेण्डर ने उसका

शव राजसी धूमधाम से परसिस के राजरौज़े में दफन करवा दिया। आगे चलकर उसने दारा के हत्यारे बेसस को अच्छी तरह कोड़ों से पिटवा कर कैदखाने में झोंक दिया।

फारस के साम्राज्य पर अधिकार प्राप्त करने से अलेक्ज़ेण्डर को अपार धन और सम्पत्ति प्राप्त हुई। उसके मन में कई वर्षों से यह आकांक्षा जाग्रत हुई थी कि उसकी गणना देवताओं में की जाय। वह धीरे-धीरे पुष्ट होती गयी। जब मिस्र वालों ने उसको 'फेरो' की उपाधि प्रदान की तब उसको अपने स्वप्न के प्रत्यक्ष होने की आशा स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी। किन्तु फारस के साम्राज्यासन पर बैठते ही वह अपने दावे को सिद्ध हुआ समझकर लोगों से देवोचित सम्मान की कामना खुल्लमखुल्ला करने लगा। फारस के लोगों ने उसका मान रखा और खुशामदियों ने उसको बढ़ावा दिया। किन्तु उसके मकदूनिया और ग्रीस के सहयोगी सेनानायकों ने उसकी इस ज़िद का विरोध किया। अलेक्ज़ेण्डर उनके विरोध से ऐसा क्रोधावेश में आया कि उसने अपने सर्वश्रेष्ठ सेनानायक को स्वयं मार डाला और उसके पिता का जिसने युद्धकाल तथा शान्ति के समय राज्य की बड़ी सेवाएँ की थी, वध करवा दिया। उसे जब क्रोध आता तब वह पागल-सा हो जाता था। क्रोध शान्त होने पर कभी-कभी वह बहुत पछताया करता, किन्तु उससे क्या फायदा हो सकता था। उनके वध से रुष्ट होकर कुछ लोगों ने अलेक्ज़ेण्डर की हत्या कर डालने का षड्यन्त्र किया, किन्तु भेद खुल जाने से अनेक व्यक्तियों को प्राण-दण्ड दिया गया। उन लोगों में प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का भतीजा भी था। इसी प्रकार मेलिटस के निवासियों के, जिन्होंने जेरेक्लीज़ को अपोलो के मन्दिर की निधि दे दी थी, बाल-बच्चों और बूढ़ों तक का उसने कत्लआम करवा डाला।

अलेक्ज़ेण्डर मध्य एशिया में समरकन्द और खोकन्द तक गया। काहिक नदी के तट से लौटकर बल्ख और समरकन्द में विश्राम कर और अपनी सेना को एकत्रित तथा संगठित कर वह अफगानिस्तान की ओर बढ़ा। बल्ख में उसने वहाँ के आक्षयार्तस नामक एक ईरानी सरदार की कुमारी कन्या रोक्षनी से विवाह कर लिया (३२७ ई० पू०)। तदनन्तर उसने फारस के अविजित प्रान्त हिन्द (सिन्ध नद के समीप) को जीत लिया। वहाँ तक्षशिला के राजा आम्भी ने उससे अपने प्रतिद्वन्दी राजा पौरुष या पुरु (पोरस) पर चढ़ाई करने की प्रार्थना की। अलेक्ज़ेण्डर ने एक लाख बीस हजार पैदल और पन्द्रह हजार सवारों से सिन्ध नद पार करके मार्च, ३२६ ई० पू० में पंजाब पर आक्रमण किया। यद्यपि पुरु आदि पर उसकी

विजय हुई तथापि उसको प्रतीत हो गया कि भारतीय सैनिक वीर और योद्धा हैं। उनको जीतने में उसे अनेकानेक युद्ध और कठिनाइयों का निरन्तर सामना करना पड़ेगा। भारत बहुत बड़ा देश है और उसमें एक प्रबल साम्राज्य के अलावा अनेक राज्य भी हैं। उसके सिपाहियों को अपना देश छोड़े कई वर्ष बीत गये थे, पर अलेक्ज़ेण्डर की महत्वाकांक्षा असीम सी थी। उसकी वे कहाँ तक पूर्ति करते। अतएव उन्होंने उसके उत्तेजनात्मक भाषणों की उपेक्षा कर आगे बढ़ने से साफ इनकार कर दिया। फलतः उसे लौटना पड़ा। सिन्ध नद के मार्ग से होता हुआ वह जहाज़ पर फारस के तट के किनारे-किनारे बेबीलोन की ओर लौटा। उसकी सेना अनेक प्रकार के कष्ट झेलती हुई स्थल मार्ग से वापस गयी। एसा नगर में अलेक्ज़ेण्डर ने दारा की पुत्री बेर्षिनि और (स्ततीरा) से अर्ताजरक्षस तृतीय की पुत्री पर्यसतीस से विवाह किया। इस प्रकार दो राज्यवंशों से उसने अपना वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित कर लिया। उसकी देखादेखी बहुत से सैनिकों ने भी एशिया वालों से ब्याह किये। ऐसे लोगों का राज्य कर्ज भी अदा करता और उनको अच्छा दहेज भी देता था। इसमें उसे करोड़ों रुपये खर्च करने पड़े। इसके सिवा तीस हजार एशियाई युवकों को उसने ग्रीस भाषा और युद्ध-कला सिखायी। अलेक्ज़ेण्डर का फारस तथा अन्य एशियाई सरदारों की ओर अधिक झुकाव और एशियाई राजसी ठाठ-बाट के प्रति बढ़ता हुआ अनुराग देखकर ग्रीस के सिपाहियों और सरदारों में असन्तोष बढ़ता गया और स्वामिभक्ति का भाव क्षीण-सा हो गया। देवताओं में अपना स्थान विशिष्ट समझने के कारण उसे लोगों से आग्रहपूर्वक अपने को पुजवाने की लालसा बढ़ी। सम्भव है कि उसकी इस लालसा का कारण ग्रीक अनुयायियों की श्रद्धा में उत्तरोत्तर बढ़ती कमी ही हो। उसने एक बड़े यज्ञ का अनुष्ठान किया। यद्यपि वह व्यभिचारी न था किन्तु बड़ा शराबी था। उस अवसर पर उसने बेहद मदिरा पी। कुछ समय से उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ रहा था। उसको ज्वर आया जो रोज़-बरोज़ बढ़ता गया। तैंतीस वर्ष की अवस्था में ११ जून (३२३ ई० पू०) को सन्निपात ज्वर से उसकी मृत्यु हो गयी।

अलेक्ज़ेण्डर के धार्मिक विचार मूलतः ग्रीस वालों के-से थे। देवताओं, देवियो, भविष्यवक्ताओं में उसे विश्वास था। ग्रीस वालों की मान्यता के अनुकूल वह भी मनुष्य का चरम आदर्श देवत्व प्राप्त करना मानता था। विजयों तथा विशेषकर मिस्र के धर्माधिकारियों की आग्रहपूर्वक व्यवस्था से उसको विश्वास हो गया था कि उसे देवत्व प्राप्त हो गया है। उस धारणा पर जब कोई सन्देह या विरोध करता

तब वह दुःखी ही नहीं वरन् क्रोधान्ध होकर मरने-मारने पर उतारू हो जाता था। अपने को देवता समझने पर भी ग्रीस के देवताओं के प्रति उसके श्रद्धा विश्वास में कोई कमी न हुई। उसका ध्येय सम्भवतः देवताओं की बिरादरी में पहुँचना, न कि उनकी अवहेलना करना, था। अन्य देवी देवताओं की अपेक्षा ग्रीस के हरक्यूलीज़, मिस्र के आमोन तथा हेकती देवी पर उसकी विशेष श्रद्धा थी। हेकती पाताल लोक की भयंकरी देवी थी जो देखने में सुन्दरी थी पर उसकी दृष्टि विध्वंसकारिणी थी। उसको पिल्लों की बलि चढ़ायी जाती थी। देवी को प्रसन्न करने के लिए वह मद्य तथा पशुबलि चढ़ाया करता था। कठिन समस्या पड़ने पर वह बड़े भारी पैमाने पर यज्ञ करता था। अहम्मानी और अबाध रूप से सफल होते हुए भी वह कभी-कभी उदास होकर अपनी सफलताओं को विडम्बना मय समझने लगता था। सम्भव है कि किशोरावस्था की अपनी कटु अनुभूतियों के तथा त्याग एवं वैराग्य-मयी एशियाई विचारधारा के कारण उसमें विह्वलता और असन्तोष की लहरें कभी-कभी उठा करती हों।

संसार के विजेताओं में अलेक्ज़ेण्डर का स्थान बहुत ऊँचा तो माना ही जाता है किन्तु संसार के सांस्कृतिक विकास के इतिहास में भी उसका बड़ा महत्व है। जिस प्रकार उसने अपना प्रभुत्व एशिया में स्थापित किया उसी भाँति वह यूरोप और उत्तरी अफ्रीका भर में भी अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित करना चाहता था, ऐसा साम्राज्य जिसका मुख्याधिपति एक सुयोग्य व्यक्ति हो और जिसके कर्मचारी, जाति, धर्म, देश, रंग के अनुसार नहीं वरन् अपनी योग्यता के कारण चुने जाया करें। सम्भवतः उसका विचार एक विश्वव्यापी नीतिक और सांस्कृतिक विधान रचने का था। उसके कार्यकलाप से अनुमान होता है कि उसका ध्येय यूरोप और एशिया का सांस्कृतिक संयोजन था। उस विधान से वह एक ऐसे विशाल साम्राज्य का निर्माण करना चाहता था जिसमें एशिया, यूरोप और अफ्रीका का नैतिक ही नहीं वरन् सांस्कृतिक संगम होकर एक नयी धारा का प्रवाह हो सके। उस आदर्श की प्राप्ति के लिए उसने विभिन्न समाज के लोगों में रोटी-बेटी के सम्बन्ध का सूत्रपात कर अन्य लोगों को प्रोत्साहित किया। वेषभूषा में भी तदनुकूल परिवर्तन प्रारम्भ किया। उसने सत्तर नये नगरों का इतस्ततः निर्माण कराया जिनमें ग्रीक तथा अन्य लोग मिल-जुलकर रहते थे। उन नगरों में सबसे प्रमुख, प्रतिष्ठित, और प्रभावशाली नगर मिस्र में स्थापित अलेक्ज़ेण्ड्रिया था। बहुत सम्भव है कि उसके विचारों को ईरान के राजनीतिक सिद्धान्तों और शासनिक नीति से भी

सहायता मिली हो। साम्राज्य की रचना और उसका शासन जिस पैमाने पर फारस के सम्राटों ने किया वैसा पश्चिमी एशिया ही नहीं वरन् कहीं और भी उस युग तक नहीं हुआ था। मकदूनिया अथवा ग्रीस वालों को भी उन समस्याओं का, जो ऐसे विशाल साम्राज्य में जिसमें विभिन्न संस्कृतियों के लोग रहते हों उठा करती हैं, अनुभव नहीं था। कुशाग्र बुद्धि अलेक्ज़ेण्डर ने यह समझ लिया होगा कि अपने साम्राज्य के शासन में उसे ग्रीक की राजनीति से यथेष्ट सहायता न मिलेगी। उसी के साथ उसको यह भी अनुभव हो गया कि ग्रीस वाले ईरान के साम्राज्य-विधान और विशेषतः सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सम्राट् की कल्पना को स्वीकार न करेंगे। अतएव उसे एक ऐसा मध्य मार्ग निकालना आवश्यक हो गया जिसकी व्यावहारिक सफलता सम्भव हो सके। ग्रीस की तथा नवीन साम्राज्य की नीति को उसने एक साथ तोलना दुस्तर समझ कर यह निश्चय किया कि ग्रीस में तो वह मेसिडोनिया का राजा और कारिन्थियन लीग का प्रधान सेनाध्यक्ष रहेगा किन्तु नवीन साम्राज्य में वह सम्राट् की हैसियत से शासन करेगा।

हेलेनिक युग

अलेक्ज़ेण्डर की मृत्यु से लेकर रोम द्वारा मिस्र के टोलमी राज्य का अन्त किये जाने तक का समय 'हेलेनिक युग' कहा जाता है। उस युग की कुछ अपनी विशेषताएँ थीं। पहली यह कि ग्रीस तथा एशिया की संस्कृतियों का अधिकाधिक मिश्रण और आदान-प्रदान हुआ। दूसरी यह कि नगर राज्यों तथा ल गों को छोड़कर ग्रीकों ने ऐसे राज्यों की जिन पर राजा शासन करते थे तथा राजसत्ता का प्राधान्य था, स्थापना की। नये राज्यों की राजधानियों तथा अर्द्ध स्वतन्त्र बड़े-बड़े व्यापारिक नगरों में विभिन्न देशों और संस्कृतियों के सम्पर्क से एक तो यह स्पष्ट हो गया कि ग्रीकों का नागरिक विधान संकुचित होने के कारण सर्वत्र उपयुक्त नहीं हो सकता। दूसरा अनुभव यह हुआ कि ग्रीकों का यह विचार कि उनके सिवा अन्य लोग बर्बर और अधम हैं, बिलकुल भ्रममूलक है। उसके स्थान पर मनुष्य-मात्र की मूलगत एकता एवं समता के सिद्धान्त का अभ्युदय होने लगा। इस नवीन विचारधारा का प्रभाव इतिहास और संस्कृति पर उत्तरोत्तर बढ़ता चला आ रहा है। व्यक्ति के जीवन पर समाज के सम्पूर्ण अधिकार का सिद्धान्त शिथिल होने लगा। व्यक्ति की अपनी निजी सत्ता तथा जन्मजात अधिकार की ओर विचारकों का ध्यान अधिकाधिक खिंचने लगा। उपर्युक्त विचारों का

प्रभाव तत्कालीन धर्म, साहित्य और कानून पर विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। अलेक्ज़ेण्डर के पश्चात् ग्रीक दर्शन, राजनीति, साहित्य और कला का भारी प्रभाव जिस प्रकार एशिया, अफ्रीका पर पड़ा वैसा ही एशियाई सभ्यता और संस्कृति का यूरोप पर भी पड़ता रहा।

मेसीडोनिया में एण्टीगोनस द्वितीय ने राज्य-व्यवस्था स्थापित कर शान्ति और संस्कृति का संरक्षण किया। ग्रीस में नगर राज्यों ने मिल कर दो लीगें—एटोलियन और एकिअन—स्थापित कीं जो अपने-अपने क्षेत्र की वाहरी नीति, रक्षा, व्यापार तथा सामूहिक विषयों का प्रबन्ध करती रहीं किन्तु दोनों लीगों ने आपस में युद्ध करना आरम्भ कर दिया जिससे ग्रीस में फिर अव्यवस्था, अशान्ति और शक्ति का क्षय होता रहा।

ग्रीस के नगरों में आपस में लड़ाई-झगड़े बढ़ते गये। नगरों का शासन अव्यवस्थित होने के कारण अराजकता की वृद्धि होती गयी। उद्दण्ड सरदार बड़े-बड़े दल-बल इकट्ठा कर महान् नेता बनने के लिए आपस में लड़ते और लूट-मार करते थे। स्वतन्त्र जनता क्षीण होती चली गयी और गुलामों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। धनी और निर्धन वर्गो की विषमता के साथ उनका संघर्ष भी बढ़ने लगा। स्पार्टा का क्लीयोमेनीज़ मजदूरों और निर्धनों का प्रसिद्ध नेता बन कर सशस्त्र विद्रोह में इतना सफल हुआ कि उससे सब आशंकित हो गये। उसका दमन कठिनाई से हो सका। समाजवाद का निरूपण ज़ीनों ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थ में किया, जिससे विद्रोहियों को बौद्धिक प्रेरणा भी मिली। तत्कालीन परिस्थिति के कारण लोगों की देवी-देवताओं और धार्मिक विचारों में श्रद्धा घट गयी। नास्तिकता की ओर लोगों का अधिक आकर्षण होने के कारण जो कुछ नैतिक मर्यादाएँ उस समय तक थीं, दिनों-दिन टूटती चली गयीं। राज्य-भक्ति तथा राज्य धर्म में विश्वास शिथिल हो जाने से ग्रीस की सभ्यता की आधार-शिलाएँ टूट गयीं। पुरुषों और स्त्रियों में उच्छृंखलता और अनाचार की प्रगति तीव्र हो गयी, ऐयाशी और बदचलनी का बाजार बहुत गर्म हो गया। स्त्रियाँ जननी बनने से घबराती थीं और बचती थी। लड़कियाँ पैदा करना दुर्भाग्य का चिह्न समझकर बहुधा शैशवावस्था में ही मार डाली जाती थी। यह सब होते हुए भी स्त्रियों ने तत्कालीन कलाओं और साहित्य की रचना में स्तुत्य कार्य किया। उनमें से अरिस्टोडामा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

अलेक्ज़ेण्डर का सौतेला भाई, जो मकदूनिया में रहता था, स्वास्थ्य खराब

होने के कारण बेकार-सा हो गया। अलेक्ज़ेण्डर की रानी रोवसेनिया का पुत्र गर्भ ही में था जब उसकी मृत्यु हो गयी। ऐसी दशा में सेनापतियों में संघर्ष होना अनिवार्य था। उनमें सबसे योग्य एण्टीगोनस था जो सारे साम्राज्य को अपने अधिकार में रखना चाहता था। अतएव उसका घोर विरोध हुआ। इप्सस में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें वह मारा गया (३०१ ई० पू०)। साम्राज्य पाँच सेनापतियों में बँट गया। एण्टीपेटर ने मकदूनिया और ग्रीस पर, राइसिमेकस ने थ्रेस पर, एण्टीगोनस ने एशियाई कोचक पर, सैल्यूकस ने बेबीलोनिया पर और टोलेमी ने मिस्र पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ग्रीस के नगरों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए विद्रोह होता रहा। अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाकर केल्टगाल नाम के बर्बर कबीले ग्रीस तथा एशियाई कोचक में घुस कर लूट-मार करते रहे। अव्यवस्था और अराजकता सर्वत्र मच गयी और छोटे-बड़े नगर अथवा राज्य संगठित अथवा स्वतन्त्र रूप से आपस में लड़ते-भिड़ते रहे।

ग्रीस तथा मकदूनिया के बाहर तीन साम्राज्यों की स्थापना हुई। सैल्यूकस के वंश वाले ईजियन सागर से भारत की सीमा तक राज्य करते रहे। उतने बड़े भू-भाग पर शासन करना कठिन कार्य था, तथापि जैसे-तैसे वे शासन चलाते रहे। फरात नदी के पश्चिमी प्रान्तों को संगठित करने का उन्होंने विशेष उद्योग किया। ग्रीस के नगरों के ढाँचे पर उन्होंने बहुत-से नगरों की स्थापना की जिनके द्वारा अलेक्ज़ेण्डर की नीति का कमोबेश प्रचार होता रहा। उन्हें आन्तरिक शासन की यथासम्भव स्वतन्त्रता दी गयी। सम्राट् का आधिपत्य उन पर कायम रहा। ग्रीस और एशिया की संस्कृतियों के सम्मिश्रण के कारण उन नगरों की संस्कृति की अपनी विशिष्टता है। उसका प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा में कई शतियों तक पंजाब से भूमध्यसागर तक की संस्कृतियों पर पड़ता रहा।

फारस के सोने और चाँदी को लेकर अलेक्ज़ेण्डर ने सिक्कों का अच्छा प्रचलन किया। सैल्यूकश वंश ने उस नीति का ऐसा अनुसरण किया कि विनिमय द्वारा व्यापार एक प्रकार से उनके साम्राज्य में बन्द हो गया। सिक्कों के प्रचलन से व्यापार की दिनों-दिन उन्नति होती गयी। बैंकों द्वारा व्यापार और लेनदेन बढ़ता गया। सड़कों के सुधार से यातायात की अधिक सुविधा हो गयी। दमिश्क, बैरूत, आन्द्रिआक, बेबीलोन, स्मरना, परगेमम आदि दर्जनों नगरों की अभूतपूर्व समृद्धि हुई।

इतने बड़े साम्राज्य का शासन तत्कालीन साधनों को देखते हुए बहुत कठिन

था। तीसरी शताब्दी ई० पू० से ही उसका कटना-छटना आरम्भ हो गया। यह गति सीमान्त प्रदेशों से आरम्भ हुई। नये-नये स्वतन्त्र राज्य समरकन्द, बल्ख (बेक्ट्रिया), फारस, आरमीनिया आदि धीरे-धीरे अलग हो गये। बर्बर केल्टों और गालों ने भी हाथ-पाँव मारना प्रारम्भ किया। दूसरी शती ई० पू० के मध्य तक सैल्यूकस वंश ने अपनी शक्ति ही नहीं वरन् बची-खुची स्वतन्त्रता भी खो दी। रोम साम्राज्य का बोलबाला हो गया।

मिस्र के टोलमी

अलेक्ज़ेण्डर के शव और उसकी प्रेयसी थाइस को उसका योग्य सेनापति टोलमी मिस्र के मेम्फिस नगर ले गया (३२३ ई० पू०)। शव को तो उसने एक भव्य स्मरण-समाधि (Mussoleum) में रख दिया और थाइस से व्याह कर लिया जिससे दो पुत्र उत्पन्न हुए। अलेक्ज़ेण्डर के सम्पूर्ण साम्राज्य पर शासन करने की लालसा में न फँस कर उसने मिस्र को ही अपना कार्यक्षेत्र बना लिया। अठारह वर्ष तक वह शासन और शक्ति के संगठन में लगा रहा। तदनन्तर ३०५ ई० पू० में राजसिंहासन पर बैठकर उसने मिस्र में टोलमी राजवंश को प्रतिष्ठित कर दिया। इस वंश के प्रथम तीन टोलमी योग्य और शक्तिशाली थे। उसके बाद उनका राज्य निर्बल होता चला गया। व्यापार, कृषि तथा उद्योग-धन्धों ने उसकी बड़ी तत्परता से उन्नति की। राजधानी के लिए उसने अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर इसलिए चुना कि वहाँ से वह भूमध्यसागर, ग्रीस तथा पश्चिमी एशिया की गतिविधि का निरीक्षण अच्छी तरह कर सकेगा और आवश्यकता पड़ने पर उसमें भाग भी ले सकेगा। इसके सिवा भूमध्य सागर तथा लाल सागर के तटों द्वारा वह पूर्व और पश्चिम के व्यापार से यथेष्ट लाभ भी उठा सकेगा। इस ध्येय के अनुसार उसने प्रबल जहाज़ी बेड़े का निर्माण कराया। जल और स्थल की सेना में ग्रीक लोगों को यथासम्भव भरती किया। अपने समुद्री आधिपत्य को पुष्ट करने और व्यापार का संरक्षण करने के लिए टोलमियों ने दक्षिणी सीरिया और पेलेस्टाइन पर अपना अधिकार जमा लिया। टोलमी द्वितीय ने नील को लाल सागर से मिलाने के लिए पुरानी नहर की खुदायी करवायी, किन्तु कुछ समय के बाद वह फिर बन्द हो गयी। टोलमी राजे अपने को फेरो का उत्तराधिकारी मानते थे। यद्यपि उन्होंने भी नगरों को शासनिक स्वतन्त्रता दे दी थी तथापि नगरों एवं सारे राज्य पर टोलमी नरेशों का ही पूरा अधिकार था। सिद्धान्ततः सारी जमीन नरेश की ही मानी

जाती थी तथापि व्यवहार में नरमी बरती जाती थी। टोलमी को निर्वाचित सभा, समितियों की कोई आवश्यकता प्रतीत न हुई। फेरो के वंशों की तरह वह एक-छत्र राज्य अपने सेवकों के द्वारा करता था। बीस वर्ष तक संगठन करने के उपरान्त वह बड़ी शान-शौकत के साथ ३०५ ई० पू० में राजसिंहसान पर बैठा। उस समय से रोम साम्राज्य की मिस्र पर विजय तक उसके वंशज वहाँ राज्य करते रहे। राजा के बाद अर्थमन्त्री का पद विशेष महत्त्व रखता था। वह भी बड़े ठाट-बाट के साथ रहता था। जिमींदारी तथा व्यापार से उसको बड़ी आमदनी थी।

फेरो के विधान के अनुकूल राज्य लगभग चालीस भागों में बँटा हुआ था। प्रत्येक भाग (नोम) में कई जिले और प्रत्येक जिले में कई गाँव थे। प्रत्येक नोम का एक अधिपति (नोमार्क) होता था किन्तु वास्तविक अधिकार ग्रीक सेनापति के हाथ में रहता था, क्योंकि नोम में शान्ति रखने और दण्ड की व्यवस्था का कार्य वही करता था। इतनी शक्ति के होते हुए भी उसको वित्त विभाग में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। ग्रीकों और मिस्रियों के दीवानी मामले उनके अपने-अपने विधानों तथा व्यवहारों के अनुकूल उनकी अपनी-अपनी अदालतों में तय किये जाते थे। ग्रीकों और मिस्रियों के बीच झगड़े उपस्थित होने पर ग्रीकों और मिस्रियों की संयुक्त अदालत मामला तय करती थी।

प्रथम और द्वितीय टोलेमी राजाओं के काल में अलेक्ज़ेण्ड्रिया की विभूति और समृद्धि ने इतनी उन्नति की कि वह प्राचीन युग का सर्व प्रकार से प्रमुख नगर माना जाने लगा। व्यापार द्वारा चारों ओर से उस नगर में धन खिंचा चला आता था। वहाँ की जनता भी मिश्रित थी। ग्रीक, मिस्री, यहूदी, पारसी, अरब, हबशी आदि जातियों का वहाँ जमघट था। सम्भवतः पश्चिम तथा दक्षिण भारत के लोग भी वहाँ पहुँचे होंगे। विभिन्न देशों और जातियों के लोगों के साथ उनकी संस्कृतियों का भी संगम हुआ। अमीरों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कारीगरों, सेवकों, गुलामों आदि की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रही। ऐश-आराम, आमोद-प्रमोद, विनोद के लिए कलाकारों, गायक-गायिकाओं, नर्तक-नर्तकियों, रूपजीवियों की संख्या में अच्छी वृद्धि हुई। व्यापार का ही नहीं, वरन् विद्या-विलास का भी वह एक विश्वविदित केन्द्र हो गया। कवियों, दार्शनिकों, विद्वानों, उपन्यासकारों, नाटककारों, अध्यापकों और ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा के लिए आये विद्यार्थियों की वहाँ कमी न थी। अनुमान किया जाता है कि अलेक्ज़ेण्ड्रिया की जनसंख्या द्वितीय शती ई० पू० में पाँच लाख से कम न होगी।

श्रीसम्पन्न नगर की विभिन्न आवश्यकताओं के लिए नगर की रचना बड़े पैमाने पर श्रीसम्पन्नता के अनुकूल हुई। नगर में सौ-सौ फुट चौड़ी बड़ी सड़कें, शोभा-सम्पन्न विशाल राजमहल, राजकीय भवनों, शासनालय, बैंक, देवालयों, पुस्तकालय, रंगमंच, नाट्यशाला, व्यायामशाला, कला भवन, बागों, बाटिकाओं-सुरालयों, भोजनालयों आदि का सावधानता के साथ निर्माण किया गया। सड़कें एक दूसरे को इस तरह काटती थीं जिससे नगर चौकोर चौपड़ों में बस गया था। आश्चर्य है कि सड़कों पर रोशनी का प्रबन्ध न था। अमीरों ने भी अपनी-अपनी स्थिति, आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार कई मंजिल की कोठियाँ, बाग-बगीचे आदि बनवाये। बाजार में व्यापारियों ने ठाटदार दूकानें बनवायीं जिनमें हर प्रकार की चीज़ें मिल सकती थीं। निज के मकानों में सबसे सुन्दर मकान गणिकाओं और रूपजीविनियों के थे। सारांश यह है कि विद्या, विनोद, व्यसन एवं विलास के सभी साधन उस नगर में प्राप्त हो सकते थे। पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी बाहर आती-जातीं, खरीद्र-फरोख्त करतीं, विद्या एवं विनोद में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थीं। उनकी उपस्थिति से सामाजिक जीवन में अपूर्व चारुता, लालित्य एवं रमणीयता का संचार हो गया था, जिसका प्रभाव तत्कालीन गद्य एवं पद्य की रचना में झलकता है। हेलेनिक संस्कृति का प्रभाव नगरों तक ही सीमित रहा। ग्रीकों और यहूदियों को अपने विधानों और संस्कृतियों के अनुकूल रहने की स्वतन्त्रता थी। बाहर के लोग अपने पुराने ढर्रे पर चलते रहे। आने-जाने की असुविधाएँ तथा खर्च के कारण नगरों से उनका अधिक सम्पर्क न हुआ।

टोलेमी युग में राजकीय समाजवाद का उल्लेखनीय प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ। अलेक्ज़ेण्ड्रिया, नाक्रेटिस तथा टोलेमेइस नगरों में स्वायत्त शासन का-सा विधान था। मिस्र के पुरोहितों और धर्मध्वजों का राजनीतिक तथा आर्थिक महत्त्व क्षीण हो चुका था। उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध भी राजा ने अपने हाथ में ले लिया। उनको छोड़कर राजा का जमीन पर पूरा अधिकार हो गया। अपने कर्मचारियों द्वारा वह कृषि का नियन्त्रण करवाता था। कृषक उन्हीं के आदेशों के अनुसार खेती-बाड़ी करते थे। भूमि की उपज राज्य की खत्तियों में भेज दी जाती थी। विशेष स्थिति और सैनिक वर्ग के लिए उपर्युक्त विधान को व्यवहार में ढीला कर दिया जाता था, किन्तु कानून में इसके लिए कोई विशेष रियायत नही रखी गयी थी। धीरे-धीरे राज्य द्वारा कृषि का नियन्त्रण बन्द-सा हो गया, किन्तु उस परिवर्तन में डेढ़-दो सौ वर्ष लगे। उसी प्रकार राज्य की खानों का भी नियन्त्रण

शासन द्वारा होता और जो कुछ उनमें से निकलता वह राजकीय कोष में चला जाता था। उद्योग-धन्धे भी राज्य द्वारा संचालित और नियन्त्रित होते थे। व्यापार पर भी राज्य का नियन्त्रण था। सरकारी दूकानों में माल या तो सरकारी नौकर बेचते थे या ठेकेदार। मिस्र का बना माल ब्रिटेन से चीन और रूस से मध्य अफ्रीका तक पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया था तथा व्यापारियों के सुभीते के लिए बैंक स्थापित कर दिये गये थे। फिर भी विनिमय की प्रथा वहाँ चलती ही रही। यद्यपि अनाज से लेन-देन चलता रहा तथा परचियों से लिख पढ़कर, न कि वस्तुत: पदार्थ ढोकर काम चलाया जाता था। केन्द्रीय बैंक अलेक्ज़ेण्ड्रिया में तथा उसकी शाखाएँ अनेक स्थानों पर थीं। सारे बैंक राजा के थे जिनका संचालन उसके नौकरों द्वारा होता था। व्यापार तथा यातायात का नियन्त्रण शासन करता था। आय के मुख्य साधन लगान, अनेकानेक टैक्स, चुंगी, व्यक्तियों, पशुओं और पैदावार पर कर आदि थे जिन पर दो से पचास प्रतिशत तक कर लिया जाता था। समय-समय पर प्रजा से श्रमसेवा भी ली जाती थी।

टोलेमी यद्यपि ग्रीक वंश का था तथापि उसकी नीति ऐसी थी कि मिस्र वाले उसको अपना ही प्रशासक समझते और मिस्र का सर्वथा हितैषी मानते थे। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मिस्र वाले ग्रीकों को सदैव विदेशी और स्वार्थपरायण समझते रहे। कालानार में जब ग्रीकों की संख्या घट गयी और टोलेमी को मिस्री सैनिकों का आश्रय लेना पड़ा तबसे मिस्रियों की भावना बदलती गयी। यद्यपि मिस्र वालों को ग्रीस के राज्यों में प्रचलित स्वतन्त्रता प्राप्त न थी तथापि वहाँ का शासन और कानून ग्रीस के राज्यों से हर प्रकार से अच्छा और व्यवस्थित था। अदालतें सावधानी और सुव्यवस्थित ढंग से न्याय करती थीं। कहा जाता है कि टोलमियों के राज्यकाल में वहाँ का शासन अन्य देशों से सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। सम्भवत: उसका कारण यह था कि उन्होंने फेरो और फारसी काल के कानूनों और ग्रीस के कानूनों का देश, काल के अनुसार सम्मिश्रण करके उपयुक्त विधान का निर्माण किया था। नागरिक विधान उन्होंने ग्रीस से तथा जातीय विधान प्राचीन मिस्र और फारस से ग्रहण किया था। टोलेमीय शासन को कुछ विद्वान् जातीय समाजवाद का अच्छा-खासा स्वरूप मानते हैं। कहा जाता है कि मिस्र के उत्पादन के साधन इतने सीमित थे कि उनसे पूरा-पूरा लाभ जातीय समाजवाद द्वारा ही सम्भव हो सकता था, न कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्यवाद द्वारा। जातीय समाजवाद के प्रचलन तथा संरक्षण के लिए राजकर्मचारियों की संख्या उत्तरोत्तर

बढ़ती गयी। वहाँ की नौकरशाही अपने युग में शासनकला में अद्वितीय थी। राजा तथा नौकरशाही पर खर्च बहुत बढ़ गया था। इसलिए नाना प्रकार के कर, लगान आदि लगा दिये गये थे। आमदनी के बढ़ाने के लिए शासक नये-नये ढंग और साधन सोचते रहते थे। मिस्र के जातीय समाजवाद का मुख्य ध्येय अधिकाधिक उत्पादन करना था। पम्पों तथा बड़ी रहटचक्री के उपयोग से सिंचाई का अच्छा प्रबन्ध किया गया और शासन के नियन्त्रण में वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाने लगी। पैदावार के खूब बढ़ने से राज्य की आमदनी बढ़ी। राजा देवरूप होने के कारण आदरणीय ही नहीं वरन् पूज्य भी माना जाता था। उसकी आज्ञा का पालन और सेवा करना धार्मिक कर्तव्य था। उसके लिए बेगारी करना श्रम द्वारा उसकी सेवा करना था। जिनके विचार उतने ऊँचे न थे उनसे अन्य प्रकार के दबाव डालकर बेगार करवायी जाती थी। कृषि से खूब फायदा होने के अलावा खानों, वनस्पति तैलों, उद्योग-धन्धों और व्यापार पर एक प्रकार का पूर्ण एवं अबाध अधिकार होने से राज्य की आमदनी बहुत बढ़ गयी। उस आमदनी तथा बेगार के संयोग और उपयोग से मिस्र में बड़े पैमाने पर राजकीय योजनाएँ चलायी गयीं जिनमें बाढ़ के पानी का नियन्त्रण, सड़कें, सिंचाई के प्रबन्ध, विशाल इमारतें आदि उल्लेखनीय हैं। छोटे-मोटे रोजगार व्यापारियों के लिए छोड़ दिये गये। उस युग में पूर्वकाल से अधिक आविष्कार हुए। सब व्यापार और बैंकिंग शासन द्वारा नियन्त्रित होता था। यातायात के साधनों पर भी उसका पूरा अधिकार था। उपर्युक्त प्रबन्ध से जो लाभ होता वह प्रायः ग्रीकों को प्राप्त होता था। मिस्र के निवासियों को वह संगठन कैसे रुचिकर हो सकता था। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, टोलेमी प्रबन्ध का ध्येय अधिकाधिक उत्पादन था, न कि न्याययुक्त वितरण। फलतः मिस्रियों में असन्तोष बढ़ता गया, हड़तालें होने लगीं। उधर ग्रीकों का समाज क्षीण होकर मिस्रियों में विलीन होता रहा। निकम्मे और बेईमान भ्रष्टाचारी कर्मचारियों के कारण जातीय सामाजिक विधान अस्त-व्यस्त हो गया और टोलेमी राज्य की महिमा नष्ट हो गयी।

सेल्यूकस (३०५ से २८१ ई० पू०)

अलेक्ज़ेण्डर के सेनापतियों में सैल्यूकस नाइकेटर (विजयी) ने एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। एशियाई कोचक पर पुनः अधिकार जमाने के लिए जब एण्टीगोनस ने आक्रमण किया, सैल्यूकस और टोलेमी ने मिलकर इपसस में

उसे परास्त कर दिया (३०१ ई० पू०)। बेबीलोन नगर के समीप उसने अपनी राजधानी सैल्यूसिया स्थापित की जो आगे चलकर बगदाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस नगर की जनसंख्या लगभग छः लाख थी। वहाँ से उस विशाल साम्राज्य का, जो डारडेनेल्स (दरे दानियाल) से पंजाब तक फैला हुआ था, सैल्यूकस ने शासन किया। उतने बड़े साम्राज्य में अनेक धर्मों, जातियों, संस्कृतियों के लोग बसते थे जिनके रहन-सहन में विभिन्नता थी। उनके अलावा बहुत-से ऐसे नगर और बस्तियाँ भी स्थापित हो गयी थीं जिनमें ग्रीक लोग बस गये थे। सैल्यूकस ने अपनी बहुरंगी प्रजा को जहाँ तक हो सकता था, अपने-अपने ढंग के आचार-विचार, रहन-सहन, सामाजिक और नैतिक संगठन के अनुसार रहने की स्वतन्त्रता दे दी थी। कहीं-कहीं सामन्तशाही ही प्रचलित थी और कहीं छोटे-बड़े राज्य भी थे। सैल्यूकस ने उनके संगठन और विधि-विधानों में भी हस्तक्षेप न किया। ग्रीक अपने नगरों में अपने नागरिक विधानों के अनुसार रहते थे। सैल्यूकस की नीति का ही उसके वंशजों ने कमोबेश प्रतिपालन किया। साम्राज्य का केन्द्रीय शासन अधिकतर ग्रीकों के हाथ में था। सम्राट् को देवत्व का स्थान प्राप्त था। वह मुख्य मन्त्री, उपमन्त्री, मित्र-मण्डली तथा समिति के द्वारा प्रशासन करता था। सैल्यूकस की साम्राज्य नीति मिस्र के टोलमियों से मूलतः भिन्न थी। उसने जातीय समाजवाद का अनुकरण नहीं किया अतएव न तो बहुसंख्यक राजकर्मचारियों और न व्यवहार, व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि में हस्तक्षेप करने की उसे कोई आवश्यकता थी। ईरानी ढंग से साम्राज्य पचीस क्षेत्रों में विभक्त था, प्रत्येक क्षेत्र पर एक क्षत्रप सम्राट् की ओर से शासन करता था। क्षत्रप ही वहाँ का सेनानायक था। आर्थिक और वित्त सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए एक स्वतन्त्र अर्थसचिव नियुक्त किया जाता था। राजा की भूमि का प्रबन्ध तो उसके कर्मचारी करते थे, किन्तु नगरों, मन्दिरों तथा सामन्तों की भूमि के प्रबन्ध की जिम्मेदारी उनकी अपनी थी। राजकर्मचारियों से उसका सम्बन्ध न था।

सैल्यूकस की हत्या (२८१ ई० पू०) के बाद साम्राज्य में पतन के लक्षण दिखाई देने लगे। बर्बर जाति के गालों ने भी उत्तर की ओर से आक्रमण आरम्भ कर दिये। गिरती दशा को एण्टिओकस तृतीय (२२३—१८७ ई० पू०) ने बहुत कुछ सँभाला। खोये हुए प्रदेशों को उसने फिर जीत लिया। किन्तु मिस्र के टोलेमी चतुर्थ ने राफिया के युद्ध (२१७ ई० पू०) में उसे परास्त कर फोनेशिया, सीरिया और पेलेस्टाइन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। उधर असफल होकर

एण्टिओकस ने बैक्ट्रिया और भारत पर चढ़ाई की जिसमें उसको विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। वहाँ से लौटकर उसने रोम के विरुद्ध हेनीबाल की सहायता के लिए प्रयाण किया। किन्तु एक युवती के प्रेम में वह ऐसा फँसा कि उसने सब बातों में लापरवाही दिखायी। फलतः युद्ध में परास्त होकर उसे लौटना पड़ा। छत्तीस वर्ष राज्य करने के बाद उसकी मृत्यु हो गयी (१८७ ई० पू०)।

एण्टिओकस चतुर्थ १७५ ई० पू० राज्य सिंहासन पर बैठा। उसका स्वभाव विलक्षण और विरुद्ध गतिमति का निकला। शासनिक योग्यता के साथ ही साथ उसमें पागलपन के लक्षण भी पाये जाते थे। कला के संवर्द्धन के साथ उसमें भड़ैती और क्रूरता भी विद्यमान थी। मदिरा-प्रमदा-सेवी ऐसे दर्जे का था कि उसने एक प्रेयसी को तीन नगरों का अधिकार दे दिया। यद्यपि एण्टिआक नगर को उसने श्री और शोभा-सम्पन्न तथा तत्कालीन कला का केन्द्र बना दिया तथापि अपने रहन-सहन में उसे सादगी ही पसन्द थी। राजसी टीमटाम का उसे शौक न था। साधारण जनता में अज्ञात रूप से मिल-जुलकर उनके सुख-दुख, विचारों और व्यवहारों को समझने का प्रयत्न करता था। कारीगरों की दुकानों और कारखानों में जाकर वह उनके कौशल और व्यवसाय को देखा-भाला करता था। सन् १६९ ई० पू० में उसने मिस्र पर चढ़ाई की, किन्तु रोम राज्य ने उसको वापस आने का आग्रह किया। वह रोम राज्य से संघर्ष करना अहितकर समझ कर लौट आया। फारस में मिर्गी से उसकी मृत्यु हो गयी (१६३ ई० पू०)

बैक्ट्रिया

सैल्यूकस वंश के सम्राट् एन्टिओकस द्वितीय के समय से बैक्ट्रिया के गवर्नर ने स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना आरम्भ किया (२५० ई० पू०)। उसके दमन के लिए एण्टिओकस तृतीय ने बल्ख पर चढ़ाई की (२०८ ई० पू०)। उस समय बैक्ट्रिया में यूथीदिमस राज्य कर रहा था। ढाई वर्ष तक नगर का घेरा चलता रहा। अन्त में यूथीदिमस के पुत्र देमेट्रिअस ने एण्टीओकस को समझाया कि यदि बल्ख का शासन निर्बल हो गया तो उत्तर के शक आदि बर्बर ग्रीकों का नाश कर साम्राज्य और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे। उसके उक्त कथन में सत्यता थी। एण्टिओकस को अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर संघर्ष बढ़ने की भी आशंका थी। परिणाम यह हुआ कि एक सन्धि हुई जिसके अनुसार एन्टि-ओकस ने यूथीदिमस का राज्याभिषेक ही नहीं किया बल्कि अपनी एक पुत्री का

विवाह भी उससे कर दिया (२०६ ई० पू०)। यूथीदिमस ने धीरे-धीरे मौर्य-वंशीय राजाओं के प्रभुत्व को हटाकर अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और पंजाब की उत्तर पश्चिमी सीमा पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसका पुत्र देमेट्रिअस उससे भी उत्साही निकला। उसने आरिआ और अराकोशिआ प्रान्तों को अपने राज्य में मिलाकर भारत से पश्चिम के व्यापार मार्ग अपने अधिकार में कर लिये। उसके बाद वह भारत की ओर घूमा। टेक्सिला में राजधानी स्थापित कर उसने मिनाण्डर नामक सेनापति को भारत पर आक्रमण करने भेजा और वह स्वयं सिन्धु नदी की घाटी से सिन्धु और सम्भवतः सौराष्ट्र तक पहुँच गया। मिनाण्डर बढ़ते-बढ़ते पाटलिपुत्र तक पहुँच गया (१८७ ई० पू०)। किन्तु थोड़े ही समय के बाद उसको पीछे हटकर मथुरा में पैर जमाने पड़े। उसके पीछे हटने के दो कारण थे। एक तो शुंग वंश के सम्राट् पुष्यमित्र का उत्थान और दूसरा पश्चिम की ओर से एण्टिओकस चतुर्थ द्वारा रोम की साम्राज्य-विस्तार की नीति से घबराकर अपने भाई यूक्रेतिदस का बैक्ट्रिया जीत लेने के लिए भेजा जाना। सम्भवतः उस संघर्ष में दिमेत्रिअस मारा गया और यूक्रेदितस ने फिर सैल्यूकस वंश का प्रभुत्व स्थापित करना शुरू कर दिया (१६७ से ६६ ई० पू०)। यह सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। देमेत्रिअस के पुत्र ने यूक्रेतिदस को परास्त कर परलोक भेज दिया। मिनाण्डर की चिन्ता दूर हुई और वह बौद्धों से मिल-जुलकर अपने देहावसान (१५० ई० पू०) तक शासन करता रहा। बैक्ट्रिया को यूह्ची कबीले के चीनियों ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। ईसा की प्रथम शती के मध्य तक भारत में ग्रीकों का भी पतन हो गया।

संस्कृति

होमर का युग (८०० ई पू०)

होमर के युग में पुरुष लम्बे-चौड़े, सुडौल और बलिष्ठ थे। वे शिर पर लम्बे बाल और दाढ़ी रखते; तहमत की तरह कमर में कपड़ा लपेट लेते और शरीर के ऊपरी भाग को चादर से, जो घुटने तक लटकती थी, ढँककर कन्धे के पास पिन से अटका देते थे। घर में वे नंगे पैर घूमते थे, किन्तु बाहर जाते समय चप्पल की तरह का पदत्राण पहन लेते थे।

स्त्रियाँ भी लम्बी, सुडौल, स्वस्थ और सुन्दरी होती थीं। वे भी पुरुषों जैसे ही कुछ कपड़े पहनती थीं, लेकिन कमरबन्द बाँधती और दुपट्टा-सा ऊपर से ओढ़ लेती

थीं। स्त्री-पुरुषों के दोनों हाथ खुले होते थे। पुरुषों के पैर खुले किन्तु स्त्रियों के ढँके रहते थे। दोनों को आभूषण पहनने का शौक था। अमीरों और गरीबों का एक-सा पहनावा था, किन्तु अमीरों के कपड़े कीमती होते थे।

अमीर लोगों की सम्पत्ति प्रायः गायों, बैलों, घोड़ों, भेड़ों, बकरियों, सुअरों आदि पशुओं के रूप में होती। किन्तु साधारण लोग कृषि द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। अमीर अच्छा मांस, मक्खन, और शक्कर खाते, किन्तु साधारण व्यक्ति मछली, चरबी और शहद पर गुज़ारा करते थे। जमीन कबीलों या कुटुम्ब की होती थी न कि व्यक्तियों की। उसका प्रबन्ध एकैकशः कुलपति किया करते थे। पशुओं के चरने के लिए बड़े-बड़े मैदान थे जिन पर आरम्भ में सबको चराई का अधिकार था। धीरे-धीरे इन चरागाहों पर अमीरों और सबल लोगों ने अपना-अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिया।

अमीर, गरीब, मर्द, औरत सभी अपनी आवश्यकताओं की अधिकांश चीज़ें अपने हाथ से बनाते थे। किन्तु जो उनसे न बन सकतीं उन्हें वे कारीगरों को बुला कर अपने घर में बनवा लेते थे। कारीगर उस युग में स्वतन्त्र व्यक्ति थे। गुलामों के द्वारा चीज़ें बनवाने का रिवाज बहुत बाद को चला। मालिक और मजदूर का पारस्परिक व्यवहार सहानुभूतिमूलक था। यहाँ न केवल लड़ाई में पकड़े गये बन्दियों के ही साथ अपितु गुलामों के प्रति भी उदार व्यवहार किया जाता था। तत्कालीन जीवन ग्रामीण था। उस समय सिक्के न थे। अधिकतर व्यापार विनिमय से होता था किन्तु कांसा, लोहा, सोना आदि धातुओं के टुकड़ों अथवा गाय, बैल आदि पशुओं के रूप में लेन-देन होता था। यात्रा, परिवहन अथवा व्यापार हेतु गाड़ियों तथा खच्चर आदि पशुओं से काम लिया जाता था।

होमर के युग में लोग अक्खड़, उजड्ड और झगड़ालू थे और मरने-मारने के लिए तैयार रहते थे। यदि युद्ध में वे विजय पाते तो अपने शत्रु बन्दियों में से पुरुषों को मार डालते और स्त्रियों को उनके रूप रंग के अनुसार या तो अपने घर बैठाल लेते या गुलाम बना देते थे। जल अथवा स्थल-मार्ग से डाके डालना और लूटमार करना उनका व्यवसाय था। उस युग में अस्त्रजीवी होना व्यापार से अधिक महत्त्व और सम्मान का व्यवसाय माना जाता था। झूठ बोलना और दगाबाजी साधारण बात गिनी जाती थी। कायरता भयंकर और अक्षम्य दोष माना जाता था।

कुटुम्ब का शासक पिता माना जाता था। उसके असीमित अधिकार थे। वह चाहता तो अपनी सन्तति को बलि चढ़ा देता, चाहे जितनी स्त्रियों से व्याह कर

लेता अथवा उनको जिसे चाहे दे डालता था। साधारणतः अपनी शक्ति का वह अतिशय दुरुपयोग न करता होगा क्योंकि ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें पिता के सन्तति के प्रति स्नेह और स्त्री के प्रति आदर-सम्मान के भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। उस युग में स्त्री का स्थान पेरिक्लीज़ के सांस्कृतिक युग से श्रेष्ठ था। यद्यपि कन्या का वरण क्रय द्वारा होता था तथापि उसका पिता अच्छा-खासा दहेज भी कन्या के निमित्त देता था। विवाह के अनन्तर प्रेम का प्रसंग उठता था, न कि उसके पूर्व। प्रायः स्त्रियाँ अपने पति की अनुरक्त रहती थीं। किन्तु पुरुष प्रायः इधर-उधर भटक जाते थे। स्त्रियाँ घर के सारे काम—अनाज पीसना, सूत कातना, कपड़े बुनना, कशीदा काढ़ना और भोजन पकाना आदि—कर्तव्य समझ कर सहर्ष करती थीं। उनको पढ़ने-लिखने का न तो समय था, न उसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती थी। पुरुष की भी पढ़ने-लिखने में कोई रुचि न थी। वह व्यायाम, अस्त्र-शस्त्र-संचालन, सवारी करने, शिकार, तैरने, मछली पकड़ने और पशुपालन को ही पर्याप्त समझता था। लिखना-पढ़ना एक प्रकार का रोजगार था। आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं रोजगारियों से काम चला लिया जाता था। भाटों और गवैयों की सेवाएँ उसी प्रकार समय-समय पर ली जाती थीं।

उस युग में स्थापत्य अथवा ललित कलाओं का कोई उल्लेखनीय प्रदर्शन नहीं मिलता। कारीगरी धातुओं को ठोकपीट कर आवश्यक चीज़ें बनाने और सजाने तक ही सीमित थी। लोग कच्चे छप्परदार घरों में रहते थे। कभी भीतर की दीवारों को रंगते और सजाते थे। घरों में न तो रसोई घर होता था न शौचादि के लिए कोई प्रबन्ध ही। घरों में मुख्य दरवाजा तो रहता था, किन्तु खिड़कियों अथवा गवाक्षों का अभाव था। बैठने और लेटने के लिए लकड़ी की नक्काशीदार कुर्सियाँ और पलँग बनते थे। कबीले के प्रमुख नेताओं और राजों के रहने के लिए गढ़ी अथवा गढ़ का निर्माण होता था। उस युग में देवालयों के निर्माण का शायद आरम्भ भी न हुआ था।

राजा का मुख्य कार्य सेनापतित्व था। यद्यपि साधारणतया राजा वंशानुगत होता था तथापि अयोग्य राजा को स्थानच्युत करने का अधिकार जनसभा को था। यदि सेना राजा से सन्तुष्ट और उसकी आज्ञानुवर्तिनी होती तो उसको कोई हानि नहीं पहुँचा सकता था। उसकी आज्ञा तथा निर्णय में मीन-मेख निकालने की कोई गुंजाइश न थी। प्रचलित परम्परा को ही अधिकतर कानून का महत्त्व दिया

जाता था। राजा की आमदनी लूट के अंश से अथवा प्रजा की भेंटों से होती थी। उस युग में सम्भवतः लगान, टैक्स आदि का अस्तित्व न था।

यूनान की बहुमुखी संस्कृति

होमर के युग की संस्कृति और सभ्यता ग्रीस की संस्कृति और सभ्यता का पहला अध्याय थी। उसके पश्चात् सामन्तों और कुलीनों के युग का आरम्भ हुआ। उस युग में ओलम्पिया आदि देवस्थानों के खेलों का ग्रीस के सामूहिक जातीय जीवन में महत्त्व बढ़ गया। धार्मिक सभाओं का भी प्रत्येक राज्य में संस्थापन हुआ जिससे एकता की एक नयी संयोजन शक्ति उत्पन्न हो गयी। आपस के सम्पर्क से यूनानियों में एक ऐसी भाषा प्रचलित हो गयी जिसके द्वारा विभिन्न राज्यों के निवासी विचारों का आदान-प्रदान कर सकते थे। धार्मिक, सामाजिक एवं भाषा के अनुबन्धन से ग्रीस वालों में एकात्मकता का इतना अभिमान बढ़ा कि वे अपने सिवा इतर लोगों को बर्बर और असभ्य समझने लगे। यद्यपि उनमें अपनी-अपनी राष्ट्रीय विभिन्नताएँ थीं तथापि वे अपने को हेलन देवी ही की सन्तति मानते थे। फिर भी ग्रीस के राज्यों में स्वार्थ-साधन तथा उत्कर्ष की इतनी लालसा धधकती थी जिससे ऐक्य भाव में भयंकर विघ्न पड़ता रहा।

सामन्त-कुलीन युग में ग्रीक जनता का रहन-सहन दीन-हीनों का-सा था। उनके नगर गन्दे, मकान, मन्दिर छोटे और भद्दे थे। उनकी देव मूर्तियाँ तक भोंड़ी थीं। पढ़ने-लिखने वालों की संख्या बहुत कम थी। आचार-विचार की कल्पना अपनी प्रारम्भिक दशा में थी। किन्तु प्रगति के लक्षण कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगे थे। उन लक्षणों में साहित्य की उत्पत्ति विशेषतः उल्लेखनीय है। वीरों की गाथाओं के सिवा उस युग में साधारण जनता के कष्टमय जीवन की चर्चा साहित्य में आने लगी थी, जिसका प्रभाव आगे चलकर ग्रीस के राजनीतिक जीवन और संगठन पर विशेष रूप से दिखाई पड़ा। लोगों में मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों और व्यवहारों का विचार आरम्भ हुआ। उस युग का सबसे प्रसिद्ध कवि हेसिअड बोई-शिया नगर का एक साधारण किसान था।

आर्थिक विकास

कुलीनों के युग के उपरान्त ग्रीस में अनाचारियों के युग का आरम्भ हुआ। ग्रीस के लोग प्रायः खेती करते और जैतून के बाग लगाते थे। जैतून का तेल वे देश-

विदेशों में भेजते और उसके बदले मछली, अनाज, अम्बर, धातु की तथा अन्य शौक की चीज़ें जैसे कालीन आदि बाहर से मँगवाते थे। कुछ काल के उपरान्त बाहर से आने वाली चीज़ों की वे स्वयं नकल करने लगे। सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण कुछ चीज़ें तो वे ऐसी सुन्दर बनाते थे कि उनकी माँग बाहर से भी आने लगी। उनके बनाये मिट्टी के बरतन जिन पर रंगीन दृश्य अथवा चित्र होते, इतने सुन्दर थे कि आज तक उनका सम्मान होता है। इस युग में ग्रीस के लोगों में उद्योग-धन्ध बढ़े, व्यापार की उन्नति और विस्तार की चेतना जाग्रत हुई जिसका उनके जीवन और इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके उपनिवेश इटली, सिसली, एशियाई कोचक तथा मिस्र में स्थापित हो गये। उनके जहाज मध्य सागर के तटों पर व्यापार करते थे। व्यापार और समुद्रयात्रा के कारण यूनानियों का अन्य देशों से सम्पर्क बढ़ता गया। अन्य देशों की संस्कृतियों, कला-कौशलों, सभ्यताओं का ग्रीस के सांस्कृतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनमें नये जीवन का संचार हुआ जिससे उनकी सुप्त प्रतिभा और अविकसित शक्तियाँ चमत्कृत हो उठीं। कला-कौशल की वृद्धि और उन्नति के साथ व्यापारिक समृद्धि बढ़ी। नये प्रश्न और नवीन समस्याएँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होती गयीं। उद्योग-धन्धों के बढ़ने से गुलामों की अधिकाधिक आवश्यकता पड़ी जिससे उनकी संख्या बढ़ती गयी। बढ़े हुए व्यापार की रक्षा के लिए यह आवश्यक हुआ कि ग्रीस का जहाज़ी बेड़ा कम-से-कम फोनीशिया की नौ-शक्ति का तो सामना कर सके। यों तो सारे ग्रीस को जलसेना की आवश्यकता थी किन्तु समुद्र तट पर अवस्थित नगरों के लिए सबसे अधिक थी। उनका उत्तरदायित्व भी अधिक था। सम्भवतः इसी कारण एथेन्स को अग्रसर होना पड़ा। वह यहाँ तक आगे बढ़ा कि उसको ही ग्रीस का नेतृत्व प्राप्त हो गया। ग्रीस में जहाज बनाने का अच्छा काम होने लगा।

व्यापार की वृद्धि के साथ सिक्कों का बनना बढ़ता गया। लीडिया के सिक्कों का उन्होंने अनुकरण शुरू किया किन्तु आगे चलकर वे उनसे भी बढ़िया सिक्के बनाने लगे। सिक्के सूद पर चलने लगे जिसकी दर साधारणतः अठारह प्रतिशत वार्षिक होती थी। व्यापार तथा सूद पर सिक्के चलाने के कारण ग्रीस में धनिकों और मध्य श्रेणी के लोगों का उदय और विकास होने लगा। अलेक्ज़ेण्डर के युग में अलेक्ज़ेण्ड्रिया नगर व्यापार का बड़ा प्रसिद्ध केन्द्र हो गया। स्पेन से चीन तक का माल यूरोप, अफ्रीका और एशिया से उसके बन्दरगाहों से आता जाता था। व्यापार की वृद्धि के साथ वहाँ बैंकों की स्थापना हो गयी। चार हजार टन के

जहाज वहाँ चलते थे। जहाज़ों के सुभीते के लिए वहाँ एक विशाल मीनार में आकाश-दीप आरोपित किया गया।

सामाजिक जीवन

इस युग का गार्हस्थ्य जीवन साधारणतया वैसा ही रहा जैसा कि होमर के युग में था। इतना अवश्य हुआ कि व्यापार द्वारा अमीर होने के कारण वैश्य-वृत्ति वालों की एक महत्त्वपूर्ण श्रेणी बन गयी। फलतः समाज में कुलीनों, पूँजी-पतियों, मध्य वर्गीयों तथा गुलामों की चार श्रेणियाँ स्थापित हो गयीं। यदि गुलामों की श्रेणी को पृथक् कर दिया जाय तो तीन ही श्रेणियाँ मुख्य मानी जा सकती हैं। जातीय जीवन में स्फूर्ति बढ़ने के कारण सोलन के ही युग में आलस्य एक भारी दोष माना जाने लगा। व्यसनों में फँसकर जो आलसी हो जाते थे उनका समाज में निरादर होता। उनको सभा में बोलने का अधिकार न दिया जाता।

समाज में स्त्रियों की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम श्रेणी उनकी थी जो विधिपूर्वक विवाहित होकर गृहिणी अथवा पुरन्ध्री का स्थान प्राप्त करतीं। कन्या का पिता उपयुक्त कुल, आर्थिक स्थिति तथा स्वास्थ्य का विचार कर लड़का ढूँढ़ता और उनका विवाह करा देता था। विवाह का मुख्य उद्देश्य हृष्ट-पुष्ट, योग्य सन्तान उत्पन्न करना था। विवाह से पहले कन्या के कुमारित्व की रक्षा आवश्यक समझी जाती थी। विवाह के लिए १५ वर्ष की उम्र ठीक मानी जाती थी। कन्या को आदर्श जननी और गृहिणी बनाने के लिए तदनुकूल शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी। स्पार्टा में तो स्त्रियों को पुरुषों के बीच में आने-जाने, मिलने-जुलने की स्वतन्त्रता-सी थी जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, किन्तु एथेन्स में विवाहिता स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही सीमित था। बाहर की दुनिया से उनका मानों कोई सरोकार ही न था। अतः इधर-उधर जाने की उन्हें कोई आवश्यकता न समझी जाती थी। हाँ, जातीय एवं धार्मिक उत्सवों में जाने पर तो उतना कठोर प्रतिबन्ध न था। साधारणतः वे मकान के ज़नानखाने में रहतीं और मरदानखाने में न आती-जाती थीं। जनानखाने का सारा प्रबन्ध उन्हीं के अधिकार में रहता था। उनका स्थान पुरन्ध्री का था। पति अथवा अन्य लोग उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते थे, अपितु उनकी मान-मर्यादा का आदर करते थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीस के निवासी शारीरिक सम्बन्ध को ही प्रेम समझते थे। मानसिक समवेदना या भावुकता का उनकी कल्पना में कोई महत्त्व

न था। रोमांस के लिए बहुत कम स्थान था। इसीलिए विवाहिता स्त्री के प्रति उनका मन भावुकता वश न था। सम्भव है कि भावुकता को वे लोग सन्तान के लिए अनिष्ट और अहितकर मानते हों। उससे सन्तति में कोमलता, विचार तथा विवेचन शक्ति की दुर्बलता तथा भावुकता की अनावश्यक अधिकता आदि दोषों के आ जाने का काल्पनिक अथवा वास्तविक भय उन्हें हो। विवाहिता स्त्री से रमण करना पति का कर्तव्य माना जाता था, जिसका प्रतिपालन गम्भीरता के साथ समय-समय पर किया जाता था। जननी या गृहिणी होने के नाते विवाहिता स्त्रियों का स्थान समाज में अग्रगण्य था। कहा जाता है कि ग्रीस वाले गार्हस्थ्य जीवन के सुख से अनभिज्ञ थे। ग्रीस के प्रमुख दार्शनिक प्लेटो की राय में गृहस्थ्य जीवन से न तो कोई लाभ होता है और न उसकी आवश्यकता है। यदि पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध केवल गर्भाधान तक ही सीमित कर दिया जाय और विवाह की प्रथा उठा दी जाय तो सर्वथा उचित और लाभदायक होगा।

उन्मुक्त प्रेम की वासना की पूर्ति के लिए अथवा रोमांस की पूर्ति के लिए ग्रीक लोग उपपत्नियों, गणिकाओं, वेश्याओं आदि स्वैरिणियों से सम्बन्ध स्थापित करते थे। न तो विवाहिता स्त्रियाँ स्वयं और न समाज ही उस प्रकार के सम्बन्धों में भयंकर अनौचित्य अथवा निन्दनीय दुराचार समझता था। सोलन ने वेश्यावृत्ति को वैध बनाकर वेश्यालयों का निरीक्षण और उनसे कर वसूल करना शुरू कर दिया। उसकी आय से 'एफ़रोडाइट' (पेण्डिमास) नाम की नग्न, किन्तु सुन्दरी देवी के मन्दिर का निर्माण कराया गया। वारांगनाओं की तीन श्रेणियाँ थीं। सबसे निम्न श्रेणी की वेश्या 'पोरनई' कहलाती थीं जिनकी एकमात्र जीविका दाम लेकर थोड़े अथवा अधिक समय के लिए एक या अनेक व्यक्तियों को अपना शरीर अर्पित कर देना थी। मध्य श्रेणी की वेश्याएँ 'आलेट्राइडस' कहलाती थीं। वे नाच-गाने के पेशे के साथ पुरुषों का मनोविनोद और वेश्यावृत्ति भी करती थीं। स्वैरिणियों की सबसे उच्च श्रेणी 'हेनेरी' नाम से प्रख्यात थी। वे प्रायः सुन्दरी, शिक्षित, कलाविद, सभाचतुर और व्यवहारकुशल होती थीं। गान, नृत्य के सिवा वे काव्य दर्शन का अध्ययन ही नहीं, वरन् शास्त्र-चर्चा भी करती थीं। वे प्रायः अपने ही घर में रहती थीं। जिनको उनसे मिलना होता वे उनके घर जाते थे। उनकी गोष्ठी में चित्रकार, शिल्पकार, साहित्य तथा पौराणिक विषयों के प्रेमी, दार्शनिक, इतिहास-प्रेमी आदि विचार-विमर्श तथा विवाद के लिए खुल्लमखुल्ला आते-जाते थे। यद्यपि वेश्याओं को नागरिक अधिकार प्राप्त न थे और न वे अपने देवी-

देवताओं के सिवा दूसरे देव-मन्दिरों में जाने पाती थीं, तथापि उनके प्रति लोगों में दया अथवा घृणा के भाव न थे।

ग्रीस के साधारण लोगों का ही नहीं, वरन् प्रसिद्ध दार्शनिकों और शिक्षित जनों की यह धारणा थी कि मैत्री का भाव प्रेम से बढ़कर है। यद्यपि कभी-कभी किसी स्त्री-पुरुष में प्रेम का परिपाक मैत्री के लक्षण उत्पन्न कर देता था तथापि साधारणतया स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शारीरिक प्रेम तक ही सीमित रहता था। ग्रीकों की धारणा थी कि मैत्री वस्तुतः पुरुषों में ही हो सकती है, क्योंकि उनमें ही जीवन के जितने अंग हैं पूर्ण रूप से विकास प्राप्त कर सकते हैं। सख्य भाव का प्राणपण से निर्वाह करना मनुष्य का श्रेष्ठतम कर्तव्य माना जाता था। उसमें उसको अलौकिक सुख की अनुभूति होती थी। प्रायः लोग किसी नवयुवक को अपना संगी या चेला बना लेते थे और उसकी शिक्षा-दीक्षा में यथाशक्ति कोई कोर-कसर न छोड़ रखते थे। वे एक दूसरे के सुख-दुख के साथी हो जाते थे। कभी-कभी मैत्री का सम्बन्ध प्रेमवासना अथवा कामुकता का अस्वाभाविक दोष ग्रहण कर लेता था। स्पार्टा और क्रीट में ऐसे सम्बन्धों में कोई अनौचित्य नहीं माना जाता था। एथेन्स में जिन पर यह आरोप लगाया जाता उनके नागरिक अधिकार छीन लिये जाते थे, किन्तु समाज में उस दोष को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था।

शिक्षा-दीक्षा

ग्रीस में स्कूलों के लिए इमारतें न थीं। विद्यार्थी अध्यापक के घर में एकत्रित होते थे। बालकों की पुस्तकें लेकर दास उसके साथ जाता और बेत लेकर बैठा रहता। अध्यापक प्रायः गरीब होता और समाज में अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। बालकों के पिताओं से जो कुछ मिलता उससे उसका निर्वाह होता। उसके पढ़ाने का ढंग पुरानी पद्धति के अनुसार था। लिखना-पढ़ना और पुराने काव्यों के अंशों को कण्ठाग्र कराना बालक की शिक्षा के लिए पर्याप्त समझा जाता था। बालिकाओं की शिक्षा के लिए कोई प्रबन्ध न था। शिक्षा में राज्य को केवल इतनी ही दिलचस्पी थी कि उसके लिए अनिष्ट करनेवाली कोई बात उसे न पढ़ाई जाय। इसलिए राज्य की ओर से कुछ लोग जाँच करने के लिए नियुक्त कर दिये जाते थे। अठारह वर्ष की अवस्था से तीन वर्ष तक सैनिक शिक्षा युवकों को दी जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति को हृदयंगम करा दिया जाता था कि उसका परम कर्तव्य

शासन की आज्ञा पर चलना, देश, देवस्थानोंका समादर और उनकी रक्षा आखिरी दम तक करना है। युवक प्रायः अपना समय मैदान के खेलों और क्रीड़ाओं में व्यतीत करते थे। कुश्ती, मुष्टियुद्ध, दौड़, अश्व और रथ-संचालन, शेल फेंकना, कूदना-फाँदना उनके मुख्य खेल थे। बाकी समय वे गप्पें लड़ाने, हलका जुआ खेलने में, हज्जामों की दूकानों अथवा सुरालयों में, गाने-बजाने में, दावतें खाने और आपस में धक्का-मुक्की करने में खर्च करते थे।

पेरिक्लीज के युग में एक नवीन परिपाटी चल पड़ी। खाने-पीने के समय लोग साहित्य, कलाओं, आचार-विचार और संगीत के विषय में विचार-विनिमय करने लगे। उस समय तार्किकों अथवा हेत्वाभासियों का एक नया समुदाय पैदा हो गया जो प्रत्येक विषय पर निर्बाध शंकाएँ और आलोचनाएँ किया करता था। वे लोग भाषण कला, गणित, ज्योतिष, प्रकृति-विज्ञान तथा साहित्य एवं अलंकार कला की भी शिक्षा देते थे। हेत्वाभासी सज्जनों के ही परिश्रम से ग्रीस में उच्च शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ। उनकी शिक्षा से ग्रीस में गद्य शैली का विकास शीघ्रता से होने लगा। लोगों में एक नयी चेतना, विद्याविलास की रुचि तथा तार्किक चिन्तन की पद्धति पर विचार करने की परिपाटी चल पड़ी। पुराने लोग इन नयी प्रवृत्तियों से घबराते और शंकित होते थे, किन्तु युवकों का उनमें अनुराग बढ़ता ही गया। व्यक्तिगत विभिन्न विचारों के संवर्द्धन और संघर्ष से बौद्धिक उन्नति होती चली गयी, जिसके फलस्वरूप ग्रीस में दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विचारों और संप्रदायों की विलक्षण सृष्टि हो गयी। हेत्वाभासियों की धारणा थी कि वास्तव में किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं, यदि हो भी तो वह जानी नहीं जा सकती और यदि अनुभूति हुई भी तो वह वर्णनातीत है। मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड है, चाहे वे अस्ति अथवा नास्ति जगत की हों। अतः काल्पनिक जगत में व्यर्थ भटकना छोड़कर मनुष्य के लिए व्यावहारिक गुणों की साधना करना ही समीचीन है।

ग्रीस के दार्शनिक विचारों के विकास में सबसे पहला प्रश्न सृष्टि अथवा विश्व की उत्पत्ति के रहस्य का उठा। ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व मेरिटस नगर का थेल्स नामक दार्शनिक इस परिणाम पर पहुँचा कि सृष्टि का विकास जल तत्त्व से हुआ और अन्त में उसी में उसका अवसान भी होगा। कुछ काल के बाद उसी नगर के एनिक्समेण्डर ने यह स्थापना की कि सृष्टि की उत्पत्ति 'अनन्तत्व' से हुई। वह गतिशील था और ऊपर-नीचे आगे-पीछे की ओर घूमता था। उसके टुकड़े धीरे-धीरे फैलकर विश्व रूप में परिणत हो गये। उन दोनों मतों को असन्तोषजनक समझकर उसी

नगर के तीसरे विचारक एनेक्सिमिनस ने यह कहा कि विश्व का मूल तत्त्व वायु है।

विचारकों का दूसरा दल इस ऊहापोह में लगा कि विश्व के विभिन्न अंगों और सत्ताओं का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। उन विचारकों में मेलिटस के निवासी पाइथागोरस का नाम प्रसिद्ध है। थेल्स की तरह वह भी मिस्र तथा बेबीलोन की विद्याओं से बहुत प्रभावित था। पाइथागोरस और उसके मतानुयायियों का विश्वास था कि इस सम्बन्ध का रहस्य 'अंक' है। अंक ही की बिन्दु के रूप में एक मात्र सत्ता थी। उसी की वृद्धि से रेखा, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, निचाई, गोलाई और अनेक प्रकार के पहलुओं का विकास पदार्थों के रूप में हुआ। उनके मत में ९५९ तथा ७२९ रहस्यपूर्ण हैं। पाइथागोरस के विचारों का प्रभाव साधारण ग्रीकों में ही नहीं, वरन् प्लेटो तक में कुछ-न-कुछ पाया जाता है। संभव है कि इसी मत को अरबी-फारसी वाले 'हुरुफी' मत कहने लगे। आठ स्वरों के संयोजन या मैत्री से राग अथवा लय उत्पन्न हो जाता है, अतः वह मैत्री का प्रतीक है। उपर्युक्त अंकों के उलटफेर में ही सृष्टि के पदार्थों का अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित हुआ।

दोनों श्रेणी के विचारकों का मत था कि संसार परिवर्तनशील है अर्थात् परिवर्तनशीलता उसका विशिष्ट लक्षण है। अब प्रश्न यह उठा कि परिवर्तन क्या है। एफिसस नगर के विचारक हेरेक्लिटस ने यह कहा कि अग्नि का स्वभाव अस्थिरता और परिवर्तनशीलता है, अतः अग्नि ही सृष्टि का मूल पदार्थ है और परिवर्तन उसका मूल गुण है। अतः कोई चीज़ स्थायी नहीं है। हेरेक्लिटस के विचारों पर पारसी धर्म का प्रभाव पड़ा था। एलिआ के विचारकों ने, जिनमें जेनोफेनीज प्रमुख था, उपर्युक्त मत को भ्रमात्मक बताकर यह कहा 'सृष्टि की समस्त सत्ता शाश्वत है उसमें घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। हाँ, उसके उपांगों में फेरफार होता रहता है। इसलिए परिवर्तनशीलता न तो सत्ता ही मानी जा सकती है, न मूल गुण। यह सरासर असम्भव है। उस मत की पुष्टि परमेनीडीज़ और जीनो ने की।

एम्पिडाक्लीज़ सब प्रचलित मतों पर विचार करके इस निश्चय पर पहुँचा कि विश्वसत्ता तो मूलतः शाश्वत है, किन्तु संयोजक और वियोजक व्यापार उसमें होते रहते हैं। सृष्टि के मूल में मिट्टी, वायु, जल और अग्नि चार तत्त्व हैं। प्रत्येक के अगणित परमाणु हैं। अनेकानेक ढंग से उनका संयोजन और वियोजन होता रहता है जिससे विभिन्न रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं। भावना के जगत में उनको अनुकूल और प्रतिकूल अथवा मैत्री और पार्थक्य कहा जा सकता है।

विश्व की भौतिक सत्ता के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचारधाराओं का महत्त्वपूर्ण विकास 'आणविक' सिद्धान्त में हुआ। उसके संस्थापकों में ल्युकिप्स और डिमाक्रिटस प्रमुख हैं। उनका सिद्धान्त यह था कि परमाणु अगणित तो अवश्य हैं पर उनके गुणों में कोई मौलिक विभिन्नता नहीं, उनके आकारों और रूपों में अवश्य बहुलता है। प्रत्येक परमाणु में स्वाभाविक गतिशक्ति निहित है जो उसको सक्रिय करती है। परमाणु स्वयं एक-से और अनश्वर हैं, किन्तु उनके संयोजन और वियोजन के आकारों, संख्याओं और प्रकारों में परिवर्तन होता रहता है।

भौतिक सत्ता के विचारकों के मत जिन विचारकों को असंतोषजनक प्रतीत हुए उनमें प्लेटो (अफलातून) का महत्त्व सबसे अधिक है। उसकी धारणा यह थी कि परिवर्तनशील पदार्थ शाश्वत सत्य नहीं हो सकते। वास्तविक सत्य सत्ता उस विचार-लोक की है जिसके प्रतिबिम्ब मात्र हमारी अनुभूतियाँ हैं। उसी शाश्वत सत्य की प्रतिच्छाया हमको पदार्थों और अनुभूतियों के रूप में मूर्तिमान जान पड़ती है। वह सत्य सत्ता अनादि और अनन्त है। परिवर्तनशील पदार्थ जगत् से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं क्योंकि वह अनश्वर और आदर्श वास्तविक सत्ता है। भौतिक पदार्थ पर शाश्वत सत्य के विविध रूपों का आरोप होता रहता है। भौतिक जगत् का, जो इन्द्रिय ग्राह्य है, सर्जन हुआ है। वह उस सृष्टिकर्त्ता की रचना है जो स्वयं दोष-रहित, सम्पूर्ण और सबका प्रेरक है। प्लेटो ने यह नहीं बताया कि उस प्रेरक का स्वरूप क्या है। जगत् में जो अपूर्णता और दोष दिखाई देते हैं वे इस कारण हैं कि पूर्ण सत्य के पूरे प्रतिबिम्ब को भौतिक पदार्थ ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखते।

परमाणुवादियों और लोकोत्तर सत्य सत्तावादियों के विचारों की विषमता को दूर करने का प्रयत्न प्लेटो के शिष्य सुप्रसिद्ध अरस्तू ने किया। उसने वास्तविक पूर्ण सत्य की सत्ता तथा भौतिक जगत् की अपनी निजी सत्ता, दोनों का अस्तित्व माना। अद्वैत सत्य सत्ता के स्थान पर उसने द्वैत सत्ता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उसकी यह धारणा थी कि दोनों सत्ताएँ पृथक् नहीं, वरन् संयुक्त हैं। संकल्प और उसकी मूर्ति में पार्थक्य करना भ्रमात्मक है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध सदैव रहता है। अतः दृश्य जगत् असत्य नहीं, वरन् सत्य का ही एक प्रकार है। दोनों सत्यों का अस्तित्व मानना आवश्यक है। संकल्प (विचार) के अनुकूल भौतिक पदार्थों की रूप-रेखाएं बदलती रहती हैं। उसी को परिवर्तनशीलता कहते हैं। जब भौतिक पदार्थ संकल्प को पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाता तब उसमें कुरूपता

तथा अन्य विकारी दोष आ जाते हैं। भौतिक पदार्थ का एक मात्र उद्देश्य सत्य संकल्प को मूर्तिमान करना है। उसकी प्रगति उसी दिशा में चलती रही है और चलती रहेगी। उत्तरोत्तर पूर्णता को व्यक्त करना पदार्थ का ध्येय है। दोनो सत्ताओं के संयुक्त रहते हुए भी दोनों के पार्थक्य की मानसिक कल्पना की जा सकती है।

इसी कारण प्लेटो को यूरोप में श्रद्धा तथा विश्वास का प्रथम प्रतिष्ठापक कहा जाता है। उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अमरत्व, श्रम, और नीतिशास्त्र की भी उसने मर्मभेदी विवेचना की है। जनसत्ता के आदर्शतत्त्व का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रतिपादन उसने सबसे पहले किया। प्लेटो संसार के प्रतिभाशाली दार्शनिकों की प्रमुख श्रेणी में प्रतिष्ठित है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू (अरिस्टाटिल ३८४ से ३२२ ई० पू०) ने भी अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रमाण दिया। प्लेटो की तरह वह कल्पना और वाद-संवाद के आकाश में उड़ानें न भरकर यथार्थ और ज्ञातव्य तथ्य की गवेषणा में दत्तचित्त हुआ। उसका दृष्टिकोण उतना दार्शनिक न था जितना कि वैज्ञानिक। व्यावहारिक गवेषणा और अन्वीक्षण द्वारा घटनाओं को संग्रह करके उनसे परिणाम तथा सिद्धान्त निकालने का वैज्ञानिक ढंग उसको प्रिय था। जन्तु-जगत् का उसका इतिहास उस पद्धति का देदीप्यमान प्रमाण है। विधाओं का वर्गीकरण जिस योग्यता और कुशलता से उसने किया वह सर्वथा स्तुत्य है। उसको अमरत्व या दैविक विधान में इतनी दिलचस्पी न थी जितनी कि व्यावहारिक विषयों में। अतएव उसने राजनीति-विज्ञान, काव्यालंकार और आचार पर ग्रन्थ रचे। बौद्धिक क्षेत्र में अरस्तू का आज तक सम्मान होता है। ग्रीस के इतिहास की ईसा से पूर्व की पाँचवी और चौथी शतियां दार्शनिक विकास का स्वर्णयुग मानी जाती है। प्लेटो और अरिस्टाटल के मत में दर्शन जीवन की कल्लोल लहरी है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय जिसपर हेत्वाभासिओं और विचारकों ने अपना विचार प्रकट किया, विश्व में मनुष्य की स्थिति का था। भौतिक सिद्धान्तवादियों के अनुसार मनुष्य भी उन्हीं तत्त्वों से बना है जिनसे अन्य चीजों की रचना हुई। अतः उस पर भी वही नियम लागू हैं जो अन्य वस्तुओं पर लगते हैं। इसलिए मनुष्य को भौतिक जगत् के नियमों के अनुसार आचरण करना चाहिए। इस मत के प्रतिकूल प्रोटागोरस ने कहा कि मनुष्य तो विश्व का केन्द्र-बिन्दु है एवं विश्व की सब स्थितियों और वस्तुओं का माप-दंड है। उसमें यह शक्ति और स्वतंत्रता है कि वह अपने जीवन का अपने मन के अनुकूल निर्माण कर सकता है।

अपने ध्येय की पूर्ति के लिए वह प्रकृति की शक्तियों एवं सत्ताओं का अपने मन के अनुकूल नियोजन कर सकता है। एथेन्स के प्रसिद्ध दार्शनिक साक्रेटीज (सुक़रात) ने उस विचारधारा को पुष्ट करते हुए यहाँ तक कह दिया कि विश्व की रचना के सम्बन्ध में ऊहापोह करना समय व्यर्थ नष्ट करना है। जानने का मुख्य विषय तो मनुष्य है। उसके लिए क्या अच्छा एवं हितकर और क्या बुरा या अहितकर है, यह जानना आवश्यक है और उसी में दार्शनिक विचार की सार्थकता है। प्लेटो ने भी उस मत का समर्थन करते हुए कहा कि मनुष्य में ही वह योग्यता है जिससे वह विविध विषयों के गुण एवं वास्तविक सत्ता एवं सत्य को समझ-बूझ सकता है। अन्य दर्शन ही नहीं, वह आत्मदर्शन भी करने की क्षमता रखता है। अतः विश्व में उसका अपना विशिष्ट और अद्वितीय स्थान है। उसकी आत्मा में अलौकिक एवं दैविक ज्ञान तत्त्व का संचार पाया जाता है। पार्थिव शरीर के बन्धनों से ऊपर उठकर मनुष्य मनस् लोक में स्थित होकर शाश्वत सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अरिस्टाटल (अरस्तू) का भी यह मत था कि मनुष्य में अन्य जीवों की विशेषताओं के साथ अपनी अनुपम विशिष्टता उसकी विचारशक्ति है जिसमें रचनात्मक गुण हैं। उसकी यह दिव्यशक्ति दैविक है। सारांश यह है कि मनुष्य में आधिभौतिक और आधिदैविक सत्ताओं का विलक्षण सम्मिलन हुआ है। यदि वह प्रयत्न करे तो देवत्व प्राप्त कर सकता है, देवता बन सकता है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि वह ईश्वर तत्त्व में मिल सकता है या नहीं।

ग्रीक लोग देवताओं को मानते और उनका सम्मान करते थे। परम्परागत विश्वास के कारण देवताओं में उनकी आस्था थी। फिर भी विचारकों और दार्शनिकों ने उनपर भी कुछ विचार किया। ज़िनोफेनीज़ (छठी शती ई० पू०) ने तत्कालीन देवता सम्बन्धी विचारों का उपहास करते हुए कहा था कि देवाधिदेव केवल एक ही है, जो अचल और शाश्वत है। वह सत्ता मनुष्य रूप तो हो नहीं सकती। वह देवाधिदेव ही अचल और अद्वितीय, अनश्वर, अविच्छिन्न तथा सृष्टि का विधाता परम तत्त्व है। सृष्टि के यावत् व्यापारों में शक्ति रूप से वह अन्तर्हित रहता है। सम्भवतः वह वर्णनातीत है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज़ेनोफनीज़ का मत अद्वैत और द्वैत की संधि-रेखा तक पहुँच गया था।

एकेश्वरवाद और अनेक-देवतावाद पर विचार-विमर्श होता रहा। साक्रेटीज़ (सुकरात) ने उस पर सांगोपांग विवाद उठाया जिसका परिणाम यह हुआ कि उस पर जातीय देवताओं का विरोधी होने का अक्षम्य दोष लगाकर उसे प्राणदंड

की सजा दी गयी। अपने विचारों को त्यागने के बदले उसने विष पीकर प्राण दे दिये। नगर छोड़कर चले जाने का प्रस्ताव उसने कायरता तथा देशभक्ति के विरुद्ध समझकर पहले ही अस्वीकृत कर दिया था। उसके शिष्य प्लेटो (अफलातून) ने विवाद जारी रखा, किन्तु अपने मत का इस ढंग से निरूपण किया कि उसपर देव-द्रोही होने का दोष न लगाया जा सके। उसकी आलोचना से यह प्रतीत होता है कि वह केवल एक ही सत्ता को ईश्वर मानता था। वही सत्ता सृष्टि की रचना और उसका नियंत्रण करती है। जीवात्मा उसी का अंश है जो शरीर के बंधनों से मुक्त हो परमात्मा में मिलने के लिए व्याकुल और प्रयत्नशील रहता है। उसके मत को गूढ़ रहस्यात्मवाद कहा जा सकता है।

अरिस्टाटल (अरस्तू) की यह धारणा थी कि संसार के व्यापार का रहस्य ईश्वरीय ज्ञान को पदार्थ (मैटर) पर आरोपित कर उसे मूर्त करना है। ईश्वर नियंत्रक, पदार्थ उपादान और प्रतिमान निमित्त कारण कहे जा सकते हैं। प्रकृति अथवा पदार्थ में निहित ईश्वरीय ज्ञान अनेकानेक रूपों में प्रस्फुटित और मूर्तिमान् होता है। यही सृष्टि का ईश्वराभिमुख संस्करण है। इसका कोई अन्त नहीं क्योंकि ईश्वर और उसका ज्ञान अनन्त है। स्वयं अचल एवं सनातन होते हुए भी विशुद्ध ईश्वरीय सत्ता सब पदार्थों को अनुप्राणित और संसरणशील करती रहती है। सारी सृष्टि उसी की ओर बढ़ने का प्रयत्न करती रहती है।

ग्रीस वालों ने जड़ प्रकृति और चैतन्य के सम्बन्ध में भी विवेचन किया। जड़ प्रकृति और चैतन्य के भेद की ओर स्पष्ट रूप से हिरेक्लीटस ने संभवत: सबसे पहले ध्यान आकर्षित किया था। उसके बाद परमेनाइडीज़ ने यह सुझाया कि चैतन्य मनस्तत्त्व जड़ प्रकृति से भिन्न है और वही उसे अनुप्राणित करके अनेक प्रकार की रचना रचाता है। उसी की प्रेरणा से जगत् का सारा व्यापार चलता है। पांचवी शती ई० पू० में अनेक्सागोरस ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि मनस्तत्त्व ने ही जड़ प्रकृति को सत्ता प्रदान की है और इस संसार का प्रसार किया है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य का पूर्ण ज्ञाता है। धीरे-धीरे विश्व के मनस्तत्त्व के सिद्धान्त को विचारकों ने मनुष्य के चैतन्य मनस्तत्त्व पर लागू किया। प्लेटो ने मनुष्य के चैतन्य मनस्तत्त्व को ही जीव की संज्ञा दे दी। उसके मत से वह तत्त्व जब शरीर में प्रविष्ट हो जाता है तब उसका ज्ञान रुद्ध सा हो जाता है और उसे एक प्रकार की विस्मृति हो जाती है। फिर चिन्तन, मनन और विचार से

उसकी पूर्व स्मृति जाग्रत होती है, पूर्व जन्म में प्राप्त ज्ञान का विकास होने लगता है। मन'तत्त्व ही अपने संचित ज्ञान से पदार्थों में अपना संसार बनाता रहता है। वस्तुतः मन ही सच्ची सत्ता है। संसार उसी की कल्पना और विचार की प्रतिमूर्ति है। प्लेटो ने स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि शुद्ध चैतन्यमनस् का प्रकृति तत्त्व से कैसे गठबन्धन हुआ। इस प्रसंग को वह केवल यह कहकर छोड़ देता है कि चैतन्यमनस् में इन्द्रियों के जगत् में विचरण की इच्छा ही उसको प्रकृति के संसर्ग में ले आयी और वह उसमें बँध गया। अरिस्टाटल (अरस्तू) वह समस्या तो हल न कर सका, किन्तु उसने यह सुझाव दिया कि चैतन्यमनस् और प्रकृति में संभवतः कोई न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। उसकी समझ में चेतन और अचेतन सत्ताओं को मूलतः दो पृथक् सत्ताएं मानना भ्रमात्मक है। वे दोनों एक दूसरे में गुँथी हुई और अभिन्न हैं। प्रकृति में अन्तर्यामी हैसियत से वे उसको अनुप्राणित और नियोजित करती हैं।

जीवात्मा

ग्रीसवालों में बहुत पहले से यह विचार फैला हुआ था कि शरीर मृत हो जाने पर जीवाला का नाश नहीं होता। वह प्रकाशहीन लोक में अनन्त काल तक पड़ी मानव-लोक पर विसूरती रहती है। ग्रीक विचारकों की राय में जीव की रचना अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से हुई है। किसी ने उसमें वायतत्त्व की और किसी ने अग्नितत्त्व की प्रधानता बतलायी। दार्शनिक पाइथागोरस के अनुसार जीव की उसके कर्मों के अनुसार गति होती है। अच्छे कर्म करने से मरणोपरान्त उसे सुख और बुरे कर्मों से दुख मिलता है। शुभ और अशुभ कर्मों की उन्होंने सूचियाँ बना दीं जिसके अनुसार चलने से मरणोपरान्त अच्छी या बुरी गति प्राप्त होती है। एम्पिडाक्लीज़ के मत से जीव अपने कर्मों के अनुसार एक शरीर छोड़कर दूसरे में चला जाता है। आरम्भिक सम्प्रदाय के लोगों का तो पुनर्जन्म में पूर्ण विश्वास था। हेरेक्लिटस की राय में जीवों में विभिन्नताएं होती हैं जो सूखी और उष्ण होती हैं। वे उच्च वर्ग की हैं और विश्वात्मा के गुणों से कुछ मिलती-जुलती हैं। परमाणुवादियों की राय में जीव अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बनता है। दो साधारण परमाणुओं के बीच में एक जीव का सूक्ष्मतर परमाणु प्रतिष्ठित रहता है। जीव के सूक्ष्मतर परमाणु शरीर भर में फैले रहते हैं, श्वास-निश्वास के साथ आते-जाते रहते हैं। मरने पर वे बिखर जाते हैं, किन्तु उनका अभाव नहीं होता।

वे किसी अन्य शरीर में मिल जाया करते हैं। इसी जीव तत्त्व में चिन्तन और विवेक के गुण होते हैं।

प्लेटो ने विश्वात्मा और जीवात्मा में यह भेद बताया कि विश्वात्मा अथवा परमात्मा से ही गति, संसृति, प्राण, मन, ज्ञान, सौन्दर्य-व्यवस्थित और समरसता अथवा संगति की सृष्टि होती है। विचार-जगत् और सांसारिक स्थिति के बीच की वह कड़ी है। ईश्वर ने ही प्रत्येक लोक तथा व्यक्ति को आत्मा प्रदान की है। ये आत्माएँ अविनाशी और शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न होती हैं। किन्तु शरीर होने की इच्छा से शरीर के बन्धनों में पड़कर वे बद्ध और मूढ़ स्मृति हो जाती हैं। अतः जीव का परम ध्येय शरीर के बन्धनों से मुक्त हो जाना है। जीवात्मा विश्वात्मा का ही एक अंश है, अतः शाश्वत है। न तो वह छिन्न-भिन्न या क्षत-विक्षत हो सकता है न नष्ट ही हो सकता है। वह चैतन्य सत्ता है और अपने सच्चे अपनत्व को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। मुक्त होने पर वह अपनी शुद्ध गति को प्राप्त कर लेता है। अरिस्टाटल की धारणा थी कि जहां कहीं जीवन दिखाई पड़ता है वहाँ जीव की सत्ता होती है। मन्थर गति से वह वनस्पति तथा जलचर, थलचर और नभचर प्राणियों में भी विकसित पायी जाती है। मनुष्य में उसका सबसे अधिक विकास तथा प्रकाश होता है। उसी में विचार और विवेक और ज्ञान का रचनात्मक गुण प्रकाश पाता है। शरीर उसकी आत्मस्थिति को कोई क्षति नहीं पहुँचाता, अतः शारीरिक चेतना के शून्य हो जाने पर भी उसकी कोई हानि नहीं होती। वह अजर और अमर है।

सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के साधनों पर भी ग्रीस के विचारकों और दार्शनिकों ने काफ़ी ध्यान दिया। ऐन्द्रिक ज्ञान तो साधारण श्रेणी का ज्ञान है क्योंकि वह सीमित, अपर्याप्त और कभी-कभी भ्रमात्मक होता है। तर्क और बुद्धि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक विश्वसनीय और परिष्कृत होता है क्योंकि बुद्धि में और ईश्वरीय ज्ञान में कुछ तादात्मक सम्बन्ध है। बुद्धि पार्थिव सीमाओं का भी उल्लंघन कर ऊपर उठने की क्षमता रखती है। साक्रेटीज़ की धारणा थी कि बुद्धि और तर्क के द्वारा आंशिक सत्य अथवा भ्रामक विचारों का खंडन और शुद्ध व्यापक सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। प्लेटो का विश्वास था कि जीव में स्वयं सत्य का ज्ञान होता है जो शरीर में बँधने से धूमिल अथवा विस्मृत हो जाता है। उसके आवरणों को बेध कर जीव अपने सुषुप्त ज्ञान की स्मृति जगा ही नहीं देता, वरन् उसे प्राप्त कर सकता है। अरिस्टाटल की यह मान्यता है कि मनुष्य की

सांसारिक अनुभूतियाँ सत्य हैं, किन्तु उनका रहस्य और पूरा ज्ञान व्यवस्थित तर्क और विचार से ही प्राप्त हो सकता है। तार्किक अनुसंधान के लिए उसने न्याय-शास्त्र को अपनी सूझ के अनुसार व्यवस्थित किया।

अलेक्जैंडर की विजयों से ग्रीस का अफ्रीका और एशिया से संबंध अधिक घनिष्ठ हो गया। उसके गुरु अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् ग्रीस के दार्शनिकों का दृष्टिकोण बदलने लगा। धन और सम्पत्ति के बढ़ने से काल्पनिक अथवा सैद्धान्तिक व्याख्याओं में लोगों की रुचि घट गयी। वे मानसिक विचारों अथवा भव्य विचारों से सुख-प्राप्ति के भाव से संतुष्ट न होकर सुख-प्राप्ति के लिए सुखद पदार्थों और विविध भौतिक वस्तुओं के संग्रह और भोगोपभोग को मुख्य साधन समझने लगे। आदर्श-वाद के शून्य लोक से हटकर यथार्थवाद के सरल, सुग्राह्य विषयों और प्रत्यक्षानु-भूति की ओर आकर्षित होने लगे। इस नवीन युग के विचारकों में एपिक्यूरस (३४२ से २७० ई० पू०), ज़ीनो (३५० से २६०) और एन्टिस्थेनीज़ थे। पहले का मत एपिक्युरिअन सिद्धान्त कहलाता है। उसके अनुसार ईश्वर तथा जीव भी सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित है। देवताओं की दुनिया दूसरी है, उसका मनुष्यों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धर्म की अवहेलना करना अच्छा है क्योंकि उससे जीवन के नैसर्गिक प्रवाह में अनावश्यक बाधा पड़ती है। राज्य मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य राज्य के लिए। मनुष्य के लिए दुख और पीड़ा से बचना और परिमित आहार-विहार का सुख उठाना स्वाभाविक तथा श्रेयस्कर है। अतिशयता से कष्ट और दुख ही होता है। जीवन में मैत्री की भावना तथा सब से मैत्री का व्यव-हार सबसे श्रेष्ठ और सेवनीय है। ज़ीनो भी, जो सेमेटिक जाति का साइप्रस निवासी था (३५० से २६० ई० पू०), भौतिकवादी था तथापि वह मानता था कि मनुष्य को शुद्ध भाव से कष्ट झेलने का अभ्यासी होना चाहिए। सहनशीलता मनुष्य का कवच है। उसकी सम्मति में भी धीमान के लिए राज-शासन के बन्धनों का प्रतिपालन आवश्यक है। शासन का केवल मात्र उद्देश्य सामाजिक सुविधा की स्थापना है। मनुष्य को आत्मवान होकर बुद्धि-विवेक के साथ प्राकृतिक जीवन का उपभोग करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता वह मूर्ख दुख उठाता है। मनुष्य का मुख्य ध्येय शान्तिपूर्वक जीवन का व्यतीत करना है। सब मनुष्यों में भ्रातृभाव होना श्रेयस्कर है क्योंकि बन्धुत्व तथा मैत्री श्रेष्ठतम गुण है। समझदार लोगों को या तो बुराई से दूर रहना चाहिए अथवा उसको अपने लिए हितकर बना लेना चाहिए। एथेन्स के बाजार के पुराने रंगीन द्वार-प्रकोष्ट में जिसे 'स्टोआ' कहते

थे वह उपदेश करता दिया हुआ था। इसीलिए उसके मत को 'स्टोइज्म' कहते हैं। यह मत ग्रीस वालों को अधिक ग्राह्य प्रतीत हुआ।

एन्टेस्थिनीज़ का मत 'सिनिसिज्म' कहलाता है। वह शासकों की उपेक्षा और उनका उपहास तथा सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना करता था। धनिकों तथा आर्थिक विषमता के प्रति उसे घृणा थी। उसके मत के अनुसार जीवन गुणात्मक है, किन्तु उसका सदुपयोग ज्ञान, विशेषतः आत्मज्ञान, द्वारा ही हो सकता है। जो कुछ है अथवा होता है वह ठीक है इसलिए किसी भी स्थिति से विमुख होना न चाहिए, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

ग्रीस तथा हेलेनिक जगत् के दार्शनिकों का ध्येय था मनुष्य, सृष्टि की उत्पत्ति, उसके उद्देश्य और साफल्य पर तर्क-वितर्क पूर्वक विचार करना। उन्होंने ईश्वर की सत्ता तथा सर्वव्यापकता का मत स्थिर किया। जीव के भूत, वर्तमान एवं भविष्य की व्याख्या की। सत्य और सुन्दर का अनुसंधान किया और आत्मज्ञ बनने का आदर्श उपस्थित किया। यह स्मरण रखना उचित होगा कि उनके दार्शनिक विचारों पर एशिया का विशेष प्रभाव पड़ा जिसकी गति अलेक्जांडर के बाद बहुत बढ़ गयी थी।

दार्शनिकों के अध्ययन-अध्यापन के लिए एथेन्स में एक केन्द्रीय महाविद्यालय स्थापित हो गया जिसमें चार विभाग थे—एकेडमी, लाइसिअम, स्टोआ, एपिक्यूरस का उद्यान। एक ही स्थान पर विभिन्न मतों तथा सिद्धान्तों का अबाध पठन-पाठन होता था। दर्शन और ज्ञान-विज्ञान में हेलनिज्म का युग पेरिक्लीज़ के युग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उच्च शिक्षा के साधनों के अभाव की उस युग में यशस्कर पूर्ति हो गयी थी। पढ़ने-लिखने का शौक दिनों-दिन बढ़ता गया। हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह किये जाने लगे। कहते हैं कि अलेक्जैंड्रिया के पुस्तकालय में सत्तर हजार हस्तलिखित ग्रन्थ संगृहीत थे। उसके बाद परगेमम के पुस्तकालय की गणना बड़े पुस्तकालयों में होती है। बहुत संभव है कि एशिया और मिस्र के अन्य ग्रीक नगरों में भी छोटे-बड़े पुस्तकालयों का निर्माण हुआ हो।

विज्ञान

यूनानियों ने विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रारम्भिक किन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ कीं। उनके वैज्ञानिकों में पहला नाम मेलिटस नगर के निवासी थेल्स का है (६२४ से ५४८ ई० पू०) जिसने गणना करके सूर्यग्रहण की पूर्व-घोषणा की थी। उसके

मत में जल ही प्रारम्भिक तत्त्व है जिससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। उसी के समकालीन अनेक्सिमेन्डर ने वायु को प्रारम्भिक तत्त्व घोषित किया और यह भी कहा कि जानवरों का विकास मछलियों से हुआ है। पाइथागोरस ने यह मत प्रकट किया कि सब तत्त्वों के मूल में अंक है और जीवन के यावत् व्यापार गणित तथा नाद स्वर से नियंत्रित होते हैं। चतुर्थ शती ई० पू० में एम्पिहावलीज़ इस निर्णय पर पहुँचा कि पार्थिव जगत् की रचना एक तत्त्व से नहीं वरन् चार तत्त्वों, मिट्टी, पानी, अग्नि तथा वायु, से हुई। प्रारम्भ से ही इन चारों की अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है। वे अनादि और अनन्त हैं। उन्हीं के संयोग से सृष्टि होती और वियुक्त हो जाने से नष्ट हो जाती है। अरिस्टाटल ने जन्तु एवं वनस्पति जगत् का गंभीर अध्ययन करके यह सिद्धान्त निकाला कि केचुओं तथा कीट-पतंग की सृष्टि पंक से सहज ही आप ही आप हो जाती है। इसके अलावा विकास-क्रम सरलता से जटिलता की ओर प्रवाहित होता है। मेलिटस नगर में थेल्स के शिष्यों और प्रशिष्यों ने भी कुछ इसी प्रकार के क्रम का अनुमान लगाया था। उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी पहले जल में मग्न थी और इस समय भी जलराशि से परि-वेष्टित है। तदनुसार उन्होंने सबसे पहले पृथ्वी का मानचित्र बनाया। हेक्टिअस ने मिस्र और बेबीलोनिया का भ्रमण कर वर्णनात्मक भूगोल की रचना की। उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि सूर्य जलता हुआ पथरीला गोला है और उसी से चन्द्रमा को प्रकाश मिलता है। यही नहीं, चन्द्रमा में वे पहाड़ियों तथा घाटियों का होना मानते थे। उन्होंने यह भी कहा कि पृथ्वी अपनी नैसर्गिक शक्ति से स्वयं घूमती है। आयुर्वेद के क्षेत्र में डायोजेनीज़ ने मनुष्य की शरीर-रचना का विश्ले-षणात्मक वर्णन प्रकाशित किया। हिप्रोकेटस ने रोग का भौतिक कारणों से निदान किया और घोषणा कर दी कि रोग अथवा आरोग्य के देवी-देवता, भूत-प्रेतादि कारण नहीं हो सकते। स्वच्छता, आहार-विवेक, रक्त, नियन्त्रण, स्वेदन आदि उपायों से रोग शान्त किये जा सकते हैं। हिरोफ्लिस ने तृतीय शती ई० पू० में स्नायु जाल तथा पेशियों आदि के कार्यों और नाड़ी की गति जाँचने के उप-करणों की रचना की। ग्रीस में पुरुष ही नहीं, वरन् स्त्रियाँ भी चिकित्सा करती थीं। कहा जाता है कि मेलिटस नगर में ही यूनानी दर्शन की उत्पत्ति हुई थी। यद्यपि आजकल ये बातें अत्यन्त साधारण-सी प्रतीत होती हैं तथापि ये बड़े महत्त्व की, और उस युग के लिए तो महान् वैज्ञानिक उपलब्धि गिनी जानी चाहिए। उपर्युक्त वैज्ञानिक अनुसन्धानों का यह भी परिणाम हुआ कि कुछ लोगों में देवताओं

की अलौकिक शक्तियों में श्रद्धा घट गयी और अन्य नैसर्गिक शक्तियों में अधिक होने लगी। इस नये दृष्टिकोण का वहाँ के दार्शनिकों पर भी कमोबेश प्रभाव पाया जाता है।

इतिहास

प्रथम पश्चिमी इतिहासकार यूनान निवासी हेरोडोटस (४८४ से ४२५ ई० पू०) को इतिहास-साहित्य का पितामह कहा जाता है। मिस्र और कई एशियाई देशों का भ्रमण कर उसने कुछ ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की तथा साहित्यिक महत्त्व का एक ग्रन्थ इस ढंग से लिखा जिससे एथेन्स वालों की कीर्ति स्थापित हो सके। उसके इतिहास का मुख्य विषय ग्रीसवालों का ईरान के साथ सफल संघर्ष है। वह एशिया कोचक का निवासी था। उसका विश्वास था कि सांसारिक महत्त्व क्षणिक है और संसार का सारा प्रवाह दैविक विधान से चलता है। वह प्रतिकास्वादी था। उसकी शैली, उसका ज्ञान घटनाओं का विवरण मात्र है। उसका ध्येय ग्रीस के वीरों का गुणगान तथा एथेन्सवालों की फारस वालों पर श्रेष्ठता स्थापित करना था। यद्यपि हेरोडोटस के इतिहास में प्राचीन लोगों के सम्बन्ध में बहुत-सी उपयोगी सामग्री है तथापि उसमें काफी गप्पें भी हैं। दूसरा प्रसिद्ध इतिहासकार थ्यूसिडाइडीज़ (४६० से ४०० ई० पू०) था, जो मानुषीय इतिहास की घटनाओं को दैवयोग से प्रेरित न मानकर उनको ऐतिहासिक कारणों पर अवलम्बित मानता था। उनके अन्योन्य सम्बन्ध पर अपनी आलोचना भी करता था। उससे पूर्व इतिहासकार लौकिक अथवा अलौकिक घटनाओं का संग्रह तो कर लेते थे, किन्तु उनके यथातथ्य की आलोचना और उस पर निजी अनुसन्धान द्वारा सम्मति वे नहीं दे पाये थे। उसके इतिहास का मुख्य विषय एथेन्स के पतन के कारणों का विवेचनात्मक वर्णन है। ग्रीस का वह सबसे श्रेष्ठ इतिहासकार है जिसका आज भी आदर होता है। उसका इतिहास उस स्थान से आरम्भ होता है जहाँ हेरोडोटस का इतिहास समाप्त होता है। उसने पेलेपोनेशियन युद्धों का सजीव और विवेचनात्मक इतिहास लिखकर ग्रीस की तत्कालीन स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला। हेरोडोटस ने स्त्रियों को स्थान नहीं दिया था, किन्तु थ्यूसिडाइडीज़ ने उनका भी वर्णन किया है। तीसरा उल्लेखनीय इतिहासकार ज़ेनोफन हुआ (४३४ वे ३५४ ई० पू०)। उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हेलेनिका' है जिसमें उसने थ्यूसीडाइडीज़ के इतिहास के पश्चात् की घटनाओं का

वर्णन किया है। उसने ग्रीस के अनेक राज्यों का विवरण देकर यह प्रयत्न किया है कि पूरे ग्रीस के ऐतिहासिक इतिवृत्त का चित्र पाठक को मिल जाय। इसके सिवा उसने ऐतिहासिक व्यक्तियों के महत्त्व और कार्यों पर विशेष बल दिया जिसका आने वाले इतिहासकार तथा जीवनचरित्र के लेखकों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उसका दूसरा ग्रन्थ 'एनाबेसिस' काफी मनोरंजक है। ग्रीस के सिपाही पेशावरों की पश्चिमी एशिया की यात्रा और उनके अनुभवों की उसमें कहानी है।

राजनीति शास्त्र

प्राचीन ग्रीस वालों की धारणा थी कि मनुष्य के संरक्षण तथा निर्वाह के लिए सामाजिक व्यवस्था आवश्यक और अनिवार्य है। सम्भव है कि इसी कारण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति सामाजिक अथवा सामूहिक जीवन की ओर रही हो। सामाजिक व्यवस्था के बिना मनुष्य का जीवन निरर्थक है, अतः उसको सुव्यवस्थित ढंग से स्थापित करना परम कर्तव्य है। विचारक पाइथागोरस का विश्वास था कि समाज का स्थान व्यक्ति से बहुत ऊँचा है। समाज की रक्षा व्यक्ति की रक्षा से बहुत अधिक महत्त्व रखती है। अतएव मनुष्य का श्रेय इसी में है कि वह सामाजिक व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार करे। उसकी रक्षा के लिए कष्ट झेलने की कौन कहे, सर्वस्व ही नहीं, प्राण तक त्याग करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। उसके शासन, कानूनों, नियमों, मान-मर्यादाओं का सम्मान और प्रतिष्ठाओं की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। राज्य की भलाई के लिए व्यक्ति को सदा प्रयत्न करना चाहिए। ईरान से सफल संघर्ष होने के कारण विचारकों में राजनीतिक विधानों के प्रति सक्रिय रुचि बढ़ी। वे भी उनके तार्किक अनुसन्धान का विषय हो गये। राज्य के नागरिकों के कर्तव्याकर्तव्य की आलोचना होने लगी।

सात्रेटीज़ (सुकरात) ने मौलिक प्रश्न यह उठाया कि राज्य के क्या लक्षण हैं, नीतिज्ञ की क्या परिभाषा है। उसकी सम्मति में ज्ञान बढ़ाना नागरिक का मुख्य ध्येय होना चाहिए। उसी के द्वारा वह कर्तव्याकर्तव्य समझ सकता और व्यवहार कुशल हो सकता है। राष्ट्र के प्रति विद्रोह की भावना किसी भी दशा में न होना चाहिए। मातृभूमि या राष्ट्र का जननी के समान सम्मान करना श्रेयस्कर है, किन्तु उसके दोषों की आलोचना और उसके सुधार करने का प्रयत्न करना उचित है। प्लेटो का मत है कि राज्य की आवश्यकता इसीलिए है कि उसके द्वारा मनुष्य का उचित एवं पूर्ण विकास हो सके। राज्य का विधान ऐसे ढंग का होना चाहिए

जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। प्लेटो अच्छा नागरिक उसी को मानता है जो अच्छा मनुष्य हो। शासन का काम बुद्धिमान्, विचारवान्, और चरित्रबान् तथा विवेकी व्यक्तियों के द्वारा होना चाहिए। उनके निर्देश का प्रतिपालन सर्वदा मंगलमय होगा। उनके द्वारा ही अधिकार-पथ प्रदर्शन होना चाहिए तथा नागरिक लोग तद-नुकूल आचरण करें। नागरिकों को उनकी योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुसार श्रेणियों में संगठित कर उनको उपयुक्त कार्य में लगाना चाहिए। इस प्रकार राज्य के शासकों, योद्धाओं, व्यापारियों की तीन मुख्य श्रेणियाँ हो सकती हैं। मजदूरी आदि कामों को दासों से कराना चाहिए। यदि अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक श्रेणी और प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कर्तव्य करे तो राज्य तथा समाज का सर्वथा हित होगा। प्रत्येक नागरिक को अपने विचारों के व्यक्त करने और शासन में हाथ बटाने का अधिकार होना चाहिए। प्लेटो ने अपने सिद्धान्त और विचार अपने दो ग्रन्थों 'रिपब्लिक' तथा 'लाज़' में विशद रूप से लिखे है। 'रिपब्लिक' आज भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। प्लेटो आदर्शवादी था। उसके विधान में वर्गसत्ता तथा दासों के प्रति उदासीनता का दोष माना जा सकता है। इसके सिवा उसके विचार समाजवाद और कुछ अंशों में साम्यवाद की ओर भी झुकते हैं। वह नागरिक के सभी विचारों, कामों और व्यवहारों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करने के पक्ष में हैं। इन आदर्श विचारों के अनुकूल सिसली के शासकों और शासन को सुधारने का निमन्त्रण उसने स्वीकार कर लिया था। तीन बार प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता न मिल सकी। कुछ लोगों की धारणा है कि अपने दार्शनिक विचारों को राजनीतिक क्षेत्रों में प्रचलित करने में हुई उसकी विफलता ही प्लेटो की असफलता का एक प्रमाण है।

प्लेटो के शिष्य अरिस्टाटल (अरस्तू) का विश्वास था कि सामाजिक जीव होने के कारण मनुष्य अपना पूर्ण विकास समाज के ही द्वारा प्राप्त कर सकता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य स य तथा आदर्श नागरिक पैदा करना है। यदि उसमें वह असफल हुआ तो वह विधान बुरा है। राज्य में अनेक संघ और संघों में योग्य तथा अयोग्य, अच्छे और बुरे व्यक्ति होते हैं। अतएव राजनीतिज्ञ को मनुष्यों की अस-मानताओं और विभिन्नताओं के अस्तित्व को मानते हुए उनकी य ग्यता, आचरण और क्षमता के अनुकूल उनको अधिकार प्रदान करना चाहिए। सब धान बाईस पसेरी नहीं तोला जा सकता। विभिन्नताओं का मुख्य कारण स्वाभाविक गुण-अवगुण, सम्पत्ति, वंश और स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। स्वतन्त्र नाग-

रिकों और गुलामों को समान अधिकार नहीं दिये जा सकते। राजा, शिष्ट समूह और पालिटी, तीनों ही अपने-अपने परिष्कृत रूपों में अच्छे हो सकते हैं। विकृत रूप में वे ही भयंकर, हानिकारक और अन्यायी हो जाते हैं। किसी प्रकार के शासन को अरस्तू ऐसा न समझते थे कि जिसका स्वार्थी अथवा मूर्ख लोग दुरुपयोग न कर सकें और जो अत्याचारी न बन जा सके। अरस्तू की राय में दासों तथा मजदूर पेशा-वालों को राजनीतिक अधिकार देना अनुचित है। विविध विधानों में वे एक सुयोग्य व्यक्ति के शासन को ही सबसे कम अहितकर अनुमान करते थे। यदि वैसा व्यक्ति न मिल सके तो मध्य श्रेणी का शासन सम्भवतः सबसे कम हानिकारक सिद्ध होगा।

ग्रीकों का सारा जीवन राजनीतिमय था। राजनीति से उनका तात्पर्य उन मूल तत्त्वों और सिद्धान्तों से था जिनके व्यवहार से मनुष्य का जीवन सार्थक और सदाचारपूर्ण हो सकता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य सुख और संस्कृति का रक्षण तथा संवर्द्धन माना जाता था। अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि राजनीति शास्त्र पर दार्शनिक तथा वैज्ञानिक ग्रन्थ बड़े चिन्तन के साथ वहाँ लिखे गये। उनकी विचारधारा में दुर्भाग्य से तीन बड़े दोष थे। पहला यह कि यूनानी अपने सिवा सब जातियों को असभ्य समझते थे। दूसरा यह कि उनका ध्यान नगर-राज्यों में ही प्रायः उलझा रहा। यद्यपि विशेष स्थिति में छोटे राज्यों के संगठित होने की चर्चा मिलती है तथापि बड़े साम्राज्य उनकी कल्पना के बाहर थे। उनकी राय में जनसत्ता सीमित छोटे राज्यों में ही सम्भव हो सकती थी। तीसरा यह कि नगरवासियों को या यों कहिए कि मनुष्यों को ही वे दो भागों में विभक्त कर बैठे थे, एक वे जो स्वतन्त्र हैं और दूसरे जो स्वभाव से ही दासता और सेवा के लिए जन्मे हैं। इन धारणाओं ने उनकी राजनीतिक दृष्टि और विचारों को कुछ संकुचित कर दिया जिससे उनकी रचनाएँ संकीर्ण और दूषित रह गयीं। यद्यपि वे समाज अथवा राज्य का व्यक्ति के साथ ठीक सम्बन्ध स्थापित न कर सके तथापि अपनी कल्पित परिधि तथा अनुभव क्षेत्र की सीमाओं के भीतर उन्होंने राजनीति के प्रमुख मूलतत्त्वों, विभिन्न प्रकार के संगठनों के गुणों और अवगुणों पर सारगर्भित तथा मार्मिक विचार किया है। उन्होंने राजनीति के आदर्श तथा उसकी प्राप्ति के साधनों पर अच्छा तर्क-वितर्क किया है। प्लेटो का रिपब्लिक और अरस्तू का 'पोलिटिक्स' उनके ही युग की नहीं, वरन् आज के सभ्य संसार की भी आदरणीय रचनाएँ हैं। जनसत्तात्मक राज्य में रहते हुए भी उसके दोषों का निर्भीक वर्णन उन्होंने किया है।

धर्म

यूनानी अपने देवताओं को अपनी ही तरह काम, क्रोध, मोहादि गुण दोषों से युक्त समझते थे। किन्तु वे अमर माने जाते थे। वे अपने-अपने क्षेत्रों में इतने व्यस्त रहते थे कि मृत्यु लोक के निवासियों के कार्यों में उन्हें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता न थी। मनुष्यों के लिए वे आश्चर्य के विषय थे। उनको उनसे भयभीत होने का कोई कारण न था। यूनानी मनुष्य की उत्पत्ति देवताओं से मानता था और मृत्यु के पश्चात् सम्भवत: देवता हो जाने की आशा कर सकता था। देवताओं की संख्या गणनातीत थी। देवताओं का अधिपति प्रकाशस्वरूप ज्योस (इन्द्र), आकाश का देवता था। उसका अस्त्र वज्र था। पूरे एक दर्जन पुत्रों और अपनी स्त्री तथा साथियों के साथ ओलिम्पस पर्वत की हिमाच्छादित चोटी पर वह निवास करता था। उसने अपनी पत्नी देमेतर (धरती) को जल-वर्षा द्वारा अभिसिंचित कर 'कोरी' नाम की पुत्री को जन्म दिया। ज्योज़ के दो भाई थे एक का नाम 'पोषिदन' (वरुण) था जिसका आधिपत्य समुद्र पर था और जो भूकम्प उत्पन्न करता था। ज्योस का दूसरा भाई हेड्ज़ था जिसको पाताल का आधिपत्य मिला। भूत-प्रेतादिपूर्ण, मुर्दों के अन्धकार-ग्रस्त लोक का वह स्वामी माना जाता था। उसका विशेष सम्बन्ध गुह्य रहस्यात्मक एल्यूसीनियन संस्था से माना जाता था। ज्योस का पुत्र धनुर्धर 'एपोलो' देवताओं में बड़ा ही प्रतिष्ठित माना जाता था। उसका विशेष कार्य था पशुपालन, एवं कृषकों का संरक्षण। अति रूपवान, संगीत-पारंगत युवक के रूप में उसकी कल्पना की गयी थी और ई० पू० पाँचवीं शती मे उसको फीबस (सूर्य) का स्थान प्राप्त हुआ था। वह ऐसा दयावान् देवता माना गया जिससे लोग अपनी मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थनाएँ करते थे। 'दिओनिसस' स्त्रियों का मुख्य उपास्य देवता था जिसको वे, अरिस्टोफेनीज़ के अनुसार, बैकस (मदिरा के देवता) के उत्सवों में शिश्न के रूप में स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक मैथुनात्मक व्यापार द्वारा तथा नाच-गाकर प्रसन्न करती थीं। उसका चिह्न और प्रतीक लिंग, विशेषतया शिर आरोपित लिंग था। जगह-जगह रास्तों और चौराहों पर इन लिंगों की स्थापना ग्रीस में की गयी थी। लोकप्रिय देवताओं में 'हरमीज़' का विशेष स्थान माना जाता था। ज्योस उसका पिता और मइया उसकी माता थी। पथप्रदर्शन, रोजगार, व्यापार तथा आदान-प्रदान का वह नियन्त्रक एवं संरक्षक माना जाता था। वह चोरों का संरक्षक ही नहीं, वरन् स्वयं चोर-शिखामणि था। अखाड़ों, व्यायाम तथा खेलकूद का संरक्षक होने के अलावा वह वक्ताओं को

भी सिद्धि प्रदान करता था। दयावान और आशुतोष होने के कारण लोग उससे बड़ी आशाएँ रखते थे। ग्रीस वाले अनेक देवियों की भी पूजा करते थे। देवियों में अस्त्र-शस्त्र-धारिणी समरभयंकरी, किन्तु शान्तिदायिनी, जन-रंजिनी और ज्ञानेश्वरी देवी 'एथेना' थी। अपने पिता ज्योस के मस्तक से उसने अस्त्रादि सहित जन्म पाया। सबसे पहले उसने वायुमण्डल के तूफानों का दमन किया, पश्चात् जैतून (जित वृक्ष) लाकर ग्रीस में प्रतिष्ठित किया। वह निरन्तर ग्रीस की रक्षा और समृद्धि का विधान तथा उसका सन्मार्ग प्रदर्शन करती रही यद्यपि स्वयं छिपकर वह 'मार्स' आदि अन्य देवताओं तथा मनुष्यों से प्रणय करती रही। दूसरी देवी 'एफ्रोदिती' थी जो प्रेम तथा काम का संचार और दाम्पत्य तथा प्रसव का नियन्त्रण करती थी। उसके दो रूप थे। एक रूप से वह पवित्र प्रेम और दूसरे से भोग-विलास और कोरी कामुकता का प्रोत्साहन करती थी। विवाहिता स्त्रियों के अलावा कहीं-कहीं वह वेश्याओं की भी आराध्या देवी थी। रोम वाले उसे वीनस कहते थे। वही क्यूपिड की माता थी। वह समुद्र से पूर्ण युवती के रूप में प्रकट हुई थी। उसके अलौकिक सौन्दर्य ने देवताओं में बड़ी बेचैनी फैलायी और उनकी वासनाओं को जगा दिया। ज्योस ने उसे वलकन को दे दिया। वह स्वयं एक शिशु पर मुग्ध हो गयी और उसके युवा होने पर उसके प्रेम में लिप्त हो गयी। उसी ने आगे चलकर 'इरोस' नामक रूपवान् पुत्र को जन्म दिया जो कामवासना का प्रेरक और संवर्द्धक है। स्त्रियों की दूसरी किन्तु अत्यन्त प्रभावशालिनी, अरगस नगर की प्रमुख देवी, ज्योस की पत्नी 'हेरा' नाम की थी। स्त्रियों के जन्म से मृत्यु तक जितने व्यापार थे उसी के निर्देश से होते थे। ग्रीस वाले धरती माता की, जिसका नाम 'देमीतर' था, उपासना करते थे। वह ज्योस की श्रेष्ठ पत्नी थी। उसी से शस्यरूपिणी कुमारी 'कोरी' का जन्म हुआ। चन्द्रमा को वे लोग विपुल-स्तनी 'अरटेमिस' देवी के नाम से पूजते और उसी से वर्ष का आरम्भ मानते थे। 'हेफासटोस' नाम की देवी ज्वालामुखी पर्वतों की उन्मुखज्वाल अग्नि की अधिष्ठात्री थी।

उपर्युक्त देवों और देवियों के सिवा यूनान में अगणित देवी-देवता माने जाते थे। जातीय सर्वमान्य देवी-देवताओं के अलावा नगरों, ग्रामों, कुलों, घरों के तथा कला, इतिहास, काव्य, नाटक, गान, नृत्य, निद्रा, मृत्यु आदि के अनेकानेक उपास्य देवी-देवता थे। ऋतु-परिवर्तनों पर प्रायः उनके लिए विविध विधानों से उत्सव और पूजन किये जाते थे। पूजा में लोग अन्न, फल-फूल, पशु, सुरा, वस्त्र, सोना-चाँदी आदि चढ़ाते तथा बाजे-गाजे, खेल-कूद, नाच-गाने के साथ पूजन करते

और उत्सव मनाते। वे तरह-तरह की मानताएँ मानते और नाना प्रकार के संस्कार जन्म से मृत्यु पर्यन्त करते थे। देवताओं के नाम से वे शपथ लेते थे। ग्रीस में पुजारियों का काम प्रायः घर या जाति के बड़े-बूढ़े ही करते थे। पुजारियों की कोई विशेष श्रेणी न थी। धर्म के नेता दार्शनिक थे। जब देवताओं की प्रवृत्तियाँ. उनके गुण, कर्म, स्वभाव और उनकी सुख-दुख की अनुभूतियाँ, उनके अनुयायियों के ही समान थीं तब उनका प्रभाव मनुष्यों पर विशेष हितकारक होने की सम्भावना क्या हो सकती थी, यह कहना कठिन है। उनके पूजने का एकमात्र ध्येय आनुकूल्य का स्थापन और प्रातिकूल्य का वर्जन प्रतीत होता है। संसार के विभिन्न देशों और जातियों में पुरातन युग से अन्न, फल-फूल, वनस्पति तथा मानुषी जगत् में स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियाँ उत्पत्ति अथवा सर्जन की प्रतीक मानी जाती हैं। पैदाइश से सम्बन्ध रखनेवाले तरह-तरह के रिवाज़ों और उत्सवों का प्रचलन पुराने युग से चला आता है। ग्रीस में भी उस प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। देमेतर (भू देवी), दायोनेशिआ, हर्मीज तथा अर्तमिस देवी या देवताओं के पूजनों और उत्सवों में लोग संजनन के मानवी प्रतीकों का उपयोग करते और कभी-कभी तो उत्सवों के अवसरों पर साधारण सामाजिक मर्यादाओं और आचार को ताक में रखकर स्वच्छन्द कामकला में प्रवृत्त हो जाते थे। ऐसे उत्सव कमोबेश सभी स्थानों पर होते थे किन्तु एथेन्स, एफिसस, एल्यूसिस, आरगस और आर्केडिया में वे बड़े पैमाने पर उत्साह और धूमधाम से मनाये जाते थे। शिश्न देव (प्रिएपस) की पूजा और उत्सव में स्वैरिता तथा उच्छृंखलता का मुक्त प्रदर्शन होता था। अरिस्टोफेनीज़ के अनुसार दियोनिअस और बैकस के उत्सवों में शिश्न का पूजन स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक मैथुनात्मक व्यापार होता था। 'पोरनाई' श्रेणी की वेश्याएँ अपनी शालाओं के बाहर प्रिएपस के शिश्न का चिह्न प्रदर्शित करती थीं।

ग्रीस के धार्मिक विचारों में तीन विशेषताएँ थीं। पहली यह कि धार्मिक विश्वासों तथा अर्चाओं का नैतिकता से कोई अनिवार्य सम्बन्ध न था, न उनका कोई आवश्यक बन्धन ही था। दूसरी यह कि यद्यपि देवताओं का अपना लोक था, किन्तु उनमें अमरत्व के सिवा कोई अलौकिकता का आरोप नहीं किया गया। उनके व्यवहार और व्यापार मनुष्यों के समान अच्छे-बुरे सभी प्रकार के होते थे। यद्यपि ग्रीस के मूर्तिकारों ने देवताओं और देवियों की भव्य मूर्तियाँ स्थापित की हैं तथापि वस्तुतः वे देवताओं का शरीर मनुष्य के आकार-प्रकार का नहीं मानते थे। देवी-देवताओं की कल्पना वे रूह, हवा अथवा आकाश के से सूक्ष्म तत्त्वों के समान करते

थे। इसीलिए स्वास्थ्य, यौवन, सम्मान, भाग्य, आशा, भय, सद्गुण, विजय, कौमार्य आदि के भावात्मक प्रतीक कल्पित करके वे उनमें श्रद्धा तथा विश्वास रखते थे। भूत-प्रेतादि अनिष्टकारी सत्ताओं में भी उनका विश्वास था। देवी देवताओं का सम्बन्ध किसी आध्यात्मिक जगत् या विषय से न था, बल्कि व्यावहारिक विषयों से था। लोग अपनी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देवताओं की सहायता माँगते थे। उनके प्रसन्न करने के लिए विविध विधान, कर्मकाण्ड तथा प्रार्थना आदि करते थे। इस विषय में जो दृष्टिकोण व्यक्तियों, कुटुम्बों, वंशों का था वही राज्यों का भी था। बात यह कि ज्यौस को छोड़कर प्रायः सब ही देवी-देवता किसी विशेष जन-समूह अथवा जाति के थे। उन सबको ग्रीक लोगों ने अपना लिया। जो देवलोक के देवता थे उनको हलके रंग के और पृथ्वी के देवताओं को गहरे रंग के पशुओं की बलि चढ़ायी जाती थी।

रहस्यात्मक संस्था

ग्रीस में एल्युसियन गुह्य समाज नाम की संस्था अपनी विशेषता रखती है। उस समाज का मान शासक भी करता था, किन्तु उसके अलावा स्वतन्त्र छोटे-छोटे समाज विभिन्न स्थानों में थे। अद्यावधि एल्युसियन का पूरा हाल कोई नहीं जानता, क्योंकि उस समाज में जो कुछ होता था उसके गुप्त रखने की सदस्यों को शपथ लेनी पड़ती थी। अनुमान किया जाता है कि उनके कोई निश्चित सिद्धान्त न थे किन्तु उनका विश्वास था कि मनुष्य भावना, विश्वास, तदात्मता तथा आध्यात्मिक प्रयत्न से देवत्व एवं अमरत्व प्राप्त कर सकता है। समाज में ऊँचे-नीचे का कोई भेदभाव न था, समानता का भाव रखा जाता था। उस सिद्धि के लिए साधन तथा सहानुभूति की आवश्यकता होती थी। उनके समाज अथवा चक्र में जो क्रियाएँ होती थीं वे प्रतीकात्मक होने के अलावा साधनात्मक महत्त्व भी रखती थीं। नृत्य, अभिनय तथा लीलाओं द्वारा वे आध्यात्मिक वातावरण और रसानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न करते थे। उनके दो सम्प्रदाय थे। एक को 'बेकेनाल' कहते हैं। वह मद्यादि उपचारों द्वारा मस्ती पैदाकर ईश्वर से ऐक्य स्थापित करने का साधन करते थे। दूसरे का नाम था 'आरफिज्म' जिसकी साधना त्यागात्मक थी। इसी प्रकार का भेद एपिक्यूरिअन और स्टोइकों के सिद्धान्तों में पाया जाता है।

ग्रीस के धार्मिक विचारों पर एशिया, मिस्र, क्रीट का प्रभाव आरम्भ से ही पड़ता रहा, किन्तु अलेक्जेण्डर के समय से वह वैसा ही बढ़ गया जैसा कि दार्शनिक

क्षेत्र में बढ़ा था। धीरे-धीरे बौद्धिक, भौतिक तथा नास्तिकवादों की वृद्धि के साथ देवी-देवताओं में उनके विश्वास का ह्रास होता गया। शासकवृन्द राजनीतिक लाभ के लिए देवताओं तथा पुराने उपयोगी धार्मिक भावों का रक्षण और पोषण करते रहे। स्वयं अलेक्ज़ेण्डर इस प्रवृत्ति का उदाहरण है। साहित्य भी इसकी पुष्टि करता है। आस्तिकवादी दार्शनिक स्पष्टतया कहने लगे कि यद्यपि परमेश्वर एक ही है, किन्तु अनेकत्व भी उसी के अन्तर्गत है। त्रैलोक्य को अतिक्रमण करके वह सर्वातिशायी है। ग्रीस में धार्मिक और दार्शनिक विचारों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कमोबेश हमेशा रहा। उनका ईसाई धर्म के विकास पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। प्लेटो के और ईसा के मत में बहुत कुछ सामंजस्य पाया जाता है। दोनों मत जगत् की अस्थिरता को उल्लंघन करके अप्रत्यक्ष, किन्तु स्थायी तत्त्वों को आदर्श मानते हैं।

साहित्य

अनुमान किया गया है कि ईसा से हजार या बारह सौ वर्ष पहले यूनानियों ने फोनीशिया वालों से अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर उनको कुछ हेरफेर के साथ अपना लिया। अक्षर व्यंजन थे क्योंकि स्वरों के लिए कोई चिह्न निर्धारित न हुए थे। अक्षरों की संख्या बाईस थी। ग्रीस वालों ने स्वरों के चिह्न निश्चित किये जिससे लिखने-पढ़ने की सुविधा हो गयी। मिस्र देश से कागज, कलम तथा रोशनाई वे मँगवा लेते थे। ईसा पूर्व चौथी शती तक लिखने-पढ़ने की पूरी सुविधाएँ ग्रीस वालों को प्राप्त हो गयी थीं।

ग्रीक भाषा में सबसे पुराना साहित्य वीर-गाथा काव्यों का है। कहा जाता है कि उन गाथाओं को एकत्रित, परिष्कृत तथा संगठित करके इलियड की रचना की गयी। उसका श्रेय होमर नामक किसी काल्पनिक अथवा ऐतिहासिक व्यक्ति को दिया गया। ग्रन्थ की भाषा प्रधानतः आयोनिक है, किन्तु उसमें एपोलिक भाषा का भी कुछ सम्मिश्रण हुआ। होमर सम्भवतः एशियाई कोचक के स्मरना नाम के नगर के आसपास का निवासी था। ग्रन्थ का विषय है ग्रीस वालों का ट्राय (इलियम) नामक राज्य से संघर्ष और युद्ध। कथा का युद्धवीर नायक एचिलीज़ है। गाथा के अनुसार ट्राय के राजा का पुत्र परीस स्पार्टा के राजा की परम सुन्दरी रानी हेलन को छल अथवा बल से उठा ले गया। उस दुष्कृति तथा अपमान का बदला लेने के लिए, ग्रीस के राज्यों ने मिलकर ट्राय पर आक्रमण किया। आक्र-

मणकारियों का नेता आरगस का राजा एगामेमनान था। ट्राय की दीवारें बड़ी मजबूत थीं। दस वर्ष तक घेरा डाले रहने और भयंकर मार-काट के पश्चात् नगर लूटकर विध्वंस कर दिया गया। विजय प्राप्त कर राजा लोग अपने-अपने राज्य में जब पहुँचे तब उनको ज्ञात हुआ कि राज्यों पर अन्य लोगों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया था। अनेक राजा हताश होकर लौटे और जहाज़ों पर दूसरे स्थानों में भाग्य परीक्षा के लिए चले गये। इलियड में वीरों और योद्धाओं के चरित्रों का ज़ोरदार वर्णन है। नीलोपी, आन्द्रमकी आदि स्त्रियों का चित्रण अत्यन्त मधुर, कोमल और आदर्शपूर्ण है। इलियड का उपसंहार होमर ने ओडेसे काव्य में किया है। दोनों ग्रन्थ ग्रीस की प्राचीन सभ्यता के ज्ञान के लिए मुख्य साधन होने के अलावा श्री वाल्मीकि रामायण की तरह विश्व साहित्य में अमरत्व का स्थान पा चुके हैं।

होमर के अलावा दूसरा प्रसिद्ध कवि हीसिअड है जो एक किसान था (७५० से ७०० ई० पू०)। यूरोप का वह पहला कवि था जिसने गरीबों के पक्ष और हित में अपनी आवाज उठायी। पूंजीपतियों तथा भूमिपतियों के अत्याचार का उसने विरोध किया तथा कृषक जीवन की प्रशंसा की। अत्याचारी को देवकोप की चेतावनी दी। ऐतिहासिक दृष्टि से हीसिअड का काव्य अपना विशेष महत्त्व रखता है। उसके समय तक गीतिकाव्य का, जो बाँसुरी और तन्त्री के साथ गाये जाते थे, खासा प्रचलन हो गया था। पौराणिक ढंग के काव्यों या वीरगाथाओं के स्थान पर भावुकता प्रधान काव्य में लोगों की रुचि और प्रवृत्ति बढ़ती गयी। प्रेम तथा करुणा के भाव अधिक लोकप्रिय होने लगे। इस नयी प्रवृत्ति का हृदयस्पर्शी प्रस्फुटन लेस्बोस सेफो नाम की सुप्रसिद्ध कवयित्री के गीतों में हुआ (छठी शती ई० पू०)। उसका सम्मान आज तक यूरोप में होता है। ग्रीस वाले तो उसे कविता देवी का दशम अवतार मानते थे। इस प्रसंग में थेबीज़ के किसान कवि पिंडर का नाम इसलिए आवश्यक है कि वह ग्रीस की औद्योगिक क्रान्ति के युग की भावनाओं को प्रकट करता है। उसने बड़ी मधुर तथा ओजमयी भाषा में ओलिम्पिया के खेलों के यशस्वी विजेताओं का गुणानुवाद किया। इसके सिवा धनपतियों के सुखमय जीवन का चित्रण करते हुए उनके उत्तरदायित्व का संकेत भी किया। वहाँ के लोग तो उसे संगीत का देवता मानते थे। उस समय तन्त्री तथा वंशी का कांफी प्रचलन हो गया था जिससे कविताओं को स्वर एवं लय सहित गाने का शौक उत्पन्न हो गया था। असीरिया में प्रचलित गानों को लिखने की सांकेतिक लिपि

को काट-छांट कर यूनानियों ने अपना लिया जिससे रागों के स्थिर करने तथा सिखाने का सुभीता हो गया।

ग्रीस, विशेषतया एथेन्स, के साहित्य तथा कला का स्वर्ण युग (ई० पू० पाँचवीं शती) पेरिक्लीज़ का समय है। यद्यपि काव्य के जितने मुख्य अंग हैं सभी बीज रूप से होमर के काव्यों में पाये जाते हैं तथापि उनका विशेष विकास इसी युग में हुआ। कालिदास ने लिखा है कि विनोद के अतिरिक्त नाट्य देवताओं का प्रिय चाक्षुष यज्ञ है। ग्रीस वालों की भी वैसी ही धारणा थी। अतएव देवताओं के उत्सवों पर उनका पठन और श्रवण श्रद्धा के साथ होता था। ग्रीस साहित्य के प्रमुख और साहित्य संसार में सम्मानित नाटककार एस्फाइलस (५२५—४५६ ई० पू०), सोफोक्लीज़, युरीपिडीज़ और अरिस्टाफनीज़ इसी युग में फले-फूले। पहले दो नाटककारों ने सात-सात, चौथे ने ग्यारह और तीसरे ने सौ नाटक लिखे जिनमें से अठारह नाटक मिलते हैं। नाटकों का विषय किसी-न-किसी भाँति धर्म तथा देवताओं से सम्बन्ध रखता था। एस्फाइलस ने देवताओं के न्याय तथा मनुष्य के आचरण की शुद्धता को अपने नाटकों में प्राधान्य दिया है। उसकी मनोवृत्ति भौतिक तथा बुद्धिवाद के विरुद्ध थी। विषम स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी श्रद्धा और विश्वास देवताओं के प्रति अटल थे। यूरीपिडीज़ ने उनसे विपरीत मानुषिक जीवन तथा उसकी प्रवृत्तियों, भावनाओं तथा समस्याओं को देवताओं की कृतियों से अधिक महत्त्व दिया है। देवताओं की कथाओं की उसने कटु आलोचना की। दीनों और दलितों के दुख-सुख को उसने उपस्थित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। यद्यपि तत्कालीन दर्शकों ने उसका उतना सम्मान नहीं किया जितना कि दूसरों का तथापि उसका महत्त्व तो सभी को स्वीकृत करना ही पड़ा। उपर्युक्त तीनों दुःखान्त नाटककार थे। नाटकों की संख्या तथा उनके गुणों के उत्कर्ष का मुख्य कारण यह था कि ओलिम्पिया की प्रतियोगिता के लिए प्रत्येक कलाकार को चार नाटक प्रस्तुत करने पड़ते थे। प्रहसनों तथा संगीतात्मक नाटकों के लिखने में अरिस्टोफनीज़ सिद्धहस्त था। दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा कौटुम्बिक विषयों पर उसने सुन्दर भाषा में बड़ी चुभती हुई आलोचनाएँ कीं। नेताओं और दार्शनिकों पर भी उसने चुटीले व्यंग किये। प्रहसन लिखने की परिपाटी इतनी ज़ोरदार हुई कि शासन ने प्रस्तुत राजनीतिक विषयों पर प्रहसन लिखना मना कर दिया। ग्रीस की जनता को नाटकों का संग्रह करने तथा उन्हें पढ़ने और अभिनीत करने और देखने का बड़ा शौक था। कभी-कभी तो तीस हजार तक दर्शक अभिनय देखने

के लिए एकत्रित हो जाते थे। नये नाटकों में केवल कथोपकथन न था। गान, नाच, भाव-प्रदर्शन, चित्रपट आदि का उसमें मिश्रण रहता था। प्राचीन युग में नाटक ने ग्रीस के बराबर सम्भवतः कहीं भी उन्नति न की। उसके उत्थान काल में वियोगान्त नाटकों का प्राधान्य रहा, किन्तु पतन काल में सुखान्त नाटकों का अधिक सम्मान हुआ।

यूनानी लोग सौन्दर्य तथा संगीत के प्रेमी थे। वे जिस काम को हाथ में लेते उसमें सुन्दरता लाने का प्रयत्न करते। इसीलिए उनकी कलाओं और साहित्य में असाधारण सुन्दरता मिलती है। पद्य में रचना करने की परिपाटी तो पहले से चली आती है। होमर के काव्य में ही भाषा, पद-विन्यास, व्यंजना शक्ति, छन्द तथा अलंकार आदि के बहुत-से गुण विद्यमान थे। उनकी वृद्धि उत्तरोत्तर होती गयी। किन्तु जब ऐतिहासिक, तार्किक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक विषयों की रुचि और आवश्यकता पड़ी तब गद्य में भी पुष्टता, व्यापकता, प्रौढ़ता, ओज, सूक्ष्म तथा जटिल भावों को सरलता से प्रकट करने की विलक्षण क्षमता विकसित हो गयी। संस्कृत और अरबी की तरह ग्रीक भाषा भी सुस्थिर और समृद्धिशाली मानी जाती है। वक्तृत्व कला में भाषा का बड़ी सफलता से उपयोग होता गया। एथेन्स के सुप्रसिद्ध व्याख्याता डेमास्थिनीज़ के ओजपूर्ण और प्रभावशाली भाषण आज तक जोश से पढ़े जाते हैं।

कलाएँ

ग्रीस की स्थापत्य कला प्रारम्भ में तो भोंडी थी और लकड़ी का उपयोग इमारतों के बनाने में बहुतायत से होता था। किन्तु सुन्दर सफेद पत्थर के सुगमता से मिल जाने के साथ ही मिस्र और क्रीट की कलाओं का ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो गया। उन साधनों को प्राप्त कर ग्रीस वालों ने अपनी प्रतिभा से उसको अधिक परिष्कृत, भव्य तथा सुन्दर ही नहीं बनाया, वरन् उस पर अपने व्यक्तित्वकी ऐसी छाप लगायी कि आगे चलकर यूरोप वालों के लिए उनकी कला आदर्श माप दण्ड का काम करने लगी। उस कला के ध्वंसावशेषों से यह प्रतीत होता है कि अच्छी इमारतें प्रायः देव-मन्दिर अथवा देवताओं की स्मृति में निर्मित की जाती थीं। उनमें देवमूर्तियाँ प्रतिष्ठित नहीं की जाती थीं क्योंकि उनके निर्माण का एक मात्र उद्देश्य देवी-देवताओं के प्रति सम्मान प्रकट करना और उनकी स्मृति को देदीप्यमान रखना था। उनकी इमारतों की भव्यता में सांगोपांग संगति के अलावा विशाल

स्तम्भों की विशेष छटा और महत्त्व रहता था। इमारतों में स्तम्भों के हिसाब से तीन शैलियाँ थीं—डोरिक, आयोनिक और कोरिन्थियन। डोरिक कला का सबसे सुन्दर प्रदर्शन सक्रोपोलीस पहाड़ी पर स्थित श्वेत संगमरमर के पार्थेनान मन्दिर में है। उसके खम्भे ३४ फुट ऊँचे, नीचे की ओर अधिक, किन्तु ऊपर कम मोटे बने हुए हैं, स्तम्भों पर नालियाँ खचित हैं। मन्दिर की फ्रीज़ पर सुप्रसिद्ध मूर्ति-कलाकार फीडियस द्वारा उकेरे ट्राय के युद्ध के दृश्य तथा खेलों के जुलूस हैं। पीड-मोंट पर ज्योज़ के उद्भव से एथेना देवी के जन्म तक की मूर्तियाँ हैं। सबका सामूहिक प्रभाव इतना सुन्दर पड़ता है कि उसको स्थापत्य तथा तक्षण कला का श्रेष्ठतम नमूना माना जाता है। आयोनिक शैली की विशेषता उसके स्तम्भों में है। वे उतने मोटे नहीं होते न उनके नीचे तथा ऊपर के भाग अलंकृत होते हैं। इमारतों के दरवाजों, कार्निस, धन्नी और छत के बीच के भाग पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ अथवा जंजीरेदार लड़ियाँ बनी होती हैं। उस कला का अच्छा नमूना एरेक्थियम है जो पार्थेनान के समीप बना हुआ है। कारिन्थियन शैली के खम्भों पर प्राय: बड़ी सजावट और कारीगरी का प्रदर्शन है। अलेक्ज़ेण्डर के समय से धार्मिक इमारतों का बनना कम हो गया और लोगों की प्रवृत्ति प्रासाद, संग्रहालय, नाचघर, मकान, स्नानागार, क्रीड़ाभवन, नाट्य मन्दिर, पुस्तकालय आदि बनाने की ओर हो गयी, एशियाई कोचक के उत्तर-पश्चिमी कोण पर ग्रीस के पास परगेमम नगर के ध्वंसा-वशेषों से जान पड़ता है कि ग्रीक नगर निर्माण कला ने सम्भवत: मिस्र तथा फारस से प्रभावित होकर बड़ी उन्नति की। भव्य विशाल नगर में सार्वजनिक सुन्दर इमारतें जैसे, संग्रहालय, पुस्तकालय, वाचनालयादि तथा रहने के मकान जिनकी दीवारों पर बढ़िया पलस्तर चढ़े और चित्रादि बने थे—बहुतायतसे थे। शहर में बड़े-बड़े पार्क, बाग-बगीचे, चलने के लिए पटरियाँ, पक्की सीधी सड़कें, पानी के निकास के लिए खुली और बन्द नालियाँ, पानी लाने के पाइप आदि का सुविधाजनक प्रबन्ध था। इमारतें महराबदार बनायी जाने लगी थीं। छोटे-छोटे नगर प्राय: एक ही ढंग पर बसाये जाते थे। अलेक्ज़ेण्ड्रिया सबसे बड़ा, समृद्धिशाली नगर था। वहाँ के महल बड़े और सफेद पत्थर के बने थे। इन उत्तरकालीन इमारतों के फर्श सुन्दर, सफेद या काले पत्थरों के होते थे। स्तम्भों पर अधिक अलंकृत कारीगरी और दीवारों पर विविध भाँति के चित्र उनकी शोभा बढ़ाते थे। नये ढंग के नगरों में अलेक्ज़ेण्ड्रिया सबसे प्रधान और सम्पन्न था।

स्थापत्य कला के अतिरिक्त ग्रीस में मूर्तिकला की भी बड़ी उन्नति हुई। ग्रीस

वाले मनुष्य के शरीर को प्रकृति की कला का उच्चतम प्रतीक समझते थे, अतएव वे उसको सुन्दर और सुडौल बनाने के लिए अधिकाधिक चेष्टा करते थे। उनका यह भी विश्वास था कि देवी-देवताओं और मनुष्यों के शरीर की रचना में केवल सुन्दरता और मनोहरता का भेद है। ग्रीसवासियों का आदर्श मनुष्यत्व से देवत्व प्राप्त करने का था। तदनुसार मनुष्य की प्रतिकृति को वे देवी-देवताओं की कल्पना के जितना निकट ले जा सकते थे, उतना ही अधिक साम्य लाने का वे प्रयत्न करते थे। देवी-देवताओं, वीरों और नेताओं की मूर्तियाँ अधिकतर बनायी जाती थीं। परिणाम यह हुआ कि उनकी बनायी मूर्तियाँ ऐसी भव्य और मुग्धकारी हुईं कि उनका अनुकरण कमोबेश आज तक होता आ रहा है। शरीर का जितना अधिक उनको ज्ञान होता गया उतना ही आदर्श-मिश्रित यथार्थता, भावभंगिमा और गति उनकी मूर्तियों में प्रतिभासित होती गयी। पहले वे मूर्तियों पर रंग चढ़ाते थे, किन्तु बाद में उस पद्धति को उन्होंने छोड़ दिया और शुद्ध संगमरमर का उपयोग करने लगे। शारीरिक पूर्णता एवं गौरव के अक्षुण्ण प्रदर्शन के निमित्त वे नग्नमूर्ति के भी बनाने में संकोच न करते थे। पत्थर के अलावा वे ताँबे की मूर्तियाँ भी निर्माण करते थे। पशुओं की मूर्तियाँ भी वे चतुरता से गढ़ते थे। अकेली मूर्ति के अलावा मूर्ति समूह द्वारा भी वे किसी विशेष प्रसंग का प्रदर्शन करते थे। वहाँ के कलाकारों में फिडिअस, माइरन, पालीक्लीटस आदि प्रसिद्ध हैं। अलेक्ज़ेण्डर के युग में स्वाभाविकता तथा साधारण प्राकृतिक प्रदर्शन की ओर कलाकारों की रुचि बढ़ी जिससे उनके सुख-दुख, साधारण जीवन की आशाओं और निराशाओं का प्रदर्शन कलाकृतियों में होने लगा। परगेमम की संगमरमर की मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर और कला की श्रेष्ठतम निदर्शन हैं। उनकी समता करना आज भी कठिन कार्य है। अलेक्ज़ेण्डर के युग में मूर्तिकला तथा चित्रकला में विशेष उन्नति यह हुई कि विशिष्ट व्यक्तियों की प्रतिकृतियाँ बनायी जाने लगीं जिनसे हम उनका साक्षात्कार आज भी कर सकते हैं।

चित्रकला की उन्नति उस पैमाने पर तो नहीं हुई जितनी कि मूर्तिकला की, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उसने विशिष्टता नहीं प्राप्त की। पहले चित्र कलसों, सुराहियों, शराबों, हाँडियों आदि पर बनाये गये। दीवारों पर भी अनेक प्रकार के दृश्यों का चित्रण किया जाता था। चित्र रचना में सम्भवतः क्रीट तथा मिस्र आदि का प्रभाव पड़ा होगा। चित्रों में सरलता, रेखाओं की कोमलता, निग्रह एवं प्रसाद के गुण पाये जाते हैं। एथेन्स के एक पार्श्व अलिंद पर मेराथान विजय का दृश्य चित्रित है। मूर्तिकला की तरह चित्रकला भी ग्रीस वालों के जीवन और

आदर्शों को प्रतिबिम्बित करती है। उनका ध्येय सुन्दर और शिव के संयोजन से भावनात्मक सत्य की प्रतिष्ठा करना था। धर्म और जातीय जीवन ही उनमें उन्मेष और प्रेरणा उत्पन्न करते थे।

संगीत

ग्रीस वालों को संगीत का इतना प्रेम था कि बिना उसके मनुष्य अशिक्षित समझा जाता था। इसीलिए शिक्षा के क्रम में संगीत को अनिवार्य विषय निर्धारित किया गया था। अकेले अथवा सं ित या सामूहिक गानों का प्रचलन था। मिस्र से बाँसुरी, एशिया से तन्त्री और असीरिया से संगीत-लेखन की कला को अपनाकर उन्होंने उन्हें अपने व्यक्तित्व से अनुप्राणित कर दिया था। खेलों, तमाशों, जुलूसों, मन्दिरों, उत्सवों आदि में वाद्य, गान, नृत्य को सदा स्थान दिया जाता था। ग्रीस में पहले तीन तारों की फिर सात तारों की तन्त्री का प्रयोग होने लगा।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह अनुमान करना कठिन न होगा कि इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्रों में ग्रीस वालों का स्थान आदरणीय तथा ऊँचा था। उनकी प्रतिभा विलक्षण और विशिष्ट रूप से रचनात्मक थी। जिस विषय या प्रसंग को उन्होंने हाथ में लिया उसको बहुत विकसित एवं परिमार्जित करके छोड़ा। सौन्दर्य-भावना, कुशाग्र बुद्धित्व, प्रगतिशीलता, स्वातन्त्र्यप्रियता, प्रतिभा, आदि का ग्रीस वालों ने अच्छा प्रदर्शन किया और मनुष्य के इतिहास में अपनी अमर कीर्ति स्थापित कर गये। उनके दार्शनिक एवं धार्मिक विचारों का ईसा के मत के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा। रोम की सभ्यता और पुनर्जागरण युगीन नवीन यूरोपीय सभ्यता पर उनकी गहरी छाप लगी हुई है। आधुनिक यूरोप के निर्माण में उनका विशेष प्रभाव माना जाता है। उनकी संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव यूरोप वालों पर आज तक पड़ रहा है।

अध्याय ९

ईरान

ईरान का इतिहास और उसकी संस्कृति चार युगों में विभाजित की जा सकती है। पहला युग हख़मनों का था। उस युग में ईरान ने ऐसी उन्नति की कि उसका ऐतिहासिक क्षेत्र सिन्ध नदी से ग्रीस तथा वहाँ से मिस्र देश तक फैल गया। सांस्कृतिक क्षेत्र में वह ग्रीकों से यदि अधिक नहीं तो उनकी बराबरी का दावा कर सकता है। उसका दूसरा युग अलेक्ज़ेण्डर की विजयों से आरम्भ हुआ। यद्यपि ग्रीक विजेता थे तथापि अनेक अंशों में वे ईरानी जीवन से इतना मिल-जुल गये थे कि ईरान में एक मिश्रित संस्कृति का विकास हुआ। जब रोम के साम्राज्य ने ग्रीकों की शक्ति नष्ट कर दी तब ईरान में पार्थियनों का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने रोम से सफलतापूर्वक लोहा लिया और उन्हें दो बार भूमध्यसागर के तट तक खदेड़ दिया। किन्तु द्वन्द्व चलता रहा जिससे पार्थियनों और रोमनों का पतन होता रहा। ईसा की तृतीय शती के आरम्भ में सासानी वंश के नेतृत्व में फिर ईरानी उत्तरोत्तर शक्तिशाली हो गये। सासानियों ने ईरान के उत्तर पूर्व प्रान्तों में कुषाणों का मूलोच्छेद कर दिया और पश्चिमी एशिया में रोम वालों का प्रभुत्व इतना शिथिल कर दिया कि वे ईरान से डरने लगे। सासानियों के युग में ईरान की जातीयता, प्राचीन संस्कृति और सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी।

ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व आर्यों की वह शाखा जो इण्डो-ईरानियन नाम से प्रसिद्ध है कई समूहों में ईरान की ओर बढ़ने लगी। उनमें से मिट्टनी काकेशिया पारकर फरात नदी के उत्तरी मोड़ के आसपास रहने वाले हरिअनों के प्रान्त में आ बसे। १४५० ई० पू० तक उन्होंने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली किन्तु आर्यों की हिट्टियों की शाखा ने उन्हें पनपने न दिया। इण्डोआर्यनों की दूसरी शाखाएँ ज़गरोस पर्वत की घाटियों में आकर बसने लगीं। असीरिया वालों ने जहाँ तक बन पड़ा उनके दमन करने में कोई प्रयत्न उठा न रखा। किन्तु ईसा की नवीं शती (८४४ ई० पू०) तक परसूआ तथा मीड (मडई) अच्छी तरह जम ही गये। मीडों

की शक्ति का क्षेत्र हमदान के आसपास और परसूआओं का उनमिआ झील के पश्चिमी भाग में था। मीडों ने हमदान तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। केस्पिअन के पूर्व में हिरात और खुरासान तक पार्थव आ जमे। वे ही आगे चलकर पार्थियन कहलाए। यों तो इण्डो आर्यनों के और भी कबीले थे किन्तु उनमें से सगरत (ज़िकितुँ) जो तबरीज़ तक बढ़ आये थे, उल्लेखनीय हैं। परसुआ धीरे-धीरे बढ़ कर शुस्तर के पूर्व की पहाड़ियों के प्रान्त में आकर बस गये। उसी प्रान्त को असीरिया वाले 'परसुमश' कहते थे।

मीडिया

यद्यपि हिट्टी, मिट्टनी और कुछ अंश तक लीडियन लोग भी आर्य जाति की उस शाखा के थे जो काले समुद्र के पास से एशिया माइनर होती हुई ईरान तथा हिन्दुस्तान तक फैल गयी थी किन्तु उनका इतिहास तथा उनकी सभ्यता न तो उतनी दीर्घकालीन अथवा महत्व की रही जितनी कि ईरान के आर्य लोगों की। ईरान के उत्थान के पूर्व महत्वशालिनी सभ्यताएँ सिन्धु, नील तथा दजला फरात की तलहटियों में फैली थीं। उनकी निर्मात्री सम्भवतः द्रविड हेमेटिक तथा सेमेटिक मानव शाखाएँ रही होंगी। किन्तु असीरिया के पतन के अनन्तर खाल्दिया, अरब के उत्तरी ओर मेसोपटामिया में और पूर्वीय प्रदेशों में उनके उत्तराधिकारी हुए। मीड आर्य शाखा से थे। उनके युग में मानव सभ्यता के निर्माण में आर्य लोगों ने उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण भाग लिया। व्यापकता, महत्व तथा स्थायी प्रभाव की दृष्टियों से आर्य सभ्यता उन सब पूर्व सभ्यताओं से बढ़ गयी और अपनी विशेषताओं की छाप संसार पर डालती रही। प्रस्तुत प्रसंग में ईरान की सभ्यता का दिग्दर्शन आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि यूरोप तथा भारत के बीच में उसने कड़ी का ही काम न किया वरन् दोनों पर कुछ-न-कुछ अपना प्रभाव भी डाला। इसके सिवा अनेक शताब्दियों तक उन्होंने चीन की बर्बर जातियों से प्राचीन सभ्यताओं की रक्षा की।

केस्पिअन सागर और फारस की खाड़ी के बीच में जो त्रिभुज भू-भाग है वह ईरान के नाम से प्रसिद्ध है। वह पठार पहाड़ियों से घिरा है जिनकी लम्बाई तीन सौ साठ और चौड़ाई एक सौ बीस मील है। उस पर्वतमाला में अनेक घाटियाँ हैं जिनकी लम्बाई तीस से साठ मील तक और चौड़ाई छः से बारह मील तक है। उनमें सुन्दर चरागाहों के सिवा बादाम, पिस्ता, अनार, अंगूर और अंजीर आदि

के पेड़ बहुतायत से पाये जाते हैं। गेहूँ, जौ, रुई की अच्छी पैदावार होती है। त्रिभुज के उत्तर में अलबुर्ज नामक विशाल पवत है जिसकी चोटी उन्नीस हज़ार फुट ऊँची है। दजला के बायीं ओर उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व को ज़गरोश नाम की पर्वतमाला के पीछे समुद्र के सूख जाने से बहुत बड़ा रेगिस्तान बन गया है। इस प्रकार ईरान के कुछ भू-भाग पथरीले, कुछ हरे भरे, कुछ जंगली और कुछ रेगिस्तानी हैं। साधारणतः वहाँ की आबहवा ख़ुश्क है। गरमी में भयंकर गरमी तथा जाड़े में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है। किन्तु वहाँ की वायु शुद्ध तथा स्फूर्तिदायक और स्वास्थ्यवर्धक है। वहाँ नदियों के सिवा नहरों से भी भलीभाँति काम लिया जाता है। फारस में फल-फूलों की तो बहुतायत है किन्तु अन्न की कुछ कमी है। अनेक प्रकार के पशु भी वहाँ हैं किन्तु दुंबा भेड़ तथा घोड़े विशेषतया उल्लेखनीय हैं। वहाँ के निवासी मांस और फलों का अधिक तथा अन्न का कम उपयोग करते रहे हैं। अच्छे घोड़ों के कारण वहाँ घुड़सवारी का शौक़ लोगों में बहुत पहले से ही पैदा हो चुका है। उनके हृदय में स्फूर्ति तथा विचारों और भावों में काव्य और कल्पना का उद्रेक हुआ जिससे उनमें अहम्मन्यता की वृद्धि होती रही है। ईरान में पूर्व तथा पश्चिम सभ्यताओं की लहरें आती रहीं जिनसे उसकी उन्नति में अच्छी सहायता मिली।

दजला नदी के पूर्वी तथा उत्तरी प्रान्तों में अनेक आर्य कबीले या तो बस गये थे अथवा इधर-उधर घूमते-फिरते थे। नवीं शती ई० पू० के एक लेख से पता चलता है कि कुर्दिस्तान की पहाड़ियों के परसुआ प्रान्त में सत्ताईस विभिन्न शासक थे किन्तु मैदान में अरदई या मीड लोग थे, जिनके छः कबीले थे। अर्द्ध घुमक्कड़ होने के कारण वे न दे के तम्बुओं में रहते थे। जब कहीं बस जाते तब बस्ती के चारों ओर मिट्टी की दीवाल बना लेते थे। वे पशुपालन करते, घोड़ों, बैलों, बकरों, भेड़ों और कुत्तों के गिरोह रखते, गाड़ियों से भी काम लेते थे। जहाँ सम्भव हुआ वे जमकर खेती करने लगते थे। वे वीर, शिकार के बड़े शौकीन और प्रसिद्ध धनुषधारी थे। उनका समाज पैतृक था और उनमें बहुविवाह की प्रथा थी। प्रत्येक कबीला या गिरोह स्वतन्त्र था किन्तु आपत्काल में वे सब मिल जाते थे। वे लोग आर्य भाषा बोलते थे। कहा जाता है कि वे समरकन्द, बुखारा, मर्व, बल्ख और खुरासान होते हुए ईरान में फैल गये थे। उनको सोना-चाँदी, सीसा, ताँबा, लोहा तथा मणियों का भी ज्ञान था।

मीडों का दमन करने के लिए असीरिया के सम्राटों ने अनेक प्रयत्न किये।

हजारों मार डाले गये और गुलाम की तरह पकड़ कर निर्वासित किये गये। तथापि वे संघर्ष करते ही रहे और संघर्ष जारी रहा। इस परिस्थिति से व्याकुल होकर मीडों ने पोओक (दिओकस) नामक एक नेता या राजा चुन लिया। वह वीर और न्याय-प्रिय था। उसने उनको संगठित करके अपनी राजधानी एकबताना में जो हमदान के समीप है स्थापित की। तभी से वहाँ एकसत्तात्मक राज्य का आरम्भ हुआ (७०८ से ६५५ ई० पू०)। असीरिया के बल को विचारकर उसके उत्तराधिकारियों ने कुछ समय तक शान्तिपूर्वक कर देने की नीति का अनुसरण किया। दो पीढ़ी तक शान्ति रखकर उनके राजाओं ने अपने संगठन को दृढ़ कर लिया और युद्ध करके अन्य कबीलों को भी अपने अधीन बना लिया। केमेरियन वंश भी उनके साथ था।

कायक्षत्रस (६३५—५८४ ई० पू०) ने शासन को तथा बरछे वालों, धनुर्धरों और सवार सेना को विशेषतः ऐसा संगठित किया कि उसका आतंक चारों ओर फैलने लगा। फिर उसने असीरिया पर भयंकर आक्रमण किया और निनेवह को घेर लिया। यदि स्काइथियन लोग मीडिया पर भयंकर आक्रमण न करते तो संभवतः वह निनेवह को फतह कर लेता। फिर भी उसने स्काइथियन आक्रमणकारियों के मुख्य नेता को छल से मारकर और उसकी सेना को हराकर निनेवह पर पुनर्बार चढ़ाई कर उसे नष्ट-भ्रष्ट किया और जला दिया। (६१२ ई० पू०) असीरिया के छत्र-भंग से मीडों का मार्ग प्रशस्त हो गया। मीड राजा पश्चिम की ओर आरमीनिया तथा केपेडोशिआ जीतकर आगे बढ़ा किन्तु लीडिया वालों ने उसको रोका। सात वर्ष तक युद्ध होने के पश्चात् दोनों में सन्धि हो गयी (५८५ ई० पू०)। हालिस नदी (क़िज़िलहरमक़) दोनों राज्यों की सीमा निश्चित हुई। मीडों का राज्य हालिस नदी से भारत की सीमा तक माना गया। कायक्षत्रस का उत्तराधिकारी इष्टवेग वैभव से मदान्ध होकर सैर-शिकार में फँस गया। शासन में ढील पड़ने से असन्तोष बढ़ा। उस परिस्थिति से लाभ उठाकर परशु प्रदेश के हखमनिश कुल के नेता कायरस ने, जिसका प्रभुत्व एलाम तक हो गया था, मीडों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। मीडिया राज्य के स्थान पर परशिया राज्य कायम हो गया (५५० ई० पू०)।

यद्यपि मीडों की सभ्यता ने कोई भारी उन्नति तो न की तथापि उन्हें ३६ अक्षरों की वर्णमाला तथा पार्चमेण्ट कागज पर कलम से लिखने का ज्ञान था। उनमें एक वंश 'मग' लोगों का था जो सम्भवतः कर्मकाण्डी रहे होंगे। वे मांस न

खाते, एक पत्नी-व्रती होते और सादा एवं शुद्ध जीवन व्यतीत करते थे। उनमें एक प्रकार की संस्कार विधि प्रचलित थी। प्रकृति के चार तत्वों क्षिति, जल, पावक और समीर का पूजन वे फल-फूलों अथवा पशुबलि द्वारा करते थे।

फारस (५३५ – ३३१ ई० पू०)

परसुआ की कुर्दिस्तानी पहाड़ियों पर अनेक छोटे-मोटे रजवाड़े थे। इन रजवाड़ों में इण्डोआर्यन भाषा बोली जाती थी, सम्भवतः वहाँ के निवासी दक्षिण रूस की ओर से बुखारा, समरकन्द तथा मर्व होते हुए ईरान में आकर बस गये थे। मीड़ों की तरह ये भी मानव की आर्य शाखा के लोग थे। अनुमान किया जाता है कि जब मीडों का साम्राज्य बढ़ा तब उन लोगों के सबसे प्रमुख वंश पसरगदी के हख़मनिश नामक कुल के लोग परसुआ से हटकर एलाम की तराई में आकर बस गये और वहाँ के शासक वंश से उन्होंने राज्य छीनकर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। उनके कम्बिसस प्रथम नामक राजा का विवाह मीडिया के राजा अस्त्यगस की पुत्री से हुआ जिससे उसका महत्व और भी बढ़ गया।

हखमनिश (एकेमेनी) वंश का पहला प्रतापी राजा करण का पुत्र कायरस हुआ (५५३ वर्ष ई० पू०)। उसने मीडिया के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया। सम्राट् की सेना ने भी कायरस का साथ दिया और उसे अपना नेता स्वीकार कर लिया (५५० ई० पू०)। वह मीडिया का सम्राट् तो था ही किन्तु उसने अपने को फारस का सम्राट् भी घोषित किया। मीडों के प्रति उसका बर्ताव शिष्ट तथा सहानुभूतिपूर्ण रहा। अपनी सेना में उन्हें भरती करके उसने उन्हें आत्मसात कर लिया।

कायरस की पहली टक्कर लीडिया के राजा क्रीसस से हुई, क्योंकि उसने फारस के नये सम्राट् की बढ़ती हुई शक्ति का शीघ्र ही दमन करना आवश्यक समझ कर उस पर आक्रमण करने की योजना बनायी थी। क्रीसस को आशा थी कि बेबीलान, यूनान तथा मिस्र की राजशक्तियाँ उसकी सहायता करेंगी। यह समाचार पाते ही कायरस ने उस पर चढ़ाई कर दी। युद्ध के पूर्व उसने क्रीसस को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु उसने इंकार कर दिया। युद्ध में कायरस की विजय हुई (५४६ ई० पू०)। क्रीसस पकड़कर नजरबन्द कर लिया गया। लीडिया की राजधानी में कायरस की पताका फहराने लगी। तदनन्तर एक के बाद दूसरा नगर जीतकर फारस वालों ने ईजियन सागर के पूर्वी

तट तक अपना साम्राज्य बढ़ा लिया। उसी प्रकार पूर्व तथा उत्तर में भी उन्होंने समरकन्द, मर्व आदि स्थानों को जीतकर सर दरिया तक अपना साम्राज्य बढ़ाया। पूर्व में शकस्तान (सिजिस्तान) तथा मकरान तक उन्होंने अपनी राज्य सीमा बढ़ा ली। कायरस की प्रबल शक्ति के सामने बेबीलोन ने भी शिर झुका दिया। बेबीलोनिया का राजा नबूनेद अपने देवताओं को लेकर भाग गया। (५३९ ई०) उसकी प्रजा ने कायरस का स्वागत किया। कायरस ने इस प्रकार तीन साम्राज्यों को मिलाकर एक बहुत बड़े अधि-साम्राज्य की स्थापना की। उसकी विजयों का रहस्य उसके श्रेष्ठ धनुर्धारियों की वीरता ही नहीं वरन् उसकी उदारनीति भी थी। वह न तो किसी के देवी-देवताओं या देवालयों का अपमान करता था, न व्यर्थ के लिए नगरों का विध्वंस करता, न पराजित लोगों के साथ कड़ा, अनावश्यक क्रूरता का व्यवहार करता था अपितु वह उनका उचित सम्मान करता था। मर्दुक को तो वह देवादिदेव उपाधि के साथ सम्मानित करता रहा। जिस देश में वह जाता वहाँ के शासक वंश का अपने को उत्तराधिकारी मानता था और वैसा ही व्यवहार करता था। इसके अतिरिक्त विजित प्रान्तों में वह यथाशीघ्र शान्ति की स्थापना तथा शासन की व्यवस्था कर देता था। सेमेटिक लोगों की सी निर्दयता, फारस वालों में न थी। इन्हीं कारणों से कायरस का विरोध सफलता न प्राप्त कर सका। ५२८ ई० पू० में किसी उत्तरी शक जाति के साथ युद्ध में कायरस का निधन हो गया। कहा जाता है कि शक वंश की उसकी एक रानी तोमाश्रिस ने बदला लेने के लिए उसे धोखा देकर फँसवा दिया जिससे उसकी पराजय और मृत्य हो गयी।

कायरस के उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र कम्बिसस ने बद्दुओं की सहायता से मिस्र पर चढ़ाई की। मेम्फ़िसनगर को अड्डा बना कर न्यूबिया तक के मिस्र देश पर उसने अधिकार कर लिया (५२५—२४ ई० पू०)। यद्यपि कार्थेज और न्यूबिया जीतने का उसने प्रयत्न किया, किन्तु मरुभूमि में उसकी सेना नष्ट हो गयी और वह विफल रहा। फोनीशिया के जलसैनिकों ने कार्थेज पर आक्रमण करने से साफ़ इन्कार कर दिया।

मिस्र से जब कम्बिसस लौट रहा था तब उसे समाचार मिला कि बरदिया नामक उसके भाई ने राज-सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया है। इस समाचार से बौखला कर वह पागलों की तरह अत्याचार करने लगा। कहा जाता है कि उसी पागलपन में उसने आत्महत्या कर ली। तदुपरान्त बरदिया ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। प्रजा को स्वानुकूल करने के लिए उसने तीन वर्ष के लिए कर

माफ कर दिये और युद्ध के लिए बलात् सैनिक भरती करना बन्द कर दिया। किन्तु केन्द्रीकरण की उसकी नीति तथा कुल देवताओं की उपेक्षा के कारण सामन्तों में असन्तोष फैला। फलतः दरयावोश (दारा) के नेतृत्व में उसका वध कर दिया गया (३२२ ई० पू०)। बरदिया के वध की घटना कुछ समय तक गुप्त रखी गयी। जिससे लाभ उठाकर मगश वंशी (मीडी) गोमत नामक व्यक्ति ने अपने को बरदिया होने की घोषणा कर दी। कम्बिसस के अत्याचारों से दुखी होकर लोगों ने गोमत को अपना राजा मान लिया। जब पार्थिया के प्रशासक के पुत्र दरयावोश ने उसके पाखण्ड का भण्डाफोड़ कर दिया तब लोगों ने उसको मार डाला और दरयावोश को अपना सम्राट् मान लिया। दरयावोश का जन्म हख़मनी वंश में हुआ था, अतः उसके वंशज हख़मनी के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुए। दारा ने ज़रथुष्ट्र के मत को अपना लिया और मीडों के मत का विरोध किया।

दारा प्रतापी, योग्य, चतुर और उत्साही सम्राट् सिद्ध हुआ। दो वर्ष में ही उसने शान्ति स्थापित कर दी जो बीस वर्ष तक निर्विघ्न रही। मिस्र वालों को भी उसकी उदारता और सहानुभूति से अपूर्व सन्तोष हुआ। उसका साम्राज्य पूर्व में सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उस विशाल साम्राज्य की राजधानी सूसा नगर में स्थापित की गयी। पश्चिमी प्रदेश सिक्कों और पूर्वी देश पदार्थों के रूप में वार्षिक कर देते थे। उससे इतनी आय थी कि उसे फारस पर कोई कर लगाने की आवश्यकता न रही। मीडिया और परसिया केवल सैनिक भेजते थे। साम्राज्य की आय अन्य वस्तुओं को छोड़कर चालीस करोड़ नकद थी। उतना बड़ा और उतना समृद्धिशाली साम्राज्य उस समय तक पृथ्वी पर कहीं न बना था। इतने बड़े साम्राज्य का शासन करना जिसमें विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों के लोग रहते थे, मानव-संगठन की क्षमता का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

दारा के सामने एक मुख्य प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि भूमध्य तथा काले सागर के तट पर स्थित ग्रीक रियासतों के प्रति उसकी क्या नीति होनी चाहिए। ग्रीक लोग शिक्षित, नाविक, युद्धप्रिय, उद्यमी एवं व्यवसाय-कुशल थे। उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध स्पार्टा और एथेन्स के राज्यों से रहता था। प्रत्येक नगर अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना तथा अन्य नगर-राज्यों से प्रतियोगिता में आगे रहना चाहता था। अपने साम्राज्य को काले सागर के तट तक बढ़ाकर ग्रीकों की रियासतों को उसके अन्दर लाने की कामना दारा के लिए अस्वाभाविक न थी। चिन्ता केवल इस बात की थी कि उनसे युद्ध करते समय सेना बहुत दूर तक फैल जायगी जिससे स्काइथियन

जाति के संचरणशील समूह उस पर आक्रमण अथवा लूट-मार करने का अच्छा अवसर पा सकते थे। अतएव उसने सबसे पहले स्काइथियनों पर आक्रमण करना निश्चित किया क्योंकि इस अभियान में सफलता प्राप्त होने से स्काइथिया की सोने की खानों पर भी उसका अधिकार हो जाने की सम्भावना थी।

कई लक्ष सेना सहित ईरानियों ने बासफोरस पार कर यूरोप पर चढ़ाई की (५१२ ई० पू०)। एशियाई शक्ति का यूरोप पर सबसे प्रथम आक्रमण होने के कारण इतिहास में इस अभियान का विशेष महत्त्व माना जाता है। थ्रेस विजय कर दारा ने वहाँ एक प्रबल सेना नियुक्त कर दी।

ग्रीकों की अधिकांश सुसम्पन्न, सुशिक्षित जनसंख्या दारा के आधिपत्य के अन्तर्गत पहले ही आ चुकी थी। शेष ग्रीकों को भी मिला लेने की अभिलाषा दारा के लिए स्वाभाविक थी। इसके सिवा एथेन्स को स्पार्टा की ओर से भयंकर शंका रहती थी। स्पार्टा फारस का घोर विरोधी था। एथेन्स में एक ऐसा दल पैदा हो गया था जो फारस से मैत्री स्थापित करना चाहता था। उस उद्देश्य से क्लीस्थिनीज़ के नेतृत्व में एथेन्स ने फारस से मेल करने के प्रस्ताव भेजे जिनके स्वीकृत होने के पहले ही एथेन्स की जनता क्लीस्थिनीज़ के विरुद्ध हो गयी और वह देश से निष्कासित कर दिया गया। दो वर्ष बाद इस आन्दोलन का हिपिअस नामक नेता भी अत्याचारी होने के दोष पर देश से बहिष्कृत कर दिया गया। हिपिअस को पुनः अधिकार वापस करने के लिए दारा के भाई अर्तफ्रेनीज़ ने जो सारडिस का गवर्नर था, एथेन्स को मजबूर करना चाहा। धमकी से एथेन्स वाले उत्तेजित होकर लड़ने के लिए तैयार हो गये। ऐसे अवसर पर आयोनिया के यूनानियों ने भी फारस के विरोध का झण्डा उठाया। एथेन्स ने उनकी सहायता के लिए बीस जहाज भेज दिये। विरोधियों ने सारडिस पर आक्रमण कर उसमें आग लगा दी। ईरानियों ने लीडिया के लोगों की सहायता से आक्रमण को निष्फल कर दिया। विद्रोहियों को पीछे हटना पड़ा, किन्तु ईरानियों ने उनको बुरी तरह हरा दिया। उधर ग्रीक राज्यों में आपसी झगड़े आरम्भ हो गये जिससे जो नौ-सेना आदि आयी थी, वापस चली गयी। किन्तु धीरे-धीरे झगड़ा बढ़ता ही गया। ईरान का विरोध और विरोधियों का दमन बढ़ते-बढ़ते घोर युद्ध की नौबत आ गयी। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि एशियाई तट के यूनानी राज्यों तथा ग्रीस में भी प्रायः निरंकुश अनाचारी शासन-विधान प्रचलित थे। दारा का दामाद मर्दोनिअस जब प्रमुख सेनापति नियुक्त हुआ तब उसने यह घोषणा की कि ईरान का मुख्य उद्देश्य निरंकुश अनाचारी शासन

के स्थान पर जनसत्तात्मक शासन, जैसा कि ग्रीस राज्यों में प्रचलित है, स्थापित करना है। इस कार्य में ईरानियों को इतनी सफलता हुई कि यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने भी उनकी प्रशंसा की। दारा को यह आशा थी कि ग्रीस के राज्यों में जनसत्तात्मक पक्ष के लोगों को उसकी नीति से बल प्राप्त होगा और वे उसका स्वागत करेंगे। किन्तु ईरानियों की आशाओं के निष्फल होने के कारणों में सबसे मुख्य तो दैविक घटना थी। समुद्र में एकाएक भयंकर तूफान ने ईरानियों के तीन सौ जहाज डुबा दिये। जिससे बीस हजार सैनिक डूब गये (४९२ ई० पू०)। उस दुर्घटना के जमाने में मर्दोनिअस को जो अबाध सफलता प्राप्त हो रही थी, उसमें विघ्न पड़ गया। मेसीडोनिआ के एक युद्ध में उसकी सेना हार गयी और घायल होने के कारण उसको ईरान लौटना पड़ा। उसके स्थान पर मीड वंशी दत्तीस सेनापति नियुक्त हुआ (४९० ई० पू०)। सबसे बड़ी भूल तो यह हुई कि स्थल मार्ग से चढ़कर ग्रीस पर आक्रमण करने की नीति को त्याग कर जहाजी बेड़े से एथेन्स जीतने का प्रयत्न किया गया। दूसरी भूल यह हुई कि शक्ति-प्रदर्शन के लिए सेना ने एवीट्रिआ के देवस्थानों को जला दिया जिससे ग्रीस में रोष और अविश्वास बढ़ गया। फलतः ईरानी सेना को सहयोग के बदले प्रचण्ड विरोध का सामना करना पड़ा। मेराथान के मैदान में दत्तीस को एथेन्स की सेना ने परास्त कर दिया। इस पराजय का प्रभाव ग्रीस के इतिहास और सांस्कृतिक विकास पर अभूतपूर्व सिद्ध हुआ, किन्तु उसके कारण मिस्र देश में फारस के खिलाफ विद्रोह की आग भड़क उठी। यदि दारा का संकल्प सफल होता तो शायद संसार के इतिहास और सभ्यता का रुख ही कुछ और हो जाता। किन्तु यह यश प्राप्त होने के पहले ही मृत्यु ने उसे ग्रस लिया (४८५—८६ ई० पू०)। प्राचीन काल के इतिहास में दारा प्रथम फारस का सबसे बड़ा सम्राट् हुआ जिसका नाम आज तक इतिहास और साहित्य में जीवित है।

उसके उपरान्त उसका पुत्र ज़ेरेक्सीज़ सम्राट् हुआ। यद्यपि उसमें उत्साह था, किन्तु तदनुकूल पराक्रम न था। उसने अपने पिता के संकल्प को पूर्ण करने और सैनिक समारोह का लाभ उठाने के लिए पहले तो बेबीलोन राज्य को निरस्त कर दिया। तदनन्तर मिस्र के उपद्रवों को शान्त किया। उनसे निश्चिन्त होकर उसने यूनान पर जल तथा स्थल मार्ग से चढ़ाई कर दी। यूनान की रियासतों ने सम्मिलित होकर फारस की सेना का सामूहिक विरोध किया। प्लाटी के मैदान में युद्ध ठना (४७९ ई० पू०)। दुर्भाग्यवश फारसी सेना के सेनापति मर्दोनिअस का निधन हो गया जिससे उसे मैदान से हटना पड़ा। यही नहीं, ईरान का जहाजी बेड़ा भयंकर तूफान

के कारण अस्त-व्यस्त हो गया। उसी क्षीण दशा में यूनानियों ने उसपर सेलमिस में आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त कर ली। ग्रीकों का उत्साह, पराक्रम और साहस ही फारसी सेना की पराजय का एकमात्र कारण न था। फारसी सेना में कई आन्तरिक कमजोरियाँ थीं। सबसे पहली कमजोरी यह थी कि फारसी सेना विभिन्न प्रान्तों के ऐसे सैनिक दलों को मिलाकर बनी थी जिनका अपना-अपना स्वतन्त्र संगठन था। उन दलों ने न तो किसी व्यापक सिद्धान्त या विधान पर, न साम्राज्यीय स्तर पर संगठन और संचालन का कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध किया था। फलतः उसकी क्षमता और आघात शक्ति सेनाकी विशालता के अनुकूल न थी। दूसरी यह कि उतनी विशाल सेना के लिए खाने-पीने और रसद पहुँचाने का यथेष्ट प्रबन्ध न था। विजित प्रान्तों में जो साधन प्राप्त हो सकते थे उन पर ही उनको अधिकतर भरोसा करना पड़ता था। सैनिक जबरदस्ती लूट, छीन-झपट कर येन केन प्रकारेण अपना काम चलाने का प्रयत्न करते थे, किन्तु उससे उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाती थी। इससे उनको जो कष्ट और असुविधा होती उससे बहुत अधिक कष्ट विजित प्रदेशों की प्रजा को भोगना पड़ता था। तीसरी यह कि फारस की नौ-सेना के नाविकों में आयोनिआ तथा समुद्रतट के निवासी ग्रीक बड़ी संख्या में थे। उनकी सहानुभूति विरोधी ग्रीकों के साथ थी, अतः फारस की विजय के प्रति वे उदासीन थे। इन सब त्रुटियों के सिवा सबसे बड़ी कमजोरी सेना-संचालकों की अक्षमता और रण-कौशल की कमी थी। जेरेक्सीज़ में कायरस और दारा की सी योग्यता का अभाव था। मर्दोनिअस का निधन हो गया था और उसके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई अन्य सेनानायक ईरानियों के यहाँ न था। ईरान की असफलता से यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि ग्रीस वाले अधिक शक्ति-शाली थे और ईरान उन पर विजय प्राप्त करने की क्षमता सदा के लिए खो बैठा था। ईरानियों के पास इतने साधन थे कि यदि वे चाहते तो बारम्बार आक्रमण कर सकते थे। किन्तु उधर ध्यान न देकर वे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में लग गये। ग्रीकों की ओर से उन्हें कोई भी आशंका न थी।

प्लाटी और सेलमिस की दुर्घटनाओं से ईरान का आतंक क्षीण हो गया तथा यूनानियों का आत्मविश्वास, उत्साह और साहस बहुत बढ़ गया। उनका प्रभाव दोनों महाद्वीपों के इतिहास और सभ्यता पर ऐसा पड़ा कि जिसका मूल्य अभी तक आँका नहीं जा सका। इतना अवश्य है कि कई शतियों तक सभ्यता का प्रवाह पूर्व से न जाकर पश्चिम की ओर से आता रहा। जेरेक्सीज़ क्रोधी, आलसी, दुर्बल तथा

विलासी था। उपर्युक्त दुर्घटनाओं से उसका आतंक नष्ट हो गया। षड्यन्त्र करके उसका वध कर दिया गया।

ईरान की शक्ति एवं प्रताप का उत्तरोत्तर क्षय होता चला गया, यद्यपि कई सम्राट् साधारण योग्यता के हुए तथापि ईरान की अवनति होती ही चली गयी। यूनान के राज्यों में पारस्परिक झगड़े बनाये रखने तथा किसी को भी बहुत प्रबल न होने देने की नीति ईरान ने ग्रहण की। इसी युक्ति के कारण यूनान की ओर से उसको कम चिन्ता रही। ईरान के सम्राट् का प्रताप क्षीण होने के कारण मिस्र ही में नहीं, वरन् ईरान में भी उपद्रव होने लगे। जेरेक्सीज़ के पुत्र अर्तजेरेक्सीज़ के भाई ने जो बेक्ट्रिआ (बल्ख) का प्रशासक था, विद्रोह कर दिया। विद्रोह का दमन कर अर्तजेरेक्सीज़ ने अपने सब भाइयों का वध करवा दिया। फिर उसने मिस्र पर चढ़ाई की। नील नदी के मुहाने से ग्रीकों को भगाकर उसने पुनः फारस पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अर्तजेरेक्सीज़ की मृत्यु के पश्चात् फारसी 'साम्राज्य का आतंक घटता रहा। गृहयुद्ध, राजकुल में रक्तपात, प्रान्तों में विद्रोह और स्वच्छन्द होने के आन्दोलन आदि उपद्रव होते रहे। पश्चिमी एशिया और मिस्र फारस के अधिकार से निकलते चले गये। फारस के सम्राट् अर्तजेरेक्सीज़ ने विशृंखलता रोकने का प्रयत्न किया। अपने भाइयों और बहनों का वध करवा डालने के बाद उसने मिस्र पर आक्रमण किया और फेरो को भगाकर फिर फारस का आधिपत्य स्थापित कर लिया। एशियाई कोचक को भी उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। विद्रोहियों को बड़ी क्रूरता से दमन किया गया। फारस का साम्राज्य एक बार फिर अनुप्राणित हो गया। मेसीडोनिया (मकदूनिया) के राजा फिलिप के भय से एथेन्स को भी फारस के सम्राट् से मित्रता स्थापित करने का प्रस्ताव करना पड़ा। किन्तु जिस वर्ष एथेन्स पर फिलिप ने विजय प्राप्त की उसी वर्ष अर्तजेरेक्सीज़ को उसके चिकित्सक ने विष देकर मार डाला (३३८ ई० पू०)। षड्यन्त्रकारियों ने राजकुल में खून-खच्चर मचाने के बाद पैंतालीस वर्ष के दारा तृतीय को राजसिंहासन पर बैठा दिया (३३६ ई० पू०)।

दारा योग्य, अनुभवी और वीर शासक था। अपने गुणों के कारण ही उसको आरमीनिआ जैसे प्रान्त के प्रशासन का भार दिया गया था। सिंहासनारूढ़ होने के लगभग एक ही वर्ष में उसने मिस्र के विद्रोहियों का दमन कर वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। अलेक्ज़ेण्डर (सिकन्दर) जैसे प्रतिभाशाली, अदम्य परा-

क्रमी और रणकुशल सेना नायक से उसकी यदि टक्कर न होती तो सम्भवतः ईरान की शक्ति का यथेष्ठ संगठन वह कर लेता।

अलेक्ज़ेण्डर ने अपने पिता के वध का कारण दारा का षड्यन्त्र बताया, जिसका बदला लेना आवश्यक था। इसके सिवा ग्रीस की कारेन्थियन लीग के प्रधान नायक होने के नाते, उसके पुराने शत्रु फारस को दण्ड देने का भार उसे सुपुर्द किया गया। सिकन्दर से युद्ध करने के लिए एथेन्स ने दारा से सहायता माँगी, किन्तु दारा ने अपनी क्षमता और शक्ति को देखते हुए इन्कार कर दिया। सम्भवतः दारा को सिकन्दर की प्रतिभा और योग्यता का ठीक अन्दाजा न हो सका हो। दारा ने शायद यह भी सोचा हो कि ग्रीस के राज्य आपसी झगड़ों तथा मेसिडोनिया के आक्रमणों से अव्यवस्थित हो गये, अतः वे अलेक्ज़ेण्डर को यदि सहायता देना चाहें तो न दे सकेंगे। एशिया के ग्रीक राज्यों की अधिकांश सहानुभूति फारस के साथ थी, न कि अलेक्ज़ेण्डर के साथ। इसीलिए दारा ने अलेक्ज़ेण्डर के विरुद्ध बहुत बड़ी सेना नहीं भेजी। फारस की तथा आक्रामक सेनाएँ करीब-करीब बराबर थीं। ग्रानिकस में पहली टक्कर हुई। पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि आक्रमणकारी परास्त हो जायेंगे। एक बार अलेक्ज़ेण्डर मरते-मरते भी बचा। पर अन्ततोगत्वा उसी की विजय हुई। फारसी सैनिकों को तो उसने भाग जाने दिया, किन्तु उनके ग्रीक सहयोगियों का क़त्लेआम करवा दिया। ईरान पर सीधा आक्रमण न करके अलेक्ज़ेण्डर ने असहयोगी ग्रीक नगरों का विध्वंस कर डाला। लूट-मार करके समुद्र के किनारे तक एशियाई कोचक पर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके बाद ईसस के मैदान में ईरानी सेना पर उसको विजय प्राप्त हुई। दारा तो अपनी सेना को डगमगाता देखकर भाग निकला, किन्तु दमिश्क में उसकी माता, शाहरानी और बच्चे पकड़ लिये गये। यद्यपि उनका सिकन्दर ने यथोचित सम्मान किया तथापि उन्हें वापस करने से इन्कार कर दिया। दारा ने जब सन्धि का प्रस्ताव भेजा तब उसने उत्तर दिया कि वह इसी शर्त पर हो सकेगी कि अलेक्ज़ेण्डर का वह आधिपत्य स्वीकार कर ले। दारा ने उसे हालस नदी के पश्चिम के प्रदेश तथा बहुत-सा धन देने का प्रलोभन दिया, किन्तु वह प्रयत्न भी विफल रहा।

मिस्र विजय कर अलेक्ज़ेण्डर ईरान की ओर बढ़ा। अरबला के समीप गोगमेला में ईरानी सेना ने उससे लोहा लिया, किन्तु वह पराजित हुई (३३१ ई० पू०)। दारा युद्ध-क्षेत्र से भाग गया, किन्तु अलेक्ज़ेण्डर ने उसका पीछा न छोड़ा।

अन्त में बल्ख के प्रशासक बेसस ने दमगान के समीप दारा का वध कर डाला। दारा तृतीय की मृत्यु के साथ ही ईरान के इतिहास के सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण युग का अन्त हो गया। किन्तु ईरान के प्राचीन इतिहास का वह पूर्वार्द्ध मात्र था।

हख़मनी युग की सभ्यता—ईरानी समाज

ईरान के निवासी सुन्दर, सुडौल, पुष्ट, सत्यवादी, वीर और उदार-हृदय थे। उनका साधारण भोजन जौ तथा गेहूँ से बने पदार्थ और विशेष मांस थे। उनमें शरीर ढके रहने का ऐसा रिवाज़ था कि चेहरे को छोड़कर शायद ही उनका कोई अंग खुला रहता हो। इसका कारण सम्भवतः वहाँ की भयंकर सर्दी और सूखी गर्मी थी। वे शिर पर टोपी और पैरों में कसी चट्टी या जूते पहनते थे। उनकी पोशाक कमीज़ के ऊपर ढीला लबादा थी जिसको वे कमरबन्द से कस लेते थे। उनका अधोवस्त्र पैजामा था। वे श्वेत तथा रंगीन और तड़क-भड़क या जर्क बर्क़दार कपड़ों तथा सुगन्धित पदार्थों के शौकीन थे। स्त्रियों तथा पुरुषों के कपड़ों में नगण्य-सा भेद था। पुरुष जुल्फ और दाढ़ी रखते थे जिसे वे तेल और कंघी से सँवारा करते थे। स्त्रियाँ अंगराग तथा सौन्दर्यवर्धक वस्तुओं का प्रयोग करती थीं। सम्पन्न लोग सुन्दर भवनों में रहते, बागों में सैर करते, कीमती कालीन, तख्त, मेजें और गद्दी-मसनद लगाते थे। सुसम्पन्न लोग कपड़ों में ही नहीं, वरन् जूतों तक में रत्न जड़वाते थे। गरीब धक्के खाते थे।

ईरानी लोगों में सेमेटिक लोगों की तरह निर्दयता न थी। वे पराजित शत्रुओं के साथ क्रूर व्यवहार प्रायः न करते थे। यथासाध्य उन्हें स्वानुकूल करने की चेष्टा करते थे। देश, समाज तथा राजद्रोहियों को सकुटुम्ब नष्ट करने में वे हिचकते न थे। वे लोग बात के धनी थे। उनके वादों पर विश्वास किया जा सकता था। यूनानी भी मानते थे कि ईरानी लोग स्पष्ट तथा सत्यवादी थे। वे शिष्टाचार का बड़ा विचार रखते, बड़ों का आदर सम्मान तथा छोटों के प्रति स्नेह का व्यावहारिक प्रदर्शन करते थे। शारीरिक और मानसिक सफाई का उनको बड़ा ध्यान रहता था। रास्तों पर खाना-पीना, थूकना, नाक साफ करना, वे बुरा समझते थे। कायरस के समय तक वे खाने-पीने में समय का पालन करते रहे। प्रायः एक बार भोजन करते तथा सुरापान से बचते थे। कुरुश के समय से सुरापान का रिवाज़ बढ़ा। कर्म-काण्ड के अवसर पर वे हौम (सोम) पीते थे जिसमें सुरा के अवगुण के बदले शुभ गुण माने जाते थे। व्यभिचारी तथा दुराचारी को कठोर दण्ड दिया जाता था।

ये गुण साम्राज्य तथा सम्पत्ति की वृद्धि के साथ कम होते गये। स्त्रैणता, मद्यपान, चटोरापन और व्यभिचार बढ़ गया। वे लोग विवाहित और गृहस्थ जीवन को अविवाहित जीवन से बहुत श्रेष्ठ मानते थे। यद्यपि वहाँ बहु-विवाह दण्ड्य न था तथापि उसे वे अच्छा न समझते थे। भाई बहिन, पिता पुत्री, माता और पुत्र के विवाह का रिवाज, कम से कम, मग लोगों में तो अवश्य था। धनी और सम्पन्न लोग उपपत्नियाँ रख लेते थे। दारा के पहले स्त्रियों में पर्दा न था, किन्तु उसके बाद उसका रिवाज़ अमीरों में शुरू हो गया। विवाहित स्त्री का अपने पिता, भ्राता, और बन्धुओं से मिलना कठिन हो गया। पुत्रियों का जन्म लेना लोग पसन्द न करते थे, किन्तु भ्रूण हत्या को वे घोर पातक मानते और उसके लिए प्राण दण्ड देते थे। विवाह की उम्र वहाँ पन्द्रह वर्ष की ठीक समझी जाती थी।

आर्थिक स्थिति

ईरान का सामाजिक और आर्थिक जीवन चार श्रेणियों में विभक्त था। सम्राट् और उसके कुटुम्ब का स्थान सबसे ऊँचा था। उसके बाद वंशानुगत जिमीदारों और उच्च पदाधिकारियों का स्थान था। धर्माधिकारियों का भी विशिष्ट स्थान था और उनका सम्मान होता था। सबसे नीचा स्थान था साधारण जनता का जिसमें किसान और मज़दूर थे। जिमींदारों के कठोर पंजे में वे कसे रहते थे। सारांश यह कि शक्ति और सम्पत्ति राजवंश और जिमींदारों की बपौती थी। ईरानी लोग कृषि तथा बागवानी को श्रेष्ठतम व्यवसाय मानते थे। खेती अलाहदा अलाहदा अथवा मिलकर भी की जाती थी। जिनके पास जमीन न होती वे जमीनदारों से उपज का एक भाग देने की शर्त पर जोतने के लिए उसे ले लेते थे। ज़मीन की सिंचाई ज्यादातर वर्षा पर या नदियों के जल पर निर्भर थी। ईरानी लोग नहरें बनाना भी जानते थे। जहाँ पानी की कमी होती वहाँ नहरों द्वारा, पहाड़ियों या नदियों से नालियों द्वारा पानी लाया जाता था। जहाँ दलदल था वहाँ से पानी निकालकर भूमि को कृषि योग्य बना लिया जाता था। ईरान की इस कला का अनुकरण अनेक देशों ने किया। राज्य की ओर से प्रेरणा दी जाती थी कि अन्य देशों से वृक्षों और फलों के पेड़ों को लाकर ईरान में लगायें। लोगों को बाग लगवाने का शौक था। ईरान में नदियाँ तथा उपजाऊ भूमि अनुपाततः कम थी, इसलिए अन्न कम होता था। अतएव उसकी कमी फलों तथा मांस से पूरी की जाती थी। शिकार और मछली पकड़ने का लोगों को शौक था।

ईरान में व्यापार तथा तत्सम्बन्धी व्यवसायों की चिन्ता कम थी। बाहरी साम्राज्य से धन प्राप्त कर ईरान के लोग तैयार माल खरीदना काफी समझते थे। व्यापार एवं सेना संचालन के लिए उन्होंने अच्छी और बहुत-सी सड़कें बनवा दी थीं। एक सड़क तो १५०० मील लम्बी थी। सड़कों के पास अच्छी-खासी सरायें, शाही डाक बँगले थे। सड़कों पर पथिकों की रक्षा का प्रबन्ध रहता था। ईरान का व्यापार क्षेत्र एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी यूरोप तक फैला हुआ था। नदियों के मार्ग से भी लाभ उठाया जाता था। आवश्यकता पड़ने पर उन पर पुल बना दिये जाते थे। दारा ने मिस्र की नील नदी से लाल समुद्र को जोड़नेवाली नहर की सफाई करवा कर उसे पूरा भी करा दिया जिससे जहाज आने-जाने लगे। वहाँ का व्यापार विदेशियों के हाथ में था क्योंकि ईरानी उसे नीची नजर से देखते थे। साम्राज्य के प्रान्तों के टैक्सों से राजकोष में इतना धन और सम्पत्ति आती थी कि उससे शासकों की सभी आवश्यकताएँ अच्छी तरह पूरी हो जाती थीं। लीडिया के सिक्कों की देखादेखी वैसे ही सोने और चाँदी के निश्चित वजन के सिक्के दारा के समय से प्रचलित हो गये थे। बैंकों की स्थापना से व्यापार बड़े पैमाने पर हो सकता था। चेकों द्वारा लेन-देन होता था। नाप और तौल के नियम और साधन भी निश्चित कर दिये गये थे। ईरान साम्राज्य में लोहा, सोना, चाँदी, ताँबा तथा लकड़ी आदि सभी आवश्यक धातुएँ काफी मात्रा में पायी जाती थीं। जेरेक्सीज़ के समय में मज़दूरों को मज़दूरी का तीसरा भाग सिक्कों में और बाकी खाद्य या पेय वस्तुओं के रूप में दिया जाता था। कुछ समय के बाद ही दो-तिहाई मज़दूरी सिक्कों में दी जाने लगी। पुरुषों, स्त्रियों और बालकों की मज़दूरी की दर पेशों तथा योग्यता के अनुसार निश्चित की जाती थी। पुरोहितों की दक्षिणा भी बाँध दी गयी थी। साम्राज्य के कामों में नियुक्त मज़दूरों और उनके वेतन आदि का प्रबन्ध करने के लिए एक विभाग बना हुआ था।

शिक्षा-दीक्षा

जिस प्रकार ईरानवालों को व्यापारादि का शौक न था, उसी प्रकार विद्याभ्यास से भी उन्हें अनुराग न था। सात वर्ष की उम्र होने पर अच्छे घर का बालक पाठशाला जाता था जिसका संचालन पुरोहितों के हाथ में था। पाठशालाएँ मन्दिरों अथवा पुरोहितों के घर में लगती थीं। धर्म, कर्तव्याकर्तव्य, चिकित्सा तथा कानून की शिक्षा बीस या चौबीस वर्ष की आयु तक दी जाती थी। बालक

प्राय: पाठ कण्ठस्थ कर लेते थे। विनय तथा आचार की शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। कुछ लोगों को शासन कला की भी शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए चाहे वह अमीर हो अथवा साधारण श्रेणी का, सैनिक शिक्षा, तैरना, अश्वारोहण, अस्त्रशस्त्र संचालन तथा बाण विद्या सीखना अनिवार्य था। शिक्षार्थियों की सहनशीलता की कठोर परीक्षा ली जाती थी। साधारण श्रेणी के लोग पढ़ना-लिखना अनावश्यक समझते थे। सैनिक शिक्षा को ही वे उचित तथा काफ़ी समझते थे। ईरान की शिक्षा का ध्येय व्यक्ति में विनय, शिष्टाचार, व्यवहार कुशलता तथा वीरता, स्वाभिमान और पौरुष के गुण पैदा करना था। विद्वान् और धुरन्धर पण्डित बनना उनका आदर्श न था।

प्राचीन ईरान में कई भाषाएँ बोली जाती थीं, किन्तु राजभाषा तथा धर्म भाषा संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। फारसी, एलामी तथा बेबिलोनी भाषाओं को राष्ट्र भाषा का स्थान दिया गया था। बेबीलोन के अक्षरों से ईरानियों ने ३६ अक्षर बना लिये थे जो उनके व्यवहार के लिए काफी समझे गये थे। लोगों में लिखने-पढ़ने का शौक न था। वहाँ लेखक थोड़े वेतन पर नौकर रख लिये जाते और उनसे सब काम चला लिया जाता था। कविता, गान तथा कहानियों में उनको कुछ रुचि अवश्य थी अन्यथा साहित्य से सम्भवत: उनको कोई सरोकार न था। उनकी राय में वह व्यर्थ ही था। हाँ, गाने-बजाने, नाच रंग से उनका चित्त न उचटता था। यह मनोवृत्ति भी साम्राज्यीय सम्पदा का परिणाम थी। यद्यपि पुरानी फारसी के लेख क्यूनीफार्म लिपि में ईसा पूर्व सातवीं शती के मिले हैं तथापि उस लिपि का विकास अत्यन्त शिथिल और नगण्य-सा रहा। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि हख़मनी युग में मिस्र से भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों तक 'आरमइक' में प्राय: लिखा-पढ़ी होती थी। फिर भी फारसी के शिलालेख क्यूनीफार्म लिपि में खचित किये जाते थे। पेपाइरस पर कलम और रोशनाई से लिखने का रिवाज था। ईरान में मूर्तिकला का विकास बहुत कम हुआ क्योंकि उसके पीछे धार्मिक अथवा कलात्मक प्रेरणा का अभाव था। फिर भी पशुओं के वास्तविक अथवा काल्पनिक भित्ति-चित्र तथा काँसे की बनी मूर्तियाँ सुन्दर, सजीव तथा गति-प्रदर्शक हैं।

कला

ईरान में केवल गृह-निर्माण कला का तो यथेष्ट विकास हुआ, किन्तु अन्य

कलाओं का संवर्द्धन न हुआ। ईरानी सभ्यता की यह एक बड़ी कमी रह गयी। गृह-निर्माण के विधान में उनकी कला की अपनी विशेषता थी। उनके यहाँ देवालयों की अधिक आवश्यकता न थी, अतएव वहाँ गृह-निर्माण विधान की ही विशेष उन्नति हुई। वहाँ के ध्वंसावशेषों से ज्ञात होता है कि ईरानियों को बड़े आँगनों, चबूतरों, बारहदरियों, पतले सुन्दर खम्भों, चौड़ी सीढ़ियों, खुले बड़े कमरों, दीवारों पर चमकीले पालिशदार रंगीन टाइलों को विविध भाँति सजाने तथा बागों का शौक था। कहीं-कहीं उन टाइलों पर मेसोपटेमिया के फैशन के चित्र भी बने रहते थे। किन्तु ये सब विशेषताएं अन्य विदेशी कलाकारों से ली गयी थीं। ईरानियों को उनका विशेष श्रेय न था। ईरानी सम्राटों को नगर निर्माण करने का शौक था। सियाक, सूसा, पर्सिपोलिस, विशपुर, फीरोजाबाद आदि नगर बड़े शानदार और कलापूर्ण थे। वहाँ के खम्भों, चबूतरों, टाइलों आदि पर बने पशुओं और मनुष्यों के चित्र तथा महलों की बनावट से यह स्पष्ट है कि स्थापत्य कला ने वहाँ अच्छी उन्नति की।

धर्म

आर्यों के आगमन के पूर्व ईरान वाले भूलोक और आकाश के देवता वरुण को प्रमुख देव मानते थे। उसके बाद अहुर मज़दा तथा मित्र आदि थे। प्रत्येक आधिव्याधि और ज्वर आदि रोगों का मूल कारण कोई-न-कोई दैवी शक्ति समझी जाती थी। सबसे भयंकरी शक्ति सुरापान से उन्मत्त 'एषमा' नाम की थी। पिशाचों में भयंकर 'नसुद्रज' प्रधान गिने जाते थे। अनिष्टकारी, कष्टदायिनी तथा आपत्ति विपत्ति की फैलाने वाली यावत शक्तियों का प्रधान, पापात्मा 'अग्रमैन्यु' था। इन सब अनिष्टकर शक्तियों और पिशाचों को शान्त रखने के लिए सुगन्धित द्रव्यों के साथ झाड़-फूंक आदि का उपचार किया जाता था। देवताओं को पशु बलि देकर प्रसन्न किया जाता था। मग (मीड) वंश के लोग इन पूजाओं में पुरोहित और याज्ञिक का काम करते थे। मग पुरोहित युद्ध में भी सेनाओं के साथ जाते और देवताओं की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।

कहा जाता है कि आर्य लोग शुभ गुण सम्पन्न देवताओं की कल्पना अपने साथ लेकर आये। उनके सबसे प्रमुख देवता थे आहुर (देवाधिपति) और मज़दा (ज्ञान स्वरूप)। आहुर की अनेक पत्नियाँ थीं जो प्रायः नदियों की देवियाँ थीं। अनाहिता आहुर मज़दा की प्रतिरूप मानी जाती थी। प्राचीन हखमनी वंश के

आरम्भ काल में अनाहिता, किरिरिश एवं ननैया आदि नामों से देवी की पूजा खूब प्रचलित थी। उसके बाद मित्र या मिथ्र का स्थान था जो कभी सूर्य, कभी आकाश, कभी 'ऊषा' के रूप में प्रकट होता था। न्याय करना उसका एक विशेष कर्तव्य था। इसीलिए उसके दस हजार नेत्र और हजार कान थे। जिस पर वह प्रसन्न हो जाता उसको हरी-भरी भूमि, गोधन, पुत्र तथा रूपवती स्त्रियाँ प्रदान कर देता। उसे प्रसन्न करने के लिए किसी पुरोहित, पुजारी की आवश्यकता न थी। केवल हाथ उठाकर उसका गुणगान और अपना मनोरथ कहकर सविनय याचना करने ही से काम सिद्ध हो जाता था। यदि कोई अधिक कठिन समस्या आ जाती थी तो होम (सोम) रस के साथ बैल की बलि चढ़ा दी जाती थी। नौरोज़ के वार्षिक जातीय उत्सव के अवसर पर राजा सोमरस पीकर मस्ती के साथ नाचता और श्वेत घोड़े की बलि चढ़ाता था। उसका विशेष कारण यह था कि युद्धों का नेतृत्व भी मिथ्र का ही कर्तव्य समझा जाता था। उसी में दुष्ट शक्तियों को परास्त करने की क्षमता थी। संग्राम में उसके बायीं ओर 'रष्णु' और दाहिनी ओर स्रौष और आगे विजयी धर्म और बल-वीरता प्रदायिनी देवी रहती थी। वेरेत्रघ्न अथवा वृत्रध्न मायावी देवता था। था तो वह वायु देवता किन्तु इच्छा करने पर पशु-पक्षी अथवा मनुष्य का वेश धारण कर लेता था। राजशक्ति, स्वास्थ्य और वीर्य ओज प्रदान करना प्रायः उसके अधिकार में था। उपर्युक्त प्रमुख देवताओं के सिवा 'तिष्ट्रषृ्य (नक्षत्रों के देवता), माह (चन्द्रमा), ज़म (पृथ्वी), वाह्म (वायु), अपन नतर (जल), अतर (अग्नि) आदि देवता भी थे। अनाहिता नाम की पर्वत-निवासिनी पवित्र देवी की कृपा से पृथ्वी पर पवित्र जल का प्रवाह बहा। गाय को वे सेव्वनीय मानते थे। यज्ञ में होम (सोम) पान को वे धार्मिक कृत्य का अंग समझते थे। यज्ञ के अवसर पर पशुबलि देने की प्रथा भी प्रचलित थी।

उपर्युक्त धारणाओं और विधानों में प्रख्यात धर्म-प्रवर्तक जरथुष्ट्र ने कुछ विचारणीय संशोधन किये। ईसा की छठी शती में आरमीनिया या मीडिया प्रान्त में उनका जन्म (६३० अथवा ५३०) हुआ माना जाता है। उनके स्पितम वंशज पिता का नाम पौरुषस्य और जननी का नाम गुग्धोव था। उन्होंने सम्भवतः दो देवताओं 'आहुर' और 'मज़दा' को मिलाकर एक 'आहुर मजदा' की कल्पना की और उन्हें देवाधिदेव मानकर उनकी अनन्य भक्ति का प्रचार किया। उनके सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः वही एक मात्र देवता प्रकाशस्वरूप है। उसे किसी अन्य देवी-देवता की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान और अद्वितीय है।

उसी ने विश्व की रचना की है और वही सबके भरण-पोषण का प्रबन्ध करता है। इस दृष्टि से जरथुष्ट्र को एकेश्वरवादी मानना चाहिए। प्रचलित देवताओं को वे देवता नहीं, वरन् दैत्य अथवा मिथ्या कहते थे। किन्तु उनके मतानुसार आहुर मज़दा की विविध शक्तियों की कल्पना की जा सकती है और तदनुसार उन्हें विभिन्न नाम दिये जा सकते हैं। उस दृष्टि से स्पन्त मैन्यु (पवित्रात्मा), आश (धर्मतत्त्व), वोहमनः (सद्विचार) आदि सात मुख्य और आशिर (भाग्य), विधि (स्रोष), सेवा और अतर (अग्नि) गौण शक्तियाँ मानी जा सकती हैं। आहुर मज़दा का विशिष्ट निवासस्थान क्षश्र लोक है।

शुभ गुण सम्पन्न आहुर मज़दा का पापात्मा अहेरिमन से निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इस धारणा के मूल में यह विचार है कि विश्व में प्रकाश तथा अन्धकार, धर्म तथा अधर्म, पुण्य तथा पाप, ज्ञान तथा अज्ञान का पारस्परिक द्वन्द्व स्वभावतः अनन्त काल से चला आ रहा है। अन्ततोगत्वा शुभ गुणों की अशुभ पर विजय होती रहेगी। पापात्मा के ही कारण संसार में अनेक प्रकार के कष्ट, वेदनाएँ और पाप फैले हुए हैं। जरथुष्ट्र के मत से 'जीव' ही मुख्य तत्त्व है। शरीर उसका वाहन मात्र है। मनुष्य को स्वतन्त्रता है कि उन दो प्रवृत्तियों में से वह जिसका चाहे अनुसरण करे। इतना निश्चित है कि अन्ततोगत्वा शुभ की विजय और अशुभ की पराजय होगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्तिम निर्णय न्यायमूलक ही होगा, न कि दयामूलक। सब हिसाब-किताब व्यक्ति के मरने पर किया जायगा। शुभ-गुण-विभूषित मन, वचन एवं कर्म से ही सुख, शान्ति और निस्तार की सम्भावना है, अन्यथा नहीं। शुभ मार्ग वाले स्वर्ग जायेंगे और कुकर्मी अग्नि में जलते-सुलगते रहेंगे। मन, वचन एवं कर्म से जो शुद्ध होते हैं वे ही स्वर्ग प्राप्त करने के अधिकारी होंगे। सारांश यह कि कर्म ही जाँच की एकमात्र कसौटी थी। कुछ लोगों का विचार है कि ईरानी विचारधारा से ही यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों ने शैतान की कल्पना ली है।

जरथुष्ट्र ने होम (सोम) आदि सभी मादक द्रव्यों के सेवन का घोर विरोध किया। पशुबलि और पर-पीड़ा का विरोध तो किया ही, सबके साथ दया के व्यवहार का उपदेश भी उन्होंने दिया। इस विषय में उनका मत भारत के उनके समसामयिक गौतम बुद्ध के मत से मिलता-जुलता है। हेरोडोटस लिखता है कि ईरान में न तो मन्दिर थे और न मूर्ति-पूजा होती थी। यह ठीक है कि ईरान में ग्रीकों के से प्रतिमा-प्रतिष्ठित मन्दिर न थे। उनके धार्मिक कृत्य भी खुले स्थानों में होते थे किन्तु पवित्र

अग्नि की रक्षा के लिए विशिष्ट ढंग के गृह बनाये जाते थे। वे देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी बनाते थे। ईरानी लोगों में मूर्ति-पूजार्थ अनाहिता देवी के मन्दिर एकबताना, सूसा आदि अनेक नगरों में स्थापित किये गये। इनमें पक्ष-सहित सूर्य बिम्ब के ऊपर अहुर मज़दा का कमर से ऊपर का भाग निर्मित किया जाता था। सम्भवतः वह कल्पना ईरानियों ने मिस्र देश से ग्रहण की होगी। पक्षों को आकाश का और उस पर बनी मूर्ति को अहुर मज़दा का प्रतीक माना जाता है। जरथुष्ट्र ने मनुष्य के मृतक शरीर को जलमग्न करने, अग्निदाह देने तथा पृथ्वी में गाड़ने को इसलिए बुरा कहा कि उससे जल, अग्नि तथा पृथ्वी तत्व अपवित्र हो जाते हैं। इसलिए उन्होंने शव को पशु पक्षियों के खाने के लिए छोड़ देना ही सबसे अच्छा ढंग बताया। मगवंशी पुरोहितों की वैयक्तिक जीवनचर्या, उनके आचार और संगठन को सुधारने का उसने प्रयत्न किया। सरल और सुनियन्त्रित जीवन-यापन की ओर उनको आकृष्ट कर उसने उनकी पूर्व सम्मानित तीन श्रेणियाँ निर्धारित कर दीं। पहली श्रेणी के लोग 'मोबेद' (अनुयायी), दूसरी के मोबेद' (श्रेष्ठ) और तीसरी के 'दुस्तूर मोबेद (उत्कृष्ट) कहलाए। उन्होंने 'गाथा' नामक धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की।

जरथुष्ट्र और उनके मत का मीडियों ने घोर विरोध किया और जरथुष्ट्र को मार डालने का प्रयत्न भी किया गया। लाचार होकर उनको अपनी जन्मभूमि से पार्थिया के हखमनी सरदार विशतास्पक के पास चला आना पड़ा। स्वागतपूर्वक उसने उनके मत को ग्रहण किया। उसी सरदार का पुत्र सुप्रसिद्ध सम्राट् दारा उस मत का अनुयायी ही नहीं, वरन् उत्साही प्रचारक भी हुआ।

शासन

साम्राज्य का मुख्य अधिपति सम्राट् था जो शासन, सेना तथा न्याय व्यवस्था का एकमात्र अधिकारी था। उसकी आज्ञाएँ तथा निर्णय अन्तिम एवं अबाध मानी जाती थीं। दारा ने यह घोषणा की थी कि अहुर मज़दा ने ही उसको सम्राट् बनाया है और न्यायाधीश देवता शम्स की आज्ञाओं का पालन करना उसका परम कर्तव्य है। फारस में छः या सात वंश प्रमुख माने जाते थे। उनके कुल-पतियों को महत्त्व-पूर्ण विषयों पर अपनी सम्मति देने का अधिकार था। उनकी एक समिति थी जिसे सम्राट् की परामर्शदात्री संस्था कहा जा सकता है। उनकी सम्मति का सम्राट यथासाध्य आदर करता था। समिति को सम्राट् के उत्तराधिकारी चुनने का अधि-

कार था, किन्तु प्रायः वह राजकुमारों में से ही चुना जाता था। केन्द्रीय शासन में कई विभाग होते थे। प्रत्येक का एक अध्यक्ष होता जिसके नीचे अनेक कर्मचारी कार्य करते थे। जमीन, खेतों, बगीचों, पशुओं, खानों, व्यापार तथा व्यापारी माल, घाटों और बन्दरगाहों पर कर लगाया जाता था।

प्रान्तीय शासन

ईरानी साम्राज्य का विस्तार अफ्रीकी मरुभूमि से भारत की सिन्धु नदी तक और अरमीनिया तथा मध्य एशिया से अरब सागर तक था, उसमें तीस जातियों के लोग बसते थे जिनमें असभ्य, अर्धसभ्य तथा सुसभ्य संस्कृतियाँ प्रचलित थीं। साम्राज्य की जनसंख्या अनुमानतः पाँच करोड़ थी जो प्राचीन युग की गणना में बहुत बड़ी समझना चाहिए। उसकी ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं राजनीतिक विभिन्नताओं और विशेषताओं की कल्पना की जा सकती है। उस बड़ी समस्या की पूर्ति करने में ईरान ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। सब तात्कालिक समस्याओं, व्यावहारिकताओं तथा ईरान से पूर्व के साम्राज्यों के पुराने अनुभवों पर विचार कर साम्राज्य शासन के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये गये। यही उचित समझा गया कि जहाँ तक सम्भव हो प्रान्तों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाओं, भाषाओं, रीतिरिवाजों, आदि में हस्तक्षेप न किया जाय और न उन पर अनावश्यक आरोप की चेष्टा ही की जाय। जहाँ तक हो सके उनका सम्मान, पोषण एवं प्रोत्साहन किया जाय। यहूदियों को सम्राट् ने जेरुसलेम वापस करके अपना धार्मिक संगठन बनाने की स्वतन्त्रता दे दी। उस साम्राज्य में तीन भाषाएँ...फारसी, एलामी तथा बेबिलोनी...प्रचलित थीं। नीति की मूलगत उदारता के कारण प्रान्तों में सन्तोष तथा शान्ति रहने की अधिक सम्भावना थी।

कायरस ने प्रान्तीय शासकों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दे रखी थी, जिसका फल साम्राज्य के लिए अहितकर-सा रहा। इसलिए दारा ने शासन में कुछ परिवर्तन कर दिया। साम्राज्य बीस या तेईस प्रान्तों में विभक्त था। तदनुसार प्रत्येक प्रान्त में एक प्रशासक नियुक्त किया जाता था। कुछ प्रान्त ऐसे भी थे जो विजित होने के पहले स्वतन्त्र राज्य थे। उनके क्षत्रपों के अधिकार कमोबेश वैसे ही थे जैसे कि वहाँ के राजाओं के थे। प्रान्त के क्षत्रप की मर्यादा ऊँची और अधिकार बड़े थे। शान्ति बनाये रखना, न्याय करना, समीपस्थ राज्यों से राजनयिक सम्बन्ध कायम रखना और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करना, अपने सैनिक एकत्रित

करना, ठाठबाटदार शासन बनाये रखकर केन्द्रीय शासन को पेशकश या खिराज देने के लिए प्रान्त की आर्थिक स्थिति के अनुसार द्रव्य, साज़ो-सामान तथा अन्य पदार्थ जुटाने की व्यवस्था करना आदि क्षत्रप के मुख्य कर्तव्य थे। प्रशासन के सिवा प्रत्येक प्रान्त में एक सेनाध्यक्ष, एक अर्थ (वित्त) मन्त्री सम्राट् स्वयं नियुक्त करता था। वे भी एकमात्र सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी थे। उनके कार्यों तथा गति विधि की जाँच करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा गुप्त निरीक्षक रहते थे। वे निरीक्षक अपनी रिपोर्ट सम्राट् को सीधे भेजते थे। प्रान्त के तीनों मन्त्री अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार रखते थे। प्रायः उनका चुनाव फारस के कुलीनों में से किया जाता था। सम्राट् के वंशज भी प्रशासक नियुक्त किये जाते थे। प्रशासकों के साथ एक सेक्रेटरी (सचिव) होता था जो उनके विभागों के कार्य सम्पन्न करता और केन्द्रीय शासन को समाचार भेजता रहता था।

शासन, सेना तथा व्यापार की सुविधा के लिए साम्राज्य में बड़ी-छोटी सड़कों के जाल बिछे हुए थे जिनको यथासम्भव ठीक-ठाक रखने का प्रबन्ध था। सबसे बड़ी सड़क जो सूसा से एफिसस तक जाती थी, सोलह सौ सत्तर मील लम्बी थी। दूसरी बड़ी सड़क सिन्ध नदी के किनारे से काबुल, हमदान, बेबिलोन होती हुई करीब-करीब मिस्र तक जाती थी। सड़कों पर चौदह या पन्द्रह मील के फासले पर चौकियाँ बनायी गयी थीं, जहाँ डाक ले जाने के लिए तेज घोड़े मौजूद रहते थे। ईसा से पूर्व चतुर्थ शती में घोड़ों तथा अन्य भारवाही खुरदार पशुओं के खुरों में ताँबे, चमड़े अथवा घोड़ों के बालों से बने नाल बाँधने का रिवाज चल पड़ा था। दो-तीन शती बाद लोहे की नालबन्दी भी प्रचलित हो गयी। जिससे पशुओं का उपयोग अधिक सन्तोषजनक हो गया। जिस रास्ते को कारवाँ नब्बे दिनों में तै करते उसे राजकीय डाक चौकी वाले सात दिन में ही तै कर डालते थे। उसी सुविधा के कारण सम्राट को अपने सुविस्तृत साम्राज्य के समाचार बराबर मिलते रहते थे। सब प्रान्त एक से न थे। कोई अधिक और कोई कम सम्पन्न था। इसी कारण कर वसूल करने के लिए समान नियम नहीं रखे गये। प्रान्त की आर्थिक एवं शासनिक स्थिति के अनुकूल कर लगाया जाता था। खर्च काटकर जो बचता वह केन्द्रीय शासन के पास भेज दिया जाता था। बहुत सम्भव है कि प्रत्येक प्रान्त से प्राप्य कर का पूर्व अनुमान केन्द्रीय शासन द्वारा कर लिया जाता हो। फारस और मीडिया प्रान्तों से कर के बदले केवल सैनिक लिये जाते थे। हिन्द प्रान्त से प्रचुर परिमाण में स्वर्णधूलि ली जाती थी और बेबीलोनिया से एक सहस्र टैलेण्ट चाँदी ली जाती

थी। कर द्रव्य तथा पदार्थों के रूप में लिया जाता था। प्रान्त के शासन पर प्रान्तीय सम्राट् ने जो कानून प्रचलित किये वे सरल और सहानुभूतिमूलक थे। इसी कारण लोगों में वैसा असन्तोष नहीं फैला जैसा पुराने साम्राज्यों के युग में होता था। ईरान की साम्राज्य नीति तथा आदर्शों का प्राचीन इतिहास एवं सभ्यता में अपना विशिष्ट स्थान है।

सेना

ईरान की सेना अठारह लाख तक कही जाती है। पन्द्रह से पचास वर्ष तक के पुरुष आवश्यकता पड़ने पर सेना में अनिवार्य रूप से बुलाये जा सकते थे। आनाकानी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। यह विशाल सेना दस, सौ, हजार, दस हजार के दलों में संगठित और साम्राज्य के उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त रहती थी। दो सहस्र चुने हुए अश्वारोही तथा दो सहस्र पदाति सम्राट् की सेवा में निरन्तर रहते थे। उनके सिवा दस हजार ऐसे चुने हुए सैनिकों का एक दल था जो सम्राट् के लिए मृत्यु का भी सामना करने के लिए तैयार रहते थे। यह दल 'अमरदी' के नाम से प्रसिद्ध था। ईरानी सेना चतुरंगिणी थी अर्थात् उसमें हाथी, घोड़े, रथ और पैदल थे। उसके सिवा बारह सौ जहाजों का बेड़ा भी साम्राज्य की सेवा में नियुक्त था। सैनिक विभाग तथा शासन विभाग पृथक्-पृथक् संगठित थे। प्रान्तों के शासक सैट्रप (क्षत्रप) कहे जाते थे। स्थिति विशेष में उन्हें सीमित सैनिक अधिकार दे दिये गये थे।

न्याय

धार्मिक एवं नैतिक दृष्टि से ईरान का सम्राट् न्याय करना राज्य का परम कर्तव्य मानता था। साम्राज्य के न्यायालय में सात न्यायाधीश रखे जाते थे। उसके अतिरिक्त अनेक स्थानिक न्यायालय भी स्थापित थे। कभी-कभी न्याय करने के लिए स्त्रियाँ भी नियुक्त कर दी जाती थीं। साधारणतः न्यायाधीश आमरण नियुक्त किये जाते थे। यदि उन पर अन्याय करने अथवा रिश्वत लेने का दोष साबित होता था तो उनको पद-च्युत ही नहीं, वरन् कठोर दण्ड भी दिया जाता था। यदि न्यायकर्ता अन्याय करता अथवा रिश्वत लेता तो शारीरिक दण्ड ही नहीं, कभी-कभी उसे प्राण दण्ड भी दिया जाता था। मुकद्दमों का फैसला जहाँ तक हो सकता, शीघ्र कर दिया जाता था। अभियोक्ता तथा अभियुक्त को अपने पंचों को

चुनने का अवसर दिया जाता था। विष-पान, रक्त-शोषण. अंग-भंग, कोड़ों, जुर्माने, कैद, आदि की सजा दी जाती। राजद्रोह, बलात्कार आदि कुछ अपराधों को छोड़कर ईरान में प्राणदण्ड देने का नियम न था।

पतन के कारण

प्राचीन ईरानियों के पतन का कारण उनके साम्राज्य की विशालता और आचरणों की भ्रष्टता थी। साम्राज्य में अनेक मत-मतान्तर, आचार-विचार, और विविध भाषाभाषी जातियाँ सम्मिलित थीं जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ तथा व्यक्तित्व थे। यद्यपि उन विभिन्न तत्त्वों को एक सा रखने की कला में ईरानियों ने अपूर्व कुशलता का परिचय दिया तथापि उन्हें अनिश्चित काल तक एक सूत्र में बाँधे रखना दु:साध्य ही नहीं, वरन् असाध्य-सा था। इतने बड़े साम्राज्य से जो समृद्धि और अपार सम्पत्ति ईरानियों को मिली उसने उन्हें प्रमत्त, ऐयाश तथा व्यभिचारी बना दिया। नाच-रंग, शराब-कबाब, ऐश-आराम का बाजार गर्म हो गया। गुलछर्रे उड़ाने में सम्राट् और उनके बन्दे लग गये। राज्यसिंहासन के लिए हत्याकांड खूब बढ़ा। शासन और सेना के सुधार एवं समयानुसार विकास का ध्यान छोड़कर वे ऐन्द्रिक सुखों के साधन में फँस गये। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य इतना निर्बल हो गया कि यूनानी विजेता के दो धक्कों में ही वह छिन्न भिन्न हो गया। चूंकि जनता ने स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन की दीक्षा न पायी थी और सदा सम्राट् तथा शासकों की मुखापेक्षी रही थी, अतएव उनका विनाश होते ही प्राचीन ईरान की प्रजा का बल एवं वैभव भी विलीन हो गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि व्यापार, कला, विज्ञान तथा साहित्य के क्षेत्रों में प्राचीन ईरान ने कोई स्मरणीय कार्य नहीं किया। उनकी मुख्य कृतियाँ शासन-कौशल, शासितों के प्रति उदार नीति एवं सदाचार-पोषक एकेश्वरवाद-मूलक धर्म के क्षेत्रों में मानी जाती हैं। वृहत्तर साम्राज्य के शासन की कला में सम्भवत: रोम साम्राज्य के सिवा कोई भी देश ईरान का अतिक्रमण नहीं कर पाया। इस ओर उसने जो पथ-प्रदर्शन किया उससे रोम ने भी लाभ उठाया। उसके संगठन का अनुकरण शतियों तक वहाँ होता रहा। ईरान के लिए यह कम गौरव की बात नहीं है।

ईरान—पार्थिया

आधुनिक खुरासान और उसके आस-पास के उत्तरी मरु भूभाग का प्राचीन

नाम पारतक्क अथवा पार्थव था। उसके तथा केस्पियन सागर के बीच में हेरकेनिया प्रान्त था। वह प्रान्त हख़मनी वंश के साम्राज्य में था। ३३० ई० पू० अलेक्ज़ेण्डर ने उसे भी जीत लिया। वहाँ अर्धबर्बर संचरणशील कबीले केस्पियन सागर के पूर्वीय ओर से आकर बसे। पार्थव प्रदेश में बसने के कारण वे लोग पार्थियन नाम से प्रसिद्ध हुए। पार्थियनों का सामाजिक संगठन बहुत कुछ यूरोप के मध्ययुग की सामन्तशाही से मिलता-जुलता है। उनके सात प्रमुख वंश थे और उनसे लगी हुई बड़े और छोटे सरदारों की सम्बद्ध श्रृंखला भी काफी फैली हुई थी। सिपाही अपने सरदारों और सामन्तों से जितना अनुरक्त थे उतना राजा से नहीं। आवश्यकता पड़ने पर वे अपने नेताओं के आज्ञानुसार सैनिक सेवा करने को तैयार हो जाते थे। पार्थियनों की सेना घुड़सवारों की थी। हाथियों का उसमें कोई स्थान न था किन्तु उनकी जगह ऊँटों के दल होते थे। घुड़सवार लोहे का झिलम बख्तर पहनकर भालों और तलवारों से लड़ते थे।

ग्रीस के सैल्यूकस वंश के शिथिल होने पर स्काइथियन जाति की दाही शाखा के परनी कबीले ने जोर पकड़ना शुरू किया। वे लोग बड़े प्रसिद्ध घुड़सवार और युद्धप्रिय थे। संग्राम में वीरगति प्राप्त करना अपने जीवन की वे पूर्ण सफलता मानते थे। बिस्तर पर मरना उनकी दृष्टि में दुर्भाग्यमय एवं निन्दनीय समझा जाता था। ईसा की तृतीय शती के मध्यकाल में उन्होंने बैक्ट्रिया पर आक्रमण किया, किन्तु वहाँ के राजा दिओदस ने उनको भगा दिया। तब रूस और ईरान की सीमा पर स्थित पार्थिया प्रान्त में वे घुस पड़े। उनके नेता तिरिदतस ने अस्सक (अरसक) नगर में सिंहासनारूढ़ होकर अपने स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी। कुछ वर्षों के बाद उसने अस्सक से हटकर राजधानी हेकेटामपाइलस में स्थापित की। व्यापारिक दृष्टि से वह स्थान अच्छा था क्योंकि पूर्व और पश्चिम के प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग पर उसकी स्थिति थी।

सेल्यूकस द्वितीय ने उन पर चढ़ाई की, किन्तु एण्टिओक में उपद्रव होने के कारण उसे वापस लौटना पड़ा। उस अवसर से लाभ उठाकर पार्थियनों ने हेरियाना प्रान्त पर भी अधिकार जमा लिया। तब से वे अपनी शक्ति संगठित करते और राज्य का धीरे-धीरे विस्तार करते रहे। यद्यपि थोड़े समय के लिए एण्टिओकस तृतीय ने उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, किन्तु द्वितीय शती (ई० पू०) के प्रथम दशक के समाप्त होने के पहले एण्टिआकस को रोमनों ने परास्त किया जिससे पार्थिआ ही नहीं, बल्कि मीडिया आदि अन्य प्रान्त भी स्वतन्त्र हो गये।

पार्थिआ के राजा मिथ्रदेतस प्रथम (१७१—१३८ ई० पू०) के नेतृत्व में पार्थियनों ने मीडिया, पर्सिस, बेबिलोन, असीरिया, सीस्तान, अफगानिस्तान, हेरात, बिलू-चिस्तान ('गेड्रोशिया') आदि प्रान्तों पर प्रभुत्व स्थापित कर एक नवीन साम्राज्य की स्थापना कर दी (१६०—१४० ई० पू०)। टाइग्रिस (दजला) नदी के बायें तट पर प्रसिद्ध व्यापारिक नगर सेल्यूकिया के सामने केसिफान में पहले उन्होंने अपना एक सैनिक केन्द्र (स्कन्धावार) और आगे चलकर अपने नये साम्राज्य की राजधानी ही स्थापित कर दी। मिथ्रदेतस प्रथम को ही पार्थियन साम्राज्य का असली संस्थापक कहना अनुचित न होगा। हखमनी साम्राज्य का नवीन ग्रीकों के हाथ से उद्धार करने और प्राचीन ईरान की प्रतिष्ठा की स्थापना करने के कारण उसने सम्राट् की उपाधि धारण कर ली। यद्यपि उसने ग्रीकों पर विजय प्राप्त की थी तथापि उनके प्रति उसका व्यवहार अच्छा एवं सहानुभूतिपूर्ण था। इतने पर भी जब देमेत्रिअस द्वितीय ने विद्रोह का झण्डा उठाया तब उसके साथ बहुत-से ईरानी और ग्रीक तथा सेल्यूकिया और बैक्ट्रिया के लोग भी सम्मिलित हो गये। पार्थिया के सम्राट् ने उसको परास्त कर पकड़ लिया, किन्तु उसको दण्ड देने अथवा अपमानित करने के बदले उसका सम्मान कर अपनी पुत्री से विवाह कर दिया और हेरेकेनिया प्रान्त का उसे अधिपति बना दिया। यही नहीं, ग्रीकों के प्रति अपनी उदार नीति का वह यथापूर्व पालन करता रहा। मिथ्रदेतस की मृत्यु १३७ ई० पू० में हुई।

मिथ्रदेतस का पुत्र फ्रस्तस द्वितीय सम्राट् हुआ। ग्रीक राजा एण्टिआकस सप्तम ने बड़ी सेना के साथ पार्थिया पर आक्रमण किया। विजय करता हुआ वह एक-बताना तक आ पहुँचा। फ्रस्तस ने सन्धि का प्रस्ताव छेड़ा, किन्तु ग्रीक नरेश ने पार्थिया को छोड़कर सब जीते हुए प्रान्तों को लौटा देने का आग्रह किया। क्रुद्ध होकर फ्रस्तस ने ऐसा आकस्मिक आक्रमण किया कि ग्रीक सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और एण्टिआकस का निधन हो गया (१२९ ई० पू०)। मेसोपटेमिया पर पार्थि-यनों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। बहुत सम्भव था कि पार्थियन विजेता सीरिया पर आक्रमण कर देता यदि चीनी तुर्किस्तान की स्काइथियन जाति की एक शाखा ने मर्व की ओर से एक ही साथ एकबताना और हेरात एवं सीस्तान पर धावा न किया होता। उस भयंकर बाढ़ को रोकने के लिए फ्रस्तस को लौटना अनिवार्य हो गया। उसे संकट में फँसा देखकर उसके ग्रीक सैनिक दगाबाजी से भाग निकले जिसका परिणाम यह हुआ कि फ्रस्तस मारा गया (१२८ ई० पू०)। बगावतों के

कारण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। ऐसी विषम परिस्थिति में मिथ्रदेतस द्वितीय, पार्थिया के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। (१२३ ई० पू०) पश्चिमी प्रान्तों की शान्ति करके उसने पूर्व में मर्व, हिरात और सीस्तान एवं कन्धार पर पुनः आधिपत्य जमा लिया। शकों के आक्रमण का विशेष परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया और पूर्वी ईरान के ग्रीक राज्य सदा के लिए नष्ट हो गये। फलतः ऑक्सस नदी के उत्तरी और दक्षिणी प्रान्तों में नवीन आक्रमण करने वाली शाखाएँ जम गयीं। पश्चिमी दिशा में बसने वाले लोग शक और पूर्वी दिशा में यूची अथवा तुखारी थे। यूचियों ने बेक्ट्रिया राज्य को हड़प लिया। उनके कुछ कबीले (प्रथम शती ई० पू०) पंजाब और सिन्ध में घुस आये और वहाँ के ग्रीक और बैक्ट्रियन राज्यों को नष्ट करके स्वयं स्वतन्त्र राज्य करने लगे। किन्तु सीस्तान और अराकोशिया के प्रान्तों के निवासियों को पार्थियन वंश के गोन्डोफरस नाम के राजकुमार ने एकता के सूत्र में बाँधकर एक नया राज्य स्थापित किया जो सीस्तान से सिन्ध नद की सीमा के इस पार तक फैल गया।

मिथ्रदेतस द्वितीय जितना पराक्रमी था उतना ही नीति एवं संगठन कुशल भी। उसके पास चीन के सम्राट् ने अपना दूत भेजकर व्यापारिक सन्धि का प्रस्ताव किया जिसको स्वीकार करके उसने ईरान और चीन के व्यापार को प्रोत्साहित किया (११५ ई० पू०)।

पार्थिया के उत्तर-पश्चिम में आरमीनिया राज्य था। वहाँ की राजनीतिक उलट-पुलट से उसे यह आशंका रहती थी कि रोम वाले वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित न कर बैठें। अतएव अवसर पाकर उसने अपने अनुकूल तिग्रनेस नामक व्यक्ति को राज्य सिंहासन प्राप्त करने में सहायता दी। एशियाई कोचक के निवासी रोम राज्य की नीति-रीति से असन्तुष्ट और त्रस्त थे। तिग्रनेस ने पाण्टस के मिथ्रदेतस (१२०—६५ ई० पू०) की सहायता से एशियाई कोचक को एक प्रबल संगठित राज्य बना दिया। रोम वाले अफ्रीका के जुगार्था युद्ध में फँसे होने के कारण उस संगठन को रोक न सके (११२—९४ ई० पू०)। उस युद्ध से फुरसत मिलने पर रोम ने पूर्वी समस्या पर ध्यान दिया। रोमन सेनापति सेला पश्चिमी एशिया के ग्रीकों को हराकर यूफ्रेटीज़ नदी तक पहुँचा तब मिथ्रदेतस ने उसके पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। सेला को पार्थियन शक्ति का यथेष्ट ज्ञान न था। उसको असभ्य और बर्बर समझकर सेला ने उसके सन्धि प्रस्ताव को ठुकरा दिया (९२ ई० पू०)। मिथ्रदेतस ने एशियाई कोचक के निवासियों को स्वानुकूल समझकर रोम से युद्ध

छेड़ दिया। निश्चित तिथि को इटालियनों का कत्लेआम शुरू हुआ। कहा जाता है कि अस्सी हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे तलवार के घाट उतार दिये गये। रोम के विरुद्ध विद्रोह इतना बढ़ा कि ग्रीस और उसके दक्षिणी और पश्चिमी तटों पर बसे इटेलियनों का वहाँ रहना असम्भव-सा हो गया (८९ ई० पू०)। ऐसी विषम परि-स्थिति के कारण सेला फिर पूर्व की ओर भेजा गया। ग्रीस की रियासतों को रौंदता और लूटता हुआ वह एशियाई कोचक जलमार्ग से पहुँचा। सम्भव था कि युद्ध अधिक भयंकर होता, किन्तु अपने विरोधियों का ज़ोर रोम में बढ़ता देखकर सेला ने मिथ्र-देतस से इस शर्त पर सन्धि कर ली कि रोमनों से छीने स्थानों को वापस कर दिया जाय और हरजाना या जुर्माना भी अदा किया जाय (८५ ई० पू०)।

मिथ्रदेतस द्वितीय की मृत्यु के बाद पार्थिया राज्य कमज़ोर हो गया। तीस वर्ष तक वहाँ की आन्तरिक स्थिति डगमगाती रही और राज बदलते रहे। इस अवधि में आरमीनिया के तिग्रेनस ने अपनी शक्ति यहाँ तक बढ़ा ली कि उसका अधिकार पार्थिया के कई प्रान्तों पर स्थापित हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि पार्थिया का राज्य पूर्णतः नष्ट हो जायगा। संयोग से एशियाई कोचक में पाण्टस राज्य के हेलेनिक मिथ्रदेतस और उसके सहयोगी तिग्रेनस का रोम से युद्ध छिड़ गया। रोम ने पार्थिया के राजा फ्रस्तस द्वितीय से सन्धि का प्रस्ताव किया जो उसने स्वीकार कर लिया। रोम की सेना जब भयंकर संकट में फँस कर डगमगा उठी तब भी पार्थिया ने उसका साथ न छोड़ा। फिर भी रोम के अभिमानी सेनानायक पाम्पे ने पार्थियन लोगों की कदर न की, वरन् उनको नीचा ही समझता रहा। यही नहीं, पाम्पे ने पार्थिया में फूट डालने तथा उसके कुछ पश्चिमी प्रान्तों को छीन लेने में कोई संकोच न किया। रोमनों की कुटिल नीति से क्षुब्ध और अपमानित होकर पार्थिया के राजा ने उनका साथ छोड़ दिया और रोम के सेनानायक क्रेसस से ईरान की रक्षा करने के लिए उसे युद्ध करना पड़ा। पार्थिया के 'सुरेन' नामक सेनापति ने कर्रही के युद्ध में रोम की सेना को छिन्न-भिन्न ही नहीं वरन्, नष्ट तक कर दिया। क्रेसस तथा उसके पुत्र को प्राणत्याग करना पड़ा (५३ ई० पू०)। रोम वालों को अब पार्थिया की शक्ति का ठीक अनुमान हुआ। उनकी आँखें खुल गयीं। यह युद्ध महत्त्वपूर्ण इसलिए भी समझा जाता है कि यह अलेक्ज़ेण्डर द्वारा ईरान की पराजय के प्रतिशोध और ईरान के पुनरुत्थान का प्रतीक है। इसके सिवा रोम को यह सबक भी मिला कि घुड़सवार सेना का यदि सुचारु रूप से संचालन किया जाय तो पैदल सेना उसका मुकाबिला नहीं कर सकती। उस पाठ को हृदयंगम कर रोम ने भी

घुड़सवार सेना का संगठन आरम्भ कर दिया। उस विजय से ईरान की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि अरब के छोटे-बड़े राज्य उसका फिर सम्मान करने लगे। विजय से उत्साहित होकर तथा रोम वालों को गृहयुद्ध में फँसा देखकर पार्थिया वालों ने भूमध्यसागर के तट तक अपना आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्न किये। सम्भव था कि उनको यथेष्ट सफलता भी प्राप्त होती, किन्तु पार्थिया के सम्राट् ओरोदस की ईर्ष्या के कारण सुरेन के वध तथा राजकुमार पकोरस के अपमान ने वीरों का दिल तोड़ दिया और असन्तोष बढ़ा दिया। दस वर्ष तक अकर्मण्यता चलती रही। उसके बाद एक बार फिर आगे बढ़ने का प्रयत्न किया गया। एशियाई कोचक, सीरिया, पेलेस्टाइन तक ईरानी (पार्थियन) सेना बढ़ती चली गयी। किन्तु रोमनों ने उनकी बाढ़ को छल-बल से रोक दिया। ईरानी सेना को पराजित होकर पीछे लौटना पड़ा। बूढ़े ओरोदस से ऊबकर पुत्रों ने उसे मार डाला (३७ ई० पू०) और राजसिंहासन के लिए आपस में लड़ाई होने लगी। उनमें से फ्रस्तस चतुर्थ को विजय-श्री प्राप्त हुई, किन्तु सरदारों और सैनिकों में आपसी लड़ाई-झगड़े और दलबन्दियाँ चलती रहीं। उस अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाने की इच्छा से रोमन सेनानायक एण्टनी एक प्रबल सेना लेकर आया। किन्तु पूर्वीय राज्यों और प्रजा को रोमनों की निष्ठुरता, कुटिलता और क्रूरता का इतना कटु अनुभव था कि किसी ने दिल खोल कर उनका साथ न दिया। यद्यपि आरमीनिया जीत कर मीडिया पर उन्होंने आक्रमण किया, किन्तु फ्रस्तस चतुर्थ ने उनका साज-सामान लूटकर उनकी किला तोड़ने की मशीनों को जला दिया। एण्टनी को लाचार होकर पीछे लौटना पड़ा। रास्ते में पार्थियनों ने उसकी सेना को बड़ी क्षति पहुँचायी। एक अन्तिम किन्तु निष्फल प्रयत्न करने के बाद एण्टनी की हिम्मत टूट गयी। उधर आगस्टस के विरोध के कारण रोम से किसी प्रकार की सहायता प्राप्त करना तो दूर रहा, विरोधियों के आक्रमण का प्रतिकार मात्र करने के लिए उसे लौटना पड़ा। विजय आगस्टस की हुई। आगस्टस ने पार्थियनों के साथ मैत्री की नीति का निर्वाह श्रेयस्कर समझा। उधर पार्थिया वालों ने भी रोम से उलझना अनुचित समझा। फलतः वैमनस्य कम हो गया जिससे रोम को व्यापार आदि में सुविधा प्राप्त हुई। अब रोम के सामने मुख्य प्रश्न यह रह गया कि पूर्व में कहाँ पर वह अपनी सीमा निर्धारित करे और किस प्रकार उसको दृढ़ बनावे। अन्त में यह निर्णय हुआ कि आरमीनिया दोनों साम्राज्यों की सीमा रहे। यह निर्णय भी आगे चलकर असन्तोषजनक सिद्ध हुआ क्योंकि आरमीनिया राज्य में रोम वाले स्वानुकूल व्यक्ति को और पार्थिया वाले

अपने अनुकूल व्यक्ति को राजा बनाने के लिए उत्सुक रहते थे। पार्थिया के राज-सिंहासन के लिए वहाँ के राजकुमारों में इतने झगड़े बढ़े कि मिथ्रदेतस के वंश के हाथ से राज्य निकल कर अर्तबनस के वंश के अधिकार में चला गया।

ईसा की द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में (११४ ई०) रोम के सम्राट् ट्रेजन ने लड़-भिड़कर काले समुद्र के तटस्थ प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ से दजला नदी तक रोम का आधिपत्य जम जाने से उसके मन में भारत पहुँचने की लालसा जाग्रत हुई और अलेक्ज़ेण्डर महान् की समता प्राप्त करना उसका लक्ष्य बन गया। किन्तु पश्चिमी एशिया एवं मिस्र में उपद्रव होने के कारण उसकी आशाओं पर पानी पड़ गया। उसके उत्तराधिकारी सम्राट् हेड्रियन ने दजला से आगे बढ़ने का विचार अव्यावहारिक समझकर छोड़ दिया। रोम के इस नीति-परिवर्तन का एक कारण यह भी हुआ कि पश्चिमी एशिया से मिस्र और ग्रीस इटली तक प्लेग का प्रचंड प्रकोप हुआ। देश में गृह-कलह और सम्राट् पद के लिए भयंकर संघर्ष मचे रहने के कारण दूरस्थ देशों में साम्राज्य-स्थापना की आशा व्यर्थ प्रतीत हुई। इन परिस्थितियों में भी सन् १९७ ई० में सेप्टिमस सेवरस ने एक बार फिर प्रयत्न किया, किन्तु वह निष्फल सिद्ध हुआ। रोम को अन्तिम झटका तब लगा जब रोम का सम्राट् मेक्रिनस (२१७—१८) निसिबिस में बुरी तरह से परास्त हुआ। आखिर द्वितीय शती की समाप्ति के साथ रोम के ईरान में बढ़ने का प्रश्न भी समाप्त हो गया। रोमनों की बाढ़ क्षीण होते देखकर सासानी वंश ने रोम को एशिया से बहिष्कृत करने के अनुष्ठान का आरम्भ कर दिया।

रोम से संघर्ष होते रहने के कारण पार्थियनों का बल पूर्वी प्रदेशों में भी कम होता गया। प्रथम शती से यूची जाति की कुषाण नामक शाखा ने बल संचय करना आरम्भ कर दिया था। उनके राजा कुजुल केडफाइसिस ने कैस्पियन सागर से सिन्धु नद तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया जिससे भारत एवं चीन के यूरोप से व्यापार करने के एक विशाल मार्ग पर उसका अधिकार हो गया, इससे उसको अच्छा आर्थिक लाभ हुआ। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी वेम केडफाइसिस ने अपने पिता की नीति का अनुसरण कर हिरात, सीस्तान तथा अराकोशिया, पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध प्रदेश तक अपना राज्य बढ़ा लिया। फलतः लाल सागर से सिन्धसागर के संगम तक का व्यापार-मार्ग उसके अधिकार में आ गया। पश्चिम की ओर से रोमनों तथा पूर्व से कुषाणों के दबाव में फँसकर पार्थिया की शक्ति उत्तरोत्तर कम होती चली गयी। रोमनों ने कुषाणों से मित्रता कर ली। कुषाणों

ने पश्चिमी रेगिस्तानों की ओर बढ़ना उतना लाभदायक न समझा जितना कि धन-धान्य पूर्ण समृद्ध भारतवर्ष की ओर। अतएव फारस में न फँसकर उन्होंने भारत में राज्य-विस्तार करना ही श्रेयस्कर समझा।

ईरानी सभ्यता और सामाजिक तथा शासनिक विधानों के मूल स्रोत हख-मनीय युग की रीति-नीति में विकसित हुए थे। उसी रीति-नीति का कमोबेश अनुसरण सासानियों के काल तक ही नहीं, बल्कि आगे तक भी होता रहा। तथापि परिस्थितियों के उलट-फेर से समय-समय पर कुछ परिवर्तन भी होते रहे जो विशेषतः युद्धकला और धार्मिक क्षेत्र में दिखाई पड़ते हैं।

पार्थिया का राजवंश संचरणशील जाति का था अतः उनमें उस जाति की विशेषताओं का किसी अंश तक रहना स्वाभाविक था। राजा प्रायः एक ही कुटुम्ब से चुना जाता था, किन्तु यह रिवाज अनिवार्य न था। राजकुमारों में से कोई भी राजा बनाया जा सकता था। उदाहरणतः पार्थिया के राजसिंहासन पर एक राज-महिषी, जो पहले दासी थी, बैठायी गयी। राजा की शक्ति उसके मुख्य सरदारों पर अवलम्बित थी, जो प्रायः सात प्रमुख कुल के थे। प्राचीन ईरानी समाज विचरणशील न था, वह अधिकतर स्थिर था।

पार्थिया के संगठन में दो प्रकार के प्रदेश थे। एक तो वे राज्य थे जो अनेक अंशों में स्वतन्त्र होते हुए भी पार्थिया के सम्राट् के नेतृत्व में रहते थे। दूसरे वे थे जिनके शासन के लिए समय-समय पर प्रशासक नियुक्त किये जाते थे। अनुयायी राज्यों की संख्या अठारह थी जिनमें ग्यारह उच्च श्रेणी में और सात निम्न में गिने जाते थे। उनके अतिरिक्त साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था जिन पर अधिकतर वंशानुगत शासक शासन करते थे। उनके अतिरिक्त अनेक नगर थे जो स्वयं अपना प्रबन्ध करते थे। उनके विधानों और स्थानीय शासन में सम्राट् यथासम्भव हस्त-क्षेप न करता था। ये नगर व्यापार तथा संस्कृति के केन्द्र थे और उनका प्रभाव साम्राज्य के आचार-विचारों को परिवर्तित करता रहता था। जिस प्रकार सम्राट् के अनुयायी प्रमुख सरदार थे उसी प्रकार सरदारों के अनुयायी उनके क्षेत्र के छोटे सरदार होते थे। ये छोटे सरदार ही कृषक समुदाय पर शासन करते थे। इस संक्षिप्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि पार्थिया के साम्राज्य में सामन्तशाही और जिमींदारी प्रथा प्रचलित थी। प्रमुख सामन्तों के सहयोग और सहायता से ही राजकुमार साम्राज्य के सिंहासन को प्राप्त कर सकता था क्योंकि पार्थिया का सम्राट् राजकुमारों में से ही कोई चुना जा सकता था। यह आवश्यक न था कि

सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हो। इस प्रथा के कारण राज-कुमारों को प्रमुख सामन्तों का मुखापेक्षी होना पड़ता था। उनमें आपस में दाँव-पेच चलते रहते थे जिसके कारण साम्राज्य में खींचा-तानी रहती और उसके अंग अच्छी प्रकार से दृढ़ नहीं होने पाते थे। फिर भी साधारणतया चतुर और बलशाली सम्राट् संगठन को यथाशक्ति अव्यवस्थित नहीं होने देते थे। ईरान में उपर्युक्त विधान कुछ हेर-फेर से बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था।

सैनिक व्यवस्था

पार्थिया के सरदारों की अपनी-अपनी सेनाएँ होती थीं। आवश्यकता पड़ने पर अथवा सम्राट् के आमन्त्रण पर वे ससैन्य एकत्रित हो जाते थे। उनकी सेना की शक्ति अधिकांश सुसन्नद्ध घुड़सवारों पर निर्भर थी। ऊपर लिखा जा चुका है कि संचरणशील जातियों के अश्वारोही सैनिक सामने अथवा मुड़कर पीछे से बाण-वर्षा करने में सिद्धहस्त् थे। जिस वेग से वे आक्रमण करते उतनी ही शीघ्रता से वे पीछे भी हट सकते और आवश्यकता पड़ने पर पुनः एकत्रित भी हो सकते थे। उसी कला और लाघव के कारण वे ग्रीकों और रोमनों का सामना सफलता के साथ कर सके थे। घुड़सवारों के सिवा पैदल सेना भी नगण्य न थी। पदाति तलवारों और बरछों से लड़ने के अभ्यस्त थे। पदाति प्रायः कृषक अथवा गुलाम होते थे।

समाज

पार्थिया के युग का ईरान हखमनी युग से कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों में भिन्न था। ग्रीकों और रोमनों के आकर बस जाने से ईरानी समाज में नये रक्त, नयी संस्कृति, नये कौटुम्बिक विधान तथा नये दृष्टिकोण का प्रादुर्भाव हुआ। आपस में विवाह और निरन्तर सम्पर्क होते रहने से उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ तीव्र गति से चलने लगीं। ग्रीकों और रोमनों के आचार-विचार, सामाजिक आदर्श कला-कौशल, दर्शन-विज्ञान के ईरानियों की सभ्यता और संस्कृति के साथ सम्मिश्रण होते रहने के कारण ईरान में नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई। दूध और चीनी के समान वे ऐसे घुल-मिल गये कि काला-न्तर में उनके भेद-विभेद विलीन हो गये और समाज में नया व्यक्तित्व आ गया। सासानियों के युग में ईरानी समाज चार वर्गों में विभक्त था अर्थात् सामन्तों तथा सैनिकों के, पुरोहितों, लेखकों तथा राजकर्मचारियों के और मज़दूर तथा उद्योग-धन्धे वालों के वर्गों में। शिक्षा तथा व्यापार की वृद्धि से ज़मींदारों और किसानों

या मज़दूरों के बीच नवीन कड़ियाँ अथवा स्तर प्रकट हो गये। नागरिक और व्यापारिक जीवन की वृद्धि से नये प्रश्नों और विधि-विधानों की सृष्टि होती रही। यद्यपि पुराने ढंग में पले हुए ईरानी उस प्रवृत्ति से असन्तुष्ट रहे, किन्तु उनके लिए उसका प्रवाह रोकना असम्भव-सा था।

व्यापार

पार्थियनों के समय में चीन तथा भारत का यूरोप से व्यापारिक सम्बन्ध सम्भवतः पहले से अधिक बढ़ा। सिन्धु देश से फारस की खाड़ी तक का समुद्री व्यापार शीघ्रता से बढ़ता रहा। पंजाब से हिन्दूकुश पार करता हुआ महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्ग काबुल से मिल जाता था और दोनों देशों में यातायात होता था। व्यापार के करों से साम्राज्य को बहुत आमदनी होती थी। ईरान पूर्व से सामान मँगाकर पश्चिम को और पश्चिम से लेकर पूर्व की ओर भेजा करता था। पूर्वी देशों की वस्तुओं का, विशेषतः भारतीय फौलाद और ताँबा आदि अन्य धातुओं का तथा कपड़ों, तेलों, मसालों, औषधियों, रत्नों, रंगों, शीशे की चीज़ों, चमड़ों आदि का बाजार अच्छा था। सड़कें भी पहले से अच्छी थीं। डाक चौकी का अच्छा प्रबन्ध था जिससे पौने दो सौ मील की यात्रा आवश्यकता पड़ने पर एक ही दिन में सम्भव थी।

उस युग में कृषि की उन्नति हुई। छोटे-छोटे खेतों के बजाय बड़े-बड़े खेतों में बड़े पैमाने पर खेती की जाने लगी क्योंकि अमीर और सरदार लोगों को उसमें लाभ की गुंजाइश दिखाई पड़ी। इसका यह परिणाम हुआ कि छोटे पैमाने पर स्वतंत्र खेती करने वाले उत्तरोत्तर कम होते गये और उन्हें स्वालम्बन के बदले मजदूरी करनी पड़ी। फलतः उनकी मर्यादा और स्थिति कमज़ोर होती चली गयी। चीन से आये हुए फलों के बाग लगाने तथा गन्ने की खेती करने का शौक लोगों में बढ़ता गया।

धर्म

पार्थियनों में, बलि ही नहीं नर-बलि का भी रिवाज प्रचलित था। जरथुष्ट्र के सिद्धान्त के अनुसार पशुबलि त्याज्य थी। इस सिद्धान्त का प्रभाव बर्बर कबीलों पर बहुत कम पड़ा, किन्तु ईरानियों की सलिल देवी अनाहिता का पूजन पार्थिया में अधिक लोकप्रिय हुआ। सूसानगर में वह देवी 'ननिया' नाम से पूजी

जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी न किसी नाम से कम से कम पश्चिमी एशिया से ईरान की पूर्वी सीमा तक और संभवतः उससे आगे भी उस देवी का पूजन होता था। कहीं-कहीं जलदेवी से उसका परिवर्तन अग्नि देवी के रूप में पाया जाता है। यद्यपि अधिकतर उसकी प्रतिमाएँ सवस्त्रा थीं तथापि निर्वसना रूप में भी उसका पूजन होता था।

अन्य धर्मों के प्रति पार्थियन राज्य की नीति उदार थी। यही नहीं वे जिस प्रान्त में बस जाते थे वहां के धर्म को ग्रहण कर लेते थे। वे लोग शव को धरती के अन्दर कोठरी खोद कर दफनाते थे, किन्तु कहीं-कहीं उनमें मगों की मृतक क्रिया का भी अनुकरण होने लगा था।

सासान वंश

पार्थियनों के ह्रास के साथ सासान वंश का उदय और प्रभुत्व बढ़ा। अनुश्रुति के अनुसार उस वंश का प्रारंभ अनाहिता देवी के स्तस्र के मन्दिर के अध्यक्षों में से सस्सन नामक एक व्यक्ति से बताया जाता है। उसके पुत्र पपक ने, जिसका विवाह उस प्रान्त के एक सरदार की बेटी के साथ हुआ था अपने ससुर की जिमींदारी हड़प कर अपने वंश की उन्नति का बीजारोपण किया (२०८ ई०)। जब पार्थियनों के राजा ने पपक के पुत्र शापुर को उसका उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव अस्वीकार किया तब से विद्रोह का प्रारम्भ हो गया। शापुर की मृत्यु होने पर उसका छोटा भाई अर्दशीर जो फर्स नामक नगर में स्थापित सेना का सेनापति था, पर्सिस का राजा बन बैठा। प्रतिरोध होते हुए भी उसने पार्थिया के राजा अर्तबनस पंचम को हरा कर मार डाला (२२४ ई०)। तदुपरान्त कैसीफोन (कसीफिआ) नगर में जाकर उसने सम्राट् की उपाधि धारण कर ली (२२६ ई०)। अर्दशीर के विरुद्ध एक प्रबल संध तैयार किया गया जिसमें आरमीनिया का राजा खुसरो प्रथम, स्काइथियन जाति के कुछ कबीले, कुषाणों का राजा आदि शामिल हुए। संघ को रोम वालों से भी सहायता का आश्वासन मिला। उस प्रबल संघ को साम, दाम, भेद के द्वारा शिथिल करके अर्दशीर ने अन्ततोगत्वा छिन्न-भिन्न कर दिया। उसका राज्य मर्व, हेरात, सीस्तान से फरात नदी तक बढ़ गया। उसके समय से ईरान में नवीन उत्साह बढ़ता गया। लोगों में यह धारणा उत्पन्न हो गयी कि प्राचीन ईरान साढ़े पांच सौ वर्षों के दुर्दिन झेल कर पुनरुत्थान के राजमार्ग पर अग्रसर हो रहा है। अर्दशीर ने जरथ्रुष्ट्र के धर्म का अभ्युत्थान

करने का बीड़ा उठाया जिससे फारस में धार्मिक जोश उभड़ा। उस स्फूर्ति से सासानी वंश के प्रभाव और जातीय बल की खूब वृद्धि हुई।

पचास वर्ष तक राज्य करके अर्दशीर ने अपने पुत्र शापुर को साम्राज्य सुपुर्द कर दिया और स्वयं विरक्त होकर अपने जीवन के अन्तिम वर्ष शान्तिपूर्वक व्यतीत करता रहा।

सम्राट् शापुर भी अपने पिता के समान योग्य शासक और सेनानी सिद्ध हुआ। उसके साम्राज्य के पूर्व की ओर कुषाण राज्य और पश्चिम में रोम राज्य था। कुषाणों पर विजय प्राप्त करने से उसको वे व्यापार-मार्ग मिल सकते थे जिससे कुषाण समृद्ध हुए थे। अतएव उसने पहले कुषाणों पर चढ़ाई की। उनको परास्त कर शापुर ने पेशावर से सिन्धु नद की घाटी तक तथा बल्ख, ताशकन्द और समरकन्द तक का समृद्ध भू-भाग अपने साम्राज्य में मिला लिया। कुषाण राज्य सदा के लिए समाप्त तो नहीं हुआ किन्तु वह ईरान का अधीनस्थ हो गया।

उत्तर और पूर्व में विजय प्राप्त कर तथा आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ और सम्पन्न करके शापुर पश्चिम की ओर झुका। स्वयं को हखमनी सम्राटों का उत्तराधिकारी घोषित कर उसने रोमनों को एशिया से हट जाने के लिए कहा, किन्तु वे क्यों हटने वाले थे। एशिया से उनको व्यापारादि द्वारा अनेक लाभ होते थे। यद्यपि इस ओर उसको अनेक अवसरों पर नैराश्य का सामना करना पड़ा, किन्तु वह विचलित न हुआ। धीरे-धीरे वह सीरिया और एण्टियाक अर्थात् भूमध्य सागर के तट तक पहुँच गया। अरबों को अपने प्रभाव में लाकर उसने उन्हें अपना करद अनुगामी बना लिया। अपनी शक्ति को संगठित और मज़बूत बनाकर उसने रोमनों से पुनः युद्ध छेड़ा। इस बार विजयलक्ष्मी उसके हाथ रही। रोम का सम्राट् वेलेरियन एडेसा के युद्ध में मारा गया और उसके सत्तर हजार सैनिक पकड़े जाकर इधर-उधर निर्वासित कर दिये गये (२६० ई०)। तदनन्तर सीरिया और कैपाडोशिया तक ईरानी सेना ने अपना आतंक जमा दिया। केवल पालमाइरा में उसे सफलता प्राप्त न हो सकी।

शापुर की मृत्यु (२७२ ई०) के बाद ईरान में गृहयुद्ध छिड़ गया और साम्राज्य की दशा अव्यवस्थित होने लगी। इससे रोमनों तथा कुषाणों ने लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ा ली। साम्राज्य के कुछ हिस्सों पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया। ईरान की सेना पर रोमनों ने विजय प्राप्त कर एक बार फिर दजला नदी तक साम्राज्य बढ़ा लिया। किन्तु चतुर्थ शती में जब शापुर द्वितीय सम्राट् हुआ (३०९—७९)

तब भाग्यचक्र फिर ईरान के अनुकूल होने लगा। उसकी पहली शानदार विजय कुषाणों पर हुई जिसने कुषाणों की शक्ति सदा के लिए तोड़ दी और उनका राज्य समाप्त कर दिया। सम्राट् द्वारा नियुक्त प्रान्तीय शासक बल्ख से वहाँ का प्रबन्ध करने लगा। चीनी तुर्किस्तान तक ईरान का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

पूर्व से निश्चित होकर शापुर द्वितीय पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ। उत्तरी मेसोपटेमिया और आरमीनिया पर उसने चढ़ाई की। उधर रोम का कुशल प्रसिद्ध सेनापति सम्राट् जूलियन लड़ने आया, किन्तु वह मारा गया (३६३ ई०)। आरमीनिया भी ईरान साम्राज्य का एक प्रदेश बना लिया गया, किन्तु उसका एक छोटा टुकड़ा रोम के सम्राट को दे दिया गया। शापुर द्वितीय की मृत्यु (३७९ ई०) के साथ प्राचीन इतिहास को समाप्त करना अनुपयुक्त नहीं प्रतीत होता। उसके उपरान्त रोम साम्राज्य से ही नहीं, वरन् बाइज़ेण्टाइन रोम से भी ईरान का संघर्ष और आन्तरिक अव्यवस्था का व्यापार होता रहा। पार्थियन और सासानियन शासकों ने हखमनी सम्राटों की सांस्कृतिक तथा शासनिक परिपाटियों का प्राय: प्रतिपालन किया। अतएव परिपाटियों की मज़बूती और कमज़ोरी भी उनके हिस्से में आयी। फिर भी पूर्व की ओर से संचरणशील जातियों की सैनिक कला तथा रोम की युद्ध और स्थापत्य कलाओं का ईरान पर बहुत प्रभाव पड़ा। पूर्वी जातियाँ घोड़ों पर सवार होकर आक्रमण तथा पलायन करने में दक्ष थीं। दोनों ही दशाओं में वे समान अधिकार से बाण-वर्षा कर सकती थीं। इन्हीं कारणों से प्राय: उनको सफलता प्राप्त होती थी। ईरान ने उस कला को अपनाकर रोमनों पर इतना आतंक स्थापित कर लिया कि उन्हें भी घुड़सवार सेना का संगठन करना आवश्यक हो गया।

शापुर प्रथम के जमाने में फारस में एक विशेष धार्मिक आन्दोलन हुआ जिसका प्रवर्तक 'मानी' था। यह स्मरण रखना चाहिए कि हखमनी वंश का अन्त होने के पश्चात् ग्रीकों ने भारत तक और रोमनों ने पश्चिमी एशिया में अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। ग्रीकों की संस्कृति भी फारस में प्रचलित हो गयी। बौद्ध धर्म ने भी अपना प्रभाव जमा रखा था। रोमनों के युग में ईसाई धर्म का भी अच्छा प्रसार हुआ। उन सबका प्रभाव ईरान पर पड़ना स्वाभाविक था। पुरानी और नयी मान्यताओं से प्रेरित होकर 'मानी' नामक धर्म-प्रवर्तक ने मनीषी सिद्धान्त का प्रचार किया। मानी का जन्म सन् २१६ के लगभग बेबीलोन में हुआ। उसकी धारणा थी कि विश्व के यावत् व्यापार के कारण दो मूलगत और तीन प्रवाहिक तत्त्व हैं।

पहली श्रेणी के अन्तर्गत ईश्वर तथा पदार्थ और दूसरी में भूत, वर्तमान एवं भविष्य (काल) हैं। भूतकाल में प्रकाश तथा अन्धकार पृथक् थे, किन्तु उनमें जब संघर्ष हुआ तब अन्धकार की विजय हुई। यह दशा देख ईश्वर ने अपनी शक्तियों का दो बार प्रयोग करके प्रकाश का उद्धार किया तथापि अन्धकार की सत्ता बनी ही रही। उस परिस्थिति में पुरुष मूर्छित अवस्था में पड़ा रहा। तब ईश्वर ने विश्व की रचना की और पुरुष में प्राणशक्ति का संचार किया। इस अवस्था में यद्यपि उपर्युक्त दोनों तत्त्व आपस में गुथे रहे, फिर भी व्यवस्था इस प्रकार की हुई जिससे प्रकाश के ईश्वरीय तत्त्व सूर्य और चन्द्र की मुक्ति का मार्ग निकल सका। वर्तमान काल में प्रगति की धारा उसी ढंग से चल रही है। अन्धकार की सत्ता के प्रभाव और सृष्टि के कारण मनुष्य में दोनों लिंग उपस्थित रहे जिससे संजनन का विधान चलता है, उस विधान का फल है कि प्रकाश पूर्ण रूप से मुक्त नहीं होने पाता। इस गुत्थी को खोलने के लिए ईश्वर ने अपने पवित्र प्रकाश से महात्मा ईसा को पैदा कर मनुष्य को अन्धकार से निकल कर प्रकाश में पहुँचने का मार्ग दिखाने के लिए अवतरित किया। मोक्ष प्राप्त करने के एकमात्र रास्ते, सम्यक् त्याग का उसने सन्देश और उपदेश दिया। सच्चा मनीषी वही हो सकता है जो स्त्री-सहवास, मांस-मदिरा तथा सम्पत्ति-संग्रह का पूर्णतया परित्याग कर दे। उसका मुख्य कर्तव्य उपदेश तथा आचरण द्वारा मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बताना है। साधारण अनुयायियों को विवाह करके दुनिया में रहने की इजाजत है। ये लोग श्रोत्री की श्रेणी में रखे गये। भविष्य की जो परिस्थिति होगी उसमें दोनों मूल तत्त्व फिर अपनी आरम्भिक अवस्था में पहुँच जायेंगे। किन्तु अन्धकार कैद कर दिया जायगा और शरीर के बन्धन से मुक्त होकर जीव पूर्ण प्रकाश में स्थिर हो जायगा।

मानी का ध्येय एक विश्वव्यापक धर्म का निर्माण और प्रचार करना था। इसीलिए शायद उसने उस समय के फारस तथा पश्चिमी एशिया की प्रचलित विचारधाराओं के सम्मिश्रण से अपना सिद्धान्त बनाया। शापुर प्रथम ने मानी का स्वागत कर और अनेक प्रकार से उसका सम्मान कर अपना मत प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी। अन्य धर्म वालों ने उसका घोर विरोध किया। शापुर प्रथम की मृत्यु के बाद मानी पर अभियोग चलाया गया और उसे मृत्युदण्ड दिया गया। उसके मतानुयायियों को भी निरन्तर कष्ट दिये जाते थे, फिर भी मनीषी सिद्धान्त का प्रचार अरब, सीरिया, एशियाई कोचक, उत्तरी अफ्रीका, मिस्र, तुर्किस्तान, चीन और उत्तर-पश्चिम भारत में होता चला गया। चीन में तो अब भी चलता है।

मनीषी धर्म के शिथिल होने पर फारस में फिर जरथ्रुष्ट्र के धर्म का उत्थान हुआ। प्राचीन सिद्धान्त के इस नवीन संस्करण में कुछ परिवर्तन हुए जिनसे वह फारस वालों के लिए सुगम और सुग्राह्य होकर जातीय धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सका। इस नव सिद्धान्त को लेकर बौद्ध एवं ईसाई धर्मों के प्रचार को फारस ने सफलतापूर्वक रोक दिया। तत्कालीन असहिष्णुता के वातावरण में पारसी धर्म भी जातीय और असहिष्णु हो गया। अन्य धर्मों तथा धर्मावलम्बियों का भयंकर दमन किया गया। पारसियों में यह धारणा फैली कि उनसे अप्रसन्न होकर अहुर-मज़द ने उनके शत्रुओं को विजय प्रदान की है। उनकी भलाई उसके प्रसन्न करने से ही सम्भव है। वह धार्मिक कृत्यों द्वारा सम्भव होगा। परिणाम यह हुआ कि उनमें कर्मकाण्ड, आचार और उपचार की प्रवृत्ति पुनः बढ़ी जिसका प्रमाण 'वेन्दि-दाद एवं निरंगिस्तान' नामक ग्रन्थ है।

कला-कौशल

पार्थियनों को नगर आदि निर्माण कराने का शौक न था। किन्तु सासानियों द्वारा स्थापित नगरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं। उनसे प्रतीत होता है कि वे गोलाकार होंगे। अधिक संचरणशील होने के कारण गृहनिर्माण की ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान न दिया। सासानियों के समय में कुछ गृहों में आँगन रखने की पुरानी परिपाटी चलती रही, किन्तु ऐसे मकान भी बनाये जाते थे जिनमें आँगन के बदले सायबान निर्माण किया जाता था। पक्के गारे से जोड़े अनगढ़ पत्थरों के टुकड़ों की अथवा ईंटों की दीवारें बनायी जाती थीं। गढ़े पत्थरों की दीवारों पर रंगीन चित्र या डिजा-इन भी बनाये जाते थे। समृद्ध लोगों के मकानों में बड़े ऊँचे महराबदार फाटक और दीवारों पर अनेक प्रकार की सुन्दर रेखाएँ तथा सिहद्वार और प्रवेश-द्वार बनाये जाते थे। महलों के पास दबे हुए गुम्बद और मन्दिरों के पास मीनार पड़े हुए मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पार्थियनों तथा पूर्व सासानियों के युगों में मकानों के बाहरी भाग को विशालता और महत्त्व प्रदान करना अच्छा समझा जाता था। उनके मन्दिर चौकोर होते थे, जिनमें अग्नि निरन्तर जलती रहती थी। धार्मिक कर्मकाण्ड और कृत्य खुले मैदान में किये जाते थे। उस प्रकार की अग्नि-शाला का अवशेष तक्षशिला में भी मिला है। स्थापत्य कला ने उस काल वस्तुतः कोई विशेष उन्नति नहीं की। तत्कालीन कला हखमनीय वास्तुकला के सामने बिलकुल फीकी लगती है।

पार्थियन युग में काँसे की बड़ी मूर्तियों की रचना ने विशेष उन्नति की। इन मूर्तियों की पोशाक बहुत स्पष्ट और वास्तविकतापूर्ण है। मिर्जई, लबादे और कई प्रकार के पैजामे और जूते पहने हुए व्यक्ति सफाई के साथ बनाये गये हैं। खम्भों के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण विविध प्रकार की सजावट भी रोमनों की देखा-देखी विकसित की गयी थी। कम उभरी हुई उकेरी कलाकृतियों की भी अच्छी उन्नति हुई। तकीबुस्तान का मृगया दृश्य सामूहिक चित्रण का सुन्दर नमूना है। वैसे ही चित्रण राजदरबार, भोज-उत्सव आदि के भी मिलते हैं। राजाओं तथा पशुओं के चित्र तो ईरान में पुराने जमाने से बनते चले आये थे। इस काल उनमें भी कुछ उन्नति हुई। बरतनों और धातु के टुकड़ों पर भी अनेक प्रकार के चित्र अंकित किये गये जिनसे यह अनुभव होता है कि ईरानियों को चित्रित वस्तुओं का बेहद शौक था।

आर्थिक स्थिति

सासानियों के युग के आर्थिक जीवन में पुराने युग की अपेक्षा कुछ विचारणीय परिवर्तन हुए। इस युग के राष्ट्रीय जीवन में व्यापार से अधिक कृषि का महत्त्व बढ़ा। फलतः सम्पत्ति का वितरण पहले से अधिक सन्तोषजनक हुआ। पश्चिमी राज्यों में भी सम्भवतः उतनी अच्छी व्यवस्था उस युग में न थी। चाँदी और ताँबे के सिक्कों का विस्तृत प्रचलन हुआ। हुंडियों और चेकों के द्वारा आदान प्रदान का तथा बैंकों का उपयोग अधिकाधिक पैमाने पर होने लगा। सब हिसाबी काम लिखा-पढ़ी के जरिये किया जाने लगा। सम्भवतः चेक शब्द की उत्पत्ति भी पहलवी भाषा से हुई। उपर्युक्त व्यवस्था प्रायः शहरों में थी। ग्रामीण जनता में विनिमय. तथा मजदूरों की मजदूरी और लगान का अधिकांश भाग वस्तुओं के रूप में देने की प्रथा चलती रही। दुर्भिक्ष अथवा आयात की कमी पड़ जाने पर उस विधान से साधारण लोगों को अधिक कष्ट न उठाना पड़ता था। व्यापार की वृद्धि के कारण यात्रियों और व्यापारियों की सुविधा के लिए राज्य की ओर से नहरों, सड़कों, नदियों के आसपास अधिक सरायों, जिनमें खाने-पीने की उचित व्यवस्था थी, का निर्माण हुआ। सासानियों के जमाने में ईरान में रेशमी वस्तुओं के कारखाने खुले। रेशम के व्यापार का इजारा और नियंत्रण राज्य ने अपने हाथ में रखा। शीशे की चीजों के बनाने में ईरान ने खासी उन्नति की। ईरानी राज्यों ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार राजकीय कारखानों में अनेक

चीजें बनवाने की व्यवस्था की। सम्भवतः इसीलिए अथवा राज्य के आर्थिक जीवन में विषमता तथा अव्यवस्था बढ़ने के डर से शासन द्वारा आवश्यक चीजों की कीमतों और भावों पर कड़ा नियंत्रण रखा जाने लगा। राज्य के अलावा ईरान के बड़े जिमींदार भी अपनी नौकरी में मजदूर, बढ़ई, लोहार, बुनने वाले, तेली आदि रखते थे। उपयुक्त साधन न होने तथा चीजों के भाव का कठोर नियंत्रण रहने के कारण किसानों की दशा चिन्त्य हो गयी और वे दीन-मलीन हो गये। किसानों को अपनी रक्षा और निर्वाह के लिए बड़े जमींदारों और सामन्तों की शरण लेना अनिवार्य-सा होता गया। जमीदारों की भूमि, सम्पत्ति और प्रभाव में वृद्धि हुई। अपने-अपने दुर्ग बनाकर वे अपनी जमींदारी में ऐशो-आराम करने तथा आनन्द से रहने लगे और वहाँ किसानों के परिश्रम के बूते कृषि एवं वाणिज्य के अपने साधनों और शक्ति का वे संवर्द्धन करते रहे। साम्राज्य और जमींदारों का खर्च बढ़ता गया जिसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के कर, चुंगी आदि लगाये गये। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि सासानी युग में राज्य की ओर से शिक्षा को अच्छा प्रोत्साहन मिला। नगरों एवं नागरिकों का जीवन-स्तर पहले से कुछ ऊँचा हो गया। जातीयता का विकास अधिक पुष्ट और सक्रिय हुआ और ईरान से रोम साम्राज्य का आतंक जाता रहा। सासानियों के युग में ईरानी संस्कृति उन्नति के ऊँचे शिखर पर पहुँच गयी थी। सैर, शिकार, युद्धकला, साहित्य, संगीत, रहन-सहन, पोशाक, चाल-ढाल आदि में ईरान ने अच्छी उन्नति की। उनका सामाजिक संगठन सामन्तात्मक था। यद्यपि मध्य श्रेणी के लोगों को भी तत्कालीन विधान से लाभ हुआ, किन्तु राजनीति में वे सामन्तशाही के आश्रित रहे। उनमें शक्ति का विशेष संचार न हुआ। कृषक तथा मजदूर श्रेणी के लोग समाज में कमजोर रहे जिसका परिणाम आगे चलकर साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुआ।

अध्याय १०

चीन

भौगोलिक स्थिति

हिन्दुस्तान की तरह चीन देश भी स्वतः सम्पन्न और संसार के अन्य देशों से पृथक् है। उसके पूर्व में प्रशान्त महासागर है जिसका तट बहुत कटा-फटा है। इसी कारण उसके सागर तट पर बहुत से अच्छे बन्दरगाह हैं। चीन के दक्षिणी तथा पश्चिमी भाग पहाड़ों से घिरे हैं। उत्तर में भी पहाड़ एवं रेगिस्तान हैं। उत्तर-पश्चिमी भाग का वह खंड जिससे उत्तरी प्रान्त के बर्बर चीन के मैदान में घुसते थे संसार की प्रसिद्ध चीनी दीवार द्वारा बन्द कर दिया गया। इस प्रकार उत्तर पूर्व का सुविशाल मैदान तथा पूर्वी प्रान्त चारों ओर से रक्षित या यों कहिए कि पृथक् कर दिया गया है। इस कारण चीन के निवासियों में विजातीय मिश्रण अधिक परिमाण में नहीं होने पाया। कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक 'मंगोल जाति एकदम शुद्ध नहीं है और उसमें मंगोलिया तथा दक्षिण रूस की अनेक उपजातियों का मिश्रण पाया जाता है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि इतने विशाल देश में प्रान्तीय परिस्थितियों की विभिन्नता से लोगों के रूप, रंग एवं आकार आदि में भिन्नता दिखाई पड़ती है तथापि मूलतः वे सब मंगोल जाति के ही अन्तर्गत हैं। देश की पृथकता के कारण वहाँ की सभ्यता भी अपनी अनन्य विशेषता रखती है क्योंकि उस पर अन्य लोगों का प्रभाव नहीं पड़ सका, न दूसरी सभ्यताओं का उनसे अधिक सम्पर्क ही होने पाया। फलतः उनकी सभ्यता में स्थिर एकरसता रही और इसी कारण उसमें अधिक विभेद या विपर्यय न हो सका। चीन की सभ्यता बहुत पुरानी तथा अप्रगतिशील रह गयी।

चीन के जलवायु में स्थानीय भिन्नता है। उत्तरी प्रदेशों में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है और दक्षिणी भागों में काफी गर्मी पड़ती है। साधारणतया वहाँ की आबहवा मानसूनी देशों की सी है। वहाँ वर्षा अच्छी होती है। हिन्दुस्तान की तरह चीन में भी तीन बड़ी नदियों के जाल हैं। वहाँ की नदियाँ प्रायः पश्चिम से

पूर्व की ओर बहती हैं। सीक्यांग नदी जंगलों तथा पहाड़ों में होती हुई एक सहस्र मील लम्बी जाती है। उस में कुछ दूर तक जहाज भी आ-जा सकते हैं। इसकी घाटी में चावल, बाँस तथा लकड़ी की अच्छी पैदावार होती है। दूसरी नदी यांङ-टी सी क्यांङ है। इसकी घाटी विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। इसकी लम्बाई तीन हजार मील है। यह नदी संसार का सबसे बड़ा जलमार्ग मानी जाती है। इस पर सात सौ मील तक बड़े जहाज भी आ-जा सकते हैं और सहस्र मील तक नावें चल सकती हैं। इसके मार्ग में कई झीलें पड़ने से इसमें भयंकर बाढ़ें अधिक नहीं आतीं। इसकी घाटी में धान की बड़ी-बड़ी फसलें कटती हैं। और गेहूँ, जौ, रुई आदि भी होती है। इसके ढालों पर शहतूत खूब होता है जिससे रेशम के कीड़ों का अपार पालन-पोषण होता है। स्वभावतः इस नदी के तट पर बहुत-से नगर बसे हैं। तीसरी नदी ह्वाङह्रो या पीली नदी है। यह बड़े घूमघुमाव से मंगोलिया के रेगिस्तान में होती हुई उत्तर पूर्वी चीन के सुविशाल मैदान में बहती है। अपने साथ बेहद रेत और पीली मिट्‌टी लाती है जो खेती के लिए बड़ी ही लाभ-दायक है। किन्तु उसे मार्ग बदलने की बुरी बान है। रेत और मिट्टी की अधि-कता से उसका स्तर ऊपर उठता चला गया है, उसे बाँध से जकड़ने के प्रयत्न किये गये, किन्तु कभी-कभी वह उन्हें तोड़कर तूफ़ान बरपा कर देती है जिससे भयंकर हानि होती है। उसका बहाव भी इतना तेज़ है कि उस पर जहाज़ आदि नहीं आ जा सकते। बार-बार नयी मिट्टी पड़ने से धूल के कारण रास्ते खराब हो जाते हैं। शीतप्रधान प्रान्त होने के कारण इसकी घाटी में चावल तो नहीं हो पाते, किन्तु जौ, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, सन आदि खूब पैदा होते हैं। कृषि की सुविधा के कारण इसकी घाटी में घनी बस्तियाँ हैं। ढालू और मटीली होने के कारण इसकी घाटी में सिंचाई का प्रबन्ध होना कठिन है। किसान को मेघ-वृष्टि का आश्रय रहता है। यदि अनावृष्टि हुई तो भयंकर अकाल पड़ जाता है। इसी की घाटी में विशेष रूप से और साधारणतया इसके और याङ टी-सी-क्याङ के बीच के प्रान्तों में ही चीन के इतिहास का और उसकी सभ्यता का निर्माण हुआ। नदियों के जाल के कारण चीन भारत की तरह कृषिप्रधान देश है और उसकी सभ्यता कृषि-मूलक है।

चीन के समुद्री तट पर बहुत-से अच्छ बन्दरगाह हैं और वहाँ यात्राएँ प्रायः जलमार्ग से की जाती हैं। इसी सुगमता के कारण वहाँ की बस्तियाँ नदियों के तटों पर हैं।

यद्यपि चीन में लोहे, कोयले तथा तेलों का अच्छा भंडार प्रकृति ने एकत्रित कर रखा है तथापि आधुनिक युग से पूर्व वहां के निवासियों को उस भंडार का प्रायः कुछ भी ज्ञान न था। चीन का उत्तरी मध्य भाग कृषि के लिए अधिक उपयोगी रहा है।

स्थूल रूप से चीन चार खंडों में बँटा हुआ है। ह्वांगहो (पीली नदी) और उससे संलग्न नदियों की घाटी चीन का उत्तरी खंड है। यांगसी और उससे सम्बन्धित पहाड़ियों और नदियों की घाटी का ऊपरी भाग दूसरा खंड और उसका निचला भाग तीसरा खंड कहा जा सकता है। चौथा खंड यांङ टी सी क्यांङ के दक्षिण का समुद्र तट है। चीन की उत्तर से दक्षिण तक लम्बाई साढ़े पाँच हजार और चौड़ाई ५००० किलोमीटर है।

चीन वाले अपने देश को चंगकुओ (मध्य राष्ट्र) कहते हैं। मध्य युग में चीन के पश्चिमी देशों में वह खिताई के नाम से प्रख्यात था। रूस में अब भी वह नाम प्रचलित है। मारकोपोलो ने उसका नाम के थे लिखा है। चीन का इतिहास अपना विशिष्ट स्थान रखता है। पुरातन युगों से आज तक वहां एक ही जाति और एक ही चीनी राज्य चला आता है। चीन सम्भवतः सबसे पुराना राष्ट्र है। उसकी संस्कृति भी मिस्र, मेसोपटेमिया और सिन्ध घाटी की सभ्यताओं की तरह पाँच हजार वर्ष पुरानी कही जाती है। संसार के अन्य प्राचीन राष्ट्रों और संस्कृतियों के साथ अधिक संपर्क न रहने के कारण चीन वालों की संस्कृति पर बाहर वालों का बहुत कम प्रभाव पड़ा जिससे उनकी संस्कृति की अपनी विशेष रूप-रेखा और आत्मा है। इसका चीनियों को इतना गर्व है कि वे अपने को औरों से ऊँची जाति का मानते और अन्य जातियों से खिंचे रहते हैं और बहुत कम मिलते जुलते हैं।

चीन का इतिहास भी अन्य देशों के इतिहास की तरह कई युगों में विभक्त है। अनुश्रुति के अनुसार सबसे पहला युग जिसे वे सतयुग कहते हैं ईसा से लगभग २८५२ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ जब कि फूमी राजसिहासन पर बैठा। उसके वंश ने १७६६ ई० पू० तक शासन किया। उसके बाद अनन्त शांग (यिन) वंश का प्रभुत्व बढ़ा जो ११२२ ई० पू० तक चलता रहा। उन दोनों वंशों का वर्णन पौराणिक ढंग की अनुश्रुतियों का सा है। उस युग की घटनाओं को कालक्रम एवं प्रामाफिक और व्यवस्थित ढंग से लिखना संभव नहीं हो सका। किन्तु सांस्कृतिक विकास का कुछ ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ है। चीन का दूसरा युग चाउवंश की, जिसका

संस्थापक वूवांग था, ई० पू० १२२२ में हुई स्थापना से प्रारम्भ होकर २५३ ई० पू० तक चलता रहा। चीनियों के यह पूर्वज कहाँ से और कब आकर चीन में बसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कोई केस्पियन सागर के समीप से, कोई सुमेरिया से और कोई मध्य एशिया से उनका उद्गम मानते हैं। चीनियों के आने के पूर्व चीन के मूल निवासी असभ्य और बर्बर थे। उनको हराकर चीनी लोग पीली नदी की घाटी में वैसे ही जम गये जैसे आर्य लोग पंजाब और उत्तर प्रदेश में बस गये थे। विजेता संभवतः नंगे रहते थे क्योंकि अनुश्रुति के अनुसार चेन फोंग राजा ने सबसे पहले उनको पशुओं की खाल से शरीर ढाँकना सिखाया। कालान्तर में उन्हें घर बनाना, अग्नि उत्पन्न करना, भोजन पकाना भी आ गया। सारांश यह कि विजयी चीनी उस समय तक सभ्यता में बहुत नीचे थे। उनके पूर्व चीन के मूल निवासियों की स्थिति संभवतः उनसे और भी खराब रही होगी। पुरातन युग के चीनियों का समाज सभवतः मातृक रहा होगा क्योंकि पिता के नाम से सन्तति का परिचय फ़हसी के समय से आरम्भ हुआ जिसका राजत्व काल २८५७ से २७३८ ई० पू० तक माना जाता है।

चीन में पुरातन युगों की कुछ अवशिष्ट सामग्री तो मिली है, किन्तु वह इतनी कम है कि उससे वहाँ की सभ्यता की प्रारम्भिक सीढ़ियों का ठीक-ठीक पता नहीं लग पाता। चीनियों की अनुश्रुतियों के अनुसार उनकी सभ्यता यदि लाखों वर्ष पुरानी नहीं तो अठारह या बीस सहस्र वर्ष से भी अधिक पुरानी है। कई राजे तो १०००० वर्ष तक राज्य करते रहे। किन्तु उनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। ध्वंसावशेषों की कमी की पूर्ति उनके ऐतिहासिक अथवा प्राचीन स्मृतियों के संग्रह करते हैं। सबसे प्राचीन संग्रह चीन के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता कन्फ्यूसिअस का (५५१–४९ ई० पू०) मिलता है। उसके अनुसार ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व चीन में सामाजिक और राजनीतिक संगठन हो चुका था। चीनी अनुश्रति के अनुसार सबसे पहले तीन महापुरुषों और उनके पश्चात् पाँच प्रतिष्ठित राजाओं ने २६९७ से २२३५ ई० पू० तक राज्य किया। वे सभी पौराणिक ढंग के आदर्श राजा थे। उनके राज्यकाल में सभी सुखी और सब प्रकार से सम्पन्न थे। राजाओं में दैविक गुण थे। वह चीन का सतयुग था।

उन आदर्श राजाओं के युग में शेननुंग (२७३७ ई० पू०) ने चीनियों को खेती करना, गाँवों में बसना और कुछ साधारण औषधियों का ज्ञान सिखाया। उसी युग का एक प्रसिद्ध राजा ह्वांगती था। (२६९७ से २५९८ ई० पू०) जिसके

पराक्रम और संगठन की योग्यता के कारण चीनी लोग उसको अपने वंश का संस्थापक मानते हैं। उसने कम्पास, नौका, गाड़ी, धनुष-वाण तथा बाँस के बने वाद्ययंत्रों का आविष्कार किया। कहा जाता है कि उसी ने मंत्रियों और निरीक्षकों की सबसे पहले नियुक्ति की। उसकी रानी ने रेशम के कीड़ों से कपड़े बनाने का आविष्कार किया। उसके वंशजों ने लेखन-कला को व्यवस्थित रूप दिया। राज्य को नौ प्रदेशों में विभक्त कर प्रत्येक के शासन की व्यवस्था की।

पुरातन चीन की अनुश्रुति के अनुसार प्रतिष्ठित अन्य राजाओं में याओ और शाआन विशेष रूप से ख्याति-प्राप्त हुए। शासन विधान में उन्होंने कई सुधार किये। उनके समय से राजसिंहासन का उत्तराधिकारी राजा का पुत्र ही होने लगा। फलतः आगे चलकर राजे शानशौकत से रहने और भोग-विलास में कालयापन करने लगे। मंत्रियों की संख्या दस और प्रान्तों की बारह कर दी गयी। प्रत्येक प्रान्त में एक राजकुमार नियुक्त किया गया जो वहाँ के शासन का निरीक्षण और गठन करे। राज्य की भूमि पर राजा का अधिकार स्थापित हुआ। किसान को उस पर खेती करने की आज्ञा वही देता था। उसके लिए कृषक को कर देना पड़ता था। राजों, सरदारों, सैनिकों, विद्यालयों एवं शिक्षकों के खर्च और निर्वाह के लिए जमीन लगा दी गयी। राज्य के जमींदारों की संख्या दस सहस्र थी। दंड-विधान कठोर, किन्तु निश्चित था। उपर्युक्त दोनों राजाओं के शासनकाल में शिक्षा, संगीत, साहित्य और शासनिक प्रबन्ध में अच्छी खासी उन्नति हुई। लोहे को गला और ढालकर चीज़ें बनाना भी उसी युग की देन मानी जाती है।

उस युग के समाप्त होने पर ताम्रयुग का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रवर्तक यू नाम का राजा हुआ जो ह्यइया वंश का था। उसके वंश ने २२०५ से १८१८ ई० पू० तक राज्य किया। इन दोनों वंशों के राजत्व काल में चीन में विवाह, पितृ पैतामहिक दाय तथा अन्यान्य सामाजिक संस्थाओं का निर्माण हुआ। उन्हीं के सत्व से दिशा एवं काल की व्यवस्थित जंत्री, अग्नि प्रकट करने की विधि, गृहनिर्माण कला, कृषि, औषधियों के गुण, वाद्ययंत्रों की रचना, नौका-निर्माण, नाप जोख के विधानों, लेखन-कला, रेशम, शिक्षा आदि अनेकानेक विषयों का ज्ञान लोगों को प्राप्त हो गया। पीली नदी की अदम्य बाढ़ का नियंत्रण करने के लिए कई नहरें कटवा दी गयीं जिससे अनेक प्रदेशों को लाभ हुआ।

चीन के पुरातत्त्व का इतिहास क्रमबद्ध नहीं मिलता। इसीलिए उसका

अध्ययन सांस्कृतिक युगों के अनुसार किया जाना अनिवार्य-सा है। वहाँ संयुक्त कौटुम्बिक प्रथा प्रचलित थी। व्यक्ति का जीवन कुटुम्ब के हित के लिए माना जाता था। अतः वैयक्तिक कर्त्तव्यों और आचरणों पर ज़ोर दिया जाता था।

प्रागैतिहासिक काल में चीन में आठ मुख्य जनसमूह थे जिनका रहन-सहन एक-सा न था। उत्तर-पूर्व प्रान्त में, जिसके अन्तर्गत आजकल होपी, शन्तुंग और दक्षिणी मंचूरिया हैं, तुंगुस लोग रहते थे जो शिकार तथा कुछ कृषि के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे। उनके मिट्टी के बरतन मोटे और भद्दे थे। आगे चलकर सुअरों का पालना उनका विशेष व्यवसाय हो गया। दूसरे थे वे लोग जिनका निवास-स्थान आधुनिक शाआन्सी प्रान्त तथा मंगोलिया का भीतरी भाग थे। वे शिकारी और पशु पालने वाले भ्रमणशील (घुमक्कड़) लोग थे। वे सब मंगोल जाति के अन्तर्गत थे। तीसरे लोग उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के निवासी थे। संभवतः उसी भूभाग में शाआन्सी और कान्सू के मैदान हैं। आरम्भ में वे मृगयाजीवी थे, किन्तु बाद को गेहूँ और जुआर की खेती भी करने लगे। वे ही लोग तुर्की के पूर्वज थे। चौथा समुदाय कान्सू और शाआन्सी के पहाड़ी भाग तथा ज़ेचवान में था। वे ही लोग तिब्बत वालों के पूर्वज माने जाते है। भेड़ों के झुडों को वे पहाड़ों पर चराते फिरते थे। चीन के दक्षिणी भूभाग में भी चार जातियाँ थीं जिनमें आस्ट्रो एशियाई रक्त का मिश्रण हुआ। एक थे लिअओ लोग जो सभ्यता की बहुत नीची श्रेणी में फँसे रहे और शिकारियों की दशा से ऊपर न उठ सके। उनके पूर्व में याओ लोग थे जो शिकार के सिवा कुछ खेती भी करते और पहाड़ियों में रहते थे। कालान्तर में उनका मिश्रण दक्षिण के ताई सभ्यता वालों से हो गया जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि था। वे ही लोग स्याम वालों के पूर्वज माने जाते है। उसी प्रकार याओ और ताईयों जातियों के मिश्रण से एक समूह यूचियों का उत्पन्न हो गया जो इन्डोनेशिया में फैल गया। उपर्युक्त जातियों में आदिम तुर्कों तथा ताइयों की सभ्यता औरों के मुकाबिले में कुछ अच्छी थी।

उपर्युक्त समूहों के लोगों में सम्पर्क तथा सम्मिश्रण होने से संस्कृति का स्तर ऊँचा हो चला। उदाहरण के लिए पश्चिम में यांगशाओ सभ्यता के युग के मिट्टी के सफेद, लाल और काली मिट्टी के बने बड़े सुन्दर पात्र मिले हैं जिनको शायद गाँवों में रहने वालों ने बनाया होगा। वे लोग पत्थरों के औजार बनाते थे क्योंकि उनको लोहे का ज्ञान न था। संभवतः ईसा के सात सौ वर्ष पहले उनको काँसे का भी ज्ञान न था। यांगशाओ सभ्यता में तिब्बतियों का अधिक प्रभाव दिखाई

पड़ता है, किन्तु तुर्की का भी उसमें हाथ था। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व वह सभ्यता चीन की उत्तरी और पश्चिमी पहाड़ियों में प्रचलित थी।

सम्मिश्रण से उत्पन्न दूसरी उल्लेखनीय सभ्यता लुंगशान के नाम से प्रसिद्ध है। उसका प्रचार गाँवों में बसकर खेती करने वाले लोगों में था जो आधुनिक शान्तुंग, कियांगसू, चेकिआंग आदि प्रदेशों में निवास करते थे। वे मुख्यतः ताई और याओ कुटुम्ब के लोग थे। उपर्युक्त दोनों प्रमुख सभ्यताओं का संगम शाआन्सी और पूर्वी होनान में हुआ। कुछ लोगों का अनुमान है कि याओ और शुन सभ्यताओं को ही आगे चलकर राज्यों की संज्ञा दे दी गयी, वस्तुतः वे राज नहीं, वरन् सभ्यताएँ थीं।

ईसा के पूर्व १८०० से १४०० वर्ष के बीच दक्षिण चीन से उत्तरी चीन तक तुर्कों द्वारा काँसे का अच्छा प्रचलन हुआ। ईसा पूर्व १८०० से १५०० के बीच में ही अनुश्रुति के अनुसार, हासिआ के राजवंश का उत्थान हुआ था।

पुरातत्त्व के अनुसन्धान ही उपर्युक्त धारणाओं के आधार हैं। कन्फ्यूसियस के युग से मांचू काल तक प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार पुरातन चीन का जो चित्रण किया गया है वह भी कुतूहलवर्धक है। संभव है उसका भी कुछ आधार हो। चीन वाले साधारणतया उन अनुश्रुतियों में विश्वास रखते हैं इसलिए तदनुसार संक्षिप्त इतिहास यहाँ देना अनुचित न होगा।

पुरातत्त्वज्ञों के अनुसार प्रस्तर ताम्रयुग में चीनी लोग मिट्टी के सुन्दर बरतन बनाते, और उनको कलापूर्ण रंगीन चित्रकारी से सजाते थे। बरतनों पर कई प्रकार के रंग चढ़ाये जाते थे यद्यपि लाल रंग की प्रधानता रहती थी। वे लोग कृषि करते, कपड़े बुनते, चटाइयाँ बनाते थे। उन्हें सुअर पालने का शौक़ था क्योंकि उनका मांस वे खाते थे। यद्यपि उनको चक्र का ज्ञान था तथापि पहियों के विविध प्रयोग का कोई संतोषजनक प्रमाण नहीं मिलता। उस युग में मृतक संस्कार का खासा विधान बन गया था। मृतक प्रायः किसी ऊँचे स्थान पर दफना दिये जाते थे। अनुमान किया जाता है कि प्रस्तर ताम्रयुग की सभ्यता २५०० से २००० ई० पू० तक प्रचलित रही। कुछ पुरातत्त्वज्ञों का विचार है कि उसी युग अथवा उसके आस-पास वहाँ लेखनकला का भी सूत्रपात हो गया था। यह कहना अनावश्यक-सा है कि यह लेखनकला स्वतंत्र थी। उसकी उन्नति शांग युग में अच्छी हुई।

कुछ आधुनिक अन्वेषकों का विचार है कि ९०० ई० पू० तक का चीनी सभ्यता का इतिहास आनुश्रुतिक, कल्पनात्मक और अत्यन्त संदिग्ध है। प्रागै-

तिहासिक युगों की चर्चा ४०० ई० पू० से आरम्भ हुई और तब से धीरे-धीरे उसका अतिरंजित विवरण बढ़ता गया। चर्चाओं का सम्बद्ध संकलन पहले पहल मांचू युग (सत्रहवीं शती ई० पू०) में किया गया। वस्तुतः १००० ई० पू० तक चीन में कोई व्यवस्थित सभ्यता न थी। उस युग में चीन में विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का दौर-दौरा रहा। हाँ, १००० ई० पू० से उन सबका सम्मिश्रण और समाहार आरम्भ हुआ जो उत्तरोत्तर उन्नति करता चला गया।

शांगवंश

शांगवंश का युग ईसा के पूर्व १७६६ से ११५४ अथवा १४५० से १०५० तक माना गया है। वस्तुतः उसी युग से चीन के पुराने इतिहास की धुँधली रेखा दिखाई पड़ने लगती है। तत्कालीन ज्ञान का मुख्याधार प्रायः वह सामग्री है जिसे चीन के सुविख्यात तत्त्ववेत्ता कन्फ्यूसियस ने एकत्रित किया था। पुरातत्त्व की खोजों ने भी उस पर कुछ प्रकाश डाला है। शांग सभ्यता उपर्युक्त सभ्यता की ही एक शाखा-सी थी। उत्तर-पश्चिम होनान और शाआन्सी पहाड़ियों की तराई से मैदान तक उसका क्रमिक विकास हुआ।

शांग युग में नगरों की स्थापना होती रही। नगरों की रक्षा उनकी चहार-दीवारी करती थी। नगर के मध्य में राजा का भवन होता था जिसके आस-पास कारीगरों की बस्ती बसायी जाती थी। सरदारों के बाद नगर में कारीगरों को स्थान दिया जाता था। हथियार, बरतन, तथा काँसे का काम, वहाँ अच्छी उन्नति पर था, किन्तु उसका प्रयोग अधिकतर धार्मिक कामों में होता था। साधारण जीवन में चीनी मिट्टी के बरतनों से काम लिया जाता था। यद्यपि उस समय ताँबा, टीन, जस्ता, चाँदी और लोहा से अथवा कई धातुओं को मिलाकर चीज़ें बनाना लोग जानते थे तो भी महँगी होने के कारण धातुओं का चीन में अधिक प्रचलन न हो सका था। धातु के सिक्कों का मूल्य उसके वजन के अनुसार निर्धारित होता था। रेशम पैदा करने का ज्ञान पहले से उत्तरी चीन में चला आता था। शांग युग में रेशमी बुनाई के काम ने अच्छी उन्नति की। रेशम के सिवा सन और छालों के तन्तुओं से भी कपड़ा बनाया जाता था। ऊन के होने का वहाँ कोई प्रमाण नहीं मिलता।

शांग युग में लेखन-कला का प्रचलन हुआ। लेखन-कला चित्रात्मक थी, किन्तु उनके उच्चारण का कुछ विधान किया गया। दो हजार से भी अधिक चित्रित

चिह्न बन गये थे जिनसे साधारणतः लोगों का काम चल जाता था। लेख या तो हड्डी पर अथवा कछुओं की पीठ की पपड़ी पर लिखे जाते थे। हजारों की संख्या में वैसे लेख आज तक पाये जाते हैं।

अनुमान किया जाता है कि उस युग में वहाँ का समाज कुछ अंशों में मातृक प्रथा के अनुसार रहा होगा। वे लोग अनेक देवी-देवता मानते थे, जिनके रूपगुण स्थान-स्थान पर विभिन्न थे। सबसे प्रमुख देवता का नाम शांगती है जिसका रूप मनुष्यों का सा कल्पित किया गया था। वही सर्जनहार है, उसी ने वनस्पतियों, पशुओं तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया और उनका संरक्षण किया। शांगती ने ही धरती माता में उन सब का आधान किया। कालान्तर में वह धरती से जुदा होकर आकाश में चला गया। किन्तु वर्षा करके वह पृथ्वी को सदा गर्भित करता रहता है। कुछ प्रान्तों में यह भी विश्वास प्रचलित था कि प्रारम्भ में एक विश्वांड (ब्रह्माण्ड) था जिसमें प्रथम देवता का जन्म हुआ। उसका शरीर पृथ्वी, अवयव पर्वत और घाटियाँ केश, वनस्पति हैं। उसके सिवा पर्वतों, नदियों, बादलों, कृषि, बिजली, वायु आदि के देवता हैं जिनका पूजन करना चाहिए। देवी-देवताओं को सन्तुष्ट और स्वानुकूल बनाने के लिए बलि चढ़ाना आवश्यक है। कभी-कभी आवश्यकता के अनुसार मनुष्यों की भी बलि दे दी जाती थी जिसके लिए युद्ध के बन्दी लोग और जबरन पकड़े भूले-भटके परदेशी मनुष्य काम आते थे। मद्य चढ़ाकर नाचना-गाना भी पूजन का अंग था। देवताओं के सिवा उस युग में पूर्वजों की भी पूजा की जाती थी। लोगों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद वे परलोक में रहते हैं। संतुष्ट अथवा असन्तुष्ट होने से वे लाभ या हानि पहुँचाते हैं। उनको प्रसन्न करने का भी लगभग वही ढंग था जिससे देवता प्रसन्न किय जाते थे। कभी-कभी तो सौ पशुओं की बलि चढ़ाने पर ही पुरखे प्रसन्न हो सकते थे।

शांग युग में हाथी, घोड़े, बैल, भेड़, मुर्गी, सुअर और कुत्ते पाले जाते थे। हाथी और घोड़े शायद रथ में जोते जाते थे। पशुपालन के अलावा कृषि का भी अच्छा विस्तार हुआ जिसका एक कारण अच्छे हलों का प्रचार हो सकता है। मक्का, बाजरा, चावल की खेती अधिक होती थी। बाजरे से बनी शराब की माँग नागरिकों में बढ़ती जाती थी।

शांग राज्य के राजा की उपाधि 'ती' थी, जिसका प्रयोग देवाधिदेव के लिए भी होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ राजत्व और देवत्व का सम्बन्ध मान सा लिया गया था। फलतः राजा ही राज्य का मुख्य धर्माध्यक्ष

भी था जिसकी सहायता अथवा सेवा करने के लिए कई पुरोहित नियुक्त किये जाते थे। राज्य के मुख्य प्रान्त का वही शासन करता था, किन्तु अन्य प्रान्तों में सामन्त लोग राजा को अपना अधिपति और धर्माध्यक्ष मानते हुए भी एक प्रकार से स्वतंत्र शासन करते थे। पुरातन चीन की सामन्तशाही की यह पहली झलक कही जा सकती है।

शांग युग के मध्य काल में तुर्कों और मंगोलों ने राज्य पर अधिकाधिक दबाव और प्रभाव डाला। वे लोग अपने साथ सितारों की पूजा और घोड़ों से खीचे जाने वाले दो पहियों के रथ लाये जिससे वहाँ की युद्धकला में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन होने लगा। राजा तथा उनके सामन्त, जो रथ और घोड़े रख सके, साधारण नेताओं से प्रबल हो गये। उन लोगों ने अपने नये साधनों द्वारा अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाना शुरू कर दिया जिससे राज्य-क्षेत्र का अच्छा विस्तार हुआ। कालान्तर में प्रबल सामन्त लोग तथा जीते हुए प्रदेशों के लोगों में स्वतंत्र हो जाने की प्रेरणा बढ़ने लगी। उधर राजा लोग भी ऐशोआराम के शिकार होते गये। राजवंश के विरोधियों में हूण आक्रमणकारी प्रबल होते जाते थे। ऐसी परिस्थिति में चोऊ वंश के एक राजकुमार ने प्रजा का नेतृत्व अपने हाथ में लेकर शांग वंश से राज्य छीन लिया (११२२ या १०५० ई० पू०)।

चोऊवंश (११२२ ई० पू० से २५५ ई० पू० तक अथवा १०५० ई० पू० से २४७ ई० पू० तक)

कुछ विद्वानों की धारणा है कि चोऊवंश वस्तुतः तुर्कों का था। आरम्भ में उनकी रियासत में तुर्कों के सिवा तिब्बती लोग भी रहते थे। उनके राज्य पर तुर्कों के अन्य कबीलों ने ऐसा दबाव डाला कि उनको शांग राज्य में शरण लेनी पड़ी। फलतः उन पर शांग सभ्यता का गहरा रंग चढ़ गया। उनकी शक्ति उनके संगठन के साथ इतनी बढ़ गयी कि चोऊ शासक वूवांग ने पीली नदी पारकर शांग राज्य पर चढ़ाई कर दी। तीन वर्ष तक हूणों के साथ युद्ध करने के कारण शांग राज्य क्षीण हो गया था इसलिए वू-वांग को उस पर आधिपत्य जमा लेने में आसानी हो गयी।

वूवांग के सामने दो प्रमुख समस्याएँ उपस्थित हुई। पहली थी राज्य के दृढ़ संगठन की जिससे शान्ति स्थापित हो सके। दूसरी समस्या थी राज्य के सैनिक बल को बढ़ाने की जिससे हूणों आदि आक्रमणकारियों का दमन किया जाय।

उन समस्याओं को हल करने के लिए उसने कई सुधार किये। उसका सबसे महत्व-पूर्ण कार्य सामन्तों को संगठित करना था? सामन्तों की उसने पाँच श्रेणियाँ बनायीं। सबसे ऊँची श्रेणी के सामन्तों को उसने लगभग तीस वर्गमील के क्षेत्र का शासन सुपुर्द किया और उससे नीची वाले को सोलह या सत्रह वर्गमील का क्षेत्र दिया गया। सामन्त प्रायः चोऊवंश से चुने गये थे किन्तु उनमें स्थानिक तथा उन सरदारों को भी स्थान दिया गया जिनने चोऊवंश का आधिपत्य स्वयं स्वीकार कर लिया था। सामन्तों को अपनी अपनी जागीरों के संरक्षण और शासन का भार सुपुर्द कर दिया गया। सामन्त अपनी अपनी गढ़ी में रहते थे। गढ़ी के आस-पास सेना का पड़ाव होता था, जो वहाँ से कुछ दूरी पर रहती थी। सामन्त राजा को कर, भेंट तथा सैनिक सेवा देता और उसको अपना अधिपति मानता था। राजा ने करीब ३३५ वर्गमील का प्रदेश स्वयं अपने लिय रख छोड़ा था। कहा जाता है कि राज्य की दो सौ दस रियासतें, नौ प्रदेशों में विभक्त थीं। प्रत्येक प्रदेश करीब ३३५ वर्गमील का था। स्वरक्षित प्रदेश का शासन राजा अपने कर्मचारियों द्वारा करवाता था।

आरम्भ में साम्राज्य के छोटे-बड़े सामन्तों की संख्या एक सहस्र सात सौ तीन थी। इनके अलावा देश के अन्य भागों में पदाधिकारियों की नियुक्ति की गयी थी जिनका काम पाँच, दस, तीस या दो सौ दस बस्तियों तक के समूहों का निरीक्षण करना था। सामन्त-विधान से एक तो यह लाभ हुआ कि सामन्तों को अपनी-अपनी जिमींदारियों की रक्षा करने की स्वाभाविक उत्तेजना मिली जिससे साम्राज्य की रक्षा का भार सम्राट् के सर से कुछ उतर गया। दूसरी यह कि सामन्तों और उनके क्षेत्रों के निवासियों में घनिष्ठ एवं स्थायी सम्बन्ध स्थापित हो गया जिससे शान्ति तथा रक्षा के कामों में पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति और श्रद्धा-विश्वास की वृद्धि हुई। इससे सामाजिक संगठन अधिक दृढ़ हो गया और राष्ट्र की शक्ति बढ़ गयी। सामन्तों में परस्पर तथा बर्बरों से निरन्तर युद्ध होते रहने के कारण छठी शती (ई० पू०) तक चीन में व्यवस्थित सेना-संचालन, कवायद, अनुशासन विधान, व्यूह-रचना तथा युद्ध-कौशल की अच्छी उन्नति हो गयी।

सामन्त शासन का प्रायः सबसे बड़ा दोप यह होता है कि सामन्तों में स्वच्छन्दता, स्पर्धा तथा उच्छृंखलता बढ़ जाती है जिससे वे कभी-कभी अत्याचारी और उपद्रवी हो जाते हैं। इस दोप का निराकरण करने के लिए चीनी सम्राट् ने दो प्रबन्ध किये। पहला यह कि सामन्तों के शासन का निरीक्षण करने के लिए उसने अपनी ओर से

निरीक्षक नियुक्त किये। ये दो मंत्रियों की अध्यक्षता में काम करते थे। दूसरा यह कि सामन्तों को समय.समय पर सम्राट् के सम्मुख उपस्थित होकर अपना लेखा-जोखा देना पड़ता था। यही नहीं, प्रति पाँच वर्ष सम्राट् स्वयं रिसासतों का दौरा करके निरीक्षण करता और प्रजा की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करता था। उसकी सामरिक शक्ति के प्रबल होने का एक बड़ा कारण यह हुआ कि उसने लोहे के बने अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग चलाया।

चोऊ युग का शासन एक प्रकार का संघ शासन था। सम्राट् के आधिपत्य में सामन्त स्वतंत्र शासन करते थे। जब तक सम्राटों में शक्ति और उनका व्यक्तित्व आदरणीय रहा तब तक निर्वाह होता गया, किन्तु उनके आचरण भ्रष्ट होने पर तथा क्षीण होने पर सामन्तों में अधिकाधिक स्वच्छन्दता और पारस्परिक कलह बढ़ता गया। इसके सिवा बर्बर आक्रमणकारियों के निरन्तर उपद्रवों के कारण देश तथा राज्य की आर्थिक दशा भी बिगड़ती गयी। (पाँचवीं शती ई० पू० से तीसरी शती ई० पू० तक के) मध्यकाल में चीन में पारस्परिक युद्धों, विद्रोह और उपद्रवों का बाजार गर्म रहा। प्रजा व्याकुल होती रही और नैतिक पतन होता गया। अन्ततोगत्वा चि-इन लोगों ने साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

राज्य की राजधानी जो आधुनिक सिअन के करीब थी शेनसी नगर में स्थापित की गयी। शांग के पुराने निवासी तथा वे लोग जिन्होंने चोऊवंश का असफल विरोध किया था, लोयांग में बसा दिये गये। उस नगर को राज्य की दूसरी राजधानी का स्थान प्राप्त हुआ। वू वांग के राजत्व काल में ही उसके भाई ने जो चाऊ कुङयूक के नाम से प्रसिद्ध है, अपनी योग्यता का परिचय दे दिया था। वूवांग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बाल्यावस्था में सिंहासन ारूढ़ हुआ और शासन के संगठन का काम चोऊ कुंङयूक ने अपने हाथ में लिया।

चोऊ राजा वांग (व्यौम, आसमान) का पुत्र माना जाता और उसी को महायज्ञ करने का अधिकार था। तत्कालीन विचार के अनुसार पुरखों की इच्छा, अपने गुणों तथा दैव की इच्छा से ही किसी व्यक्ति को राजत्व प्राप्त होता था। जिस प्रकार धरती और आकाश का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना जाता था उसी प्रकार आकाश (दैव) का राजा से सम्बन्ध कल्पित किया गया था। राज्य-संगठन भी प्रकृति के ही नमूने पर होना श्रेयस्कर समझा गया था। छः ऋतुओं के प्रतिमूर्ति छः मंत्रियों की नियुक्ति की गयी जो केन्द्रीय शासन का संचालन करते थे। व्योम मंत्री को वित्त और अर्थविभाग, पार्थिव मंत्री को शिक्षा एवं स्थानीय शासन, वसन्त मंत्री को धर्म और याग, ग्रीष्म

मंत्री को युद्ध विभाग, शरद मंत्री को दंड विभाग और शिशिर मंत्री को साधारण शासनकार्य सुपुर्द किया गया। उस युग की धारणा के अनुसार आकाश में तीन सौ साठ नक्षत्र माने जाते थे। तदनुसार प्रत्येक मंत्री के विभाग में साठ-साठ कर्मचारी नियुक्त कर दिये गये जिनका जोड़ तीन सौ साठ हुआ। इस प्रकार आकाश और नक्षत्रों के अनुरूप राजा और उसका केन्द्रीय शासन बन गया। पहले राजा का भारी दबदबा था किन्तु आगे चलकर सामन्तों ने इतनी शक्ति बढ़ा ली कि वे उसकी बराबरी करने लगे। फिर भी राष्ट्रीय याग का अधिकार राजा के ही हाथ में रहा, वही प्रमुख धर्माध्यक्ष रहा।

चोऊ शासन में कृषि का भी व्यवस्थित प्रबन्ध किया गया। एक वर्ग ली (१/३ मील) को नौ भागों में बाँट कर आठ भाग प्रजा को दिये जाते थे और नवाँ भाग जो प्रायः बीच का क्षेत्र होता था, राज्य के लिए रक्षित रहता था। इस प्रथा को 'चिंग ति एन' विधान कहते थे। चीनी चिह्न के अनुसार क्षेत्र विभक्त किये गये। कृषक लोग बारी-बारी से पहले राजा की भूमि की जोताई-सिंचाई करते, फिर अपने खेतों में काम करते थे। खेतों में हेरफेर कर विभिन्न फसलें पैदा करने की उत्तेजना दी गयी जिससे पैदावार बढ़ गयी। कृषि का यह रहस्य यूरोप को आधुनिक युग के आरम्भ तक ज्ञात न हो सका था। क्षेत्र का अधिकार, पचीस वर्ष की उम्र वाले कृषक को दिया जाता था जो पैंतीस वर्ष तक उस पर खेती करता। साठ वर्ष की उम्र पूरी हो जाने पर क्षेत्र उससे लेकर दूसरे युवक को दे दिया जाता था। वृद्धों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी सम्भवतः राज्य की होती थी। यतीमों, अशक्तों, गूंगों, बहरों और पागलों का भी उसी प्रकार पालन-पोषण किया जाता था। भूमि पर किसान का पूर्ण अधिकार सम्भवतः चोऊ राज्य के अन्तिम दिनों में स्थापित न हुआ होगा। उपर्युक्त व्यवस्था के सिवा चोऊ राजाओं ने दलदलों को सुखाकर, नहरें खुदवाकर और बेकार जमीन को कृषि के योग्य बनाकर कृषि का अच्छा विस्तार किया। उसी युग में, (सम्भवतः पाँचवीं शती ई० पू०) धातु के सिक्कों के प्रचलन से व्यापार ने भी अच्छी उन्नति की जिससे नये-नये नगर स्थापित होते गये। फलतः ग्राम्य जीवन के स्थान पर नागरिक जीवन सम्बन्धी व्यवसाय, व्यापार और आचार-विचार के न े दृष्टिकोणों तथा संस्थाओं का विकास होने लगा।

चोऊ काल में व्यवसाय ने भी अच्छी उन्नति की। लकड़ी, धातु, चमड़े, रंगसाजी, लोहारी, स्थापत्य आदि के कामों में अधिक सफाई तथा उन्नति हुई।

व्यवसायों की वृद्धि से नगरों की संख्या बढ़ने लगी। उद्योग-धन्धे उस समय वंशानुगत थे। नागरिक जीवनचर्या के कारण शिष्टाचार और सभ्यता का अधिक विकास होने लगा। क्रय-विक्रय में ताँबे के सिक्कों, रेशम के कपड़ों, सोने के टुकड़ों, मोती एवं रत्नों से काम लिया जाता था।

चोऊ युग से उत्तराधिकार की नयी परिपाटी चली। उसके पहले भाई उत्तराधिकारी होता था, किन्तु सम्राट् 'वेन' ने पुत्र को उत्तराधिकारी निश्चित कर दिया और सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उस प्रथा को लागू कर दिया। भारतीय परम्परा की तरह चीन में भी कुटुम्ब का संगठन असंविभक्त अथवा संयुक्त था। चीनी जीवन में कुटुम्ब का बड़ा महत्त्व और सम्मान था। फलतः गृहपति तथा बृहत्तर कुटुम्ब अर्थात् राष्ट्र के पति सम्राट् का भी बहुत आदर और सम्मान होता था। कुलपति का कर्तव्य था कि सब आश्रितों का भरण-पोषण स्नेह एवं न्यायपूर्वक करे। कौटुम्बिक जीवन को पुष्ट तथा मधुर बनाने के लिए विनय एवं शिष्टाचार के नियम बड़े सोच-विचार और बारीकी के साथ निर्धारित किये गये। इनका संग्रह चाऊ ली नामक ग्रन्थ में है।

चोऊ राज्य का दण्ड विधान कठोर था। जुर्माना, अंग-विच्छेद जैसे नाक, पैर, अण्डकोष आदि कटवा देना, चेहरा विकृत करना और मृत्यु दण्ड देना प्रचलित था। कभी-कभी दण्ड के बदले जुर्माना ले लिया जाता था।

अनुश्रुतियों के अनुसार चोऊ युग में शिक्षा के प्रचार के लिए अच्छा प्रयत्न किया गया। पचीस ग्रामीण कुटम्बों के लिए एक प्रारम्भिक पाठशाला थी। माध्यमिक शिक्षा के लिए एक पाठशाला प्रति पाँच सौ कुटुम्ब के लिए स्थापित की गयी थी। उच्च शिक्षा के लिए उत्तरोत्तर महत्त्व की तीन प्रकार की पाठशालाएँ स्थापित थीं। ढाई हजार कुटुम्बियों के नगरों में एक शिक्षालय था। बड़े नगरों में उससे भी उच्च शिक्षा के और राजधानी में सर्वोच्च विद्यालय प्रतिष्ठित थे। छः से आठ वर्ष तक की उम्र से बालक की शिक्षा का आरम्भ होता था और बीस वर्ष की उम्र तक वह चलती रहती थी। सबसे पहले विनय, आचरण, शिष्टाचार तथा नैतिकता की शिक्षा दी जाती थी। तदनन्तर बाण-विद्या, संगीत, रथ-संचालन, गणित एवं साहित्य का स्थान था। बालिकाओं की शिक्षा दस वर्ष से बीस वर्ष तक होती थी, किन्तु वह घरों में ही दी जाती थी, क्योंकि बाहर जाना अनुचित माना जाता था। उनकी शिक्षा में मधुर वाणी, विनीत व्यवहार, अंग-संचालन, शिष्टाचार आदि की शिक्षा के साथ ही साथ खाने-पीने की चीज़ें बनाने और उन्हें

रखने का ढंग सिखाया जाता था। रेशम तथा छालों के तन्तुओं के धागे बनाकर उनसे वस्त्र बुनना भी सिखाया जाता था। सारांश यह कि स्त्री-शिक्षा का ध्येय पुरुषों की शिक्षा से सिद्धान्त एवं व्यवहार में भिन्न था।

चोऊ युग में पद्य और गद्य में साहित्य की सृष्टि हुई। उनकी कविता में व्यंग, प्रेम-प्रसंग, उत्सवों और विशेष अवसरों पर गाने योग्य गीत आदि का शइचिंग नामक एक संग्रह अब तक विद्यमान है। गद्य में अनुश्रुतियाँ, गाथाएँ, राजकीय कारनामे, कानूनी फैसले, भूमिदान के पट्टे आदि मिलते हैं। शासन सम्बन्धी समाचार, आज्ञाएँ, वित्त सम्बन्धी, भौगोलिक विवरण एवं राजनीति सिद्धान्त भी गद्य में लिखे जाते थे। उनका आंशिक संग्रह शूचिंग नामक ग्रन्थ में अब भी विद्यमान है। लेखक सामयिक घटनाओं को कालक्रम, तिथि तथा तत्सम्बन्धी व्यक्तियों के नाम सहित लिपिबद्ध करते थे। उनसे हमें तत्कालीन इतिहास का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। चोऊ युग की अन्तिम शतियों में चीन का ईरान तथा यूनान से राज्य की सीमाओं के विषय में सम्पर्क हुआ जिससे गणित तथा ज्योतिष की ओर चीनियों की उत्सुकता बढ़ने लगी।

संसार के दार्शनिक इतिहास में छठी शती अपूर्व महत्त्व की मानी जाती है। इस शती में भारत, ईरान, यूनान की तरह चीन में भी दार्शनिक विचारधारा प्रवाहित हो उठी थी। शांग युग में उसका सूत्रपात हुआ और चोउ युग में उसका संवर्द्धन होता रहा। चीनियों का विश्वास था कि जगत दैवी शक्तियों से भरा हुआ है। अनेकानेक प्रकार के देवता और देवियाँ विश्व में विद्यमान हैं। गृह, खेत, नदी, नाले, जल-थल-नभ, जहाँ देखो उनकी सत्ता दिखाई पड़ती है। उनके अलावा पुरखों की भी अलक्ष्य रूप में सत्ता है। सारे देश के विश्वास और धारणाएँ मूलतः एक्-सी होते हुए भी कल्पनात्मक एवं व्यावहारिक दृष्टि से परस्पर भिन्न और विविध प्रकार की थी। देवी-देवताओं की शक्तियां और क्षेत्रों के विषय में भी भिन्नता थी। कोई देवता बहुत बड़े और कोई छोटे गिने जाते थे। यद्यपि बड़ी महत्त्वशाली दैवी शक्तियों में पृथ्वी और आकाश की गिनती थी तथापि सर्वोपरि शक्तिमान् तीतिएन अथवा शांगती माना जाता था। लोगों का विश्वास था कि बिना दैविक शक्तियों की सहायता के मनुष्य को सफलता और सुख नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए उनको तुष्ट करने के लिए योग एवं कर्मकाण्ड प्रचलित हुए। पूजा में अन्न, मांस और नर की भी बलि दी जाती थी। चीनियों में लिंग पूजा भी प्रचलित थी। चोऊ युग में ही उपर्युक्त विधानों में सुधार होने लगे थे। यज्ञों की

वीभत्सता बहुत कुछ दूर हो गयी और लिंग शब्द की साधारण परिभाषा का लोप होकर उसे नवीन और दोषरहित रूप दिया गया। पूर्वजों का पूजन प्रायः मन्दिरों अथवा घर के पूजा-गृह में होता था। देवी-देवताओं और शक्तियों का पूजन नगरों के समीप मैदानों में वेदी बनाकर किया जाता था जिससे अधिक जनता समारोह में एकत्रित हो। चीन में पुरोहित न थे। गृहपति अथवा राज्याधिपति ही पूजा करवाता था। उसकी सहायता के लिए उच्च कुल के व्यक्ति जो विधि विधानों से अच्छी तरह परिचित होते थे बुला लिये जाते थे। कभी-कभी देवी या देवता किसी व्यक्ति पर, चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री, चढ़ आता था जिससे उसको भावी का आभास हो जाता और उसे वह घोषित कर देता था।

चोऊ युग के सैनिक संगठन की भी अपनी विशेषता है। राज्य के बीस से साठ वर्ष के प्रत्येक पुरुष को सैनिक शिक्षा एक या दो वर्ष के लिए अनिवार्य थी। राज्य की जनसंख्या अनुमान से करीब इक्यावन लाख थी। प्रति पाँच से बारह घरों तक से चार घोड़े, एक रथ, तीन सारथी, बहत्तर पदाति, पचीस कार्यवाहक और बारह बैल लिये जाते थे। इस हिसाब से चालीस सहस्र घोड़े, दस हजार रथ, सात लाख बीस हजार पैदल तक सेना एकत्रित हो सकती थी। राज्य की सन्नद्ध सेना लगभग पचहत्तर हजार थी जो साढ़े बारह-बारह हजार के छः भागों में विभक्त थी। प्रत्येक भाग का एक बड़ा सेनाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था इसके आधिपत्य में २५००, २५०० सैनिकों के छः सेनाध्यक्ष होते थे। उनसे उतर कर पाँच सौ के छः सरदार होते थे जिनके नीचे १०० के सरदार होते थे। उनके नेतृत्व में पचीस-पचीस सैनिकों के नायक होते थे। अन्तिम इकाई पाँच की थी। पाँच सौ और उससे नीचे के पद प्रायः विद्वानों को प्रदान किये जाते थे।

बड़ी सेना रखने की आवश्यकता प्रायः इसलिए थी कि राज्य पर तुर्की और मंगोलों के आक्रमण प्रायः हुआ करते थे। उनके चरागाहों पर चोऊ राजाओं ने अधिकार जमा लिया और रक्षा के लिए वहाँ गढ़ियाँ बनवाकर सेनाएँ स्थापित कर दीं तथा अच्छी-खासी बस्तियाँ कायम कर दीं। फलतः चोऊ राज्य का उनसे संघर्ष रहने लगा। भ्रमणशील तुर्क और मंगोलों के लिए लूट-खसोट के अलावा कोई और रास्ता न रह गया।

चि इन वंश (२५५–२०६ ई० पू०)

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध पहला सम्राट् ह्वांगती और उसका मुख्य मन्त्री

लीस्सू हुआ। ह्वांगती का मुख्य ध्येय था कि वह सारे चीन पर, जो ससार का एक मात्र सभ्य महाप्रदेश समझा जाता था, अपना प्रभुत्व जमा दे और पुराने युग की संस्कृति का मूलोच्छेद करके नयी संस्कृति और सभ्यता के प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त करे। ऐसा करने से वह देवत्व प्राप्त कर अपने नाम को सार्थक करेगा। प्रथम उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सामन्तों का बलपूर्वक अन्त करके सामन्तशाही को समाप्त कर दिया। उसने साम्राज्य को पचपन या छत्तीस (बाद को ४१ या ५५) प्रान्तों में विभक्त कर सबमें एक-सा शासन-प्रबन्ध स्थापित कर दिया। प्रत्येक प्रान्त में तीन प्रमुख अधिकारी नियुक्त कर दिये गये। उसी भाँति स्थानिक व्यवहारों, रिवाजों, आचारों और विभिन्न प्रकार के नापने-जोखने के तरीकों को बदल कर उसने सर्वत्र एक से आचार-विचार तथा विधान चालू कर दिये। राज्य के सभी किसानों को उसने अपनी जमीन पर अधिकार प्रदान कर एक क्रान्तिकारी सुधार किया जिसका महत्त्व सामन्तशाही को समाप्त करने से कम नहीं कहा जा सकता। लिपि-शैली में सुधार करके साम्राज्य भर में एक लिपि को प्रचलित कर दिया। शान्ति स्थापित करने के लिए प्रजा से हथियार छीन लिये। देश की रक्षा के लिए चोऊ राजा ने चीन के उत्तरी पूर्व भाग में जिधर से हूणों के आक्रमण प्रायः हुआ करते थे, जो दीवार बनवाना आरम्भ कर दिया था उसे ह्वांगती ने पूरा करवा दिया। दीवार १५०० मील लम्बी है जो मिस्र के पिरामिडों की तरह संसार की महा आश्चर्यजनक कृतियों में गिनी जाती है। यदि उसमें सभी पहाड़ियाँ भी जोड़ दी जायँ तो दीवार तीन हजार मील लम्बी ठहरेगी। उसके बनाने के लिए तीन लाख सिपाही, लाखों कैदी और अपराधी दस वर्ष तक लगे रहे। उस दीवार की रक्षा के लिए इतस्ततः किले बुर्जियाँ आदि भी बनवा दी गयीं। इस दीवार के तथा अन्य प्रासादों के बनवाने के लिए सम्राट् को कई प्रकार के कर लगाने पड़े। दीवार के कारण हूणों के आक्रमण यद्यपि एकदम बन्द तो न हो सके तथापि बहुत कुछ कम हो गये। उसी के कारण हूणों ने पश्चिम की ओर बढ़ना शुरू किया, जिसका अन्त में परिणाम रोम राज्य के लिए ही नहीं, वरन् भारत के गुप्त राज्य के लिए भी विनाशकारक सिद्ध हुआ।

साम्राज्य की व्यवस्था ठीक रखने के लिए उसने अनेक सड़कें बनवायी। अपने लिए उसने एक बहुत चौड़ा राजपथ बनवाया जो ह्वांगहो और यांङ टी सी क्याङ नदियों की घाटियों को मझाता था। उसके दोनों ओर उसने देवदारु के सुन्दर वृक्ष लगवाये। सम्राट् को प्रकट या गुप्त रूपसे साम्राज्य में यात्रा करने

और राज्य की तथा प्रजा की परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का शौक था। इसके सिवा इस काम के लिए नियुक्त गुप्तचरों से भी उसको निरन्तर समाचार मिलते रहते थे। जहाँ तक सम्भव होता वह स्थिति सुधारने की चेष्टा भी करता। डाकुओं और उपद्रवियों को पकड़-पकड़ कर वह सीमान्त प्रान्तों में लड़ने के लिए भेज देता था। इससे भी साम्राज्य को कुछ शान्ति मिली। यही नहीं २२५ ई० पू० में उसने ह्वांङ्हो नदी का रुख दक्षिण-पूर्व की ओर घुमा दिया और एक नहर काट कर दो नदियों को मिला दिया जिससे अनाज आदि सफलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सके।

नवीन सभ्यता का युग स्थापित करने के ध्येय की पूर्ति के लिए उसने यह आज्ञा दी कि विज्ञान अर्थात् ज्योतिष, रसायन, वैद्यक, कृषि, वनस्पति आदि की पुस्तकों को छोड़कर अन्य साहित्य विशेषकर गाथा, इतिहास और नीति आदि के सब ग्रन्थ जला दिये जायँ। इस आज्ञा का उसने बड़ी कड़ाई के साथ प्रचलन किया। वह चाहता था कि वैज्ञानिक विषयों को छोड़कर पुरानी रूढ़िग्रस्त विचारधारा का अन्त कर दिया जाय जिससे नयी सभ्यता अबाधित रूप से चल सके। पुरानी संस्कृति की जो प्रशंसा करता अथवा नये विधान में दोष बतलाता उसे सकुटुम्ब मार डालने की सजा घोषित की गयी। यही नहीं, पुरानी संस्कृति की रक्षा और विचारों की स्वतन्त्रता के सैकड़ों प्रचारक मौत के घाट उतार दिये गये। हाँ, इतना उसने अवश्य प्रबन्ध कर दिया था कि प्रसिद्ध पुस्तकों की प्रतियाँ राज्य के संग्रहालय में रख दी जायँ ताकि आज्ञा प्राप्त करके विद्वज्जन उनको देख सकें और वे मूर्खों तथा साधारण मनुष्यों के हाथ न लग पायें, क्योंकि वे उनका यथोचित आशय न समझकर या तो लकीर के फकीर बने रहेंगे अथवा उनका दुरुपयोग करेंगे।

चि-इन की राजधानी ह्यियनयांग में थी। वहाँ मीलों तक उसने महलों का निर्माण कराया। दूर रह कर उपद्रव करने से उन्हें रोकने तथा राजधानी को सम्पन्न और सबल करने के लिए उसने अमीरों तथा सबल व्यक्तियों को राजधानी में ही बसने के लिए बाधित किया और अद्भुत वस्तुओं को लाकर वहाँ अजायबघर स्थापित किया। विजित राजधानियों के महलों के नमूनों पर उसने अपनी राजधानी में भी महल खड़े कराये। इस प्रकार उसे उसने साम्राज्य का प्रतीक लघुचित्र सा बना दिया।

सम्राट् ह्वांगती ने केवल ग्यारह वर्ष राज्य किया। पचास वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। इतने स्वल्प काल में उसने अपनी कर्मठता, दूरदर्शिता

तथा कार्यकुशलता से आश्चर्यजनक काम कर डाले। उसी के प्रयत्नों से चीन देश को चि-इन नाम मिला। उसी ने उसकी वह रूपरेखा बनायी जिस पर भविष्य में चीन की रचना होती गयी। उसका साम्राज्य उत्तर में ह्वांगहो, दक्षिण में अनाम, पूर्व में समुद्रतट एवं कोरिया और पश्चिम में उच्च पर्वतमाला तक था। वह प्रजा को एक सभ्यता तथा साम्राज्य को एक शासन के सूत्र में बाँध कर राष्ट्रीय एकता द्वारा सशक्त एवं समृद्धिशाली बनाना चाहता था। अपनी कृतियों एवं अक्षय कीर्ति के बल पर वह देवत्व का सम्मान प्राप्त करना तथा चीन का प्रतीक बनना चाहता था। उसके कामों में विलक्षणता रहते हुए भी उसके ध्येय में महत्ता असंदिग्ध रूप से दिखाई देती है। उसकी एकछत्र राज्य की आदर्श कल्पना भी ऐक्य स्थापन के ध्येय से ही प्रेरित-सी प्रतीत होती है। यद्यपि लोग कई पीढ़ियों तक उसकी निन्दा करते रहे तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह संसार के महाप्रतापी और प्रसिद्ध विजयी सम्राटों में गिने जाने योग्य है। उसकी मृत्यु २१० ई० पू० में हुई।

ह्वांगती का विधान कृत्रिम था, अतएव उसको चलाने के लिए बल का प्रयोग अनिवार्य-सा था। इसके अलावा अनेक करों के लगाये जाने के कारण लोगों में बड़ा असन्तोष था। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र निकम्मा निकला। साम्राज्य में अशान्ति और विद्रोह की अग्नि भड़क उठी और २०६ ई० पू० में चि-इन वंश के हाथ से लिउपंग ने, जो मृत्यु के बाद काओत्सू के नाम से प्रसिद्ध हुआ, साम्राज्य छीनकर अपने हानवंश की पताका गाड़ दी। चि-इन वंश की स्वर्गतुल्य राजधानी भस्म कर दी गयी।

हानवंश (२०६ ई० पू० से २२० ई० तक)

हानवंश के संस्थापक लिउची या लिउपंग का जन्म पूर्वी चीन के एक किसान के कुटुम्ब में हुआ था। अपनी योग्यता तथा पराक्रम के कारण वह किसानों का, जो सामन्तशाही में सम्भवत: असन्तुष्ट रहे होंगे, नेता बन गया। उसको भयंकर सघर्ष और युद्ध करने पड़े जिनमें उसको निरन्तर सफलता मिलती रही। विद्रोही इतने प्रबल हो गये कि उसने चि-इन वंश और उसकी सामन्तशाही का विध्वंस करके उसकी प्रतीक राजधानी को भी भस्मसात् कर दिया।

काओत्सू = काओती

अनुश्रुतियों के अनुसार यद्यपि पुरातन राजाओं और राज्यों ने चीन की सभ्यता

और संस्कृति को कुछ-न-कुछ वृद्धि और स्फूर्ति प्रदान की, किन्तु हान वंश की कृतियों पर उनको विशेष गर्व है। अपने जिले के एक छोटे सैनिक के पद से बढ़कर लिउची ने अपनी योग्यता और पुरुषार्थ के बल पर तत्कालीन सामन्तों को परास्त कर दिया। उसके अनुयायियों ने २०६ ई० पू० में आग्रहपूर्वक उसे राजसिंहासन पर बिठा दिया। शासन की डोर हाथ में आने पर उसने उपद्रवकारियों को क्षमा कर देने की घोषणा कर दी और कड़े कानूनों को रद्द कर दिया। कनफ्यूसिअस के इस सिद्धान्त को कि 'शासन प्रजा के हित के लिए है' उसने अपना मूलमन्त्र बनाया। राज्य के पदाधिकारियों के चुनने में सावधानी बरती और सदाचारी विद्वानों को आमन्त्रित कर उन्हें यथोचित पदों पर नियुक्त किया। यद्यपि उसका शासनतन्त्र चि-इन काल का-सा था तथापि उसने सामन्तों की उद्दण्डता और केन्द्रीय शासन की कठोरता को यथासम्भव कम करने का प्रयत्न किया। उसका ख्याल था कि चि-इन वंश का ह्रास सामन्तों के विरोध के कारण हुआ। अतः उसने पूर्व प्रचलित परिपाटी के अनुसार अपने वंशवालों को सामन्तों के पदों पर नियुक्त किया। किन्तु शासन उनके हाथ में न देकर अपने नियुक्त पदाधिकारियों के अधिकार बढ़ाकर उनके सुपुर्द कर दिया। इस मध्य मार्ग ने द्विराजकता का रूप ग्रहण किया जिससे यह प्रयोग असन्तोषजनक सिद्ध हुआ। लिउची या लिउपंग की मृत्यु के बाद उसको काओत्सू की उपाधि दी गयी।

हानवंश के उल्लेखनीय राजाओं में वेन ती (१७९) ने शासन की आलोचना के लिए आलोचकों को दण्ड देना बन्द-सा कर दिया। मृत्यु दण्ड को यथासम्भव कम कर दिया, अनेक कर हटा दिये। प्रान्तीय शासकों की जागीरों और अधिकारों को कम कर दिया और यह नियम बना दिया कि शासक की मृत्यु के बाद उसकी जागीर उसके पुत्रों में बाँट दी जाय अर्थात् एक व्यक्ति के हाथ में न रहने दी जाय।

हान वू ती (१४० से ८७ ई० पू०)।

हानवंश का चरम उत्कर्ष महाराज हान वू ती के राजत्वकाल में हुआ। सोलह वर्ष की उम्र में वह सिंहासन पर बैठा और तिरपन वर्ष तक राज्य करता रहा। राज्य की सीमाओं को उत्तर और दक्षिण की ओर उसने बढ़ा दिया। यूचियों ने चीन के उत्तरी पश्चिमी प्रान्त को छोड़कर बुखारा राज्य की स्थापना कर ली। फलतः उत्तर पश्चिम चीन में हूणों को रोकने वाला कोई न रहा। यचियों ने हान राजा की

प्रदान होने लगा। चीन का यूरोप और भारत से सम्पर्क हो जाना इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि उसका प्रभाव संसार के व्यापार, राजनीति तथा सभ्यता पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

हूणों की समस्या

हियंग नू अथवा हूण किसी विशेष जाति का नाम नहीं वरन् यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था जो बर्बरों की तरह समूहों में चीन की उत्तरी सीमा पर चीनी दीवार के उस ओर मँडराते रहते थे। उनके अन्तर्गत मंगोल, तुर्क, तुंग आदि अनेक उपजातियाँ थीं। वे अवसर पाते ही भीतर घुस पड़ते थे। जिस भूमिभाग में वे रहते थे उसके प्रति प्रकृति उदासीन ही नहीं, वरन् निष्ठुर रही। वहाँ का विषम जलवायु, अत्यन्त कठोर शीत और भोजन के नगण्य साधन उनको जीवन रक्षा के लिए हरे-भरे प्रदेशों की ओर बढ़ चलने के लिए बाधित करते रहते थे। वे बैल, ऊँट, भेड़ें आदि पालते थे और घोड़ों पर चढ़कर छापा मारते थे। चमड़े की पोशाक पहनने वाले ये लोग बड़े सिद्धहस्त धनुर्धर और लड़ाके थे। प्रागैतिहासिक काल से चीन के ऊपर उनकी अवांछनीय एवं भयावह छाया पड़ती रही जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। हान वंश के उदय काल में उनकी शक्ति अपने पूरे जोर पर पहुँच गयी थी। उनका आधिपत्य चीनी दीवार के ऊपरी भाग से कैस्पियन सागर तक स्थापित हो गया था।

हानवंश के राजाओं ने आरम्भ में हूणों को धन-धान्य एवं स्त्रियाँ देकर सन्तुष्ट रखने की चेष्टा की, किन्तु उससे कोई स्थायी लाभ न होता दिखाई पड़ा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यूचियों से मेल-जोल बढ़ाकर हूणों के दमन का यथासाध्य प्रयत्न किया। चीनी सम्राट् वू ने उनको चीनी दीवार के उस पार खदेड़ कर उनके उपनिवेशों में अथवा उनके आसपास अपनी प्रजा को बसा देने की नीति का भी अवलम्बन किया। आठ वर्ष के अन्दर (१२७ से ११९ ई० पू० तक) उसने उन पर तीन बार चढ़ाई की और भयंकर युद्ध करके कम-से-कम कुछ काल के लिए उनका बल तोड़ दिया। इसके सिवा चीनी तुर्किस्तान की वूसुन आदि बर्बर जातियों से, जिनका हूणों के साथ संघर्ष होता रहता था, मेल बढ़ाकर तथा हूणों में आपसी झगड़े खड़े करके उन्हें दबाये रखने का प्रयत्न किया। बैक्ट्रिया तक अपना नीतिक प्रभुत्व स्थापित करके सम्राट् वू ने हूणों का रुख मध्य एशिया की ओर मोड़ दिया।

सम्राट् वू ने अपनी विजयों से चीन की सीमाएँ तुर्किस्तान से चीनी समुद्र तक

और मंचूरिया तथा उत्तरी कोरिया से बर्मा, अनाम तथा इण्डोचाइना तक पहुंचा दीं। हान सम्राट् की सफलता का कारण उसकी सेना थी जो रथों के प्रयोग को त्याग कर घुड़सवारों और पैदल सिपाहियों पर आश्रित की गयी थी। उस बड़े साम्राज्य की प्रजा सुखी तथा सन्तुष्ट थी क्योंकि सम्राट् ने ज़रूरी चीजों के मूल्य का नियन्त्रण तथा अनाज की संप्राप्ति और वितरण व्यवस्थित कर दिया था। व्यापारियों को अधिक भूमि मोल लेने अथवा निश्चित मात्रा से अधिक सम्पत्ति अथवा धन एकत्रित करने की कड़ी मनाही सम्राट् ने कर दी थी तथा उनकी आमदनी पर पाँच प्रति शत आय कर लगा दिया था। नहरें काटकर अन्न-उपजाऊ बड़े क्षेत्रों को कृषि के योग्य कर दिया। नयी नहरों और सड़कों के कारण यातायात भी बढ़ गया। राज्य आवश्यक सामान सस्ती में खरीद कर महँगी आने पर बेच देता था। नमक और लोहे का ठेका शासन ने अपने हाथ में रखा। सम्बद्ध आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति की जायदाद जब्त कर ली जाती और दण्ड भी दिया जाता। बेकारी दूर करने तथा जुआ, घुड़दौड़ आदि व्यसनों को छुड़ाने के भी प्रयत्न किये गये, यद्यपि उनमें उसे यथेष्ट सफलता प्राप्त न हो सकी। सम्राट् स्वयं यात्राएँ करके साम्राज्य तथा प्रजा की परिस्थिति देखता रहता था। उसके समय में चीन के व्यापार तथा सभ्यता का अच्छा संवर्द्धन और विस्तार हुआ।

तड़क-भड़क, शान-शौकत, सैनिक तथा कोष-बल के रहते हुए भी उपर्युक्त विधान में कोई ऐसा गुण या शक्ति न थी जो उसे अधिक स्थायित्व दे सकती। विलासिता की वृद्धि होने से यह अनुमान किया जा सकता था कि वू ऐसे सुयोग्य, चतुर कर्मठ, शक्तिशाली शासक के अभाव में साम्राज्य की व्यवस्था का ठीक रहना कठिन होगा। उसके बाद ऐसा ही हुआ भी। वू के पश्चात् अयोग्य व्यक्ति सम्राट् हुए। इस वंश के एक सम्राट् वांग मांग ने गुलामी तथा जमींदारी का अन्त करने के लिए गुलामों को स्वतन्त्र कर दिया और जमींदारों की जमीन बराबर हिस्से करके किसानों को बाँट दी। तथापि साम्राज्य का नैतिक और आर्थिक पतन बड़ी शीघ्रता से होता चला गया। कौटुम्बिक षड्यन्त्रों ने राजवंश की शक्ति खोखली कर दी। अमीरों और गरीबों का भेद दिनों-दिन बढ़ता गया। जमींदार और व्यापारी समृद्धिशाली बनते गये और किसान उजड़ते गये। खेती छोड़कर किसान शहरों में नौकरियाँ और धन्धे ढुँढ़ते फिरने लगे। धनिक व्यापारियों को दबाये रखने के भी कुछ प्रयत्न किये गये। रेशमी कपड़े पहनने, रथों पर चढ़ने, जमीन खरीदने या ऊँचे पदों पर नियुक्त किये जाने की मनाही समय-समय पर की गयी। अमीरों पर

कर भी बढ़ाये गये तथापि वे फलते-फूलते चले गये। उनके खिलाफ कानून बनाना तो आसान था, किन्तु उन्हें उन पर चलाना कठिन सिद्ध हुआ। उधर गरीबों पर ह्वांगहो के बाँध के टूटने, टीड़ियों के दलों की उत्पत्ति तथा पुनः-पुनः अनावृष्टि से भारी आपत्ति टूट पड़ी।

आन्तरिक व्यवस्था की गड़बड़ी देख कर हूणों ने फिर उपद्रव करना शुरू कर दिया। हान साम्राज्य ने भी उनको रोकने के प्रयत्न जी तोड़कर किये। चीन की रक्षा के लिए राजमहल की एक प्रमुख सुन्दरी ने हूणों के नेता से विवाह करके उसे रोके रखा, किन्तु यह तरीका कब तक चलता। ईसा की प्रथम शती के अन्तिम चरण में तीन भयंकर युद्ध हुए। इन युद्धों में हूणों की पराजय हुई। उनके दुर्भाग्य से उनकी सेना महाभयंकर बर्फ के तूफान में फँसकर नष्ट प्राय हो गयी। इन घटनाओं का यह परिणाम हुआ कि हूणों का प्रवाह दक्षिण की ओर से पश्चिम की ओर मुड़ गया।

पन चाओ नामक एक व्यक्ति ने हूणों के साथ युद्ध करने में अपने सैनिक तथा राजनैतिक कौशल के लिए अच्छी ख्याति प्राप्त की। उसकी नीति-कुशलता तथा धूर्तता से चीन की पश्चिमी सीमा के आसपास के राज्य चीन के प्रभाव में आ गये। उसी ने कुषाणों के सम्राट् कनिष्क से खोतान, काशगर, यारकन्द छीनकर हूणों को गोबी के रेगिस्तान की ओर तथा यूचियों को पामीर से आगे ढकेल दिया। उसकी इन युक्तियों से भारत और चीन के मार्गों पर चीन का प्रभुत्व जम गया और दोनों देशों के परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने का रास्ता खुल गया। उसी ने चीन को रोम राज्य से सम्बन्ध स्थापित करने की उत्तेजना दी।

ईसा की दूसरी शती में हान साम्राज्य का विनाश स्पष्ट रूप से होने लगा। राज्य हिजड़ों के प्रभाव में फँस गया। यदि कोई शासन की आलोचना में स्वतन्त्रता दिखाता तो उसको प्राणदण्ड दिया जाता। सेनापतियों में स्वतन्त्र होने की लालसा प्रकट हुई। परिणाम यह हुआ कि हान साम्राज्य निस्तेज और क्षीण होता गया। हूणों आदि ने फिर सिर उठाया। उन्होंने ह्वांगहो घाटी का जन जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया। इन सब उपद्रवों के कारण यद्यपि हान साम्राज्य बदल गया, किन्तु चीन की सभ्यता उन से बच कर जीवित रह सकी।

वू ती के शासन से राज्य में इतनी स्थिरता आ गयी कि एक शती तक कोई भयंकर स्थिति पैदा न हुई यद्यपि उस अवधि में कोई प्रतिभाशाली और तेजस्वी सम्राट् न हुआ। इधर-उधर विद्रोह हुए, किन्तु उससे साम्राज्य की शक्ति को कोई

विशेष आघात न पहुँचा। हूणों ने भी उपद्रव और आक्रमण किये, किन्तु वे भी निष्फल हुए और उनको हान सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। वे साम्राज्य की सेना में भी भरती होने लगे। यह सब होते हुए भी राजवंश में कुछ-न-कुछ झगड़े होते रहे। सम्राट् आलसी और विलासप्रिय होने लगे जिससे उनका प्रभाव दिन-प्रतिदिन अधिक शिथिल होता गया। ईसा पूर्व की प्रथम शती के मध्य में तत्कालीन सम्राट् की एक पटरानी के वंश का साम्राज्य में अभूतपूर्व अभ्युदय हुआ। पटरानी का भतीजा वांग मांग अपनी उदारता, जीवन की सरलता, विद्वत्ता एवं दानशीलता के कारण लोकप्रिय हो गया। उसका महत्त्व और प्रभाव इतना बढ़ा कि ईसा की शती के प्रारम्भिक वर्ष में ही तत्कालीन सम्राट् की शैशवावस्था में वह राष्ट्र का सर्वेसर्वा हो गया। संयोग से सम्राट् की मृत्यु विष पान से हो गयी। वांग मांग स्वयं सिंहासन पर आसीन हो गया। फलतः यह प्रवाद बढ़ता गया कि उसी ने राज्य लोलुपता के कारण शिशु सम्राट् को जहर दिलवा दिया। वांग मांग को कनफ़्यूसिअस मत के विद्वानों का समर्थन मिला। उसने जमींदारों की जमीन जब्त कर ली और किसानों को बाँट दी। प्रजा के लाभ के लिए व्यवहार की साधारण वस्तुओं का निर्ख सस्ता और निश्चित कर दिया। किसानों को थोड़े सूद पर कृषि के लिए और बिना सूद के धर्म और अन्त्येष्टि क्रियाओं के लिए कर्ज देना आरम्भ किया गया। प्राचीन साहित्य के उद्धार तथा नवीन के संवर्द्धन का प्रयत्न भी उसने किया। गुलामों का क्रय-विक्रय बन्द करने का वांग मांग ने प्रयत्न किया। उसके सुधारों से जमींदारों, व्यापारियों और कन्फ्यूसिअस से इतर सम्प्रदाय वालों में क्षोभ और विद्रोह की आग भड़क उठी। सीमान्तों में उपद्रव बढ़े और राज्य में अराजकता। विद्रोह का प्रमुख और सबसे सफल नेता लिउ सिद्ध हुआ। अन्ततोगत्वा वांगमांग का वध कर दिया गया और उसका कटा सिर सड़क पर ठुकराने के लिए फेंक दिया गया। उसका शासन काल (९ से २३ ई० तक) केवल चौदह वर्ष रहा।

उत्तरकालीन अथवा पूर्वी हानवंश (२५ से २२० ई० तक)

लिउवंश का प्रथम शासक कुआंग वू ती हुआ। उसने राजधानी चंगन से हटाकर लायंग् में स्थापित की, जिससे वह शाखा पूर्वी हान के नाम से प्रख्यात हुई। नया सम्राट् कर्मठ, साहसी और ज़ोरदार सिद्ध हुआ। उसने उपद्रवियों का दमन कर राज्य में शान्ति स्थापित कर दी और अनाम प्रदेश पर भी अपनी सत्ता जमा दी। छत्तीस प्रदेशों के स्थान पर उसने तेरह प्रदेश बना कर वहाँ शासन की व्यवस्था

कर दी। पश्चिमी सीमा की रक्षा भी यथासम्भव उसने कर ली। चीनी सभ्यता को अपना विशिष्ट रूप प्राप्त करने में कुआंग वू ती ने सक्रिय योग दिया। शिक्षा और तत्कालीन विद्याओं और साहित्य को उसकी नीति से अच्छा बल प्राप्त हुआ।

हान राजवंश का जनता पर इतना प्रभाव हो गया था कि प्रबल सेनापति अथवा कुटिल राजनीतिज्ञ का भी इतना साहस न होता कि वह सिंहासन पर स्वयं बैठ सके। भले ही सम्राट् साधारण योग्यता के हों अथवा शिशु ही क्यों न हों उनको राज्यच्युत करना व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव न था। यह हो सकता है कि साम्राज्य के सबल व्यक्तियों अथवा दलों की ऐसी स्थिति हो कि किसी एक को सम्राट् बनना दुष्कर-सा हो। सम्राट् की अयोग्यता अथवा शिशुता से लाभ उठाकर उसके कुछ सेवकों ने चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, समय-समय पर अनुचित प्रभाव और शक्ति प्राप्त कर ली जिसके कारण लोगों में क्षोभ और दलबन्दियाँ हो गयीं। हिजड़ों और स्त्रियों का दौर-दौरा देखकर ईसा की द्वितीय शती के अन्तिम दशक में तुंग चो नामक सेनापति ने राजधानी में आग लगा दी और चंगान् में एक राजकुमार के नाम पर शासन करने लगा। दो वर्ष भी बीत न पाये थे कि उसके विरोधियों ने उसका वध कर डाला। शासक दल के मुख्य सहायकों में प्रायः कनफ्यूसिअस के सिद्धान्त के अनुयायी थे। अतएव ताओ विचारधारा के लोग उसके विरोधी हो गये। उनके सिवा सेना अथवा शासन में महत्त्व-प्राप्त व्यक्तियों में भी लाग-डाट रहती थी जिससे शासक धीरे-धीरे निर्बल होता जाता था। किन्तु आश्चर्य की बात है कि ऐसी दशा में भी हान साम्राज्य का इतना रोब, दबदबा और बल कायम रहा कि चि अंग तथा हूण आदि शत्रु उसको कोई विशेष हानि न पहुँचा सके। जब कभी उन्होंने शिर उठाया तब-तब उनका दमन कर दिया गया। यूचियों पर हान साम्राज्य का आधिपत्य-सा चलता रहा। काशगर, यारकन्द, खोतान और तुरफान वाले सम्राट् को कर देते और हूणों का विरोध करते रहे। इस गति विधि के कारण सम्भवतः हूणों के भय के सिवा चीन द्वारा पश्चिमी व्यापार की रक्षा——जो साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य थी——तथा चीनी लोगों की मूलगत एकता की भावना हो सकते हैं। किन्तु पश्चिम में चीन की सत्ता और महत्ता का सबसे अधिक श्रेय पन चा ओ (७३ से १०२ ई०) को मिलना चाहिए। विद्वान् और विद्यानुरागी होते हुए भी वह कर्मठ और सबल, कुशल एवं साहसी शासक और सेनानायक था। नीति तथा सैन्य बल से साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों में चीन की शक्ति को उसने प्रबल बनाये रखा। तुर्किस्तान पर उसने पूरा अधिकार

कायम रखा। मध्य एशिया, ईरान, भारत और सम्भवतः रोम तक चीन की धाक उसके व्यक्तित्व से जमी रही। वृद्धावस्था में अपने पुत्र के हाथ में शासन देकर वह विरक्त हो गया।

हान साम्राज्य में प्रथम शती से ही दलबन्दियाँ हो रही थीं। राजमहल में स्त्रियों और हिजड़ों के षड्यन्त्र निरन्तर चलते रहते थे। दूसरी शती में वह लीला साम्राज्य भर में भी फैल गयी। प्रान्तीय सेनापतियों ने अपना बल बढ़ाना शुरू कर दिया और सम्राट् को अपने वश में लाने का वे प्रयत्न करने लगे। हान सम्राट् हुएन ती (१९० से २३० ई० तक) कभी एक के और कभी दूसरे सेनापति के चंगुल में फँसा रहता था। इस छीनाझपटी का कारण यह था कि जब तक कोई सम्राट् राज्य त्याग कर अपनी मोहर बाकायदा किसी को न दे दे तब तक कोई सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं माना जा सकता था। महत्वाकांक्षी नेताओं के आपसी युद्धों से शासक समुदाय निर्बल होता चला गया। सेनापतियों में प्रभुत्व के लिए तो संघर्ष था ही, किन्तु उसके तीव्रतर हो जाने का एक यह भी कारण था कि कनफ्यूसिअस मत के लोग साम्राज्य में अधिक महत्त्व पा गये थे जिससे ताओ मत वाले द्वेष करते थे। किसान और गरीब जनता का नेतृत्व ताओ मतावलम्बियों को इसलिए प्राप्त हो गया कि वे कनफ्यूसिअस मतानुयायियों का, जो प्रायः धनी और जमींदार थे, विरोध करते थे। किसानों और गरीबों के नेताओं ने पीले रंग की पगड़ी पहनने का फैशन निकाला। वही उनके दल का चिन्ह हो गया। इस प्रकार महत्त्वाकांक्षा के साथ धार्मिक तथा आर्थिक समस्याएँ गुथकर जटिल हो गयीं। इस संघर्ष नाटक का पहला अंक तब समाप्त हुआ जब हूणों को मिलाकर उत्तरी प्रान्त के सेनापति त्साओं पेई ने सम्राट् फेई ती को राजसिंहासन छोड़ने पर मजबूर किया और वे ई वंश ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। (२२० ई०)। लोयांग को पुनः राजधानी बना दिया गया। त्साओं पेई की विजय हूणों की बदौलत हुई। उस घटना से प्रेरित होकर दक्षिण पश्चिम प्रान्त में शू हान वंश और दक्षिण पूर्व में वू वंश ने भी स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये (२२१ ई०)। तदनन्तर उन्होंने दक्षिण मंचूरिया के येन नामक राज्य को भी जीत लिये (२३० ई०)। शू हान वंश के राज्य को वेई वंश वालों ने हड़प लिया (२६३ ई०)।

चीन की परिस्थिति अव्यवस्थित ही रही। निरन्तर युद्धों से प्रजा की आर्थिक दशा तो बिगड़ ही रही थी, फिर भी सेना तथा शासक के खर्च, ठाठ-बाट, भ्रष्टाचार तथा उद्दण्ड कबीलों को घूस देकर शान्त रखने आदि के लिए प्रजा का भयंकर

शोषण जारी रहा। उद्धत सेनापतियों को काबू में रखना सम्राट् के बूते के बाहर था। राज-परिवार में वैमनस्य, कलह और हत्याएँ चल रही थीं। राज्यों की आपसी कलह तथा साम्राज्य की अव्यवस्थित गति से लाभ उठाकर सीमाप्रान्तों पर हूण, मंगोल आदि के कबीले आक्रमण करने लगे। चिन वंश के वू ती (२६५—२८७) के समय में सम्राट् की स्थिति कुछ सँभली। सामन्तों को अनुशासन में रखने के लिए केन्द्रीय शासन के कर्मचारी नियुक्त किये गये और सामन्तों को आपस में लड़ाते रहने की नीति का भी सहारा लिया गया। इस सबसे राज्य में इतनी शक्ति तो अवश्य आयी कि उसने दक्षिण के वू राज्य को जीतकर आत्मसात् कर लिया। शू हान पर तो पहले ही प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। वू के आ जाने से चीन साम्राज्य का आकार एक बार फिर लम्बा-चौड़ा हो गया। राज्य में शान्ति रखने के लिए उस समय एक उल्लेखनीय प्रयोग किया गया। यह निश्चय हुआ कि लोगों से हथियार छीन लिये जायँ और सैनिकों को कृषि आदि के उत्पादक कार्यों में लगाया जाय। यद्यपि उपर्युक्त नीति का अक्षरशः पालन न हो सका तथापि निरस्त्रीकरण भारी पैमाने पर हुआ। बहुत से अस्त्रधारी साम्राज्य से भागकर उत्तरी चीन के हूणों, ह्यू एन पी आदि कबीलों से मिल गये। वहीं उनको खेती, हथियारों के व्यापार तथा विभिन्न प्रकार की शासन सम्बन्धी नौकरियाँ मिल गयीं जिससे उनको निर्वाह के बहुत कुछ साधन प्राप्त हो गये। किन्तु जो लोग साम्राज्य में ही रह गये उनको जमीन न मिलने के कारण सामन्तों की नौकरी करनी पड़ी जिससे सामन्तों के बल की वृद्धि होने लगी। उपर्युक्त नीति से शान्ति संस्थापन और कृषि-संवर्द्धन की जो आशाएँ की गयीं वे भ्रममूलक सिद्ध हुईं। उससे सम्राट् की शक्ति तो अवश्य क्षीण हुई, परन्तु लाभ कोई भी न हुआ। साम्राज्य की सैनिक शक्ति के कम हो जाने का यह नतीजा निकला कि हूण, मंगोल, तुर्क और तिब्बती आदि जातियों ने चीन साम्राज्य पर आक्रमण करना और उसके भीतर घुसना आरम्भ कर दिया। सन् २८१ ई० में मंगोलों का मूयुंग नामक कबीला दक्षिण चीन तक धँस आया और पेकिंग के आस-पास जम गया। भयंकर युद्ध के बाद मूयुंग कबीला जिस पर मंचूरिया की ओर से दूसरे कबीले ने आक्रमण आरम्भ किया, चीन की अधीनता स्वीकार करने पर मजबूर हो गया। कुछ समय तक आपत्ति तो टल गयी किन्तु साम्राज्य ने उससे कोई सबक न सीखा। षड्यन्त्र, दलबन्दियाँ और हत्याकाण्ड बदस्तूर चलते रहे। उपद्रवों से घबरा कर चीनी लोग सीमाओं की ओर इधर-उधर भागने लगे। कुछ समूह तो हूणों के प्रान्तों में ही जाकर बस गये क्योंकि हूणों ने उनका स्वागत

किया और उनको अध्यापकों तथा राज्य के परामर्शदाताओं तक में स्थान दिया गया।

हुन हान वंश

सन् ३०९ ई० से हूणों ने पाँच सौ वर्ष पहले के हानों से कुछ वैवाहिक सम्बन्ध निकालकर हान वंशीय होने का दावा किया और लिउ यु आन नामक हूणों के एक नेता ने चीन पर धावा बोल दिया और उसके पुत्र लियू त्सुअंग ने पहले लोयांग और फिर च अंग अन राजधानियों पर अधिकार कर लिया। चीनी सम्राट् हु अई ती का वध कर दिया गया (३१३ ई०) और साम्राज्य के पश्चिम भाग पर हुन हान वंश का अधिकार हो गया। लियु त्सुअंग की मृत्यु के पश्चात् उसके दो सेनापतियों ने राज्य बाँट लिया। लियू याओ ने लोयांग के पश्चिमी ओर का भू-भाग ले लिया। बाद को लोयांग के पूर्व ओर के भाग पर भी प्रभुत्व जमा लिया। दूसरे सेनापति शिहले ने उत्तर चीन में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसके वंशज उत्तर चाओ वंश के नाम से प्रख्यात हुए (३२९ से ३५२ ई० तक)। केन्सू प्रान्त में वहाँ के गवर्नर ने ३१३ ई० में पूर्वी लिअंग वंश की स्थापना कर दी जो ३७४ ई० तक राज्य करता रहा। इस प्रकार उत्तरी चीन में एक सौ पैंतीस वर्ष में सोलह राज्य बने बिगड़े। दक्षिणी चीन की परिस्थिति भी अच्छी न थी। वहाँ भी गृह युद्ध निरन्तर चलते रहे और चीन साम्राज्य टूट-फूट कर अनेक भागों में बँट गया। चीन के इतिहासकार वहाँ के अन्धकारीय युग का आरम्भ ३१७ ई० से मानते हैं। यह अव्यवस्था ५८१ ई० तक जारी रही।

चिनवंश (२५६–२०६ ई० पू०)

ईसा पूर्व तीसरी शती के उत्तरार्ध में चिन साम्राज्य के संस्थापक चेंग ह्यांग शी ने सामन्तशाही का अन्त करके राजकर्मचारियों द्वारा प्रान्तों के शासन की व्यवस्था की। प्रत्येक प्रान्त में तीन मुख्य पदाधिकारी नियुक्त किये गये—एक सेनाध्यक्ष, दूसरा दीवान और तीसरा निरीक्षक। केन्द्रीय शासन के मन्त्रिमण्डल में सेनाध्यक्ष, प्रान्त शासनाध्यक्ष, जो प्रान्तीय शासन का उत्तरदायी होता था, धनुर्धराध्यक्ष, भवनों के कर्मचारियों का अध्यक्ष, राजप्रासाद के संरक्षकों का अध्यक्ष, राजा के सामान का अध्यक्ष, न्यायाध्यक्ष, राजा के कारखानों का अध्यक्ष, राज्य की बर्बर जातियों का अध्यक्ष, राजधानी की पुलिस का अध्यक्ष, इस प्रकार ग्यारह या बारह

मन्त्री मन्त्रिमण्डल में थे। उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि अर्थ, वित्त और कोष की अध्यक्षता किसके पास थी। सम्भव है कि प्राप्त सूची पूरी-पूरी न हो, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि सामन्तशाही के स्थान पर नौकरशाही की स्थापना हो गयी।

शि:हांगती का मुख्य मन्त्री ली शि: हुआ जो सम्राट् की नीति और आशय को न केवल अच्छी प्रकार समझता ही था बल्कि उसको परिष्कृत करके कार्य रूप में परिणत भी करता था। उसने यह सुझाया कि प्राचीन युगों के समाप्त हो जाने से तत्कालीन प्रचलित नियम नवीन परिस्थिति में लागू नहीं हो सकते। जब चीन अनेक राज्यों और सामन्तशाहियों में विभक्त था तब विभिन्न नियमों का होना सम्भवतः अनिवार्य रहा होगा। शि:हांगती ने एक महान् साम्राज्य स्थापित करके एक नये युग का आरम्भ कर दिया है। अब एक साम्राज्य, एक सम्राट् हो जाने से एक से ही समान नियमों का प्रचलन आवश्यक था। इस ऐक्यवर्धक शुभ कार्य के प्रति पुराने विचारों, प्रथाओं और नियमों के अनुयायी अनेक प्रकार की शंकाएँ और आलोचनाएँ किया करते थे जिससे साधारण प्रजा में क्षोभ और अश्रद्धा पैदा होती थी तथा अशान्ति का वातावरण बना रहता था। इसलिए यह सर्वथा उचित और युगान्तर के लिए उपयुक्त समझा गया कि पुराने दक़ियानूसी विचारों का मूलोच्छेद कर दिया जाय जिससे आगे का रास्ता साफ-सुथरा हो। उस नीति के अनुसार प्राचीन ऐतिहासिक, राजनीतिक, समाज-नीतिक और दार्शनिक ग्रन्थों को जब्त करके जला दिया गया। उनके सम्बन्ध में तथा उन विषयों पर जो व्यक्ति वाद-विवाद उठाने का प्रयत्न करे उसको सपरिवार नष्ट कर देने की घोषणा कर दी गयी। इतनी खैरियत हुई कि चिकित्सा, ज्योतिष, कृषि और उद्यान सम्बन्धी ग्रन्थों पर वह नियम नहीं लगाया गया। कठोरता से उस कानून का प्रतिपालन करने और विविध प्रकार के प्राणदण्ड देने पर भी यथेष्ट सफलता प्राप्त न हो सकी और साहसी पुरुष कुछ-न-कुछ विरोध करते ही रहे।

एकीकरण की नीति से एक लाभ तो अवश्य हुआ। विविध प्रकार की लिपियों और उच्चारणों को हटाकर एक टकसाली लिपि और शब्दों के निश्चित उच्चारण का साम्राज्य में प्रचार हुआ जिससे चीनियों को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने का व्यावहारिक उपाय निकल आया।

इस काल की एक उल्लेखनीय कृति चीन की सुप्रसिद्ध प्राचीर दीवार की पूर्ति है। उत्तरी भ्रमणशील कबीलों के आक्रमणों को रोकने के लिए चोऊ राजाओं ने

उसका बनवाना शुरू किया था। समय-समय पर प्रान्तीय सामन्तों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में इधर-उधर दीवारें खड़ी कर ली थीं, किन्तु इस युग में उसको पूर्ण और अधिक दृढ़ बना दिया गया।

यद्यपि चि-इन साम्राज्य बहुत थोड़े दिन रहा, किन्तु उसकी एकीकरण की नीति के ही कारण उस देश का चीन नाम प्रख्यात हो गया। पश्चिमी चि-इन वंश की निरस्त्रीकरण की नीति (२८० ई०) से लाभ के बदले केवल हानि ही हुई। उस नीति से पैसा बचने की आशा वैसी ही भ्रममूलक सिद्ध हुई जैसे सैनिकों से कृषि करवाकर राज्य की उपज बढ़ाने की। उपज बढ़ने से राज्य में कर-वृद्धि की तथा व्यापार-वृद्धि की आशाएँ व्यर्थ सिद्ध हुईं। बर्खास्त हुए सिपाहियों को राज्य जमीन न दे सका इसलिए वे या तो सामन्तों की सेना में भरती हो गये या सीमान्त-निवासी खानाबदोशों में शस्त्र लेकर शामिल हो गये। सबसे बड़ी हानि साम्राज्य के सैनिक बल के टूटने से हुई। इस परिवर्तन से सीमान्तवासी कबीलों का उत्साह बढ़ गया और उन्होंने आक्रमण शुरू कर दिये।

साम्राज्य की सीमाओं पर मँडराने वाले तुर्क जाति के 'तोबा' और ह्यिअंगन् (हूण) नामक दो कुल तथा मंगोल तुर्क मिश्रित जाति के तंगत (तिब्बती) और ह्यि एनपी दो कुल मुख्य थे। जब साम्राज्यीय शासक वंश के राजकुमारों का वध करके चिआवंश सिंहासनारूढ़ हुआ तब गृहयुद्ध छिड़ गया जिसमें सेनापतियों और सामन्तों ने सक्रिय भाग लिया। यही नहीं, विभिन्न दलों ने सीमान्त की जातियों से भी सहायता माँगी। उस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए बड़ी तत्परता के साथ वे किसी न किसी दल से जा मिलीं। फल यह हुआ कि एक के बाद दूसरा व्यक्ति राजसिंहासन पर केवल मरने के लिए बिठाया गया। क्रान्ति ने जब उत्तरोत्तर भयंकर रूप धारण करना शुरू किया तब चीनी लोग प्राणरक्षा और शान्ति की तलाश में इधर-उधर भागने लगे। उन आक्रमणों में एक लक्ष चीनियों का निधन हुआ। पश्चिम में हूणों ने अपना सम्बन्ध हानवंश से लगाकर हूणहान उपाधि धारण कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली। लो यांग (३११ ई०) और च अंग अन (३१६ ई०) नाम की दोनों राजधानियाँ उनके अधिकार में चली गयीं।

उत्तर पूर्वी चीन पर हूणों के दूसरे नेता शिह लो ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसकी नीति उस हूण नेता से जिसने लोयांग और चंग अन पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, भिन्न थी। शिह लो चीनियों के शासन-विधान और स्थिर सामाजिक जीवन को पसन्द न करता था। उसे हूणों की तरह खानाबदोश रहना

और कुलों के नेताओं का नेता बने रहना ही अच्छा लगा। हूण दल धीरे-धीरे लि उत्स अंग का जिसे चीनी सभ्यता की हवा लग गयी थी, साथ छोड़कर शिह लो के पास जाने लगा जिससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी। शिह लो ने अपने सम्राट् होने की घोषणा इसलिए नहीं की कि तुर्कों और हूणों की प्रथा के अनुसार जब तक कोई नेता किसी राजवंश से अपना सम्बन्ध सिद्ध न कर दे तब तक वे जातियाँ उसका राजत्व स्वीकार न करती थीं। वह वस्तुतः हूण राजा का गुलाम था। यद्यपि वह चीनियों की सभ्यता का विरोधी था और उसकी प्रकृति उजड्ड थी, तो भी कोई दूसरा रास्ता न देखकर उसने उत्तर चाओ वंश के सम्राट् की पदवी ग्रहण कर ली (३२९—३५२ ई०)। हूण और तुर्कों के कबीलों ने शिह लो का साथ अवश्य पकड़ा था, पर उसको सम्राट् मानने के लिए वे तैयार न हुए। राजत्व ग्रहण की उसकी इस नीति को देखकर कुछ कबीले इधर-उधर चले गये और कुछ 'तोबा' राज्य में चले गये। फलतः उसके वंश की शक्ति उत्तरोत्तर घटती गयी यहाँ तक कि मंगोलों के एक कबीले हुएन पी ने उत्तर चाओ वंश का अन्त कर दिया (३५२ ई०)।

आधुनिक कान्सू प्रान्त का सरदार चिन वंश का भक्त था। चिन सम्राट् की हत्या का समाचार पाकर उसने 'लियोंग वंश' के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। चीनी लोग भागकर उसकी शरण लेने लगे। यद्यपि यह राज्य बड़ा न था तथापि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी और उसका विस्तार तुर्किस्तान तक बढ़ गया था। इस राज्य में व्यापार और बौद्ध सम्प्रदाय ने अच्छी उन्नति की।

चतुर्थ शती के उत्तरार्ध में तिब्बतियों ने अभूतपूर्व उत्कर्ष प्राप्त किया। तिब्बतियों का सैनिक संगठन तुर्कों और मंगोलों से भिन्न था। उनका संगठन कबीलों अथवा उनके नेताओं पर आश्रित न था। तिब्बत में कबीले न थे। विशेष अवसर उपस्थित होने पर कुछ मुख्य व्यक्ति किसी योग्य और समर्थ व्यक्ति को अपना नेता चुन लेते और उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे। जब युद्ध समाप्त हो जाता तब सेनापतित्व का अन्त हो जाता और सैनिक अपने-अपने स्थान को वापस चले जाते थे। तिब्बतियों की दूसरी विशेषता यह थी कि सेना के सैनिक किसी जाति या कुल के लोगों में से ही भरती न किये जाते थे अपितु स्वतन्त्र रूप से विभिन्न जातियों के लोगों में से भरती किये जाते थे। उदाहरण के लिए तिब्बतियों की सेना में चीनी भी बड़ी संख्या में भरती थे। इनकी तीसरी विशेषता यह थी कि उनकी सेना में तुर्कों या मंगोलों की तरह केवल सवार ही न रहते थे, वरन् उनके अलावा बड़ी

संख्या में पैदल सिपाही भी रखे जाते थे। पैदल सेना किलों के अवरोध और विजय में तथा नदी-नालों से कटे-फटे मैदानों में सवारों से अधिक उपयोगी सिद्ध होती थी।

तुर्कों और हूणों के संगठन में एक यह दोष था कि जब एक कबीला युद्ध में हार जाता तब उसके सब व्यक्ति गुलाम बना लिये जाते और कबीले का अन्त हो जाता। दूसरा दोष यह था कि सब कबीले बराबर हैसियत के नहीं गिने जाते थे। इसलिए प्रमुख कबीले के राजत्व का अधिकार तब तक चलता रहता जब तक वह निर्वंश और निर्मूल न हो जाता, चाहे उसमें सकड़ों वर्ष क्यों न लगें। उन दोनों दोषों से तिब्बती संगठन मुक्त था। किन्तु तिब्बती प्रबन्ध में उतनी स्थिरता एवं गतिशीलता न थी जिससे बहुत काल तक साम्राज्य चल सके।

उत्तर चाओ राज्य के बिगड़ने पर उनकी तिब्बती सेना का एक नेता जो पऊ अथवा फू वंश का था, स्वतन्त्र हो गया और भारी सेना संगठित कर उसने पूर्व चि इन राज्य की संस्थापना की। उस वंश का फू चिएन नामक राजा बड़ा प्रतापी निकला (३५७—३८५)। उसने मू युंग वंश के सिएन पी को परास्त कर कोरिआ और मंचूरिया तक में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया (३७० ई०)। तदनन्तर उसने पूर्व लिअंग के चीनी राज्य तथा तोबा के तुर्की राज्यों को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया (३७६ ई०)। उन विजयों से सारे उत्तरी चीन में उसका आधिपत्य हो गया। चीनी शिक्षा और सभ्यता का तथा बौद्ध धर्म का पोषक होने के कारण चीनियों ने और बौद्धों ने उसका साथ दिया। दक्षिण चीन को जीतने की उसे उत्कट इच्छा थी। दस लक्ष सेना लेकर उसने आक्रमण भी किया, किन्तु उसको इसलिए सफलता न हुई कि उसकी सेना में सवारों की बहुत बड़ी संख्या थी। सवार शीघ्रता से बढ़ तो सकते थे, किन्तु उनके लिए रसद का समय पर पहुँचना असम्भव-सा था। इसके सिवा सवारों की छोटी-मोटी टोलियों अथवा रसद वालों पर लोग एकाएक छापा मारकर हानि पहुँचाते थे। उन कठिनाइयों से हताश होकर आक्रमणकारी दल छिन्न-भिन्न होकर भाग जाता था। पराजय के कारण फू चिएन का महत्त्व इतना घट गया कि साम्राज्य ही उसके हाथ से जाता रहा। उत्तरी चीन में फिर अनेक राज्य स्थापित हुए और अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। दक्षिणी चीन वालों में इतनी शक्ति न थी कि शत्रु की हार से लाभ उठाकर उत्तर में अपनी सत्ता कायम कर सकते।

फू चिएन साम्राज्य के नष्ट होने के पश्चात् शान्सी प्रान्त के उत्तर में तोबा कुल के राज्य ने उन्नति की। आरम्भ में तोबा तुर्क जाति के थे, किन्तु उनमें हूणों तथा

मंगोलों के रक्त का भी अच्छा-खासा सम्मिश्रण हो गया था। वे उत्तरी मंचूरिया और मंगोलिया से दक्षिण की ओर आकर बस गये थे। उन पर मंगोलिया की मिश्रित जातियों के कबीले आक्रमण करते रहे जिससे वे अपना विस्तार न कर सके। फिर भी पाँचवीं शती के दूसरे चरण में उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया। पाँचवीं शती के अन्त होने तक वे कन्सू प्रान्त तक पहुँच गये जिससे उनका दबदबा तुर्किस्तान पर जम गया। इसके सिवा वे पूर्व की ओर भी बढ़े और दक्षिण के होनान प्रान्त पर भी उन्होंने अधिकार स्थापित किया। इस प्रकार ४४० ई० में तोबा वंश का राज्य चीन का ही नहीं, वरन् पूर्व एशिया का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य गिना जाने लगा। उसके शासन में फिर चीनियों को सँभलने का अवसर प्राप्त हुआ। विजेता सैनिक संगठन, युद्धों और साम्राज्य बढ़ाने में दिलचस्पी रखते थे। अतः शासनादि राजकाज उन्होंने चीनियों के हाथ में सुपुर्द कर दिया था।

सामाजिक व्यवस्था

चीनी एक ही जाति के लोग न थे। दक्षिणी चीन के अथवा यांगत्सी नदी की घाटी में सम्भवतः चीन के मूल-निवासी रहते होंगे, किन्तु उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुमत के अनुसार चीनी लोग मध्य एशिया से आकर पीली नदी के शा आन सी प्रान्त में बस गये थे (३००० ई० पू०)। उनके पश्चात् अनेक जातियों के लोग आते रहे जिनमें ह्यिअंगनू (हूण), तुर्क, मंगोल, तंगत, जूचेन, मांचू आदि के विषय में थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त है। अनेक जातियों के सम्मिश्रण से चीनियों का जातीय निर्माण हुआ है। अतः ऐसा कोई विवरण जो सारे आधुनिक चीन और चीनियों पर लागू हो सके, दुष्प्राप्य-सा है।

चीन की संस्कृति के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि नदियों की घाटियों और उनके आसपास के प्रदेशों में कृषि ही मुख्यतः आर्थिक जीवन की आधार-शिला थी। पहाड़ी प्रदेशों और विशेषतः उत्तर की ओर जहाँ गोबी की मरुभूमि है तथा साइबेरिया में जहाँ भयंकर सरदी पड़ती है कृषि के साधन सुलभ न थे। अतः वहाँ का आर्थिक जीवन अनिश्चित-सा रहा। ये कबीले इधर-उधर चरागाहों अथवा लूटमार की तलाश में घूमते फिरते थे।

कृषि-प्रधान प्रान्तों में लोग गाँवों में रहते थे जो किसी ऊँची जगह पर बसाये जाते थे। वहाँ अधिक वर्षा या नदियों की भयंकर बाढ़ कम हानि पहुँचा पाती थी। इसके सिवा ऊँचे स्थान से खेतों की देखभाल में भी सुविधा होती थी। गाँवों के

चारों ओर या तो कच्ची दीवार या घनी झाड़ियाँ खड़ी कर दी जाती थीं। पेड़ों की छाल और फूस से मकान छाये-बनाये जाते थे। उनके टट्टरों पर मिट्टी का पलस्तर चढ़ा दिया जाता था। झोपड़ियों में प्रायः एक ही कोठा होता था जिसके एक ओर पत्थर का चूल्हा और दूसरी ओर पयाल और चटाइयों का बिस्तर होता था। दरवाजा दक्षिण की ओर बनाने का रिवाज था। कालान्तर में मेज़-कुरसी भी काम में आने लगी।

पुरातन चीन के लोग बड़े जानवर पालने के शौकीन न थे। उनसे खेती का काम न लेकर वे हाथों से ही काम करना पसन्द करते थे। आगे चलकर जहाँ कहीं घोड़ों से खेती होती वहाँ भी यह डर रहता था कि राज्य युद्धादि के लिए कहीं उन्हें छीन न ले। रखवाली के लिए कुत्ते और खाने के लिए मुर्ग, सुअर आदि पाले जाते थे। मछलियाँ एवं चिड़ियाँ जाल से पकड़ी जाती थीं। वे खाना तश्तरियों में खाते और शराब भी पीते थे। अमीर और बूढ़े शौकिया अथवा गर्म रहने के लिए रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे, किन्तु साधारणतः सूती कपड़े पहनने का रिवाज था। भीगने से लोग घबराते थे। इसलिए छातों का उपयोग चीन में प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। जूते कपड़े अथवा चमड़े के बनाये जाते थे। किसानों की जमीन का मालिक जमींदार या राजा होता था।

चीन के सामाजिक जीवन में कुटुम्ब तथा गार्हस्थ्य जीवन का बड़ा महत्त्व था। तीस वर्ष की उम्र तक प्रत्येक व्यक्ति का विवाह हो जाना आवश्यक समझा जाता था। कुटुम्ब की प्रधानता बूढ़े पुरुषों और स्त्रियों के अधिकार में रहती थी। प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री की मर्यादा उसकी उम्र के अनुसार निश्चित होती थी। बड़ों का आदर सम्मान करना परम कर्तव्य समझा जाता था। चीनियों में माता का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। इसका कारण कुछ लोगों की राय में पुरातन काल में मातृक समाज का प्रचलन था। इसी भावना पर उनके शिष्टाचार की रचना की गयी थी। धीरे-धीरे वह पूरे समाज और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किसी-न-किसी ढंग से लागू हो गयी। ऐसी परिस्थिति में गाँव भी एक कुटुम्ब-सा हो गया, जिससे सामाजिक नियन्त्रण और शासन में सरलता हो गयी और सहयोग तथा उदारता का स्वाभाविक प्रचलन सम्भव हो सका। इस व्यवस्था को कनफ्यूसिअस के आचार सिद्धान्त से विशिष्ट बल प्राप्त हुआ। चीन की यह कौटुम्बिक व्यवस्था ही चीनी सभ्यता और उसके स्थायित्व के लिए मुख्य आधार शिला सिद्ध हुई। उपर्युक्त कौटुम्बिक दृष्टिकोण ग्रामों तथा प्रान्तों तक ही सीमित न था,

राज्य पर भी लागू हो गया था। कुटम्ब का ही एक संवर्द्धित रूप प्रान्त तथा राज्य गिना जाता था।

चीनी विश्वास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सन्तान होना आवश्यक माना जाता था। बिना पुत्र के पुरुष का जीवन व्यर्थ ही नहीं, दुर्भाग्य का द्योतक समझा जाता था। उसके बिना न तो पितृ ऋण ही अदा होता था, न पितरों की तृप्ति और शान्ति सम्भव थी। लड़कों-लड़कियों का विवाह उनके माता-पिता अथवा अन्य सम्बन्धी ठहराते थे। भावी पति-पत्नी के स्वयं विवाह करने का रिवाज न था। वयस्कता के पहले ही विवाह निश्चित कर दिया जाता था। मँगनी हो जाने पर सम्बन्ध-विच्छेद अत्यन्त बुरा समझा जाता था। विवाह के अवसर पर लड़की और लड़के के घर से क्या सामान आना या जाना चाहिए यह पहले से ही ठहरा लिया जाता था। यदि लड़की का पिता चाहता तो बिना कुछ लिये ही स्वयं सब सामान लड़की को दे सकता था। शर्त केवल इतनी थी कि वह सामान लड़की का ही समझा जाता था और उसके मरने पर उसकी सन्तान का उस पर अधिकार होता था। एक ही पैतृक कुटुम्ब के लड़के-लड़कियों में विवाह मना था। मातृ-कुल में विवाह करना अच्छा समझा जाता था। विवाह हो जाने पर लड़की पति के कुटुम्ब में सम्मिलित हो जाती थी और उसी की रस्मों और मर्यादाओं का पालन करती थी। पति की आज्ञा का प्रतिपालन स्त्री का मुख्य कर्तव्य माना जाता था। उसकी मृत्यु के बाद पति के कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। चीन में कुछ दशाओं में जिनमें बन्ध्यत्व, दुराचार, कटुभाषण आदि शामिल थे स्त्री को तलाक दिया जा सकता था, किन्तु स्त्री के लिए तलाक देना बुरा समझा जाता था। तलाक देने पर स्त्री का दूसरा विवाह करना अत्यन्त अनुचित माना जाता था, किन्तु पुरुष का नहीं। हाँ, विधवा या कल्याणभार्य होने पर दोनों विवाह कर सकते थे। पत्नी के मरने के बाद उसके मायके की दूसरी लड़की से पति ब्याह कर लेता था। साधारणतः मनुष्य को एक ही विवाहित स्त्री रखने का नियम था, किन्तु उप-पत्नियों के विषय में कोई नियम न था। समाज में अच्छा न माने जाने पर भी धनी लोग बहुधा उप-पत्नियाँ रख लेते थे। पुत्र-हीन दम्पति यदि चाहते तो किसी लड़के को गोद बिठा सकते थे। जैसे लड़का बनिस्बत लड़की के अच्छा समझा जाता था वैसे ही स्त्रियों के मुकाबले में पुरुष का स्थान ऊँचा गिना जाता था। स्त्रियों और पुरुषों के मिलने-जुलने का रिवाज चीन में न था। उनके कार्य क्षेत्र भी भिन्न थे, इसीलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा भी भिन्न होती थी। लड़कों

के लिए पाठशालाएँ थीं, किन्तु लड़कियों को घर में ही घरेलू शिक्षा दी जाती थी।

चीन में न तो वर्ण-व्यवस्था ही थी, न जातिपाँति का भेदभाव ही। परम्परा के अनुसार सम्मान के मुख्य पात्र क्रमशः विद्वान्, राज्य-पदाधिकारी, योद्धा और अध्यापक थे। साधारण लोगों में नौ श्रेणियाँ थीं। अन्न उत्पन्न करने वाले, माली, लकड़ी वाले, पशु-पक्षी पालने वाले, कपड़े बुनने वाले, नौकर-चाकर, कारीगर, व्यापारी और फुटकर काम करने वाले। कुलीनों और साधारण लोगों में अथवा श्रेणियों और व्यवसायों में ऊँच-नीच का भेद कायम था। पर यह विभेद नगण्य-सा था। अपनी योग्यता के अनुसार मनुष्य का स्थान घटता-बढ़ता था। लोग आपस में विवाह आदि बिना किसी बाधा के करते थे। चीनियों में विद्वान् और सेनापति विशेष आदर के पात्र समझे जाते थे। हिजड़े, नाटकी, गुलाम, हरकारे तथा वेश्याएँ नीचे स्तर के लोगों में समझी जाती थीं। चीन में गुलामों की दशा उतनी खराब न थी जितनी कि रोम और यूरोप के मध्य युग में। गुलामों से प्रायः घरेलू काम लिये जाते थे। उन की कोई विशेष जाति न थी। यद्यपि उन्हें खरीदा या बेचा जा सकता था तथापि उनसे न तो नीच काम लिये जाते थे, न अनुचित व्यवहार ही किया जाता था।

चीन में भिखारियों की संख्या अधिक थी। नदियों के अल्हड़पन के कारण कृषि की डांवाडोल स्थिति, दुर्भिक्षों, भूमि-विहीन जनों की बड़ी संख्या, लुटेरे कबीलों के आक्रमणों तथा ताओ मत के अकर्मण्यता-सिद्धान्त आदि के कारण देश में अकर्मण्य भिखारियों का दल बढ़ता चला गया। यद्यपि दान तथा भोज्य पदार्थों का वितरण प्रायशः होता रहता था, किन्तु उससे समस्या की विभीषिका कम होने की सम्भावना न थी।

चीनी समाज में शिष्टाचार तथा विनयपूर्ण व्यवहार को बहुत महत्त्व दिया जाता था। कनफ्यूसिअस ने तो उसे अपने मत का मेरुदण्ड ही बना दिया था जिससे उसकी अधिकाधिक पुष्टि होती गयी। सदा प्रसन्न वदन रहने, विनीत स्वभाव, मृदु भाषण तथा नम्र गति विधि पर बहुत जोर दिया जाता था। चीनियों की सभ्यता का वह विशिष्ट लक्षण ही बन गया था। इस गुण का चीनी समाज में प्राधान्य चीनियों में अन्तर्हित किसी दास भावना या कायरता का परिणाम मानना भूल होगी क्योंकि वे साधारणतः स्वाभिमानी थे और उजड्डपन, मार-पीट को अशिष्टता का द्योतक मानते थे।

नागरिक जीवन

नगरों के निवासी गाँव वालों को इसलिए घटिया समझते थे कि उनको शिष्टाचार का यथेष्ट ज्ञान न होता था और वे उसका अच्छी तरह से निर्वाह भी न कर पाते थे। गाँव वाले भी अपने क्षेत्र के बाहर सार्वजनिक कामों और खासकर शासन की नौकरी करना बुरा समझते थे। उस प्रकार के काम वे शहर वालों के ही लिए छोड़ देते थे। साधारण नगरों में बाजार, माता का चौंतरा और पूर्वजों के आदर-सूचक मन्दिर तथा पूज्य पूर्वजों के पूज्य स्थान आदि बनाये जाते थे। पूर्वजों में माता का स्थान सबसे ऊँचा गिना जाता था।

नये नगरों का निर्माण बड़ी लम्बी-चौड़ी विधियों तथा उपचारों द्वारा किया जाता था। सबसे पहले नगर की चहारदीवारी खड़ी की जाती थी, क्योंकि उसी की मजबूती, ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई पर नगर की हैसियत निश्चित होती थी। नगर की रचना सैनिक पड़ाव के नक्शे पर चौकोर की जाती थी। नगर में बड़े-बड़े प्रासाद बनाये जाते थे। दीवारों पर चित्र बनाकर उन की शोभा बढ़ायी जाती थी। शहर के बीच में नगर के मुख्य अधिष्ठाता की कोठी ऊँचे स्थान पर बनायी जाती थी जिससे वह सारे नगर का निरीक्षण कर सके। नगर के प्रत्येक मुहल्ले का एक मुखिया होता था जिसके कर्तव्य थे शान्ति-रक्षा तथा कर वसूल करना। कठपुतलियों और जादूगरों के खेल के अलावा नाटकों का भी, जिनमें कभी-कभी सौ पात्र तक भाग लेते थे, प्रदर्शन होता था।

चीन के विविध उत्सवों में से नये वर्ष का उत्सव हर जगह मनाया जाता था। तीन-चार दिन बड़ी धूमधाम रहती, रंग-बिरंगी कागज की कन्दीलें जलायी जातीं, कागज के विशाल अज्दहों का जुलूस निकाला जाता और आतिशबाज़ी छुड़ाई जाती थी। उसके सिवा पुरखों का जातीय स्मृति दिवस, अजदहाई नौकाओं की प्रतियोगिता का समारोह, पशुचारकों तथा कपड़े बुनने वालों के मेले, अन्न संचय के दिवस, कनफ्यूसिअस का जन्म दिवस, मकर संक्रान्ति (उत्तरायण) आदि उत्सवों के दिन तीर्थ-यात्राएँ, त्योहार तथा पर्व उत्साह सहित मनाये जाते थे।

आमोद-प्रमोद

चीनियों को कष्ट-साध्य खेलों का ज्यादा शौक न था। तीरन्दाज़ी, शिकार, मछली पकड़ना, तैरना, गेंद खेलना, पतंग उड़ाना, नाटक करना और नाटक इत्यादि

देखना उनके विनोद के विशेष साधन थे। साधारण ढंग की कुश्ती भी लड़ी जाती थी। गप्प लड़ाना, किस्सा कहानी कहना-सुनना तथा पढ़ना, जुआ खेलना, ताश शतरंज खेलना, अक्ष आदि अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ उनके व्यसन थे। यद्यपि चावल की मदिरा दो आतशासे तीन आतशा तक लोग पीते थे किन्तु उस मद्यपान ने वहाँ भयंकर जातीय दोष का स्वरूप धारण नहीं किया। चीन में मध्य तथा उच्च श्रेणी की स्त्रियों और पुरुषों में मिल-जुल कर खेलने-कूदने, सैर-सपाटे करने, गप्प लड़ाने या आमोद-प्रमोद करने का रिवाज न था। स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए मकानों में जनानखाने और मर्दानखाने अलाहदा-अलाहदा बनाये जाते थे। नीचे के लोगों में अनुपातत: अधिक बन्धन था। नियन्त्रण का अभाव था। चीन में हान युग से नाटकों का विकास होता रहा। उत्सवों और बड़े बाजारों में नाटक खेले जाते थे। नाटकों में गाने-बजाने का भी प्रबन्ध रहता था। स्त्रियों और पुरुषों के बैठने के लिए अलाहदा-अलाहदा प्रबन्ध कर दिया जाता था। किस्सा सुनने के शौक के कारण चीन में किस्सा कहने वालों का एक अच्छा-खासा रोज़गार ही पैदा हो गया था। जादूगरों और कठपुतलियों के खेल देखने का भी लोगों को शौक था।

शासन-विधान

चीन के राजनीतिक संगठन में सम्राट् का महत्त्व अपार माना जाता था। दैवी शक्ति से उसका सृजन होना कहा जाता था। उसके गुणों अथवा अवगुणों पर ही साम्राज्य का दारोमदार था। प्रजा का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य उसी पर आश्रित समझ कर उसे राजोचित आचार पर आरूढ़ रखने के लिए कुछ विशिष्ट लोकसम्मानित, योग्य, चतुर, सदाचारी विद्वानों की नियुक्ति कर दी जाती थी। राजकुमारों तथा राजकर्मचारियों के लिए भी सदाचार एवं व्यवस्थित कार्यपरायणता का ध्यान रखना आवश्यक था। जनता उन सब पर श्रद्धा और विश्वास रखती थी, अत: उनकी आज्ञाओं का आदर करना एवं प्रतिपालन वह अपना परम कर्तव्य समझती थी।

चोऊ वंश (११२२—२५६ ई० पू०) के पहले से ही चीन में शासन-विधान पर काफी ध्यान दिया जाता था। चोऊ युग में यद्यपि सामन्तशाही थी तथापि विश्व की रचना तथा नियमों के अनुसार राज शासन विधान का निर्माण होना आवश्यक समझा गया। इसीलिए चोऊ काल में शासन के छ: अंग स्थापित किये

गये। प्रकृति के छः अंगों—दैव (आकाश), पृथ्वी, बसन्त, ग्रीष्म, शरद और शिशिर के समान वित्त और व्यक्ति, शिक्षा और व्यवहार, धर्म और यज्ञादिक, सैनिक तथा युद्ध, न्याय और अपराध, साधारण शासन तथा लोक कल्याण आदि शासन के छः विभागों की व्यवस्था की गयी जो तत्सम्बन्धी कार्य करते थे।

केन्द्रीय

हानयुग में सम्राट् का एक मुख्यमन्त्री होता था जो सम्पूर्ण शासन के सर्वोपरि पदाधिकारी और कर्मचारी की हैसियत से शासन का संचालन करता था। उसके बाद राजा का सचिव और सेना का अध्यक्ष ये दो पदाधिकारी थे। सेनाध्यक्ष का कर्तव्य सेना का शासन था, न कि सेनापतित्व। मुख्य मन्त्री तथा उपर्युक्त दोनों पदाधिकारी उच्चतम श्रेणी के गिने जाते थे। दूसरी श्रेणी में नौ मन्त्री थे अर्थात् धर्म और शिष्टाचार मन्त्री, रथ तथा अश्व मन्त्री, न्याय मन्त्री, आदर-सत्कार मन्त्री, पूर्वज राजकीय मन्दिर व्यवस्था मन्त्री, राजकीय सामान मन्त्री, राजप्रासादीय मन्त्री, राजद्वारपालाध्यक्ष तथा राजसभा मन्त्री। राजधानी के प्रबन्ध के लिए तीन मुख्य अधिकारी थे, पहला राजकुमार के महलों का, दूसरा नगर की शान्ति और संरक्षा का और तीसरा शासन के नगर रक्षकों, द्वारपालों और इमारतों का प्रबन्धकर्ता। उनके सिवा प्रान्तीय शासनों के मन्त्री तथा विशेष नीति मन्त्री भी होते थे।

प्रान्तीय शासन

चीन में किसी समय ग्यारह सौ से अधिक प्रान्त थे किन्तु घटते-घटते उनकी संख्या छत्तीस के लगभग रह गयी। प्रत्येक प्रान्त में दो या तीन क्षेत्रांश होते थे तथा प्रत्येक क्षेत्रांश में दो या तीन जिले। प्रत्येक जिले में परगने और परगनों में कई गाँव होते थे। प्रान्तों के अध्यक्षों और जिलाधीशों में से प्रत्येक की अधीनता में लगभग सौ कर्मचारी काम करते थे जिनका चुनाव प्रायः प्रान्त के निवासियों में से किया जाता था। उनकी नियुक्ति जिलाधीश तथा प्रान्त के अध्यक्ष ही करते थे। प्रान्तीय अध्यक्ष के साथ एक प्राइवेट सेक्रेटरी एवं वित्ताधीश और एक मुख्य नियन्ता नियुक्त रहता था। शासनाध्यक्ष को परामर्श देने और सरकारी पत्रव्यवहार करने के लिए एक-एक पदाधिकारी नियुक्त था। शासन में मुख्य विभाग थे परिवहन, वित्त, शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य, अर्थ, सेना, बाजार प्रबन्ध तथा पेशकश। प्रान्तीय

शासन का संगठन और नियन्त्रण प्रत्येक प्रान्त की आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुकूल होता था। प्रान्तीय विधानों में केन्द्रीय शासन यथासम्भव हस्तक्षेप न करता था। इसलिए अपने-अपने क्षेत्र में उनको बहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। उससे एक यह बड़ा लाभ था कि प्रान्तीय शासन अधिकतर स्वावलम्बी होता था। यदि केन्द्रीय शासन में विघ्न उपस्थित होता तो उससे प्रान्तीय शासन में बाधा पड़ने की सम्भावना बहुत कम होती थी। केन्द्र से नियुक्त किये गये प्रमुख पदाधिकारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर तब्दील किये जाते थे, किन्तु प्रान्तीय शासन विधान चलता रहता था।

चीन के शासन के पदाधिकारी और कर्मचारी परीक्षा द्वारा चुने जाते थे। उच्च राजकर्मचारियों की परीक्षा छः विद्याओं में होती थी। न्याय, स्वास्थ्य आदि दो-तीन विभागों में विशेषज्ञों की नियुक्ति अनिवार्य थी, औरों में नहीं। कुछ विशिष्ट विभागों को छोड़कर एक विभाग के पदाधिकारी दूसरे विभाग में भी नियुक्त किये जा सकते थे। परीक्षा द्वारा पदाधिकारियों के चुनाव की परिपाटी चीन में प्राचीन काल से प्रचलित थी। यह वहाँ की अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषता थी।

चीन में जनगणना हर तीसरे साल की जाती थी जिसके अनुसार प्रान्तीय शासन-विधान में हेर-फेर कर दिया जाता था। सामन्तों के अत्याचारों को कम करने के लिए, ग्रामों, बस्तियों एवं बोर्डो को अपने-अपने मुखियों के चुनने, पुलिस प्रबन्ध करने, कर उगाहने तथा जनगणना के नियम बनाने आदि के अधिकार दे दिये गये थे। एक विद्वान् का कथन है कि यदि शासन की महत्ता अनुशासनों की न्यूनता तथा राज्य की व्यवस्थित प्रगति में मानी जाय तो चीन से बढ़कर अच्छे शासन का उदाहरण संसार के इतिहास में शायद कहीं न मिलेगा।

सम्भव है कि प्राचीन भारत ही उसकी समकक्षता कर सके। दोनों देशों की सामाजिक व्यवस्था ऐसे ढंग की थी कि वह लोकाचार, सदाचार, कर्तव्याकर्तव्य के नियमों पर चलने और उन पर विश्वास रखने एवं जीवन-लक्ष्य तदनुसार बनाये रख कर व्यवस्थित मार्ग पर चलने की प्रेरणा करती रहती थी। इसीलिए ऊपरी दबाव या शासन की उनको उतनी आवश्यकता नहीं रहती थी जितनी अन्यान्य देशों में अनुभव की जाती थी। यह इन देशों की उच्च सभ्यता का प्रमाण एवं चमत्कार था। इसी में सम्भवतः उनके दीर्घजीवी होने का रहस्य निहित था। यही शायद उनकी सभ्यता की मन्थर गति का कारण भी था।

आर्थिक व्यवस्था

शांग युग में ही मुगलों और तुर्कों से चीन वालों ने पहिये द्वारा संचालित यान का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि यानों की संख्या के अनुसार ही उनके मालिकों की शक्ति का अनुमान और समाज में उनके स्थान का निर्धारण होने लगा। यान शक्ति के परिणामस्वरूप हान काल में सामन्तशाही का प्रारम्भ हो गया। सेना में रथों की प्रधानता से हान साम्राज्य का खूब विस्तार हुआ। साम्राज्य के विस्तार से बहुत-सी भूमि उसमें आ गयी जिस पर नयी बस्तियाँ बसा दी गयीं। उनकी रक्षा के लिए सामन्तों के नेतृत्व में सेनाएँ स्थापित की गयीं। उस विधान से सामन्तों के साधनों और बल की वृद्धि होती रही। चोऊ युग में ताँबे के सिक्कों का भी प्रचलन हो गया जिससे भूमि तथा शस्त्रास्त्र और लोहे के बने हुए कृषि के हल आदि साधनों की खरीद-फरोख्त की बड़ी सुविधा हो गयी। सफल व्यापारी- धन से जमीन खरीदने लगे, और लगान तथा कर वसूल करने के ठेके राज्य से लेने लगे जिससे राज्य को आमदनी आसानी से होने लगी। किन्तु ठेकेदारों को किसानों पर अनुशासन करने का अच्छा अवसर मिल गया। सेनानायकों के अलावा धनिकों की भी एक प्रभावशाली श्रेणी बन गयी जिससे सामन्तशाही का एक नया प्रतिद्वन्द्वी प्रकट हो गया। लोहे के हलों को पशुओं द्वारा चलवाने तथा नहरों की सिंचाई से गेहूँ, ज्वार, चावल, सोयाबीन, और चाय आदि की उपज बढ़ गयी। यातायात के लिए नदियों के अलावा सड़कों और रास्तों का प्रयोग बढ़ने लगा और व्यापार की उन्नति होने लगी। कृषि तथा व्यापार की वृद्धि के अनुपात के अनुसार सड़कों की पर्याप्त वृद्धि न होने के कारण नहरों की खुदाई बढ़ती रही। हान युग में जल के नियन्त्रण के लिए छप्पन विधान प्रचलित थे। सिंचाई की कला में चीनियों ने अच्छी उन्नति की। फलतः कृषि तथा कृषकों की संख्या शीघ्रता से बढ़ने लगी और व्यापारिक केन्द्रों की स्थापना से कसबों और नगरों की संख्या भी बढ़ चली।

हान युग से ही हूणों आदि कबीलों के साथ निरन्तर संघर्ष चलते रहने तथा शासन और शासकों का खर्च बढ़ने के कारण लगान और करों में इतनी वृद्धि होती गयी कि किसानों पर उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझ पड़ गया और उन पर कर्ज और शासन का दबाव बढ़ता गया। विद्रोही अपनी भौंहें लाल रंग में रंगकर बड़े किसानों के नेतृत्व में विरोधी संगठन करने लगे। उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी जिससे

शासकवृन्दों को बड़ी चिन्ता हुई क्योंकि विद्रोही लोग साम्राज्य के सेवकों की हत्या और लूटमार करते थे तथा आग भी लगाने लगे थे। उनके दमन के लिए जो सैनिक भेजे जाते उनमें से कुछ तो विद्रोहियों से मिल जाते और कुछ स्वयं लुटेरों के दल बना लेते थे। साम्राज्य में अराजकता बढ़ती रही। यह दुर्दशा ऐसी चली कि लाखों मनुष्य मारे गये और पूर्व हानवंश का आधिपत्य भी समाप्त हो गया। अधिक संख्या में कृषकों के नष्ट हो जाने के कारण बचे हुए किसानों को खेती करने के लिए अधिक भूमि मिल गयी और राजधानी लोयांग में आकर बस जाने के कारण अन्न के उत्पादकों और व्यापारियों का यातायात खर्च कम हो गया। अन्न भी सस्ता हुआ और किसानों को भी लाभ हुआ। बदली परिस्थिति से कुछ शान्ति तो हुई, किन्तु वह अस्थायी थी। सीमान्त प्रान्तों के तुर्कों, मंगोलों और हूणों से युद्ध चलते रहने, पश्चिम के व्यापार-मार्गों को खुला रखने तथा सम्राट् और शासन की प्रतिष्ठा बनाये रखने और उनके अनापशनाप खर्चों के कारण आर्थिक समस्या का सुलझना दुस्तर-सा रहा। जब लगान तथा कर के ठेके देने से और ऊँचे पद बेचने से भी काम पूरा न चला तब राज्य ने सिक्के बनाने का पूरा अधिकार अपने हाथ में ले लिया। भारी वजन, किन्तु घटिया धातु के सिक्कों का मूल्य उनके धातुई मूल्य के अनुसार माना जाता था। घटिया धातु के सिक्कों से व्यापार में बाधा और राज्य की साख पर सन्देह होने लगा। राज्य ने हिरन की खाल के सिक्के चलाये, किन्तु उसमें वह असफल रहा। पर उस प्रकार के प्रयोग का आर्थिक इतिहास में अपना विशेष महत्त्व है।

शासक दल में, चाहे वह केन्द्रीय था अथवा सामन्ती, विलासप्रियता और गृह-कलह बढ़ती गयी जिससे शासन में शिथिलता और व्यय की वृद्धि जारी रही। रानियों, पटरानियों तथा उपपत्नियों की संख्या बढ़ने लगी और उनके तथा उनके कुटुम्बियों के आचारों एवं व्यवहार के कारण राजघराने में गम्भीरता, शिष्टता तथा शान्ति का वातावरण बनाये रखना असम्भव-सा हो गया। द्वितीय शती ईसवी में साम्राज्य का बल सेना-नायकों पर निर्भर हो गया। सम्राट् कभी एक और कभी दूसरे सेनानायक के हाथ की कठपुतली हो जाता था। उन लोगों के पारस्परिक संघर्षों और गुलछर्रों का भार जनता को उठाना पड़ता था। जब परिस्थिति हद से बाहर हो गयी तब विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। विद्रोहियों ने पीली पगड़ी को अपने दल की सदस्यता का प्रतीक बनाकर युद्ध ठान दिया। उस आन्दोलन का ताओ विचारकों ने, जो किसानों के पुरोहित-से थे, समर्थन किया। इस विद्रोह

आन्दोलन का सूत्रपात १८४ ई० में हुआ। चीन की सीमा पर रहनेवाले कबीलों की सहायता से किसानों के इस विद्रोह का दमन तो हो गया, किन्तु उसी के साथ राजाधिराज सत्ता हान वंश के हाथ से निकलकर वेई वंश के हाथ में चली गयी (२८४ ई०)।

हानयुग की उल्लेखयोग्य घटनाओं में एक घटना यह भी थी कि राज्य ने कुछ व्यापार सम्बन्धी कार्य स्वतन्त्र व्यक्तियों को न देकर अपने ही हाथ में ले लिये। पहाड़ी प्रदेशों, समुद्र, झीलों तथा दलदली क्षेत्रों से कर उगाहना तथा यातायात के साधनों का प्रबन्ध करना राज्य के कर्मचारियों को सुपुर्द किया गया। चीन में अक्सर दुर्भिक्ष पड़ जाते थे जिनका मुकाबला करने में किसान असमर्थ थे। अकाल से लोग बड़ी संख्या में मरते थे, भीख माँगते फिरते या बेगार करते थे। नये प्रबन्ध का शायद यह ध्येय था कि साधारण आवश्यकताओं की चीज़ें इस ढंग से नियन्त्रित की जायें जिससे उनकी कीमतों और दरों में अनावश्यक अथवा चिन्त्य हेरफेर न हो पाये। अच्छे सस्ते समय में अन्नादि पदार्थ खरीद कर जमा कर लिये जायें और महँगाई होने पर वाजबी दाम पर बेच दिये जायें। कमी पड़ने पर एक स्थान से आवश्यकतानुसार दूसरे स्थान को माल यथासम्भव शीघ्रता से पहुँचाया जाय तथा दुर्भिक्षादि दैवी प्रकोपों के समय राज्य के कोष्ठों और खत्तियों में संचित पदार्थ वाजिबी दाम पर लोगों को मिल जाया करें। बाजार का भाव नियन्त्रित रखने से जनता का उपकार और आवश्यक चीज़ों के संग्रह से सैनिक रसद का सुभीता होने की सम्भावना थी। उपर्युक्त नीति साम्राज्य भर में लागू थी।

उद्योग-धंधे

चीन मुख्यतः कृषिप्रधान देश था, किन्तु वहाँ उद्योग-धन्धे भी किसी हद तक होते थे। लकड़ी के काम में चीनी पहले से ही होशियार थे। हान युग में कोच, कुरसी, मेज़ें बनायी जाती थीं। उनके बनाने में बाँस से भी काम लिया जाता था। चीन को हिन्दुस्तान से बाँस मिलता था। चीनी मिट्टी के बर्तन भी बहुत बढ़िया और कलात्मक बनाये जाते थे। शीशे की चीज़ें द्वितीय शती से बनने लगी थीं। उसी शती से हिन्दुस्तान से रुई चीन पहुँची जिससे वहाँ सूती कपड़े बनने लगे। उस युग में चीनी लोग अनेक प्रकार के कागज भी बनाते थे। वहाँ के उद्योग-धन्धे वंशानुगत और कारीगर श्रेणीबद्ध थे। चीन में अधिकतर रेशम, नमक, लोहा, जेड, लाख की वस्तुओं का व्यापार होता था। पहले तो वस्तु-विनिमय का चलन

था, किन्तु पाँचवीं शती ई० पू० से सिक्कों का प्रयोग होने लगा और बैंकों द्वारा लेन-देन भी। पर तृतीय शती ई० पू० से ही विनिमय की प्रथा बन्द कर दी गयी थी। नहरों और सड़कों की वृद्धि तथा माल लाने और ले जाने के साधनों का राज्य द्वारा नियन्त्रण होने के कारण व्यापार बढ़ता गया। प्रथम शती ई० पू० में चीन का यूरोप से व्यापार होने लगा था।

शिक्षा-दीक्षा

चीनी लिपि में न तो वर्ण हैं, न वाक्यविन्यास और न संयुक्ताक्षर। विचार प्रकट करने के लिए लगभग चालीस हजार चित्रीय प्रतीक थे जो सात सौ उच्चारणों द्वारा प्रकट किये जाते थे। उनमें दो सौ चौदह नितान्त बुनियादी चित्र थे और छ: सौ व्यावहारिक, जिनसे साधारणतया काम चल जाता था। पढ़ना-लिखना केवल उच्च श्रेणी के लोगों तक ही सीमित था। सुशिक्षित व्यक्ति वह माना जाता था जिसने तर्क शास्त्र, आचार, नीति, इतिहास तथा प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन किया हो। किन्तु श्रेष्ठ लोग वे माने जाते थे जिन्हें लिखने-पढ़ने तथा गणित के अलावा संगीत, व्यवहार-कौशल, धनुर्विद्या एवं अश्वारोहण भी आता हो। ऐसी जटिल लिपि के होते हुए भी चीन के साहित्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की। प्राचीन साहित्यकारों में दार्शनिक कनफ्यूसिअस का सबसे ऊँचा स्थान था। उसने शिष्टाचार, व्यवहार, इतिहास, दर्शन, गाथा तथा काव्य सम्बन्धी विशाल साहित्य की रचना की जिसका सम्मान अद्यावधि होता है। यद्यपि गद्य रचना अच्छी-खासी होती थी तथापि चीन के लोगों में नैसर्गिक कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति-सी थी। वे वर्णनात्मक या प्रबन्ध काव्य के पोषक न थे। उनकी धारणा थी कि क्षणिक अथवा संचारी भाव ही काव्य का विषय हैं। शब्द तो संकेत मात्र हैं। इन संकेतों के व्यंजनात्मक भाव ही कविता के प्राण हैं। चीनी कविता प्राय: अनुकान्त होती थी। हान युग तक काव्य ने खासी उन्नति कर ली थी यद्यपि उसका पूर्ण विकास आगे चलकर हुआ। उनके लोक गीतों से पुरातन चीन के जीवन तथा विचारों का दिग्दर्शन होता है।

द्वितीय शती ई० पू० में चीन वाले ज्यामिति के सिद्धान्त से परिचित हो गये थे। चीनी कहते हैं कि हानयुग (२०८ ई० पू० से २२० ई० तक) में ही उन्होंने कम्पास बना लिया था। कनफ्यूसिअस के समय से गणित द्वारा ग्रहण पड़ने का समय बताया जा सकता था। फलित ज्योतिष का भी प्रचार होने लगा था।

चीन का बैक्ट्रिआ से सम्पर्क हो जाने के कारण यूनानी गणित का प्रभाव चीन पर पड़ा। सम्भव है कि उसी के प्रभाव से चीन में 'कीमिया' (रसायन) तथा अंगूरी शराब का भी प्रचार हुआ हो। चिकित्सा शास्त्र में भी चीन ने अच्छी उन्नति कर ली थी। चीनियों ने रोगों का वर्गीकरण ऋतुओं के अनुसार किया। उस समय के उल्लेखों में ज्वर, शिर पीड़ा, वायुजनित पीड़ा, चर्मरोग, कण्डू और फेफड़े के रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा विधि मिलती है। चीनियों को यह ज्ञात हो गया था कि हृदय से ही रक्त शरीर में धौंका जाता है। बहत्तर प्रकार की नब्जों का उल्लेख उन्होंने किया है। औषधियाँ वनस्पतियों, धातुओं, पशुओं तथा अनाजों से बनायी जाती थीं। चीन वाले जल, अग्नि, काष्ठ, स्वर्ण और मिट्टी को मूल पंच-तत्त्व मानते थे। चिकित्सा में वे जादू-टोटके आदि का भी प्रयोग करते थे।

साहित्य

ईसा पूर्व पाँचवीं शती के अन्तिम वर्षों से लगभग दो सौ वर्ष तक चीन में सामन्तों के भयंकर युद्ध होते रहे। उस युग को सामन्ती राज्यों के संघर्ष का युग कहते हैं। इस युग में चीन की वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतिभा ने अपूर्व चमत्कार का प्रदर्शन किया। राजनीतिक क्षेत्र में अधिक काल तक अव्यवस्था तथा घात-प्रतिघात से संतप्त और उत्तेजित होकर चीनियों के बौद्धिक और काल्पनिक जीवन में विलक्षण स्फूर्ति एवं चेतना उत्पन्न हो गयी जिसका प्रभाव साहित्य, कला तथा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों पर स्थायी रूप से पड़ा। व्यवस्था तथा शान्ति की खोज के सिलसिले में आधिदैविक और आधि-भौतिक लोकों तथा उनके रहस्यों का चिन्तन उन्होंने स्वतन्त्र रूप से किया। विचार और विमर्श की दृष्टि से चीन का वह युग उस देश के इतिहास में अद्वितीय समझा जाता है।

हान युग की रचनाओं में प्रथम स्थान छः आर्ष ग्रन्थों (षडाङ्) को दिया जाता है। वस्तुतः उनमें पुरातन संस्कृति और विचारधाराओं का संग्रह है। वे छः आर्ष ग्रन्थ थे काव्य (शिः), इतिहास (शू), संस्कार तथा शिष्टाचार (ली), गान (यूच), परिवर्तन (ई) शिशिर बसन्त वृत्तान्त (चु' अन चि' इन)। उन ग्रन्थों का संग्रहकर्ता अथवा रचयिता क उंग फूत्ज़े (कनफ्यूसिअस) माना जाता है। जो भगवान् गौतम बुद्ध का समसामयिक था। इस षडंग विद्या के विद्वानों में माजुंग (७९–१६६ ई०) मुख्य कहा जाता है। चीन के इतिहासकारों में स्सु म' चि इएन' (मृ० ९० ई० पू०) का स्थान प्रमुख माना जाता है। चीन वाले इसको वही

स्थान देते हैं जो ग्रीस के हेरोडोटस को यूरोप में प्राप्त है। उसका ग्रन्थ 'शि:ची' नाम से प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु के पश्चात् का चीनी इतिहास पन पिआओ और उसकी पुत्री पनचाओ ने लिखा। वह इतिहास सौ भागों में लिखा गया। पनचाओ विदुषी थी। इतिहास के अलावा उसने कविताएँ, निबन्ध आदि भी रचे। भूगोल पर जिसमें वनस्पति और जन्तु जगत का वर्णन भी शामिल है, 'शन हाई चिंग' नामक ग्रन्थ की रचना हुई। सृष्टि रचना पर लिउ आन' ने (मृ० १२२ ई० पू०) 'हाइनन त्ज़' नामक ग्रन्थ लिखा। दार्शनिकों में यांग ह्यिउंग ने 'त अइ ह्यन' नामक प्रतिष्ठित ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने लाओत्ज़े तथा कनफ्यूसिअस के विचारों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की।

हान युगीन साहित्य के प्रतिभाशाली कवियों में स्सु मं ह्यि अंग, मेई शेंग एवं त सई युंग गिने जाते हैं। छन्द रचना के विधानों का संस्कार करने के साथ ही उनकी कविता में भावों की सरलता और स्वाभाविक वर्णन की छटा दिखाई देती है। ईसा की तृतीय शती में ह्यिक अंग नामक एक प्रसिद्ध कवि हुआ जिसकी कविता में ताओ सिद्धान्त का प्रबल प्रभाव दिखाई देता है। उसने एक संचरणशील कवि-समाज की भी स्थापना की। चतुर्थ शती में लू ची बन्धु और उनके बाद सुप्रसिद्ध त ओचिएन नामक कवि हुए जिनकी रचनाओं की प्रशंसा आजतक होती है। ताओ मत की-सी स्वतन्त्रता, विरक्ति और आत्मस्थिति की भावना उनमें झलकती है। चीन में गद्य में भी रचनाएँ होती थीं। तृतीय शती के चतुर्थ लेखकों में को हुंग सबसे प्रसिद्ध लेखक हुआ। चीनी भाषा तथा लिपि-विज्ञान पर ह्युशेन ने एक उल्लेखनीय ग्रन्थ की रचना की।

विज्ञान के गणित और ज्योतिष अंगों पर इसलिए विशेष ध्यान दिया गया कि उनका चीन के दर्शन तथा धार्मिक विश्वासों से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। दैवज्ञों तथा शकुन विचारकों की कला, विद्या एवं विचारधारा अधिकतर उन पर ही आश्रित थी। ज्यामिति, बीजगणित और गणित में हानयुग से पूर्व भी कुछ कार्य हो चुका था। किन्तु हानयुग में चाँग हेंग नामक प्रतिभाशाली विद्वान् ने ज्योतिष के दो ग्रन्थ रचे। उसके विचार से ब्रह्मांड एक अण्डे के समान है जिसका छिलका आकाश और अण्डपीत (जरदी) पृथ्वी है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि वह अण्डाकार गोले के समान पृथ्वी की कल्पना करता था। गणित ने इतनी उन्नति कर ली थी कि जिससे व्यास का वृत्त से अनुपात, घनत्व फल, सूर्य की ऊँचाई का करीब-करीब ठीक अनुमान तथा सांख्यिकी के प्रयोग सम्भव हो गये थे। इसके

सिवा जल संचालित तथा भूकम्प-चित्रक यन्त्रों का भी चीन में प्रचलन हो गया था।

वैद्यक और शल्य विद्या पर चाँग ची ने दो प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे जिनके आधार पर उन विद्याओं का आगे चलकर विस्तार हुआ। ज्वर और उदर रोगों की चिकित्सा के लिए उसने बहुत-से नुसखे लिखे। शल्य विद्या का विशेषज्ञ हान एक नामी वैद्य था।

हान युग के पहले कागज रेशम से बनाया जाता था जिससे वह महँगा पड़ता था। किन्तु हान युग में वह बाँस से बनाया जाने लगा। इससे कागज सुलभ हुआ और ग्रन्थकारों में अपनी रचनाएँ लिखने का उन्साह बढ़ गया। पानी से चलने वाली चक्की से खेतों में पानी उलीचने और अन्न की पिसाई करने में कृषकों को बड़ी सुविधा हो गयी। सिंचाई के लिए नहरें तथा बाँध बना कर पानी जमा करने और आवश्यकता पड़ने पर संगृहीत जल का वितरण करने का ढंग वे लोग जानते थे।

ललित कलाएं

स्थापत्य कला के पुराने अवशेष चीन में शायद इसलिए नहीं मिलते कि वहाँ मृतक को दफनाकर उसके ऊपर मकबरा या समाधि बनाने अथवा गुफाएँ खोदकर उसके साथ आवश्यक कामों की वस्तुएँ रखने की प्रथा न थी। उन युगों की स्थापत्य कला की एक मात्र द्योतक 'चीन की दीवार' है जो मनुष्य की आश्चर्यजनक कृतियों में गिनी जाती है। अनुमान किया जाता है कि शायद प्राचीन युग की इमारतें कमोबेश उसी ढंग की रही होंगी जैसी कि बाद की पायी जाती हैं। इमारतें प्रायः एक मन्ज़िल की बनायी जातीं और रंगीन खपड़ों से छायी जाती थीं। लकड़ी पर नक्काशी का काम करके इमारतों को सजाते थे।

प्राचीन काल में ही चीनियों को रंगीन और सफेद मिट्टी, ताँबा, काँसा और पत्थर, विशेषकर जेड पत्थर, की चीज़ें बनाने का शौक रहा है। उनकी बनायी चीज़ें सुडौल और सुन्दर रंगीन रेखाओं से विभूषित होती थीं। छोटी चीज़ों से लेकर बहुत बड़ी-बड़ी चीज़ें बनाने में भी उनकी कुशलता दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए कनफ्यूसिअस के मन्दिर का गुम्बद ही ले लीजिए। उसका वजन एक मन तीस सेर है। उस समय के तरह-तरह के छोटे-बड़े बरतन, नांदें, गडुए, सुराहियाँ, जिन पर रंगीन अथवा उभरा हुआ काम बनाया जाता था अभी तक प्राप्य हैं। अजीब-अजीब शक्ल और डिजाइन की चीज़ें प्राचीन युग की बनी हुई मिलती हैं। काँसे की चीज़ें शांगयुग में ही ऐसी बनने लगी थीं जिन का मुकाबला बाद के युगों में भी

होना दुस्तर रहा। काँसे की बनी जानवरों की विविध आसनस्थ मूर्तियाँ विलक्षण एवं आश्चर्यजनक हैं। बड़े, बड़े घंटे और घड़ियाल चेऊ युग में भी बनाये जाते थे। मनुष्यों एवं पशुओं की उत्कीर्ण मूर्तियों में सजीवता और गति का अच्छा प्रदर्शन मिलता है। काँसे पर की गयी पालिश शीशे की तरह चमकदार और प्रतिबिम्बग्राही होती थी। लकड़ी पर नक्काशी का विचित्र काम बनाकर उस पर रंग-बिरंगी पालिश की जाती थी जो सम्भवतः विदेशियों से सीखी गयी थी।

हानयुग में चित्रकला ने भी उन्नति की। बड़े पैमाने पर पशुओं, देवी-देवताओं तथा प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनने लगे। मनुष्य के चित्रणं में पहले से अधिक कुशलता और कोमलता दिखाई देती है। रेखाओं के प्रयोग में चीनियों ने इस युग में लाघव और कोमलता की ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। आगे चलकर इसी से उनके चित्रों का महत्त्व बढ़ गया। मिट्टी, धातु अथवा लकड़ी की चीज़ों पर विविध प्रकार की नक्काशी और चित्र बना कर सोने-चाँदी के गंगा-जमुनी काम से उन्हें सजाने का उनको खास शौक था। कुछ-कुछ पौराणिक ढंग की कल्प-नाओं तथा अन्तर्हित स्वाभाविक कौतूहल के कारण वे देवी-देवताओं की मूर्तियाँ तथा पशु-पक्षियों के चित्र कुछ ऐसे रूप में बनाते थे जिसका अस्तित्व वास्तविक जगत में नहीं केवल काल्पनिक जगत में ही पाया जा सकता था। उनसे चीनियों के कल्पना लोक के सर्जन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सामूहिक चित्रण तथा जुलूसों का प्रदर्शन भी उनकी कला में मिलता है। यद्यपि चीनियों के चित्रों में हास्य और भयानक का पुट रहता था तथापि यह माना जाता था कि पशुओं तथा मनुष्यों के मानसिक भावों तथा उनकी शारीरिक गतिविधि का प्रदर्शन करने का भी वे प्रयत्न करते थे। सम्राट् ह्य अन ती स्वयं अच्छा चित्रकार था और उसने चित्रकारों को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। उस युग के चित्रकारों में माओ एन शू प्रमुख गिना जाता है। हानयुग के अन्तिम काल में यूनानियों और बौद्धों को मिश्रित कला चीन में प्रविष्ट हुई। उसका प्रभाव हानयुग के बाद के चित्रों तथा चीनी कला पर अधिक मात्रा में पाया जाता है। हान सम्राटों में वू ती संगीत विद्या का केवल प्रेमी ही न था वरन् उसने दरबार में एक संगीत सभा की स्थापना भी की थी जिसमें तत्कालीन संगीताचार्यों की नियुक्ति की गयी थी।

दर्शन

दर्शन की ओर चीनियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वहाँ बड़े प्रतिभाशाली

और प्रभावशाली दार्शनिक हुए हैं जिन का स्थान किसी देश या सभ्यता के दार्शनिकों से कम नहीं। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि चीन के प्राचीन दार्शनिकों ने ऐसे-ऐसे सिद्धान्तों का निरूपण किया है जो प्राचीन काल के ही नहीं, वरन् आधुनिक काल के दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए भी चमत्कारी हैं। दूसरी विचारणीय बात यह है कि सामन्त युग की कुव्यवस्था में ही चीन के दर्शन एवं काव्य का अभ्युदय हुआ। यह कहना अभी तक सम्भव नहीं कि चोउ वंश (११२२ ई० पू० से २५० ई० पू०) के पहले चीन के लोगों के सामाजिक अथवा धार्मिक विचार और विश्वास क्या थे। चोउ युग में जिस प्रकार से उनका प्रस्फुटन हुआ उससे प्रतीत होता है कि पहले से ही विचारों और विश्वासों की प्रबल धाराएँ चली आ रही होंगी। उस युग के विचारकों में सम्भवतः छः नहीं तो चार मत तो अवश्य ही स्पष्ट रूप से प्रचलित हो गये थे जो विचार की दृष्टि से गम्भीर और महत्त्वपूर्ण थे। उन विचार-धाराओं का सम्बन्ध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से है। उन युगों के इतिहास की रूप-रेखा पहले लिखी जा चुकी है इसलिए इतना संकेत करना काफी होगा कि उन युगों में एक प्रकार की राज-सत्तात्मक सामन्तशाही थी और हूण, तुर्क तथा तिब्बती लोगों के आक्रमण होते रहते थे जिससे साधारण श्रेणी और किसानों, मजदूरों की दशा अच्छी न थी। उन पर मुसीबतों के काले बादल मँडराया करते थे।

उपर्युक्त परिस्थिति में विचारकों के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। पहली यह कि सामाजिक संगठन किस ढंग का हो जिससे लोग शान्ति और सुख का जीवन व्यतीत कर सकें। दूसरी यह कि उस आदर्श समाज की रचना के क्या लक्षण और साधन होने चाहिए। तीसरी यह कि मनुष्यों के आपस में क्या कर्तव्य हैं और उनका समाज तथा प्रकृति से क्या सम्बन्ध है ? चीनियों की ये समस्याएँ लौकिक थीं, पारलौकिक नहीं, और उनके समाधान के लिए लौकिक साधन ही आवश्यक थे। लौकिक ज्ञान का मापदण्ड प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। प्रकृति निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसका व्यापार व्यवस्थित है, उसके नियम स्थायी रूप से विभिन्न क्षेत्रों में काम करते रहते हैं। इसीलिए प्रकृति में अन्योन्याश्रयिता और सहयोग का नियम अबाध रूप से काम करता है। अतः प्रकृति को ही शिक्षक और गुरु मानना चाहिए। चीनियों का यह भी विश्वास था कि प्रकृति और उसके अवयव एकदम जड़ नहीं हैं, वे सब अनुप्राणित हैं। हर एक हिस्से का अपना-अपना प्राण, तेज़ तथा स्थान है। उन सब में सामंजस्य तथा सहयोग की स्थापना एक विश्वात्मा द्वारा होती है जिसकी अपनी विशिष्ट

सत्ता है और जिसे चीनी त इएन अथवा शांग ती कहते थे। सृष्टि रूपी प्राकृतिक साम्राज्य का वही अधिष्ठाता और सम्राट् है। उसका प्रतीक आकाश है जो सारे प्राकृतिक जगत को घेरे हुए है और जिसकी गोद में सारा प्राकृतिक व्यापार व्यवस्थित ढंग से चल रहा है। साधारण लोग तो विशिष्ट व्यक्ति के रूप में उसकी कल्पना करते होंगे, किन्तु शिक्षित विचारक उसको एक व्यापक सत्ता अथवा व्यापक तत्त्व मानते थे। वह तत्त्व व्यापक होने पर भी अपनी स्पष्ट एकाकी स्वतन्त्र सत्ता रखता था। अन्य देवताओं की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता त इएन जैसी थी। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों और उपर्युक्त सर्वव्यापक तत्त्व के अनुकूल मानव समाज की रचना होने से सर्वोदय, शान्ति, सुख की स्थापना हो सकती है। समाज का प्रत्येक अंग और व्यक्ति अपनी-अपनी सीमा अथवा परिधि में अपने स्थान के अनुकूल अपना कर्तव्य पालन करे तो मानव समाज के श्रेय और प्रेय के लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है।

चीनियों का विश्वास था कि मनुष्य का व्यक्तित्व मृत्यु के बाद भी कायम रहता है और उस व्यक्तित्व को भी सुख और दुख का अनुभव होता है। उसकी भी मानव समाज की ही नही, वरन् अपने-अपने वैयक्तिक कुल, वंश, कुटुम्ब और परिवार की भलाई में सक्रिय दिलचस्पी रहती है। उसकी बुराई से उसको वेदना होती है। अतः उसका आशीर्वाद और सहयोग प्राप्त करने के लिए उसको प्रसन्न रखना उसके परिवार वालों का आवश्यक कर्तव्य है। चीनियों का यह विश्वास जीवित लोगों का दिवंगत लोगों से अथवा यों कहिए कि मृत्यु लोक का पितृलोक के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित करता था। इसीलिए चीनियों की अपने पूर्वजों और पुरखों में सदा बड़ी श्रद्धा रही है।

प्राकृतिक शक्तियों तथा पूर्वजों को स्वानुकूल रखने और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता मानी जाती थी। पहिली यह कि समाज का संगठन प्रकृति के प्रतिरूप होना चाहिए। समाज के प्रत्येक अंग अथवा व्यक्ति को अपनी-अपनी परिधि में अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। दूसरी यह कि प्रकृति की शक्तियों तथा पूर्वजों को स्वानुकूल बनाये रखने और उनका सहयोग प्राप्त करने के लिए श्रद्धा एवं विधिपूर्वक यजन-याजन, कर्मकाण्ड और संस्कार आदि करने चाहिए। पूर्वजों के निर्दिष्ट विधिनिषेध मार्ग का अनुकरण श्रद्धापूर्वक करना सफलता का एकमात्र साधन है।

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह अनुमान किया जा सकता है कि चीनियों और भारत के आर्यों के विश्वासों में पर्याप्त मूलगत समानता है। उनकी विश्वात्मा,

दैविक शक्तियों तथा पितृलोक की कल्पनाएँ मानव-जगत का उनसे सम्बन्ध, पारस्परिक सहयोग, यज्ञादि, आचार-विचार सम्बन्धी विचारधाराएँ, परम्परागत नीति-रीति के निर्वाह, व्यक्ति के कुटुम्ब, वंश और कुल से सम्बन्ध, श्रद्धा विनय तथा शिष्टाचार की कल्पनाएँ आदि सब बातें परस्पर मिलती-जुलती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि या तो अति पुरातन काल में जब उनके मूल पुरुष मध्य एशिया अथवा तिब्बत में रहते थे परस्पर दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा या दोनों को एक ही संस्कृति के कोष से अपनी-अपनी विचार थाती प्राप्त हुई होगी। इस अनुमान में सत्य की सम्भावना किसी अंश तक है, किन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में दृढ़तापूर्वक कुछ कहना अभी सम्भव नहीं। उपर्युक्त समानताओं के रहते हुए भी कुछ विचारणीय और गम्भीर विभिन्नताएँ भी प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि वैदिक विचारकों में यह विश्वास था कि सर्वोपरि दैविक सत्य में ईश्वरत्व का गुण स्वभाव से है जिससे प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है जिसमें जड़-जंगम, देव तथा मानव जगत आदि सब कुछ हैं। वह सर्वव्यापक ही नहीं, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। उसी की इच्छानुकूल विश्व का सारा व्यापार चलता है। मनुष्य के उपकार के लिए उसी ने आवश्यक कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान वेदों के रूप में अवतरित किया। उसकी आज्ञाओं के प्रतिपालन से मनुष्य का ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो सकता है। दूसरी बात यह कि चीनी संस्कृति का ध्येय मुख्यतः लौकिक ही रहा, किन्तु भारत की संस्कृति का प्रवाह धीरे-धीरे पारलौकिकता की ओर हो गया। लोक की ओर से विरक्त होकर आध्यात्मिकता की ओर भारतीयों की प्रवृत्ति बढ़ती चली गयी। तीसरी बात यह कि चीन में पुरोहितों अथवा याज्ञिकों की विशेष श्रेणी या वर्ग न था, किन्तु भारत के वर्ण-धर्म में उन्हें विशिष्ट स्थान बाद को दिया गया। यद्यपि समानता और असमानता के बहुत से अन्य रोचक विषय भी हैं, किन्तु उनके विस्तार के लिए यहाँ स्थानाभाव हैं।

चीनियों के सिद्धान्त के अनुसार शक्तियाँ दो प्रकार की हैं, अधिकतर उपकारी और कुछ अनिष्टकारी भी। उन शक्तियों के प्रतीक बनाकर वे उनको प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। वहाँ गृह-देवता, ग्राम या नगर के देवता तथा कुल-वंश-देवता के सिवा अनेकानेक देवता विभिन्न क्षेत्रों, कार्यों और अवसरों के लिए प्रतिष्ठित थे। देवताओं के लिए देवालय, वेदियाँ, विशेष स्थान आदि स्थापित कर दिये गये थे। हर एक प्रान्त और स्थान के अपने-अपने देवता थे। त इ एन का पूजन और उसके निमित्त यज्ञादि कृत्य एक ऊँचे विशाल खुले हुए चबूतरे पर प्रायः राजा ही करता था।

त इएन के सिवा व्योम, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारक, राशि, पृथ्वी, वायु, अग्नि, वर्षा, मेघ, जल, पर्वत, खेती आदि के अनेकानेक देवता थे। बहुतों के लिए देवालय बने हुए थे और अन्यों के लिए स्थान, वेदियाँ आदि बना दी गयी थीं। सबसे कुतूहलवर्धक वे देवालय थे जिनमें साहित्य देवता, संस्कृति देवता, विधान के देवता, प्रतिष्ठित विचारक तथा प्रख्यात सेनापति, नेता, शहीद आदि प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे और उनका भी पूजन किया जाता था। अनिष्टकारी शक्तियों को भी आलयों में प्रतिष्ठित किया जाता था क्योंकि उनकी भी तुष्टि करना आवश्यक था। कभी-कभी मन्दिरों में पाठशाला अथवा न्यायालय के लिए भी स्थान बना दिया जाता था।

सुगन्धित द्रव्य तथा धूपदीप से तथा विविध प्रकार के बलिदानों द्वारा जिनमें भोज्य और पेय तथा पशु और नरबलि भी शामिल थीं, देवताओं का पूजन होता था। पूजन में यज्ञ, मन्त्रपाठ, स्तुति के अलावा गाने-बजाने का भी सिलसिला रहता था। अनेक प्रकार के आसनों द्वारा वन्दना की जाती थी।

चीन के धार्मिक विधान में कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ मिलती हैं। पहली यह कि उनके धार्मिक विचारों में जटिलता अथवा मनोवृत्ति में असहिष्णुता या कट्टरपन नहीं पाया जाता। सब सम्प्रदायों के प्रति उनके भाव उदार थे जिससे उनकी धारणाएँ बहुमुखी और मिश्रित रहीं। दूसरी यह कि उनमें पुरोहितों अथवा धर्माधिकारियों का कोई विशेष वर्ग अथवा वशानुगत श्रेणी न थी। तीसरी यह कि शिष्टाचार और यज्ञादि पूजन-विधान की विविध क्रियाओं एवं विधियों के अक्षरशः पालन पर बहुत ज़ोर दिया गया। कर्तव्याकर्तव्य तथा नैतिकता का भाव उनके धर्म का मुख्याधार गिना जाता था। उसकी सहायता से वे व्यवस्थित ही नहीं, वरन् आदर्श समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करते रहे। चौथी यह कि पूर्वजों, गुरुजनों और बड़े-बूढ़ों के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा रही। उनका सम्मान करना और उनके अनुशासन का प्रतिपालन करना कुटुम्ब, समाज तथा लोक-कल्याण के लिए अनिवार्य गिना जाता था। फलतः सहानुभूति, सुहृद्भाव, वफ़ादारी, निर्मल व्यवहार आदि गुणों को सामाजिक जीवन में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। पाँचवीं यह कि राजनीतिक और धार्मिक संगठनों में भिन्नता न होने के कारण उनमें पारस्परिक संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

चीन में एक सम्प्रदाय दैवज्ञों अथवा शकुनज्ञानियों का था जो विविध प्रकार की रेखाओं पर विचार करके भविष्य बतलाता था। उसका विश्वास था कि बिन्दु या तो एक साथ सटे होते हैं जिससे लकीर बन जाती है या पृथक्-पृथक् होते हैं जिससे

रेखा टूट जाती है। उनके भेदों और प्रभेदों का विचार कर उन्होंने चौंसठ छः कोने वाले चक्र बनाये जो विश्व के सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन करने में समर्थ समझे गये। भग्न रेखा स्त्रीलिंग, अकर्मण्यता, सहिष्णुता तथा आधीनता की और सीधी लकीर पुल्लिग, सकर्मता और सबलता की प्रतीक मानी गयी। इन्हीं दोनों के अगणित संयोजन और वियोजन अथवा योगायोग से विश्व का सब व्यापार चलता बताया गया क्योंकि उन्हीं में विश्व की जड़ छिपी हुई थी। आकाश और पृथ्वी जिन्हें चीनी ऐंग और यिन कहते हैं क्रमशः पुल्लिग और स्त्रीलिंग बताये गये।

यद्यपि चतुर्थ शती में विदेशियों की सत्ता के कारण कनफ्यूसिअस तथा लाओत्से के मतों की अवनति हो गयी थी तथापि बौद्ध धर्म ने चीन में उन्नति की। उसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि चीनियों का शिष्ट और शिक्षित वर्ग जो उपर्युक्त चीनी विचारकों का अनुयायी था, बौद्धों को निम्न श्रेणी का समझता था। फलतः चीनी बौद्ध मध्य और निम्न श्रेणी में मिलकर काम करने लगे। महायानी बौद्धों ने चीनियों को मनुष्य की मरणोपरान्त गति और कर्मानुसार फल का सिद्धान्त सिखाया। लोगों को यह आश्वासन हुआ कि अन्यायी को अन्ततोगत्वा दंड और दलितों का उद्धार होगा। यह विचार चीन की दलित और पीड़ित जनता को धैर्य और आशा का सम्बल प्रतीत हुआ जिससे वह प्रभावित हो गयी। इसके सिवा बौद्धों के विहार व्यापारियों के लिए बैंक, मालगोदाम एवं क्रय-विक्रय के स्थान भी बन गये। व्यापारियों की सहानुभूति पाकर विहारों को धन और भूमि प्राप्त होने लगी। अपनी जमीन पर बसने वाले लोगों से बौद्धों ने अन्यों की अपेक्षा अच्छा बर्ताव किया। यदि असली चीनियों के हाथ में राजसत्ता होती तो शायद बौद्धों को उतनी सुविधा या अच्छा अवसर न मिलता। किन्तु हूणों, तुर्कों और तिब्बतियों को बौद्धों के कामों में अधिक दिलचस्पी न होने के कारण उन्होंने उनके रास्ते में कोई बाधा न डाली और वे फूलते-फलते रहे। यही नहीं चीनियों की राज्य के प्रति उदासीनता के कारण उन्होंने शिक्षित बौद्धों में से ही राजकर्मचारी नियुक्त किये जिससे बौद्धों का महत्व और भी बढ़ गया और अपने मत के प्रचार करने का अमूल्य अवसर भी उन्हें प्राप्त हो गया। ख़ोतान बौद्धों के धर्म का बड़ा केन्द्र बन गया।

पाँचवीं शती के दूसरे चरण में तोबा वंश ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया जिससे चीनियों का महत्त्व बढ़ता गया। किन्तु तोबा सम्राट् ने बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग दिखाया जिससे चीनी भी अधिकाधिक उस ओर झुकने लगे। बौद्धों ने सम्राट् को अवतारी होने की प्रतिष्ठा दी जिससे उसे ईश्वरत्व की प्रभा उसी प्रकार

प्राप्त हुई जैसी कि चीनियों के देवपुत्र की कल्पना द्वारा हुई थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि चीन में बौद्ध धर्म भारतीय बौद्ध धर्म से बहुत कुछ भिन्न हो गया था। उसने श्रमणों तथा चीनियों के सिद्धान्तों से लेकर जादू, टोना, आदि अनेक विश्वासों को आत्मसात कर लिया था। अतएव चीन में इस धर्म का प्रचार करने की उनको अधिक सुविधा भी हो गयी।

कन्फ्यूसिअस (५५१ से ४७९ ई० पू० तक)

संसार के इतिहास में छठी शती ई० पू० का विशेष महत्त्व है। उस युग में भारत, फारस तथा यूनान आदि सभी देशों में बड़े-बड़े महात्मा और विचारक प्रकट हुए। चीन के सन्त कनफ्यूसिअस का भी उन महात्माओं में ऊँचा स्थान है। किंवदन्ती है कि लू शान्तुंग प्रान्त में चीन के प्रसिद्ध सम्राट् ह्वांग ती के वंश में उनका जन्म हुआ था। जब वह तीन वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। अतः वृद्ध माता के पोषण के लिए उन्हें विद्याध्ययन के साथ-साथ धनोपार्जन के लिए भी परिश्रम करना पड़ता था। उन्नीस वर्ष की उम्र में उनका विवाह हुआ तथा एक पुत्र भी हुआ। कहा जाता है कि चार वर्ष के बाद उनका वैवाहिक सम्बन्ध टूट गया। बाईस वर्ष में उन्होंने अपना स्वतन्त्र विद्यालय स्थापित कर इतिहास, काव्य तथा सदाचार की शिक्षा देना शुरू कर दी। धीरे-धीरे तीन सहस्र विद्यार्थियों को उन्होंने शिक्षित किया। यद्यपि कनफ्यूसिअस को उन्नति की आकांक्षा थी तथापि वह किसी की कृपा के अभिलाषी नहीं रहे, अपितु स्वतन्त्र प्रवृत्ति के ही रहे। तीस वर्ष तक शिक्षा देने के बाद वह एक नगर के मजिस्ट्रेट नियुक्त किये गये (५०१ ई० पू०)। वहाँ से बढ़ते-बढ़ते मन्त्री के पद तक पहुँच गये। कहा जाता है कि प्रत्येक स्थिति में उनका आचरण एवं शासन शुद्ध, न्यायमूलक एवं आदर्श था। जब कभी वह अपने स्वामी को आचार-भ्रष्ट पाते तब उसकी नौकरी छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे। तेरह वर्ष तक वह इधर-उधर भ्रमण करते रहे, अपमान भी सहते रहे, किन्तु अपने सिद्धान्त पर अटल रहे। जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष उन्होंने साहित्य, इतिहास तथा दर्शनों की रचना में व्यतीत किये। कनफ्यूसिअस ने नौ प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की जिनका सम्मान चीन में ही नहीं, वरन् संसार में आज तक होता आया है। तेहत्तर वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया। तब तक उन्हें अपने देशवासियों का चरम आदर तथा अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त हो चुका था।

कनफ्यूसिअस की धारणा थी कि चीन के पुरातन युग में लोगों का जीवन

और उनके आचार-विचार आदर्श थे। तदनुकूल आचरण करने से सर्वथा कल्याण की आशा की जा सकती है। शिष्टाचार में ही समाज दृढ़, दीर्घजीवी और सुखी हो सकता है, अन्यथा दुखी होकर नष्ट हो जाता है। पूर्वजों का सम्मान, आराधन और अनुकरण मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। कनफ्यूसिअस का विचार था कि सम्राट्, सामन्त, कर्मचारी, शिक्षित जन, कृषक तथा मज़दूरों को चाहिए कि वे अपने-अपने वर्ग में रहकर अपना-अपना कर्तव्य करते रहें। उसी में सबका कल्याण है। किसी भी वर्ग अथवा व्यक्ति को वह जन्मना ऊँचा-नीचा नहीं मानते थे। सबका अपना-अपना स्थान और महत्त्व समझते थे। उनके विचार से अपनी परिधि में रहकर कर्तव्य पालन करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य था, तथा वर्गानुसार कर्तव्य करना ही धर्म। वर्ग की मर्यादा को तोड़ने और वर्गों को तोड़-फोड़कर व्यतिक्रमण करने से सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है जिससे क्लेश और अन्त में विनाश हो जाता है। उनके इस सिद्धान्त से यह न समझना चाहिए कि वह अव्यवस्थित, अनियंत्रित, स्वेच्छाचारी या अत्याचारी सामाजिक विधान या शासन के पोषक थे। वास्तव में वह उसके विरोधी थे। उनके कथन का सारांश यह था कि जहाँ व्यक्ति अथवा वर्ग अपनी मर्यादा के अनुकूल आचरण करते हैं वहाँ जीवन मधुर, सुखी और शान्त होता है। वह सरल एवं स्वाभाविक जीवन के पक्ष में यहाँ तक थे कि रहन-सहन के अलावा बोलने-लिखने-पढ़ने में भी सरल स्पष्ट भाषा का प्रयोग कृत्रिम शैली की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते थे। उनके मत में अपने गुणों और कर्मों के अनुसार बिना उपद्रव अथवा क्रान्ति के कोई भी व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे में जा सकता है, पर जहाँ कहीं भी वह हो उसे उस वर्ग के कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

कनफ्यूसिअस ने किसी नवीन धर्म या दार्शनिक सिद्धान्त का प्रचार नहीं किया। जीव, मृत्यु, अलौकिक शक्तियों आदि विषयक ऊहापोह से वह बचते रहते थे। किन्तु उनका विश्वास था कि अनेकता में एक गम्भीर एकता निहित है। उसका समझना और जीवन में स्थापन करना शिक्षा-दीक्षा का मुख्य ध्येय है। प्रत्येक व्यक्ति को समान शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। कौटुम्बिक जीवन में ही उसकी साधना हो सकती है। मनुष्य की सफलता समाज के द्वारा हो सकती है, विलग होकर नहीं। समाज या राष्ट्र भी तो अन्ततोगत्वा कुटुम्ब का ही एक विशाल रूप है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति आचार और कर्तव्य का शुद्ध भाव से प्रतिपालन करे तो निश्चय ही समाज और राष्ट्र सुखी तथा समृद्धिशाली हो सकता है। मनुष्य को बौद्धिक ज्ञान से अधिक आचरण की आवश्यकता है। अतएव प्रत्येक

व्यक्ति को छोटी-छोटी बातों जैसे उठना-बैठना, बोलना-चालना, खाना-पीना, पहनना, चलना-फिरना आदि में भी शिष्टाचार का ध्यान रखना आवश्यक है। कर्तव्य के यथार्थ पालन में ही अधिकार की रक्षा होती है। कनफ्यूसिअस यद्यपि शान्तिप्रिय थे तथापि आवश्यकता पड़ने पर बल के प्रयोग के वह विरोधी न थे। फिर भी उनकी धारणा थी कि नैतिक बल के सामने शस्त्रास्त्र बल अन्ततोगत्वा नहीं चल सकता, किन्तु नैतिक बल की आधार शिला दृढ़ विश्वास, निष्ठा, शुद्धाचरण और सहिष्णुता है।

चीन में पुरातन काल से 'ताओ' की कल्पना चली आती थी। कनफ्यूसिअस के समय में उसका अर्थ था 'मार्ग' यानी 'आचरण का पथ'। आगे चलकर उस शब्द की परिभाषा बदलती गयी। कनफ्यूसिअस की धारणा के अनुसार 'ताओ' का ध्येय आचरण द्वारा सफलता की ओर जाना था जिससे इसी जीवन में सुख प्राप्त हो सकता है। व्यक्ति के सम्बन्ध में उसका चरम लक्ष्य था नैतिक सदाचार। समाज के सम्बन्ध में वही लक्ष्य था न्याय तथा सदाचारपूर्ण विधान। दोनों स्थितियों में वह सहानुभूति तथा प्रेमसहित कर्म-मार्ग पर चलने का प्रतिपादन करते थे। उन्हें ज्ञान की उतनी आवश्यकता न थी। वह सत्ता की नहीं, वरन् सिद्धान्त की, निष्ठा के साथ उपासना तथा सेवा करना सिखाते थे। कनफ्यूसिअस ने देव (व्योम) शब्द का भी प्रयोग किया है। उससे उनका अभिप्राय चीनियों के प्रमुख देव तत्त्व से था जो अशरीरी होते हुए भी सदाचार, न्याय और विश्वबन्धुत्व पर आरूढ़ व्यक्ति अथवा समाज की सदैव सहायता करता है। कनफ्यूसिअस ऐहिक जीवन को सार्थक और सफल बनाना ही परम धर्म समझते थे। पारलौकिक चिन्तन में उनकी कोई दिलचस्पी न थी और न उस प्रसंग को उन्होंने कहीं भी उठाने का प्रयत्न किया। उनकी राय में जो सिद्धान्त विश्व में स्थापित है और जिससे प्रकृति का नियन्त्रण होता है वही मनुष्य तथा समाज पर लागू है। अतः सामाजिक विधान चाहे वह धार्मिक हो अथवा राजनीतिक उसी सिद्धान्त का प्रतिरूप है। इस धारणा के अनुकूल सम्राट् का स्थान दैव (तिएन) का है। मन्त्री आदि अन्य सत्ताओं और कर्मचारियों का स्थान विश्व व्यापार के अनुरूप है और उनका वह स्थान और कर्तव्य निश्चित है। जो कुछ इस लोक में है सत्य है। इसमें किसी निहित रहस्य की कल्पना भ्रमात्मक वितण्डा है। इसलिए समाज अथवा शासन का मुख्य ध्येय मनुष्य को सुखी रखने के सिवा अन्य कुछ नहीं हो सकता। ताओ को छोड़ने से हानि के सिवा कोई भी लाभ नहीं है। जब कभी कहीं भी अव्यवस्था, अनाचार, अत्याचार या दुराचार दिखाई पड़े तब यही समझना

चाहिए कि ताओ का उल्लंघन हो रहा है और उस पर यथाशीघ्र फिर आरूढ़ हो जाने की आवश्यकता है, अन्यथा विनाश अवश्यम्भावी होगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि मानव-जीवन को भली-भाँति समझना ही बुद्धिमत्ता है। प्रेमसाधना ही सदाचरण का मुख्य लक्षण है।

लाओत्ज़े (६०४ ई० पू०)

कुछ लोग कहते हैं कि लाओत्ज़े एक कल्पित प्रतीक है, व्यक्ति नहीं। अधिक लोगों का विचार है कि उसका जन्म होनान प्रान्त में ६०४ ई० पू० एक गरीब घर में हुआ था। वह कनफ्यूसिअस का समकालीन और चोऊ साम्राज्य के पुस्तकालय का अध्यक्ष था। उसका नाम एह्र, उपनाम 'तन' और वंश ली था। वह चू राज्य का निवासी था। यद्यपि उसकी विचारधारा भिन्न थी तथापि कनफ्यूसिअस उसका आदर करते थे। लाओत्ज़े ने सम्भवतः सबसे पहले 'ताओ' का उल्लेख किया। उससे उसका आशय था कि मनुष्य विश्वतत्त्व का जिससे संसार व्यवस्थित ढंग से चल रहा है, फिर आश्रय ले। उसने ताओ विचार का सूत्रपात मोटे तौर पर किया था। उसके सिद्धान्त में वस्तु-स्थिति और आदर्श में भेद करना भारी भूल थी। जो कुछ है वही तथ्य है। मनुष्यों ने अपनी अल्प बुद्धि और विधानों के आधार पर अच्छा-बुरा घोषित कर प्राकृतिक जीवन के स्वाभाविक और सरल प्रवाह को दूषित कर दिया है और वे उसी भॅवर में उछलते-तैरते हैं। दोष से मुक्त होने पर प्रवाह स्वाभाविक रूप से चलने लगेगा। अपनी चेष्टा और प्रयत्न को छोड़कर यदि मनुष्य निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाय तो सब बाधाएँ आप-से-आप विलीन हो जायेंगी।

'ताओ' विश्व का मूल तत्त्व है, किन्तु उससे दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं जिनकी सृष्टि के प्रवाह के लिए आवश्यकता है। एक तत्त्व है 'यंग' और दूसरा है 'यिन'। 'यंग' द्योतक है 'प्रकाश' पुरुषत्व तथा सक्रियता का और अन्धकार, निष्क्रियता तथा स्त्रीत्व का द्योतक है 'यिन'। इन दोनों तत्त्वों की उत्पत्ति मूल तत्त्व 'ताओ' से ही हुई है अतः सिद्धान्तानुसार असली सत्ता तो एक ही है। इस विषय का सूक्ष्म विवेचन इ चिग अर्थात् 'परिवर्तन' (विवर्तन) की पुस्तक में किया गया है। कनफ्यूसिअस तथा अन्य चीनी विद्वान् तो उसका महत्त्व मानते ही हैं, आधुनिक मनोविज्ञानी युग का भी कथन है कि उक्त ग्रन्थ में चीनियों की संस्कृति का सार पाया जाता है। आधुनिक यूरोपीय परिभाषा में उसके प्रतिपाद्य विषय के लिए 'साइकिक पैरेललिज्म' नाम उपर्युक्त है।

इन सिद्धान्तों का विशिष्ट विवेचक त्सोऊ एन, हानयुग में च इ राज्य का निवासी था। उसका मत था कि उपर्युक्त दोनों तत्त्वों के पारस्परिक व्यवहार से ही विश्व में परिवर्तन होता रहता है, ऋतुएँ बदलती रहती हैं और प्रकृति एवं मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं।

लाओत्जे ने उससे एक बार कहा कि पूर्वजों की अस्थियाँ गल-सड़ गयीं, उनके शब्द-मात्र रह गये हैं। उनके आचारों तथा व्यवहारों के कल्पित चित्रों के पीछे दौड़ना मरु-मरीचिका का अनुसरण करना है। जीवन को कृत्रिम विधान पर चलाने से विशेष लाभ नहीं। उसका निर्माण प्रकृति के सिद्धान्त पर होना चाहिए। प्रकृति के नियम के लिए उसने 'ताओ' शब्द का प्रयोग किया। ताओ अनादि काल से अनन्त काल तक अक्षुण्णरूपेण चलता रहता है। प्रत्यक्ष या परोक्ष सभी व्यापार उसी के प्रसार मात्र रहे हैं और रहेंगे। उसके अनुकूल जो कुछ है वह सफल और प्रतिकूल विफल होगा। जिस प्रकार जड़-जंगम उसके प्रभाव से चल रहे वैसे ही मनुष्यों को भी उसी प्रवाह में अपने को छोड़ देना चाहिए। उसके प्रवाह को रोकना सरासर मूर्खता ही नहीं, वरन् अनिष्टकारक है। मनुष्य जब अपनी बुद्धि और ज्ञान-विज्ञान, विधान का सहारा लेता है तभी वह ताओ से बहक कर भटकने और बिखरने लगता है। ज्ञान, कर्म, इच्छा, सम्पत्ति, पद, इन्द्रियों के सुख और दुख, जीवन-मरण सब सारहीन विडम्बना मात्र हैं। वे सब स्वप्न के सदृश मिथ्या हैं। यदि धर्म, शास्त्र, ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार, स्वार्थ और परमार्थ की आकांक्षाओ के काल्पनिक भँवरजाल में न फँसकर 'ताओ' के प्रवाह को स्वाभाविक प्रवाह में चलने दिया जाय तो फिर न तो कोई समस्या ही रहेगी और न किसी आवश्यकता की पूर्ति का ही प्रश्न रहेगा। समस्याएँ तथा आवश्यकताएँ भ्रमात्मक कल्पनाएँ हैं, फलतः उनकी पूर्ति या अपूर्ति भी स्वप्नवत् निःसार है। प्रकृति के स्वर से स्वर मिलाकर, ताओ से संगति जमाकर, प्रकृति का प्रवाह चलने दिया जाय। शान्ति और कल्याण का यही नैसर्गिक मार्ग है। सुख उसी में है। लाओत्ज़े का सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और गूढ़ है कि व्यवहार में उसको लाना असभव-सा है। वह समाज शासन, संगठन, विधि-निषेध को अमंगलकारी कहता था। अत्यन्त क्रान्तिकारी होने के कारण उसके मत का चीन के बाहर प्रचार सम्भव न हो सका। चीन में भी वह एक संकुचित सम्प्रदाय के समान अविकसित ही रह गया। व्यवहार का विषय न होकर वह विश्वास का ही विषय बना रहा। अलौकिक कल्पनाओं से आवेष्टित होने के कारण कालान्तर में वह गुप्त रहस्यात्मक भाव बन गया जिससे

अन्ततोगत्वा वह अव्यवस्थित, विलक्षण और विचित्र विचारों का एक चों-चों का मुरब्बा मात्र बन गया। हान युग में बौद्ध धर्म के सम्पर्क से उसका प्रचार हुआ जिससे सिद्धों तथा मौनी बाबाओं की भरमार और मठों की स्थापना हो गयी। लाओत्ज़े ने 'ताओ' और 'त' विषयक दो भागों के एक ग्रन्थ की रचना की। कहा जाता है कि उसकी मृत्यु सत्तासी वर्ष की आयु में हुई।

मो ती (४५० ई० पू०?)

तीसरा उल्लेखनीय दार्शनिक मो ती है जिसका कार्यकाल ई० पू० पाँचवीं शती के अन्तिम दशकों से लेकर चतुर्थ शती के आठवें दशक तक होना अनुमान किया जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि वह भी कनफ्यूसिअस का कनिष्ट समकालीन था। कहा जाता है कि सुंग राज्य के सैनिक विभाग में वह रक्षा मन्त्री और एक अर्थशास्त्र-विशेषज्ञ था। उसका मत था कि किसी भी कार्य अथवा योजना का उद्देश्य उसकी उपादेयता और लाभ पर आश्रित होना चाहिए। परम्परागत विधानों या संस्थाओं की सफलता का भी वही सिद्धान्त मापदण्ड हो सकता है। निसर्ग लीला अत्यन्त दुरूह तथा अगम्य है। उसी प्रकार अच्छे-बुरे की शाश्वत परिभाषा भी या तो स्वरचित हो सकती है अथवा काल्पनिक। अतः उसका आश्रय ढूँढ़ना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। वस्तु की उपादेयता और उससे प्राप्य लाभ व्यावहारिक ही नहीं, अपितु इस परिवर्तनशील जगत का वास्तविक प्राप्य सत्य है। मो ती की दूसरी धारणा यह थी कि सहानुभूति, सहयोग एवं प्रेम का पूरा परिपाक कुटुम्ब या वंश में नहीं हो सकता। वस्तुतः बिना विश्वबन्धुत्व के भाव के मनुष्य में प्रेम का प्रकाश अधूरा रहेगा। विश्वबन्धुता के भाव से कुटुम्ब, वंश, कुल आदि लाभ उठा सकते हैं। इसलिए उसकी साधना ही उचित और युक्ति संगत है। उसमें प्रेमी तथा प्रेमपात्र दोनों को लाभ होता है। अज्ञान तथा स्वार्थ के कारण साधारण मनुष्य प्रेम के महत्त्व को नहीं समझ पाता। इसीलिए उसमें प्रेम भावना जगाने एवं निष्ठा के साथ उस पर उसे आरूढ़ रखने के लिए प्रेममय तथा न्यायमूर्ति परमात्मा के प्रति धार्मिक चेतना जागृत करना चाहिए जिससे यह विश्वास हो जाय कि प्रेम का प्रसाद श्रेय है और उसकी अवहेलना का परिणाम किसी-न-किसी रूप में दण्ड है। यही भावना पाप और पुण्य की रक्षा कर सकती है। केवल राज्यवर्धन अथवा अपहरण के लिए युद्ध छेड़ने का वह विरोधी था। मो ती के सिद्धान्त में एक खास आपत्ति यह उठायी गयी कि वह व्यावहारिक ऐहिक

लाभ के साथ स्वार्थहीन प्रेम का सामंजस्य बैठाना चाहता है जो व्यवहारतः दुःसाध्य है।

मेंसिअस अथवा मेंगत्ज़ें (३७२ ई० पू०)

कनफ्यूसिअस के अनुयायियों में मेन्सिअस का अच्छा स्थान है। उसका विश्वास था कि मनुष्य जन्म से अच्छा होता है, किन्तु वह यह नहीं मानता कि वह सर्वदा अच्छा ही रहेगा और सत्य का प्रतिपालन करेगा। हाँ, यदि वह चाहे तो ऐसा कर भी सकता है और न चाहे तो उसकी उपेक्षा भी कर सकता है। उसकी राय में मनुष्य को विनयपूर्वक मध्य मार्ग का प्रतिपालन करना चाहिए। यदि राष्ट्र में मनुष्य मुख्य और शासक गौण है, यदि शासक जनता के हित की हानि करता है तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है। मेन्सिअस की दृष्टि में माता-पिता के प्रति आदर-सम्मान का भाव रखना सबके लिए आवश्यक है। पत्नी और राजा का भी स्थान उनसे उतरकर है।

मेन्सिअस की धारणा का कि मनुष्य प्रकृत्या अच्छा होता है ह्युनत्ज़े (मृ० २३५ ई० पू०) ने घोर विरोध किया। उसकी राय में मनुष्य की प्रकृति दुष्ट होती है क्योंकि उसमें सम्पत्ति एकत्रित करने तथा प्रभुत्व प्राप्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है। राग, द्वेष, ईर्ष्या से दूर रख कर उसको ठीक रास्ते पर चलाने के लिए सिवाय कानून के बन्धन के कोई दूसरा उपाय नहीं है। सदाचार और शिष्टाचार की मर्यादाओं की परिभाषा और रक्षा कानून द्वारा ही हो सकती है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचारों में से कनफ्यूसिअस और मेन्सिअस के विचारों का चीन पर विशेष प्रभाव पड़ा। तो भी यह न समझना चाहिए कि अन्य विचारकों के मतों का चीनियों ने परित्याग कर दिया। सभी सिद्धान्तों का चीन में कमोबेश आदर किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि साधारण लोगों में उदारता, सहिष्णुता और गुणग्राहकता का संचार हुआ और साथ ही प्रत्येक मत का कुछ-न-कुछ सद्विचार उनकी विचार परम्परा में मिला-जुला पाया जाता है।

बौद्ध धर्म के प्रचारक मध्य एशिया तथा अनाम तक पहुँच चुके थे। यह असम्भव नहीं कि वे ईसा की प्रथम शती से पहले ही चीन पहुँच गये हों किन्तु उत्तरकालीन हानवंश के सम्राट् मिंग ती ने एक विद्वान् सेनाध्यक्ष चि इन चिंग को नियुक्त किया कि वह बौद्ध धर्म के ग्रन्थों और विद्वानों को भारत जाकर ले आये। दो वर्ष तक खोजने के बाद वह यूची (कुषाण) राज्य से कश्यप मातंग और धर्मरक्षक को कुछ

बौद्ध ग्रन्थों के साथ ले गया। दोनों विद्वान् मध्य भारत के निवासी थे। कठिनाइयाँ झेल कर भी धर्म प्रचारार्थ वे मध्य एशिया गये। वहाँ से चीनी सेनापति के साथ वे हान सम्राट् की राजधानी लो यांग पहुँचे (६४ ई०)। सम्राट् ने उनका आदर सत्कार किया और उनके रहने के लिए श्वेत अश्व नाम का विहार बनवा दिया। कश्यप ने तथा एक और धर्मरक्षक ने पाँच बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें बुद्ध-चरित्र, जातक, धर्म-समुद्र शामिल थे। आरम्भ में बौद्ध धर्म की ओर चीनी विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुए। उसको वे अपनी संस्कृति और विचारों से भिन्न समझते थे। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि चीनी जीवन की ओर से विरक्त न थे, उनके विश्वास के अनुसार जीवन न तो पाप ही है, न दुख अथवा बन्धन ही, जिससे मुक्त होकर विलीन हो जाना चरम आदर्श हो। चीनियों को जगत से भय न था और न वे संसार को असार समझते थे। वे इसी लोक में जीवन को सन्तुष्ट और सुखी बनाने का प्रयत्न करते थे। गार्हस्थ्य जीवन से चीनियों को लगाव था। नैष्टिक ब्रह्मचर्य तथा संन्यास के वे पक्षपाती न थे। यद्यपि ताओ मतावलम्बी जीवन को अमर बनाने की चेष्टा करते थे फिर भी कुछ लोग उसे 'ताओ' सम्प्रदाय से सम्बन्धित समझते थे। ताओ मतानुयायियों ने बौद्धो की विचारधारा का स्वागत किया क्योंकि बौद्ध धर्म की कुछ बातें उनके विचारों से मिलती थीं। उदाहरण के लिए दोनों कर्म और सदाचार को विशेष महत्त्व देते थे। वैयक्तिक स्वार्थ-साधना के दोनों विरोधी और जनकल्याण के समर्थक थे। सृष्टि के कर्ता-भर्त्ता सर्वज्ञ, सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान परमेश्वर का उन दोनों ही की कल्पना में कोई स्थान न था। चीनियों में अनुपाततः विचारों की उदारता होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रति उनका द्रोहात्मक भाव न था। वे लोग आरम्भ में बौद्ध धर्म को ताओ सम्प्रदाय से सम्बन्धित ही समझते थे।

धीरे-धीरे मन्थर गति से बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, किन्तु उसका कोई सिलसिलेवार वृत्तान्त नहीं मिलता। केवल कहीं-कहीं झलक मिल जाती है। सन् १९० ई० का बना हुआ एक बौद्ध मन्दिर (चैत्य) अन्हुई नगर में मौजद था। ईसा की दूसरी शती में लोयांग में बौद्धों की संख्या बढ़ने तथा उनकी संस्थाएँ खुलने का संकेत मिलता है।

कानून का मत

उपर्युक्त मतों के सिवा एक और उल्लेखनीय मत है जिसको कानून का मत

कह सकते हैं। उनके प्रचारकों में कुअनत्जें, शंगयंग और हान फ़ीइत्ज़ें के नाम लिये जाते हैं। उनका कहना था कि मनुष्य स्वभावतः दुष्ट और अज्ञानी है, किन्तु उसमें सुधरने तथा ज्ञानोपार्जन करने की शक्ति है। इसलिए उसका नियन्त्रण कानून द्वारा होना आवश्यक है। उनकी धारणा थी कि मनुष्य तो आते-जाते और बदलते रहते हैं, किन्तु कानून स्थिर रहता है। विना कानून के समाज का बनना और चलना, भले-बुरे की पहचान तथा कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान होना असम्भव है। इसलिए व्यक्तियों का ध्यान छोड़कर कानून का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। हाँ, समय-समय पर आवश्यकतानुसार कानून में परिवर्तन अवश्य हो सकता है। इस सिद्धान्त में पहला दोष तो यह है कि वह ऐसे कानूनों की कल्पना करता है जो सर्वथा अच्छे और अटल हों। मनुष्य ही कानून बनाते, बदलते, उनका प्रतिपालन अथवा उल्लंघन करते हैं। उनका प्रभाव और उनकी प्रतिक्रिया के महत्त्व की, कानून वालों का मत अवहेलना करता है। यह कहना कि बुरे कानून भी कानूनों के एकान्त अभाव में अच्छे हैं सर्वथा चिन्त्य और भ्रमात्मक है। उस मत का विशेष महत्त्व केवल इतना हो सकता है कि वह कानून के राज्य की बनिस्बत व्यक्तियों के राज्य को अच्छा मानता है।

इस प्रसंग में यह भी जानना आवश्यक है कि प्राचीन चीन में प्रकृतिवादियों का भी एक मत था जिसका अच्छी तरह विकास नहीं हो पाया। इस मत के प्रचारक का नाम त्सूयेन है जो शान्यंग का निवासी था। उसके अनुसार काष्ठ, अग्नि, मिट्टी, जल और धातु ये पाँच मुख्य तत्त्व हैं जिनके उलट-फेर से उत्पत्ति तथा विनाश की विभिन्न व्यवस्थाएँ होती रहती हैं। भू-मण्डल में केवल एक ही महाद्वीप नहीं है जिसके अन्तर्गत चीन है। उसमें नौ महाद्वीप हैं जिनके मध्य में एक विशाल पर्वत है। सृष्टि तथा संहार के सिद्धान्त को उसने ज्योतिष तथा राजनीति के क्षेत्र में लागू बताकर उसकी सत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

कनफ्यूसिअस तथा मो ती के सिद्धान्तों का घोर विरोधक यंग चू (३९० ई०) हुआ। उसका मत था कि मनुष्य का जीवन ही दूषित और व्यर्थ है। अतः यही ठीक जान पड़ता है कि उसमें जहाँ तक सम्भव हो सके सुख की अनुभूति प्राप्त की जाय। उसके साधन में किसी अन्य के विचारों और भावनाओं का लिहाज न करना चाहिए। प्रशंसा अथवा निन्दा से अन्त में व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता, सम्भवतः हानि ही होती है। ये केवल निःसार शब्द-मात्र हैं। अपनी इच्छाओं, अभिलाषाओं, आकांक्षाओं, वासनाओं की यथाशक्ति और यथासाध्य इसी लोक में पूर्ति कर सुख

प्राप्त करना ही समझदार मनुष्य का कर्तव्य है। कहने-सुनने वाले जो चाहें कहें सुनें। इस मत की भारत के चार्वाक के मत से बहुत कुछ पटरी बैठती है।

तृतीय शती ई० तक बौद्ध धर्म ने चीन में काफी प्रभाव जमा लिया था। उसके प्रचारक भारत के सिवा सीलोन, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान से भी गये थे। भारतीय विद्वानों में 'प्राप्ति-मोक्ष सूत्र' के अनुवादक धर्मकल (२५० ई०), योगाचारी, श्रीमित्र (३०७ ई०), नागार्जुन-मत-प्रचारक प्रकाण्ड विद्वान् कुमारजीव (३४४—४१३) आदि थे। बौद्ध धर्म की हीनयान तथा महायान शाखाओं के अनेकानेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। सैकड़ों विहारों और चैत्यों की स्थापना हुई और बौद्ध धर्म, विशेषतः उसकी महायान शाखा ने चीन में शीघ्रता से उन्नति करना आरम्भ कर दिया। चीनियों में भी बौद्ध धर्म के अच्छे-अच्छे विद्वान् उत्पन्न हो गये। सिन वंश के राजत्व काल में (२६५—४२० ई०) बौद्ध धर्म को राज्य की ओर से काफी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। साधारण लोगों तथा विद्वानों के सिवा चीन के कुछ राजे भी बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर प्रचार कार्य करने लगे। उनमें से लिअंग वू ती का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। स्वयं प्रवचन करने के सिवा उसने बौद्ध धर्म के त्रिपिटकों के चीनी रूपान्तरों का संग्रह कराया। अहिंसा के सिद्धान्त से प्रेरित होकर पशु बलि बन्द करने की आज्ञा भी उसने प्रचारित की। वह स्वयं मांस तक न खाता था। उसके सिवा कई अन्य सम्राटों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार में उत्साह दिखाया। दक्षिणी चीन में भी जोर के साथ प्रचार होता रहा। वहाँ की राजधानी नानकिंग में सात सौ चैत्य थे और सहस्रों बौद्ध रहते थे। चतुर्थ शती के समाप्त होने तक पश्चिमोत्तर चीन के नब्बे प्रतिशत निवासी बौद्ध-धर्मानुयायी हो गये थे।

बौद्ध धर्म के कारण भारत की संस्कृति का चीन पर भारी प्रभाव पड़ा। यद्यपि चीनियों ने उसमें ताओ, कनफ्यूसिअस आदि के कुछ सिद्धान्तों को मिलाकर उसे और भी सुबोध और लोकप्रिय बना दिया तथापि उसकी मौलिक रूपरेखा मिटने नहीं पायी। महायान का वहाँ विशेष आदर हुआ क्योंकि बोधिसत्व और अमिताभ की कल्पनाओं से चीनी बहुत प्रभावित थे। कुछ नये बौद्ध सम्प्रदायों की भी चीन में उत्पत्ति हुई। चीन के स्थापत्य, मूर्तिकला और साहित्य पर भी बौद्ध धर्म की छाप लग गयी। चीन में अनेक देवताओं की कल्पना, कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म, जंगम प्राणियों के प्रति सहानुभूति और दयाभाव, योग, ध्यान, साधन, भक्ति, नाम स्मरण आदि का प्रचार बौद्ध धर्म द्वारा हुआ। भारत की चीन को देन जितने महत्त्व की थी चीनियों ने उतनी ही उदारता और सम्मान के साथ उसका स्वागत भी किया।

शब्दानुक्रमणिका

ई

उ

ऊ

ए

ख

ग

द

ध

न

फ

ब

स

काला सागर
बोगाजकुई
हिट्टीराज्य
आरमीनिआ
मितानी
करकिमिश
निनेवे
मीडिआ
असीरिआ
अस्सुर
अेकबतना
क्रीट
सीरिआ
दमिश्क
म ध्य सा ग र
अेलाम
बेबिलान
लगाश
जेरुसलम
अुर
गिज़ा
मेमफ़िस
तेलल अरमावा
कारनक
थेबीन
असवान
प्रथम प्रपात
दूसरा प्रपात
न्यूबिआ
अ र ब रे गि स्ता न
प्राचीन मिस्र और मेसोपटेमिया

मान चित्र सं० १

अलेकज़ेंडर का साम्राज्य
मेसिडानिआ
थ्रेस
काला सागर
कास्पियन सागर
सोगडिआना
परगेमम
रोड्स
मध्य सागर
सीरिआ
टायर
दमिश्क
अरुसलम
अलेक्ज़ान्ड्रिआ
अरबेला
बेबीलान
सूसा
ईरान
परसिपोलिस
पार्थिया
बैक्ट्रिआ
हेरात
कन्धार
आरकोसिआ
करमानिआ
गेड्रोसिआ
भारत
लाल सागर
अरब
अरब सागर

मान चित्र सं० ३

मकदूनिया
काला सागर
एथेन्स
स्पार्टा
मध्य सागर
अन्टियाक
निनेवे
अरबेला
सिडान
बिबलस
टायर
अेकबताना
बेहिस्तन शिला
गाजा
सूसा
मिस्र
परसिपोलिस
ईरान
मोहनजोदड़ो
हड़प्पा
भारत
अरब
लाल सागर
अरब सागर
---- प्राचीन असीरिया साम्राज्य
-·-·- " ईरान "

मान चित्र सं० ४

हान साम्राज्य
मनचूरिआ
मंगोलिया
कोरिआ
पेकिंग
तुरफ़ान
पैंगपान
तुनहुआंग
काशगर
पारकंद
खोतान
लोयंग
लनचाऊ
चाँगन
टैक्सिला
तिब्बत
चीन
कैनटन
भारत

मान चित्र सं० ५

१. राजपुरोहित गुडिया (पृ० ५)

२. सम्राट् नरमेर (पृ० २०)

३. गीज़ा का पिरामिड (पृ० २१)

४. प्राचीन मिस्र में कृषकों द्वारा अनाज की मँड़ाई, ओसाई और ढुलाई (पृ० २२)
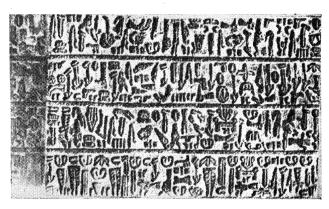
५. हिट्टी शिलालेख (पृ० ३२)

६. ऋतुपति देवता तेशव (पृ० ३९)
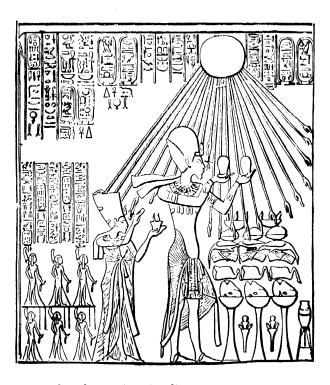
७. सम्राट् इखनातोन और उसकी पत्नी सूर्यदेव की आरती उतारते हुए (पृ० ४५)
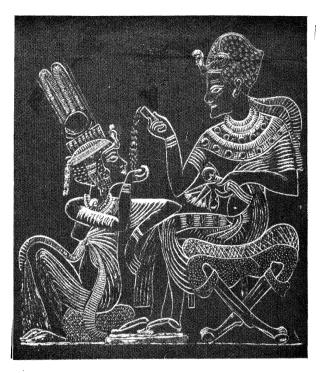
८. सम्राट् तूतांखामेन और उसकी पत्नी (पृ० ४७)
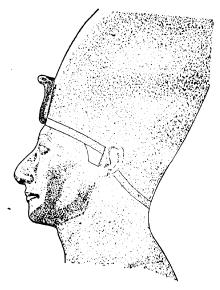
९. दिग्विजयी सम्राट् थटमोसिस तृतीय (पृ० ४९)
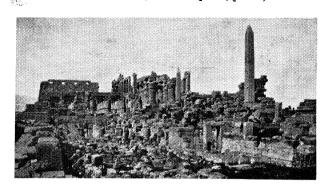
१०. एमोन रे के विशाल मंदिर (पृ० ५४)

११. आशुर बानीपाल शेरों के शिकार पर (पृ० ५८)

१२. निनेवह में सारगन राजमहल के समीप मनुष्य के चेहरे
और पाँच पैरोंवाला बैल (पृ० ५९)

१३. चार पंखोंवाला असीरियन देवता (पृ० ६१)
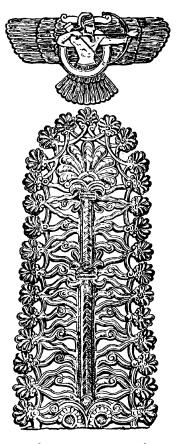
१४. सूर्यबिम्बयुत जीवनतरु पर आरूढ़ अश्शुर देवता (पृ० ६१)
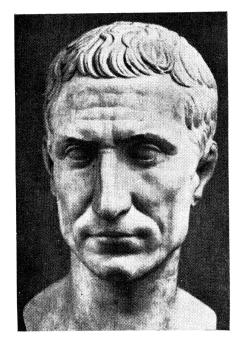
१५. सुप्रसिद्ध विजेता जूलियस सीज़र (पृ० ९९)

१६. सिसरो (पृ० १०५)
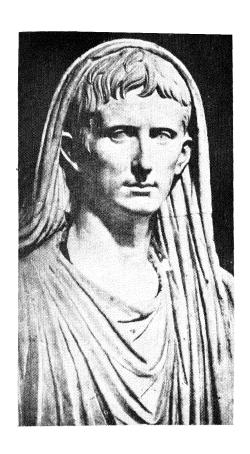
१७. रोमन साम्राज्य-निर्माता आगस्टस सीजर (पृ० १०७)
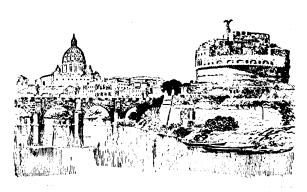
१८. सम्राट् हेड्रियन की समाधि (पृ० ११५)
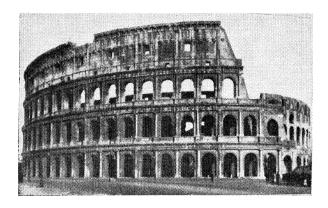
१९. कोलिसियम रंगशाला (पृ० १४५)
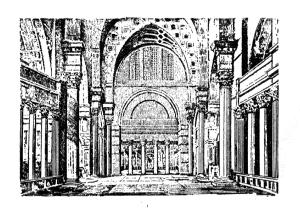
२०. रोम स्नानागार (ट्रेजन) (पृ० १४७)
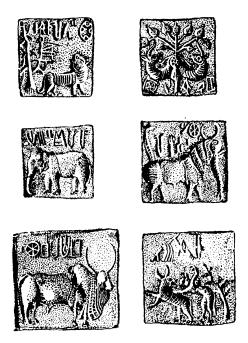
२१. मोहनजोदड़ो से प्राप्त मोहरें (पृ० १७३)
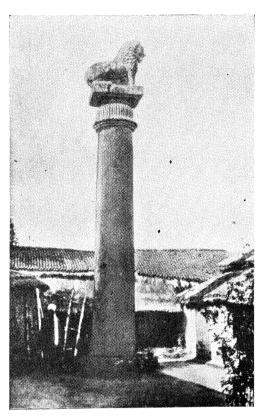
२२. अशोक का बसाढ बाखिरा सिंहस्तम्भ (पृ० १७९)
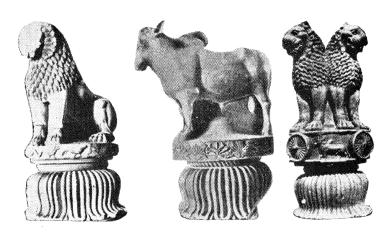
२३. रामपुरवा का स्तम्भ शीर्ष   वृषभस्तंभ शीर्ष   सारनाथस्तंभ शीर्ष
(पृ० १७९)
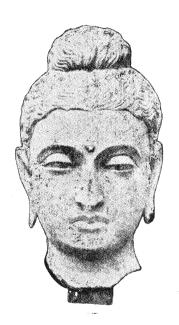
२४. गांधारकला के बुद्ध (पृ० १८१)
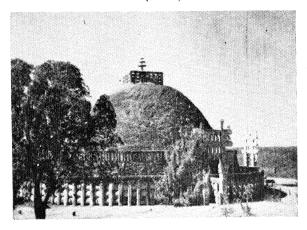
२५. साँची का स्तूप (पृ० १९५)
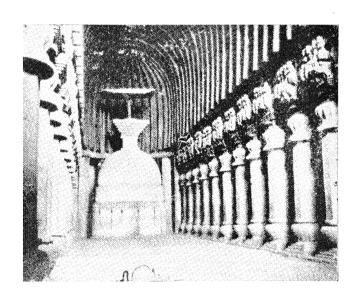
२६. कार्लिका का चैत्य (पृ० १९५)

२७. पेरिक्लीज (पृ० २३९)
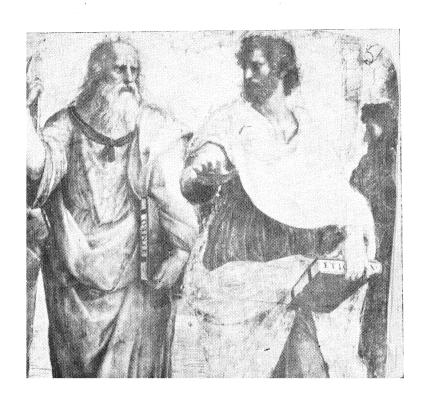
२८. प्लेटो तथा अरस्तू (पृ० २७१)

२९. सुकरात (पृ० २७३)

३०. होमर (पृ० २८८)
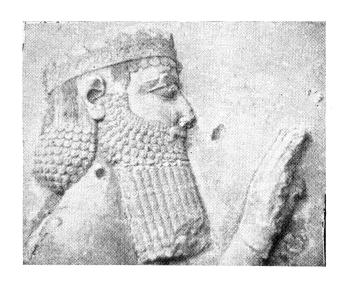
३१. दारा महान् की मूर्ति (पृ० ३०१)
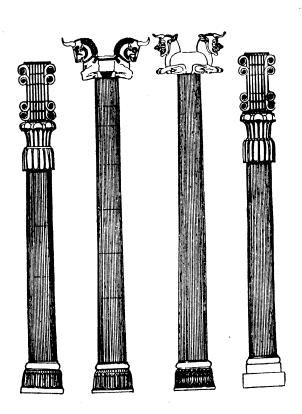
३२. पर्सिपोलिस के स्तंभ (पृ० ३११)

३३. जरथुष्ट्र (पृ० ३१२)

३४. पक्षधर अहुरमज्दा (पृ० ३१४)
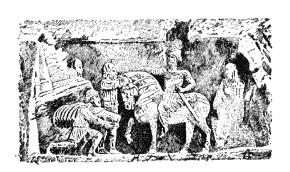
३५. सम्राट् शापुर से प्रथम रोमसम्राट् क्षमा माँग रहा है (पृ० ३३०)
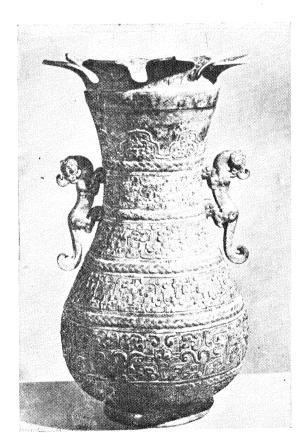
३६. चीन का मदिरापात्र (८वीं शताब्दी) (पृ० ३७३)

३७. कन्फ्यूसियस (पृ० ३८९)

३८. लाओत्से (पृ० ३९२)